

# मैरु मन्दिर पुराण

आचार्य वामदेव विरचित

हिन्दी टीका कार

स्व. आचार्य देश भूषण जी महाराज



प्रेरक - उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज

निर्देशिका - आर्यिका स्याद्वादमति माताजी

प्रकाशक

भारत वर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

॥ श्री वीतरागायनमः ॥

युग प्रमुख चरित्र शिरोमणी सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज की हीरक  
जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित

पुष्प नं० ४७

श्री वामनाचार्य विरचित्

# मेरु मंदर पुराण

हिन्दी टीकाकार

श्री आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज  
प्रेरक

ज्ञान दिवाकर उपाध्याय श्री भरतसागर जी महाराज  
निर्देशिका

श्री आर्यिका स्याद्वाद्मतिमाता जी

अर्थ सहयोगी

मुनिभक्त श्री चिरंजीलाल सुपुत्र श्री कमलचंद चिन्तामणी  
बज, जवाहरनगर, जयपुर (राजस्थान)



प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

प्रबन्ध सम्पादक :— ब्र० श्री धर्मचंद शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य, ज्योतिषाचार्य एवं  
ब्र० कु० प्रभापाटनी इन्दौर (म० प्र०)

- प्राप्ति स्थान : (१) आचार्य विमलसागर संघ  
(२) अनेकान्त सिद्धांत समिति लोहारिया  
जि० बासवाड़ा (राजस्थान)  
(३) जैन मंदिर गुलाब बाटिका लोनी रोड दिल्ली

प्रथम संस्करण- १०००

I B S M

81-85836-01-9

वीर नि० सं० २५१८ सं० २०४६, सन् १९९२

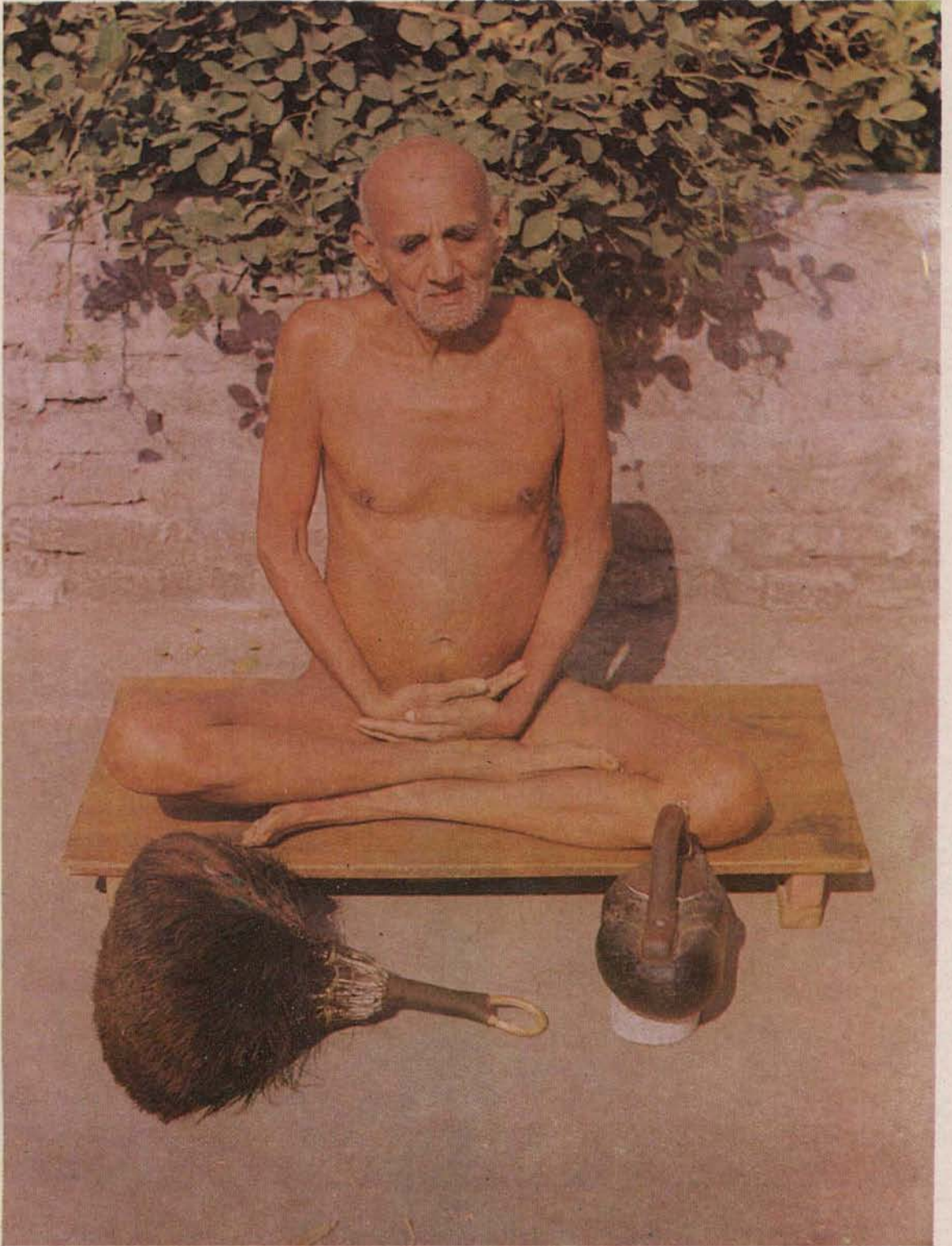
प्रकाशन भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

मुद्रक : राधा प्रेस, गांधी नगर, दिल्ली-31

समर्पण  
युग-प्रमुख  
चारित्र शिरोमणि  
सन्मार्ग दिवाकर  
करुणा निधि  
वात्सल्य मूर्ति  
अतिशय योगी—  
तीर्थोद्धारक बूढ़ामणि—  
अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता  
शान्ति-सुधामृत के दानी  
वर्तमान में धर्म-पतितों के उद्धारक  
ज्योति पुञ्ज—  
पतितों के पालक  
तेजस्वी अमर पुञ्ज  
कल्याणकर्ता, दुःखों के हर्ता, समदृष्टा  
बीसवीं सदी के अमर सन्त  
परम तपस्वी, इस युग के महान साधक  
जिन भक्ति के अमर प्रेरणास्रोत  
पुण्य पुञ्ज—  
गुरुदेव आचार्यवर्यश्री 108  
श्रीधिमलसागर जी महाराज के कर-कमलों में  
“ग्रन्थराज”  
समर्पित

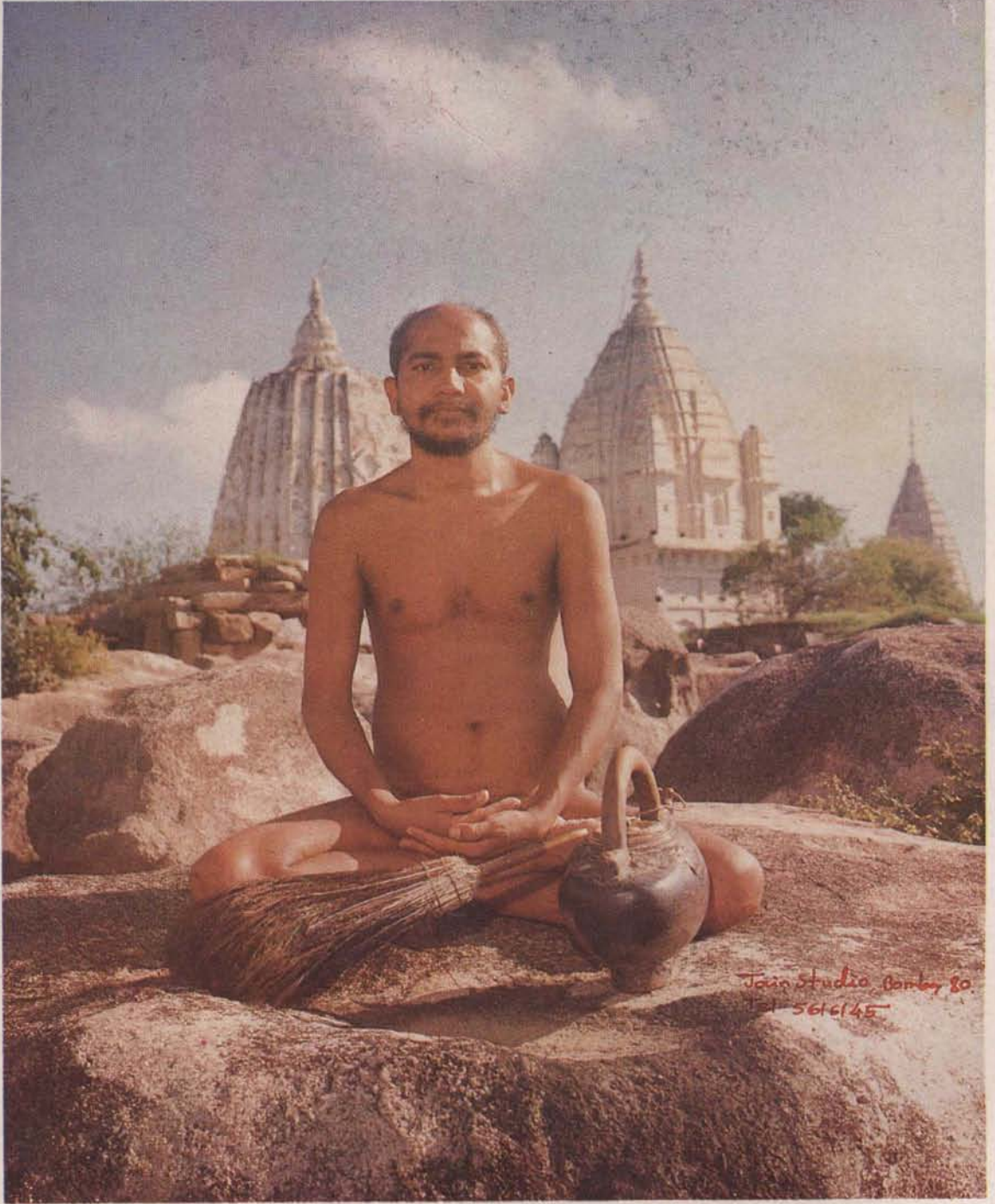


तुभ्यं नमः : परम धर्म प्रभावकाय ।  
तुभ्यं नमः : परम तीर्थ सुवन्दकाय । ।  
स्याद्वाद' ' सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय ।  
तुभ्यं नमः : विमल सिन्धु गुणार्णवाय । ।



**विमल सागर जी महाराज**





उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज

## संकल्प

“णाणं पयासं” सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का बीज है। आज कलयुग में ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है। पदवियाँ और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व बन चुकी हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नहीं है।

जीवन में मात्र ज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनमदन्त बातों की पुष्टि पूर्वोचार्यों की मोहर लगाकर कर रहे हैं ऊटपटांग लेखनियाँ सत्य की श्रेणी में स्थापित की जा रही है; कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नहीं हैं और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रुचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नहीं देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्यसिद्धि होना अशक्य है। सत्साहित्य का जितना अधिक प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है :—

येनेते विदलन्ति वादिगिरय स्तुष्यन्ति वागीश्वसः  
मध्या येन विदन्ति निर्वृत्तिपदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः।  
यद् बन्धुर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधार भूतं मतं,  
तल्लोक जयशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद् विवेकश्रियम्॥

सन् १९८४ से मेरे मस्तिष्क मे यह योजना बन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि “संकल्प के बिना सिद्धि नहीं मिलती।” सन्मार्ग दिवाकर आचार्य १०८ श्री विमलसागरजी महाराज की हीरक-जयन्ती के मांगलिक अवसर पर माँ जिनवाणी की सेवा का यह संकल्प मैंने प.पू. गुरुदेव आचार्यश्री व उपाध्यायश्री के चरण-सानिध्य में लिया। आचार्य श्री व उपाध्यायश्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलतः इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् कार्य में विशेष सहयोगी पं. धर्मचन्द जी व प्रभाजी पाटनी रहे। इन्हें व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्ताओं के लिए मेरा आशीर्वाद है।

पूज्य गुरुदेव के पावन चरण-कमलों में सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्तिपूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु

सोनागिर, ११-७-९०

—आर्यिका स्याद्वादमती

## ।।आशीर्वाद।।

विगत कतिपय वर्षों से जैनागम को धूमिल करने वाला एक श्याम सितारा ऐसा चमक गया कि सत्यपर असत्य का आवरण आने लगा-एकान्तवाद-निश्चयाभास तूल पकड़ने लगा।

आज के इस भौतिक युग में असत्य को अपना प्रभाव फैलाने में विशेष श्रम नहीं करना होता, यह कटु सत्य है, कारण जीव के मिथ्या संस्कार अनादिकाल से चले आ रहे हैं। विगत ७०-८० वर्षों में एकान्तवाद ने जैनत्व का टीका लगा कर निश्चय नय की आड़ में स्याद्वाद को पीछे ढकेलने का प्रयास किया है। मिथ्या साहित्य का प्रसार-प्रचार किया है। आचार्य कुन्द-कुन्द की आड़ लेकर अपनी ख्याति चाही है और शास्त्रों में भावार्थ बदल दिए हैं, अर्थ का अनर्थ कर दिया है।

बुधजनों ने अपनी क्षमता पर 'एकान्त' से लोहा लिया है पर वे अपनी ओर से जनता को अपेक्षित सत्साहित सुलभ नहीं करवा पाए। आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज का हीरक जयन्ती वर्ष हमारे लिए एक स्वर्णिम अवसर लेकर आया है। आर्यिका स्याद्वादमती माताजी ने आचार्य श्री एवं हमारे सान्निध्य में एक संकल्प लिया कि पूज्य आचार्य श्री की हीरक जयन्ती के अवसर पर आर्ष साहित्य का प्रचुर प्रकाशन हो और यह जन-जन को सुलभ हो। फलतः ७५ आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन का निश्चय किया गया है क्योंकि सत्यसूर्य के तेजस्वी होने पर असत्य अन्धकार स्वतः ही पलयन कर जाता है।

आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु जिन भव्यात्माओं ने अपनी स्वीकृति दी है एवं प्रत्यक्ष-परोक्षरूप में जिस किसी ने भी इस महदनुष्ठान में किसी भी प्रकार का सहयोग किया है, उन सबको हमारा आशीर्वाद है।

—उपाध्याय भरतसागर

ता. ११-७-१९९०

## आमार

सम्प्रत्यस्ति ने केवली किल कलो त्रैलोक्यचूडामणि-  
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्योतिका ।।  
सदरत्नत्रयधारिणो यतिवरांस्तेषां समालम्बनं ।  
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ।।

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी में आधारस्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं। इसीलिए उन मुनियों का पूजन तो साक्षात् केवली भगवान् का पूजन है।

आर्य परम्परा की रक्षा करते हुए आगम पथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्तव्य है। तीर्थकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि में प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गुंथित वह महान आचार्यों द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार-प्रसार मार्ग प्रभावना नामक एक भावना तथा प्रभावना नामक सम्यग्दर्शन का अंग हैं।

युगप्रमुख आचार्यश्री के हीरक जयंती वर्ष के उपलक्ष में हमें जिनवाणी के प्रसार के लिए एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। वर्तमान युग में आचार्यश्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनुदान दिया है वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे सान्निध्य या नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्यायजी भरतसागरजी महाराज व निर्देशिका तथा जिन्होंने परिश्रम द्वारा ग्रन्थों की खोजकर विशेष सहयोग दिया, ऐसी पूज्या आ. स्याद्वादमती माताजी के लिए मेरा शत-शत नमोस्तुवंदामि अर्पण करती हूँ। साथ ही त्यागीवर्ग, जिन्होंने उचित निर्देशन दिया उनको शत-शत नमन करती हूँ। तथा ग्रन्थ के सम्पादक महोदय, ग्रन्थ के अनुवादकर्ता तथा ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अनुमति प्रदाता ग्रन्थमाला एवं ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वाले द्रव्यदाता एवं ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वाले द्रव्यदाता का मैं आभारी हूँ तथा यथासमय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले प्रेस के संचालक आदि की मैं आभारी हूँ। अन्त में प्रत्यक्षपरोक्ष में सभी सहयोगियों के लिए कृतज्ञता व्यक्त करते हुए सत्य जिनशासन की जिनागम की भविष्य में इसी प्रकार रक्षा करते रहें, ऐसी भावना करती हूँ।

अ. प्रभा पाटनी संघस्थ



## प्रकाशकीय

इस परमाणु युग में मानव के अस्तित्व की ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान 'अहिंसा' अमोघ अस्त्र से किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म/संस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीर्थंकरों के मुख से निकली वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों ने निबद्ध किया जो आज हमें जिनवाणी के रूप में प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे आराध्य पूज्य आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं।

उन्हीं पूज्य आचार्यों में से एक हैं सन्मार्ग दिवाकर चारित्रचूड़ामणि परमपूज्य आचार्यवर्य विमल सागर जी महाराज, जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा भावना रहती है कि आज के समय में प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का प्रकाशन हो और मन्दिरों में स्वाध्याय हेतु रखे जाएँ जिसे प्रत्येक श्रावक पढ़कर मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानज्योति जला सके।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का शासन निरन्तर अबाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओं को ध्यान में रखकर परमपूज्य ज्ञानदिवाकर, वाणीभूषण उपाध्यायवरल भरतसागर जी महाराज एवं आधिकारिक स्याद्वादमती माता जी की प्रेरणा व निर्देशन में परम पूज्य आचार्य विमलसागर जी महाराज की 74वीं जन्म जयन्ती के अवसर पर 75वीं जन्म-जयन्ती के रूप में मनाने का संकल्प समाज के सम्मुख भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद ने लिया। इस अवसर पर 75 ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना के साथ ही भारत के विभिन्न नगरों में 75 धार्मिक शिक्षण शिविरों का आयोजन किया जा रहा है और 75 पाठशालाओं की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान यज्ञ में पूर्ण सहयोग करने वाले 75 विद्वानों का सम्मान एवं 75 युवा विद्वानों को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा 7775 युवा वर्ग से सप्तव्यसन का त्याग करना आदि योजनाएँ इस हीरक जयन्ती वर्ष में पूर्ण की जा रही हैं।

सम्प्रति आचार्यवर्य पू० विमलसागर जी महाराज के प्रति देश एवं समाज अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ उनके चरणों में शत-शत नमोऽस्तु करके दीर्घायु की कामना करता है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिनका अमूल्य निर्देशन एवं मार्गदर्शन मिला है, वे पूज्य उपाध्याय भरतसागर जी महाराज एवं माता स्याद्वादमती जी हैं। उनके लिए मेरा क्रमशः नमोऽस्तु एवं वन्दामि अर्पण है।

उन विद्वानों का भी आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थों के प्रकाशन में अनुवादक/सम्पादक एवं संशोधक के रूप में सहयोग दिया है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिन दाताओं ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चंचलता लक्ष्मी का अनुपयोग करके पुण्यार्जन किया, उनको धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। ये ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में प्रकाशित हुए एतदर्थ उन प्रेस संचालकों को जिन्होंने बड़ी तत्परता से प्रकाशन का कार्य किया, धन्यवाद देता हूँ। अन्त में उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष में सहयोग प्रदान किया है।

ॐ० पं० धर्मचन्द्र शास्त्री

अध्यक्ष

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्

## \* विषय-सूची \*

|                      |      |      |     |
|----------------------|------|------|-----|
| १. प्रस्तावना        | .... | .... | १   |
| २. अभिप्राय          | .... | .... | २   |
| ३. कथासार            | .... | .... | ३   |
| ४. प्रथम अधिकार      | .... | .... | १   |
| ५. द्वितीय अधिकार    | .... | .... | २४  |
| ६. तृतीय अधिकार      | .... | .... | १२७ |
| ७. चतुर्थ अधिकार     | .... | .... | १७५ |
| ८. पंचम अधिकार       | .... | .... | २१३ |
| ९. षष्ठम अधिकार      | .... | .... | २४९ |
| १०. सप्तम अधिकार     | .... | .... | ३१६ |
| ११. अष्टम अधिकार     | .... | .... | ३३८ |
| १२. नवम अधिकार       | .... | .... | ३६४ |
| १३. दशम अधिकार       | .... | .... | ३७६ |
| १४. ग्यारहवां अधिकार | .... | .... | ३८८ |
| १५. बारहवां अधिकार   | .... | .... | ४०१ |
| १६. तेरहवां अधिकार   | .... | .... | ४११ |





## प्रस्तावना

### मेरु मंदर पुराण के कर्ता का नाम और समय

यह ग्रन्थ मेरु मंदर पुराण श्री वामनमुनि के द्वारा रचा गया है। इस ग्रंथ में जन्म-स्थान नाम आदि का परिचय उन्होंने स्वयं कुछ नहीं दिया है। आदि अगस्त्यर मुनि के शिष्य एक अन्य वामन मुनि हो गये हैं। और इनके शिष्य अन्य हैं। परन्तु इस ग्रंथ के कर्ता वामन मुनि अन्य मालूम पड़ते हैं। दूसरे एक वामनमुनि अलंकार शास्त्र आदि के रचयिता अन्य थे। दूसरे ग्रंथ में—एलाचार्य कुंदकुंद के नाम से वामन मुनि का भी उल्लेख पाया जाता है। इसलिये इस मेरु मंदर के रचयिता अन्य कोई वामन मुनि है, इसमें कोई संदेह नहीं है। इस ग्रन्थ के कर्ता के रचित ग्रन्थ और इनकी रचना शैली के मनन करने से मालूम होता है कि ये संस्कृत के महान् प्रकाण्ड विद्वान् थे।

इस मेरु मंदर ग्रन्थ के पढ़ने से मालूम होता है कि यह तामिलभाषा के श्री महान् विद्वान् थे। मद्रास प्रांत में कांचीपुर नगर के समीप तिरुपरित कुन्ड नाम का एक गांव है। उसमें एक अच्छा पुराना जैन वृषभनाथ भगवान का मन्दिर है। इस मन्दिर में ग्रन्थकर्ता के चरण और चरित्र को शिलालेख में उत्कीर्ण किया गया है। परन्तु ठीक पढ़ने में नहीं आता है। उस मन्दिर में कोरा नाम का एक वृक्ष है। उस वृक्ष के नीचे मल्लिषेण मुनि अपरनाम वामन मुनि तथा इनके शिष्य पुष्पसेन—इन दोनों की चरण पादुका वहां विराजमान है। उन चरणों के नीचे पत्थर में निम्न लिखित श्लोक लिखा हुआ है :—

श्रीमंत जगतामेकं मित्रसमन्वितम् ।

वंदेऽहं वामनाचार्यं मल्लिषेण-मुनीश्वरम् ॥

इस श्लोक से वामन मुनि का अन्य नाम मल्लिषेण भी प्रतीत होता है।

इन मल्लिषेण मुनिराज ने पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, स्याद्वादमंजरी इन ग्रंथों का तामिलभाषा में अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त तामिलभाषा में जो नील-केशी नाम का ग्रन्थ है, उसकी समयदिवाकर नाम की टीका लिखी है। वे यही वामन मुनि होने चाहिये। इससे मालूम पड़ता है कि ये वामन मुनि तामिलभाषा के तथा संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। तथा अपने समय में सर्वत्र काफी प्रसिद्ध थे।

इन मल्लिषेण मुनि के लिए संस्कृत भाषा में विद्वान् होने के कारण 'उभयभाषात्मक कवि चक्रवर्ती' ऐसा विरुदावली में लिखा गया है। क्योंकि इन्होंने एक जगह ऐसा उद्धृत किया है कि मैं तामिल भाषा में एक ग्रन्थ की रचना करूंगा। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना के पहले कोई संस्कृत ग्रन्थ की रचना की होगी।

दूसरे एक शिलालेख में ऐसा लेख मिला है .—

श्री मल्लिषेण यति वामनसूरि शिष्य :

श्री पुष्पसेन मुनि पुंगव .....

इस प्रकार इस श्लोक से प्रतीत होता है कि मल्लिषेण और वामन मुनि ये दोनों ही एक मुनि के नाम हैं। उनके शिष्य पुष्पसेन मुनि हैं। इससे सब संदेह निवारण हो जाता है।

ये दोनों कांचीपुर में आये होंगे। उनके दर्शन करते समय उनके चरण कमलों को भी वहां खुदवा दिया है।

परन्तु उनके काल का निश्चय नहीं किया जा सकता है। वहाँ एक दीवाल पर पत्थर पर इतना ही लिखा है कि दुंदुभि नाम संवत्सर में कातिक पूर्णिमा सोमवार महामंडलेश्वर हरिहर राजकुमार श्रीमत्पुष्कराज धर्म के लिये वैजप दंडनाथ पुत्र जनोत्तम इन्होंने त्रैलोक्यवल्लभ ऐसे वृषभजिनेन्द्र की पूजा प्रक्षाल के लिए महामंडूर नाम का एक गांव प्रबंध के लिये समर्पण किया।

उस महामंडूर से द्वात्र चामर आदि तथा ब्रक्षतादि पूजा की सामग्री आती थी। इस विषय में उस मन्दिर की दीवाल में एक श्लोक उत्कीर्ण है।

श्रीमत् वैजपदंडनाथ-तनय संवत्सरे प्रभावे ।

संख्यावान् विरुकम्प दंडनृपति श्री पुष्पसेनाऽज्ञया ॥

श्री कांची-जिनवर्धमान-निलयस्याग्रे महा-मंडपम् ।

संगीतार्थमचोषीकरुच्च शिलयावद्धं समंतात्स्थलं ॥

इस श्लोक से ऐसा मालूम होता है कि पुष्पसेन मुनि का शिष्य जिनभक्त होना चाहिये ऐसा प्रतीत होता है। विजयनगर नाम के अधिपति राजा हरिहर थे। उनके मंत्री दूरिगम्प दंडनायक थे। उनके गुरु पुष्पसेन मुनि थे। उनके गुरु मल्लिषेण नाम के वामन मुनि थे। ये तीनों एक ही काल में थे ऐसा प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ के कर्ता मल्लिषेण वामनमुनि प्रगट प्रसिद्ध होते हैं। अन्दाज सात कम ६०० वर्ष आगे थे, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के परिचय के बारे में जो हमें मालूम हुआ सो ही लिखा है। पूर्ण परिचय मालूम नहीं हो सका।

यह ग्रन्थ तामिल लिपि में था। और इस ग्रन्थ का नाम मेरु मंदर ऐसा प्रसिद्ध था। इस भाषा का हमें परिचय नहीं था। परन्तु मन में इस ग्रन्थ का हिंदी भाषा में अनुवाद करने की प्रबल इच्छा बहुत दिनों से हो रही थी। परन्तु इस तामिल भाषा का

परिचय न होने के कारण इस ग्रन्थ का अनुवाद करने में हम असमर्थ रहे। परन्तु कतिपय दिन बाद हमें ऐसा मंयोग मिला कि ब्रह्मचारी मारिकय नैनार संघ में सम्मिलित होकर अपने आत्म-कल्याण हेतु अनायास ही पधारे। तब हमने उन्हें क्षुल्लक दीक्षा देकर संघ में सम्मिलित कर लिया और उनका नाम इन्द्रभूषण रखा। तत्पश्चात् उनसे तामिल में बोलचाल अक्षराभ्यास सतत चालू रहा।

इससे हमें तामिल के अक्षर पढ़ने का ज्ञान, बोलने की शक्ति साधारणतया प्राप्त हो गई। तत्पश्चात् इनके द्वारा कहे जाने वाले मेरु मंदर के अनुवाद कनडी मराठी और हिंदी भाषाओं में भाषांतर अनुवाद, मूलश्लोक का अर्थ भावार्थ जैसा था तदनुसार ही किया गया है। तामिल भाषा में अनभिज्ञ होने से यदि कोई किसी स्थान पर अशुद्धि रह गई हो तो तामिल भाषा के विद्वान् इसको संशोधन कर लें। इस ग्रन्थ के लिखने का प्रयास श्री मिलापचन्द्रजी गोधा बागायत वालों ने जो कि जयपुर के रहने वाले हैं निःशुल्क किया है। अतः हम उन्हें अपना हार्दिक धन्यवाद एवम् शुभाशीर्वाद देते हैं। अब इस ग्रन्थ का सार विषय लिखा जावेगा।

—(आ०) देशभूषण



## अभिप्राय

जैनाचार्यों की प्रशस्त भावना सदा ही रहती है। वे कभी किसी का बुरा नहीं चाहते हैं। अपने पर उपसर्ग करने वाले पर भी वे मन में समताभावों को धारण करते हैं। जगत में उनकी समता की कहीं उपमा नहीं है। वैर विरोध राग आदि कषायों का संबंध एक पक्ष से चलता है। कहीं दोनों तरफ से भी वैर चलता है। इन ही कषायों से संसार चल रहा है। जिससे सब ही जीव नरक आदि योनियों में कितनी ही बार जाकर वहाँ पाप पुण्य के फलों को भोगते हैं। कोई बिरले ही जीव संसार से वैराग्य को धारण कर आत्म-कल्याण का पुरुषार्थ करते हैं। कोई जीव धर्म से अरुचि कर अपने द्वारा ही अपना अहित करता है। ऐसे जीवों की संख्या की कमी नहीं है। उनको संबोधन करके धर्म मार्ग में चलाने के लिये ही उपदेशक ग्रन्थ भी लिखे हैं। भव्य जीवों के कल्याणार्थ बहुत परिश्रम किया है। सदा से जिनवाणी चार अनुयोगों के रूप में विभक्त हो रही है। सब से पहले पुण्य पाप का निर्णय करने तथा संसार से वैराग्य उत्पन्न करने के लिये पुण्य पुरुषों की कथा के व्याख्यान रूप प्रथमानुयोग ग्रन्थ प्रथम पदवी में स्थित होने वालों के लिये बनाये गये हैं। दृष्टान्तों के द्वारा मति विशद हो जाती है। इसलिये महान् आचार्यों ने परिश्रम करके सभी अनुयोगों के ग्रन्थों का भव्य जीवों के उपकार के लिये निर्माण किया है। अपने देश की भाषा से साधारण बुद्धिवाले जीव भी लाभ उठावें। क्योंकि संस्कृत प्राकृत भाषा तो अध्ययन करने से आती है। अपनी लोकप्रिय भाषा में आचार्यों ने ग्रन्थ प्रस्तुत कर दिये हैं। परम्परा से आचार्य रचना करते आये हैं। जो आज तक हस्तलिखित ग्रन्थ जैन ग्रंथ भण्डारों में विद्यमान हैं। मूल संघ की परम्परा तामिलदेश में सब से प्राचीन है। अनेक आचार्यों ने अध्यात्म ग्रंथ भी निर्माण किये हैं। उसी परंपरा में श्री मल्लिषेण आचार्य अपर नाम वामन मुनि भी हो गये हैं। उन्होंने मेरु मंदर ग्रंथ की रचना की है। इस ग्रंथ में पाप पुण्य का फल अच्छी तरह दर्शाया गया है। तामिल देशवासी ही इसका आनंद ले सकते थे। श्री १०८ आचार्यरत्न देशभूषण महाराज ने इस ग्रंथ की उपादेयता पर ध्यान देकर इसको तामिल भाषा से कनडी भाषा में अनुवाद किया। फिर हिंदी में अनुवाद किया। श्री महाराज ने इस ग्रंथ को लिखने में गत पूरे जयपुर चानुमसि का उपयोग किया है। मेरी यह कामना है कि इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर सब ज्ञान पिपासु बंधु पूर्ण आत्महित का लाभ लें। इसके संशोधन में सहयोग मैंने भी दिया है।

## ॥ मेह मंदर पुराण कथा का संक्षिप्त सार ॥

# ग्रंथ परिचय

## प्रथम अध्याय का सार

### वैजयंत को मुक्ति दान

इस जम्बूद्वीप के मध्य में विदेह क्षेत्र संबंधी गंधमालनी देश में वीतशोकपुर नाम का नगर था। उस नगर का राजा अत्यंत धार्मिक, शूरवीर तथा सभी शत्रु राजाओं के लिये यम के समान वैजयंत नाम का था। उस राजा की पटरानी का नाम सर्वे श्री था। ये दोनों इन्द्रिय भोग व सुख से अपना काल व्यतीत करते थे। समय पर रानी को गर्भ रह गया। नवमास पूर्ण हो जाने पर पुत्ररत्न का जन्म हुआ। उस पुत्र का नाम संजयंत रखा। कुछ समय पश्चात् दूसरे पुत्र का जन्म और हुआ। उसका नाम जयंत रखा। बड़ा होने पर प्रथम पुत्र संजयंत का विवाह संस्कार हो गया। तत्पश्चात् कई दिनों के बाद संजयंत के पुत्ररत्न उत्पन्न हो गया उसका नाम वैजयंत रखा गया। पीत्ररत्न के उत्पन्न होने से आनंदोत्सव मनाया गया और याचकों को अनेक प्रकार के इच्छा पूर्वंक दान देकर उनको संतुष्ट किया।

तब उसी समय अशोक नाम के उद्यान में भगवान् स्वयंभू तीर्थंकर का समवसरण आया। उस उद्यान के वनपाल ने राजा को सूचना दी। राजा अपने पुरजन सहित समवसरण में गया और भगवान् के तीन प्रदक्षिणा देकर रूपस्तव, वस्तुस्तव, गुणस्तव तीन प्रकार से स्तुति की। तदनंतर भगवान् की दिव्यध्वनि द्वारा जीव अजीव आदि सप्ततत्त्व, नव पदार्थ का स्वरूप समझा। जो भव्य जीव इन तत्त्वों पर पूर्णतया भक्तिपूर्वंक श्रद्धान् करता है, उसको सम्यक् दर्शन कहते हैं। उन तत्त्वों जो जानने को सम्यक्ज्ञान और तदनुसार आचरण करने को सम्यक् चारित्र्य कहते हैं। ये ही रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग हैं। इस प्रकार भगवान् ने उपदेश दिया।

राजा वैजयंत, संजयंत और जयंत ने इस उपदेश को सुना और वे तीनों संसार से विरक्त हो गये। उनने अपने पौत्र वैजयंत को गज्याभिषेक कर दिया और तीनों ने दिगम्बर जिनदीक्षा धारण की।

दीक्षा के अनन्तर वे वैजयंत मुनि एकल विहारी होकर एक पर्वत की चोटी पर जाकर धर्मध्यान में लीन हुए, शुक्ल ध्यान का चिंतन किया और शुक्ल ध्यान के द्वारा घातिया कर्मों को नाश कर अर्हत पद को प्राप्त किया और तत्काल केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। तदनंतर धरणींद्र अपने परिवार सहित पूजा के लिये आया। उस समय जयंत मुनि ने तपस्या करते समय इन धरणींद्र को परिवार सहित पूजा करने के लिये आया देखकर

उन्होंने निदान बंध कर लिया कि मुझको भी इस तपश्चरणा के फल से धररौंद्र के समान फल मिले । कुछ समय बाद जयंत शरीर छोड़कर धररौंद्र ही गया । कुछ समय के पश्चात् वैजयंत केवली ने अघातिया कर्मों का नाश करके सिद्ध पद को प्राप्त किया ।

## द्वितीय अध्याय

### संजयंत मुनि को मुक्ति

वैजयंत मुनि को मोक्ष जाने के पश्चात् आये हुए धररौंद्र आदि देव मोक्ष कल्याण की पूजा करके अपने २ स्थान को चले गये । उस समय संजयंत मुनि भी उस मोक्ष कल्याणक की पूजा आदि देखकर अरण्य में चले गये और ध्यान में निमग्न हो गये । जिस समय संजयंत मुनि ध्यान में मग्न थे उस समय मृनिराज के ऊपर से आकाश मार्ग से विद्युद्दंष्ट्र नाम का विद्याधर जा रहा था । मृनिराज के तप के प्रभाव से उस विद्याधर का विमान रुक गया । विमान को रुका देख कर वह नीचे आया और देखा कि संजयंत मुनि तपस्या कर रहे हैं । उन मुनि को देखकर वह अत्यंत क्रोधित हुआ । और उनको उठा कर लेजाकर विमान में बिठाया और विजयाद्व पर्वत के समीप में बहने वाली कुमुदवती, सुवर्णावती, हेमवती गजवती और चंडवेग इन पांचों नदियों के संगम के तटपर ऊपर से पटक दिया और अनेक प्रकार के उपसर्ग किये । मुनि समताभाव से विचार करने लगे कि यह मेरा पूर्वभव का उदय है । मुझे भोगना ही पड़ेगा । शत्रु मित्र आदि सभी में समता भाव रख कर ध्यान में ही मग्न रहे ।

उस विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर ने अपने नगर में आकर अन्य २ विद्याधरों से कहा कि अपने नगर में एक दुष्ट राक्षस आया है । यदि यह यहां रहेगा तो हम सब को इस रात्रि में आकर खा जायेगा । इस कारण सब वहां चलो । ऐसा विश्वास दिलाकर विद्याधरों ने उन मृनिराज पर घोर उपसर्ग किया । उनसे अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करते हुए धर्म ध्यान पूर्वक घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया । उस समय तीन प्रकार के देवों ने आकर पूजा की । तदनंतर अघातिया कर्मों का नाश कर वे मुनि मोक्ष चले गये । तत्पश्चात् धररौंद्र अनेक देवों सहित आया । यह धररौंद्र जो पूर्व जन्म का जयंत नाम का भाई था, उसने आकर मोक्ष कल्याणक की भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति की ।

उस धररौंद्र ने वहां आस पास में कई प्रकार के शस्त्र पत्थर आदि पड़े देख कर तथा विद्युद्दंष्ट्र को मपत्नवार पडा देख कर अवधिज्ञान से जान लिया कि यह उपसर्ग इस ही विद्युद्दंष्ट्र द्वारा किया गया है और उसको लात मारी । उसने क्रोधित होकर विद्युद्दंष्ट्र को व अन्य विद्याधरों को नागपाण से बांध दिया । तब वे अन्य विद्याधर हाथ जोड़कर क्षमा मागने लगे कि हमको मालूम नहीं था—यह मुनि कौन हैं । हम इसके विश्वास पर यहां आगये । और आकर मृनिराज पर उपसर्ग किया हम को क्षमा कीजिये । तब धररौंद्र को रत्न पर दया आगई और अन्य विद्याधरों को छोड़ दिया, और यह कहा कि विद्युद्दंष्ट्र

तथा इनके पुत्र परिवार को समुद्र में डालूंगा। उस समय आदित्य नाम का देव लांतव कल्प से परिनिर्वाण पूजन करने आगया और धरणींद्र को क्रोधित तथा विद्युद्दंष्ट्र को नागपाश में बंधा देखकर धरणींद्र को दयाभाव का उपदेश देना प्रारम्भ किया कि हे धरणींद्र तुम सज्जनोत्तम धरणींद्र हो, यह नीच लोग हैं। इन पर—इतना क्रोध करना ठीक नहीं, इन पर दया करो। इस सम्बन्ध में कुछ कहता हूँ सुनो।

पूर्वकाल में जब वृषभनाथ भगवान् तपस्या कर रहे थे, उस समय नमि और विनमि दोनों राजपुत्र आदिनाथ भगवान् के पास आकर कुछ मांग रहे थे कि हे भगवन् आपने सब का बटवारा कर दिया, हम उस समय मौजूद नहीं थे। अब हम को भी हमारा हिस्सा दीजिये। इस प्रकार कहते हुए संगीत रूप में गाने लगे। तब धरणींद्र ने अविधिज्ञान से जाना कि ये दोनों भगवान् पर उपसर्ग कर रहे हैं। उस धरणींद्र ने भगवान् के पास जाकर कान के समीप मुँह लगाया और उन नमि विनमि से कहा कि भगवान् ने मुझ को कान में कह दिया है मेरे साथ चलो। तदनंतर वह धरणींद्र उतकीला गया और विनमि को विजयादर्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में साठ नगरियों का अधिपति बना दिया और कनकपल्लव नाम की नगरी को राजधानी बना दिया। और दक्षिण श्रेणी की पचास नगरियों का अधिपति नमि को बना दिया और रथनूपुर चक्रवाल नगर को राजधानी बना दिया। उन दोनों विनमि और नमि को पांचसौ महा विद्या और सात सौ क्षुल्लक विद्या देकर सब विद्याधरों को बुलाकर कह दिया कि आगे से इनकी आज्ञा का पालन करो। ऐसा कह कर वह धरणींद्र अपने स्थान चला गया। और यह भी विनमि से कहा कि यह विद्युद्दंष्ट्र तुम्हारे ही पूर्ववंश का विद्याधर है। इसलिये उसको नष्ट करना ठीक नहीं है। इसलिए तुम इन पर क्रोध करना छोड़ दो।

इस बात को सुनकर धरणींद्र ने कहा कि कर्म रूपो शत्रु को नाश कर मूर्ति गया वह संजयंत पूर्वजन्म का मेरा भाई है। उस पर इसने उपसर्ग किया है। मैं इसको नहीं छोड़ूंगा। तदनंतर आदित्याभ देव कहने लगा कि यह संजयंत तुम्हारा एक ही जन्म का भाई था और दूसरे भवों में न माजूम तुम्हारा यह कौन था। तुम इन पर कषाय व क्रोध मत करो और कर्म का बंध करना ठीक नहीं है। यदि विचार किया जाय तो संसार में शत्रु मित्र कोई नहीं है, सभी समान हैं। व्यवहार में शत्रु है और मित्र है। निश्चय से इस आत्मा का कोई शत्रु व मित्र नहीं है। इसलिए ज्ञानी सज्जन लोग द्वेष नहीं करते हैं। एक जन्म में हुए उपसर्ग को देखकर तुम इतना क्रोध करते हो तो पहले भव में उसने कितने भवों में इसको दुःख व कष्ट दिये होंगे। उस समय तुमने क्या किया? यह विद्युद्दंष्ट्र पूर्व भवों में राजा सिंहसेन महाराज का सत्यघोष नाम का मंत्री था। राजा ने उस मंत्री के मायाचार करते समय कुछ दण्ड दिया था। उस वैर विरोध के कारण क्रोधित आज तक जन्म २ उपसर्ग करता आया है। इन महामुनि ने शांत स्वभाव से उपसर्ग सहकर सद्गति प्राप्त की। और अन्त में मोक्ष पद को प्राप्त किया। और विद्याधरों ने उपसर्ग करके पाप व अपकीर्ति प्राप्त की। इस कारण क्रोध तथा क्षमा का फल आपने भली भाँति देख लिया। इसको अपने हृदय में धारण करो।

तदनंतर धरगेंद्र आदित्याभ को देखकर कहने लगा कि इस मुनि को विद्युद्दंष्ट्र ने किस २ भव में क्या २ उपसर्ग व कष्ट दिए हैं—वे मुझे सभझा दीजिये। तदनंतर आदित्याभ देव धरगेंद्र से कहने लगा कि सुनो ! तुम क्रोध को शांत करो और भगवान को नमस्कार करके मेरे पास आओ, तुम्हें सब वृत्तांत कहूंगा।

तदनंतर इस बात को सुनकर धरगेंद्र भगवान को नमस्कार करके आदित्याभ देव के पास आकर खड़ा हो गया। तब आदित्याभ देव कहने लगा कि मुक्ति को प्राप्त हुए, यह संजयंत मुनि, आप, मैं और विद्युद्दंष्ट्र इन सब की पूर्वभव से आज तक की कथा सुनाता हूँ। तुम ध्यान देकर सुनो।

## तृतीय अध्याय

### भद्रमित्र का धर्मश्रवण

इस भरतखंड में सिंहपुर नाम का नगर है। उस नगर के राजा सिंहसेन थे। उनकी पटरानी रामदत्ता देवी थी। उनका सत्यघोष अपर नाम शिवभूति नाम का मंत्री था। वह राजा धर्मनीति द्वारा प्रजावात्सल्य पूर्वक राज्य करता था।

उसी नगर के अंतर्गत पद्मशंख नाम का नगर था। वहां एक सुदत्त नाम का वैश्य था। उनकी स्त्री का नाम सुमित्रा था। सुमित्रा की कूख से भद्रमित्र नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। भद्रमित्र के यौवनास्था प्राप्त होने पर उसका विवाह कर दिया गया। बड़ा होने पर व्यापार में कुशल व्यापारी होकर वह रत्नद्वीप में गया और वहां पर रत्नों और मोतियों का खूब संग्रह किया और कई दिनों बाद वापस लौटकर बहुत द्रव्य संग्रह करके वापस सिंहपुर नगर में आया। उस भद्रमित्र ने सिंहपुर में आकर देखा कि यहां के सारे व्यापारी लोग सज्जन हैं। यहां कोई अन्यायी नहीं मालूम होते, सभी धार्मिक लोग हैं। शहर भी सुन्दर है। ऐसा विचार करके वहीं व्यापार करने का निश्चय किया और सोचा कि हमारे सारे रत्नों को एक विश्वासी व्यक्ति के पास रख देना चाहिये और अपने नगर में वापस जाकर अपने कुटुम्ब को लाना चाहिये।

यह विचार करके अपने रत्नों की पेटी वहां के सत्यघोष मंत्री के पास लेकर गया और प्रथम भेंट में एक रत्न उस मन्त्री को दिया। वरिष्क ने एकांत में बुलाकर उस मन्त्री से कहा कि यह रत्नों की पेटी मैं आप के पास रख जाता हूँ। मैं अपने कुटुम्ब को पद्मशंख नगर जाकर लेकर आता हूँ। फिर यह मेरे रत्न वापस ले लूंगा। तब मन्त्री ने कहा कि तुम इन रत्नों को मुझे एकांत में लाकर जब कोई भी न हो उस समय लाकर देना, इनको सब के सामने रखना कठिन है। तदनुसार भद्रमित्र वरिष्क ने स्वीकार कर लिया। तब जैसा मन्त्री ने कहा था, एकांत में उन रत्नों की पेटी वरिष्क ने मन्त्री को दे दी और अपने नगर पद्मशंख में जाकर अपने कुटुम्ब परिवार को सिंहपुर में ले आया और एक महल में उनको ठहरा दिया।

तत्पश्चात् वह वरिष्क अपने रत्नों को वापस लेने के लिए सत्यघोष मंत्री के पास गया। वरिष्क को देखते ही मंत्री के मन में ऐसी दुर्भावना उत्पन्न हुई कि इसको रत्न वापस नहीं देना चाहिये। व्यापारी ने नमस्कार किया। उसे देखकर मंत्री कहने लगा कि तुम कौन हो, कहां से आये हो, क्यों आये हो? ऐसा पूछने पर भद्रमित्र ने उत्तर दिया कि मैं वही भद्रमित्र व्यापारी हूँ जो रत्नों की पेट्टी आपको देकर गया था। इस प्रकार सुन कर वह मंत्री कहने लगा—क्या तुमने मेरे पास रत्नों की पेट्टी रखी थी? भद्रमित्र ने कहा—आपका नाम सत्यघोष है, क्या चार दिन में रखी हुई पेट्टी को भूल गये? तब वह मंत्री कहने लगा कि क्या तू बावला है। मैंने तुमको कभी देखा ही नहीं। पागलपन की बात करते हो। यदि तुमने मुझे रत्नों की पेट्टी दी थी तो किमके सामने दी थी, उसकी साक्षी कराओ। इस प्रकार मंत्री ने कहा।

तब वह भद्रमित्र कहने लगा कि मैंने आपको रत्न देने के बाद आज ही देखा है। और आपने भी आज ही देखा है। केवल चार दिन में ही आर भूल गये। आपने यह कहा था कि गुप्तरूप से जब कोई भी न हो उस समय लाकर रत्नों की पेट्टी देना। क्या आप इस बात को भूल गये? और यह भी आपने उस समय कहा था कि चोरी करना, दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करना महा पाप है। मेरे रत्नों का आपने ही तो अपहरण किया और मुझे उलटा आप चोर और पागल बताते हैं, ऐसा भद्रमित्र ने कहा। तब सत्यघोष को क्रोध उठान हो गया और उसने अपने कर्मचारी को आज्ञा दी कि यह पामल है, इसकी मार पीट कर बाहर निकाल दो।

तत्पश्चात् वह भद्रमित्र अनेक प्रकार से दुखी होकर गली २ में पुकारने लगा कि सत्यघोष ने मेरे रत्नों की पेट्टी ले ली। यह राजा का मंत्री है। ब्राह्मण है, कुलवान है। अब यह मेरे रत्नों की पेट्टी वापस नहीं देता है और कहता है कि तू बावला है और मुझे मार कर निकाल दिया। ऐसा पुकारता रहता था।

तब सत्यघोष ने वहाँ के दुष्ट लोगों से कहा कि इस भद्रमित्र को सागी सम्पत्ति लूट लो और शहर के बाहर इसको निकाल दो। तदनुसार ऐसा ही वहाँ के दुष्टों ने किया।

भद्रमित्र पुकारने लगा कि पहले ही मेरे रत्नों की पेट्टी ले ली, बाद में गुण्डे लोगों के द्वारा मेरी सम्पत्ति लूटली और मुझे नगर के बाहर निकाल दिया। क्या मेरा न्याय करने वाला इस नगर में कोई नहीं है? क्या राजा भी न्याय नहीं करेगा? ऐसा कहता हुआ गली २ में घूमता रहता था।

इस प्रकार की बातें राजा के कान में पड़ी तो मंत्री को बुलाकर राजा ने पूछा कि यह वरिष्क क्या बोल रहा है? सत्यघोष ने उत्तर दिया कि यह तो पागल है, ऐसे ही पुकारता रहता है। इसकी बात पर कोई ध्यान न दें। मैं तो खुद लोगों को यह कहता हूँ कि चोरी अन्वयाय षाप वर्गरह नहीं करना चाहिये, तो मैं स्वयं ऐसा काम करूँगा? उस भद्रमित्र ने कोई रत्न मुझे नहीं दिया, वह भूठा और पागल आदमी है।



इस बात को सिंहसेन राजा ने भूँठ मानकर कोई विचार नहीं किया। तदनन्तर वह भद्रमित्र प्रतिदिन यही कहता रहा कि जिस प्रकार एक बहेजिया चिडिया को पकड़ने के लिये अपनी बगल में शस्त्र छिपाकर रखता है कि किसी को मालूम न पड़े और जब चिडिया को देखता है तो तुरत ही उस शस्त्र को बगल में से निकाल कर उसको पकड़ लेता है, इस प्रकार यह मंत्री है। वह रास्ते में दुखी होकर रोते २ ऐसा पुकारता फिरता था।

पुनः उस मंत्री ने अपने कर्मचारियों को बुलाकर कहा कि इस भद्रमित्र व्यक्ति को मारपीट कर इस नगर से बाहर कर दो। तदनुसार उसको मारपीट कर बाहर निकाल दिया।

तब वह भद्रमित्र घबड़ा कर रात्रि के समय नगर के समीप एक वृक्ष था उस पर चढ़ गया और प्रातः सूर्योदय होते ही उन्हीं पिछली बातों को दुहराने लगा। इस मंशा से कि यह शब्द राजा के कान में पहुँच जाय। राजा ने वह बातें सुन ली और कहने लगा कि यह तो पागल है ऐसे पुकारता है। मंत्री जो बात कहता है वह सत्य है।

उस सिंहसेन राजा की पटरानी रामदत्ता देवी ने विचार किया कि यह आदमी रोज एक ही बात को बोलता रहता है दूसरी कोई बात ही नहीं बोलता, यदि पागल होता तो और २ बातें भी कहता, रत्नों की बात ही क्यों करता है। वास्तव में यह पागल नहीं मालूम होता है। इसकी खोज करना चाहिये। कदाचित् यह बात सत्य भी हो सकती है। इस कारण उस व्यक्ति को बुला कर पूछना चाहिए, ऐसा विचार किया। एक दिन रानी ने भद्रमित्र को बुलाकर सारी बातें पूछी, और सारा हाल जानकर जवाब दिया कि तुम चले जाओ और जो शब्द तुम रोज रटते रहते हो वही पुकारते रहो।

तत्पश्चात् रामदत्ता रानी ने एक दिन सिंहसेन महाराज के पास जाकर उपरोक्त सारा हाल कहते हुए कहा कि इस भद्रमित्र की बातों पर विचार करना चाहिए। इस पर सिंहसेन राजा ने जवाब दिया कि यह तो पागल है, ऐसे ही पुकारता है। इस पर रानी ने कहा कि इस पर कुछ निर्णय करना चाहिये। राजा ने रामदत्ता रानी से कहा कि इस पर तुम खुद ही विचार करो।

रानी ने उत्तर दिया कि यदि आप आज्ञा दें तो मैं इसकी यथार्थ जांच पड़ताल करूँ। मुझ में ऐसी शक्ति है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं मंत्री के साथ जुग्रा खेलूँ और आप मेरे समीप में बैठें नहें। तब राजा ने आज्ञा दी कि जैसी आप की इच्छा हो वही करें।

तदनन्तर राजा ने सत्यधोष मंत्री को बुलवाया। मंत्री के आने पर रानी न उन के साथ कुछ हास्य विनोद की बातों की और राजा से कहा कि आप अपने मंत्री की छूतक्रीड़ा की प्रशंसा करते हो। मैं ऐसा कहती हूँ कि मेरे समान छूतक्रीड़ा खेलने वाला संसार में कोई नहीं है। तब राजा ने कहा कि स्त्रियाँ ऐसा सोचती हैं कि जैसी क्रीड़ा करने में हमारी सामर्थ्य है वैसी पुरुषों में नहीं है। क्या मंत्रीजी! छूतक्रीड़ा में सामर्थ्य नहीं रखते

हो ? तब मन्त्री ने जवाब दिया कि मैं रानीजी को एक ही दाव में जुआ में जीत लूंगा । इस बात को सुन कर रानी ने कहा कि प्रथम दाव में ही मैं इन से जीत लूंगी । ऐसी मेरी शक्ति है । दोनों की बातें सुनकर राजा हंस कर चुप चाप बैठ गया ।

तदनंतर रामदत्तादेवी और सत्यघोष मन्त्री दोनों जुआ खेलने लगे । प्रथम दाव में ही महारानी ने उस मन्त्री की यज्ञोपवीत जीत ली । दूसरे दाव में उसकी नामांकित मुद्रिका को जीत लिया । तब मन्त्री दोनों दाव में हार कर दीर्घ श्वास लेता हुआ लज्जित होकर जुआ खेलना छोड़ने लगा । तत्पश्चात् रामदत्ता देवी ने अन्दर जाकर अपनी चतुर निपुणमति नाम की दासी को एकांत में बुलाकर कहा कि तुम मन्त्री के महल पर जाकर इस यज्ञोपवीत व मुद्रिका को उसके भण्डारी को जाकर बता देना और कहना कि वह रत्नों की पेटी मन्त्रीजी ने मंगवाई है । तब उस दासी ने मन्त्री के महल पर जाकर भण्डारी को जाकर वह यज्ञोपवीत और नामांकित मुद्रिका जाकर दिखाई और कहा कि भद्रमित्र की रत्नों की जो पेटी रखी हुई है वह मुझे शीघ्र दे दो, मन्त्री जी ने मंगवाई है । और उसकी निशानी दी है । किसी को भी पता न लगे मुझे तुरन्त ही रत्नों की पेटी दे दो । तब उस भण्डारी ने मुद्रिका आदि को देखकर विश्वास करके रत्नों की पेटी उस दासी को दे दी ।

तत्पश्चात् उस निपुणमति ने रत्नों की पेटी लेकर वापस जाकर महारानी को दे दी और सारा बीता हुआ हाल सुना दिया ।

रामदत्ता देवी दासी पर अत्यंत प्रसन्न हुई और राजा के पास जाकर रत्नों की पेटी उनको दे दी । तब सिंहसेन राजा उस मन्त्री के प्रति क्रोधित होकर कहा कि यह महान कपटी व मायाचारी है । और उस मन्त्री को घर जाने की आज्ञा दे दी ।

राजा ने विचारा कि रत्नों की परीक्षा करना चाहिये और एक थाल मंगा कर पेटी के रत्न तथा उसमें और बढ़िया २ रत्न मिलाकर उस में रख दिए । और भद्रमित्र को बुलाकर कहा कि इन रत्नों में तुम्हारे कौन से रत्न हैं । वह निकाल लो । भद्रमित्र ने उन रत्नों में से अपने जो रत्न थे वह छांट कर निकाल लिये । तब राजा ने कहा कि सत्यघोष ने तुम्हारे रत्न लिये थे इसलिए इन रत्नों में जो रत्न सत्यघोष के हैं, तुम उनको भी ले लो तो भद्रमित्र ने जवाब दिया कि मुझे औरों के रत्न नहीं लेना है । मैं तो अपने ही रत्न ले रहा हूँ । यदि सत्यघोष के रत्न मेरे पास आ जाय तो मुझे पाप लगेगा और नरक में जाना पड़ेगा और हमारे वंश का नाश हो जायगा । हमे औरों के रत्न नहीं चाहिये । मेरे पूर्व जन्म का अशुभ कर्म का उदय था । इस कारण इतने दिन तक मुझे कष्ट सहना पड़ा, अब आगे के लिये मुझे उसके प्रति कुछ करना नहीं ।

भद्रमित्र की यह बातें सुनकर सिंहसेन महाराज ने उसकी महान प्रशंसा की और उसको राज्यश्रेष्ठी का पद दे दिया ।

तत्पश्चात् राजा ने उस सत्यघोष को बुलाकर पूछा कि यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार की मायाचारी या चोरी करे तो उसको क्या दण्ड दिया जाना चाहिये ? तब मन्त्री

ने कहा कि ऐसे मायाचारी चोर को एक थाली भरकर गोबर खिलाना चाहिए। अथवा दस पहलवानों को बुलाकर मुक्का घूसा लगवाना चाहिए। और उसकी सारी सम्पत्ति लेकर नगर से बाहर निकाल देना चाहिए।

यह सुनकर सिंहसेन महाराज ने अपने कर्मचारियों को बुलाकर जैसा सत्यघोष ने कहा उसी प्रकार उन्हीं को दण्ड दिया और उनके सारे कुटुम्ब परिवार वालों की सारी सम्पत्ति छीन ली और नगर के बाहर निकाल दिया।

इसी प्रकार सत्यघोष मन्त्री भद्रमित्र के रत्नों के अपहरण करने के कारण कुछ समय के लिए पागल हो गया। और तदनंतर राजा के प्रति अनंतानुबंधी निदान करके यह विचारा कि इसका बदला मैं राजा सिंहसेन से लूंगा। और वह आर्तध्यान से मरकर राजा सिंहसेन के खजाने में आगंध नाम का विषधर सर्प हो गया।

समय पाकर सत्यघोष मन्त्री के स्थान पर धर्मिला नाम के ब्राह्मण को मन्त्री पद दिया गया। तत्पश्चात् वह भद्रमित्र वरिष्क धूमता २ एक बार विमल गांधार पर्वत पर चला गया तो वहां देखा कि वरधर्म नाम के मुनिराज वहां तप कर रहे थे। उनका धर्मोपदेश सुना।

## चतुर्थ अध्याय

तदनंतर वह भद्रमित्र अपने घर आया और चार प्रकार के दान आदि वह देने लगा। तब उसकी माता सुमित्रा ने कहा कि तुम इस प्रकार यदि दान देकर सम्पत्ति खर्च कर दोगे तो एक दिन सभी धन खत्म हो जावेगा। तब भद्रमित्र ने माता की बात नहीं मानी और वह बराबर दान देता रहा। इसको दान देता देखकर वह सुमित्रा आर्तरोध ध्यान करने लगी और वह मर गई। और अतिग वन में व्याघ्री उत्पन्न हुई।

एक दिन वह भद्रमित्र उस अतिग वन में चला गया। वहां वह व्याघ्री तीन रोज से भूखी बैठी थी, तो तत्काल उस भद्रमित्र को देखते ही पूर्वभव के बैर के कारण उसपर झपटी और मारकर खा गई। भद्रमित्र शुद्ध परिणामों के कारण मर कर भोगभूमि में गया और वहां से आया पूर्ण करके पूर्वभव के स्नेह के कारण रामदत्तादेवी के गर्भ में आया और पुत्ररत्न के रूप में उत्पन्न हुआ।

उस पुत्र का नाम सिंहचन्द्र रखा गया। क्रम से वृद्धि को प्राप्त होने पर वह एक जैन उपाध्याय के पास भेजा गया। वहां धर्म व अनेक शास्त्र-शस्त्र कला आदि में निपुण होकर घर आया और यौवनावस्था प्राप्त होने पर उसका विवाह हो गया।

तदनंतर उस रामदत्ता के एक दूसरा पुत्र और उत्पन्न हुआ। उसका नाम पूर्णचंद्र रखा गया। एक दिन सिंहसेन महाराज अपने खजाने में चले गये। जाते ही वह अगधनाम

का जो सर्प बैठा हुआ था। उसने पूर्वभव के बैर के कारण महाराज को काट डाला और राजा सिंहसेन मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। तब रामदत्ता देवी व उनके दोनों पुत्र वहाँ आये और देखकर मूर्च्छित हो गये।

उस समय एक प्रसिद्ध मंत्रवादी गारुडो को बुलाया गया। उसने मंत्रों के द्वारा विष उतारना चाहा पर विष उतरा नहीं तो उसने एक हवन कुंड बनवाया और मारे सर्पों को बुलाकर कहा कि इस राजा को किसने काटा है। तुम सब सर्प इस हवन कुंड में कूद जाओ। यदि तुम सच्चे हो तो इसमें नहीं जलोगे। तत्काल वे सर्प कूद गये और वे उसमें नहीं जले किन्तु वह विषधर सर्प वहाँ से नहीं आया। तब उसको बुलाकर कहा कि तुम इस हवन कुंड में कूद जाओ। वह कूद गया और तत्काल जलकर राख हो गया। और वह मरकर काल नाम के वन में चमरी मृग हो गया। और सिंहसेन मर कर सल्लकी नाम के वन में अश्वनी कोड नाम का हाथी हो गया।

तदनंतर राजा सिंहसेन के मरने के बाद उनकी पटरानी रामदत्ता देवी प्राण देने को तैयार हुई। वहाँ रहने वाले सत्पुरुषों ने धर्म का उपदेश देते हुए संसार की अस्थिरता बताकर धर्म में रुचि उत्पन्न कराई। तब उस महारानी ने कई दिनों के पश्चात् एक दिन अपने दोनों पुत्रों को बुलाया और बड़े पुत्र सिंहचंद्र का राज्याभिषेक कराया। और छोटे पुत्र पूर्णचंद्र को युवराज पद दिया। तदनंतर दोनों पुत्र धर्मनीति तथा न्यायनीति से राज्य को चलाने लगे।

राजा सिंहसेन के मरण के समाचार सुनकर शांतिमती और हिरण्यवती नाम की दो आर्यिकाएँ रामदत्ता देवी के पास आईं। उन दोनों को देखते ही महारानी अत्यन्त शोक करने लगी। उन दोनों आर्यिकाओं ने रामदत्ता देवी को समझाया कि यह संसार असार है। मोह की महिमा है। जहाँ जन्म है। वहाँ मरण है अतः तुम शोक करना छोड़ दो। इससे तिर्यच गति का बंध होता है। यथाशक्ति आप व्रत धारण करके स्त्रीपर्याय को सार्थक करो। यही आपके लिये योग्य है। उस रामदत्ता देवी ने इन आर्यिकाओं से धर्मोपदेश सुनकर वैराग्य भावना में लीन होकर जिन दीक्षा लेने का विचार किया और अपने पुत्रों को बुलाकर समाचार कहे। इस बात को सुनकर सिंहचंद्र कहने लगा कि हे माताजी! आप मुझे छोड़कर जाना चाहते हैं! मेरे द्वारा ऐसा कौनसा अपराध हो गया है? रामदत्ता ने पुत्र को समझाया कि हे पुत्र! मुझे आत्मकल्याण करने की भावना जाग्रत हो गई है, इसमें तुम विघ्न मत डालो। तब पुत्र ने आत्मकल्याण करने हेतु स्वीकृति दे दी। तब रामदत्ता देवी अपने पुत्र की सम्मति पाते ही दोनों आर्यिकाओं के पास जाकर आर्यिका दीक्षा देने की प्रार्थना की। उसी समय वे दोनों राजकुमार अपनी माता के पास पहुँचे और माता के आर्यिका दीक्षा लेने के बाद वे दोनों कुमार घर पर आकर सुख से समय व्यतीत करने लगे।

एक दिन राजा सिंहचन्द्र को अपनी माता की याद आई और उसके मन में वैराग्य की भावना जाग्रत हो गई। तब एक दिन पूर्णचंद्र नाम के मुनिराज चर्या के लिये उस

और आये तब वह सिंहचंद्र उन मुनिराज को भक्ति पूर्वक पडगाह कर अपने घर पर ले गया और नवधाभक्ति सहित उनको आहार दिया ।

आहार के पश्चात् मुनिराज को उच्चासन पर विराजमान किया । पूजा अर्चा के बाद विनयपूर्वक प्रार्थना करने लगा कि हे भगवन् ! मुझे मोक्ष प्राप्त करने का उपाय बतलाइये । मुनि कहने लगे जा आसन्न भव्य हैं, वे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं । अभव्य जीव कभी मोक्ष नहीं जा सकते । तप दो प्रकार के हैं । एक अंतरंग दूसरा बहिरंग । दोनों ही छह २ प्रकार के होते हैं । अंतरंग और बहिरंग तप के साथ २ अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह को त्याग कर सम्यक्दर्शन सहित मुनिव्रत को धारण किया जाता है । मुनिराज का उपदेश सुनकर वह सिंहचंद्र वैराग्ययुक्त होकर अपने छोटे भाई पूर्णचंद्र को राज्य भार सम्हालकर दीक्षित हो गये । और दीक्षा लेकर वह सिंहचंद्र निरतिचार तपश्चरण करते हुए विपुलमति मनःपर्ययज्ञान को प्राप्त हुए और चारण ऋद्धि के धारक हुए ।

इधर वह छोटा भाई पूर्णचंद्र संसार के विषय भोगों में लिप्त हो गया और धर्म से अरुचि रखने लगा । इस प्रकार विषय भोगों में लीन हुआ देखकर वह रामदत्ता आश्रिका उनके पास आई और पूर्णचंद्र को धर्मोपदेश दिया । इस धर्मोपदेश को सुनकर ऐसा लगा जैसे बंदर को अदरक का स्वाद बुरा लगता है और इधर उधर मुंह बना कर कूदने लगता है । इसी तरह वह पूर्णचंद्र भी अरुचि से मुंह बनाकर इधर उधर चला गया । तब रामदत्ता आश्रिका अपने बड़े पुत्र सिंहचंद्र मुनिराज के पास गई और विनय के साथ नमस्कार किया और प्रार्थना की । हे मुनि ! पूर्णचंद्र धर्म मार्ग में लगेगा या नहीं । भव्य है या अभव्य । इसका निरूपण कीजिये । मुनिराज ने कहा कि यह भव्य है धर्म मार्ग पर लग जायगा । इस संबंध में मैं एक कथा कहता हूँ सो सुनो और यह कथा पूर्णचंद्र को भी जाकर सुनाओ ।

चतुर्थ अध्याय समाप्त

## पांचवां अध्याय

मुनि सिंहसेन आश्रिका रामदत्ता व मुनि सिंहचंद्र का स्वर्ग गमन तथा पूर्णचंद्र को धर्म रूचि उत्पन्न करने के लिए संबोधन

तदनंतर वह सिंहचंद्र मुनिराज कहने लगे—कौशल देश से संबद्ध वृद्धनाम का ग्राम है । उसमें मृगायण नाम का एक ब्राह्मण था । उसकी स्त्री का नाम मदुरई था । उन दोनों के वारुणी नाम की पुत्री थी ।

कुछ समय पश्चात् वह ब्राह्मण मृत्यु को प्राप्त हुआ । अयोध्या नगर का अधिपति अतिबल था । उसकी पटरानी सुमति थी । उस ब्राह्मण का जीव पटरानी के

गर्भ में आकर हिरण्यवती नाम की पुत्री हुई। यौवनावस्था को प्राप्त होने पर पोदनपुर के राजा पूर्णचंद्र के साथ उसका विवाह हो गया। और मद्दुरई नाम की ब्राह्मण की स्त्री मर कर हिरण्यवती के गर्भ में आकर पुत्री हुई। वह पुत्री रामदत्ता तुम ही हो। और भद्रमित्र नाम के व्यापारी का जीव मरकर मैं सिंहचंद्र मुनि मैं ही हूँ और पूर्वजन्म में जो वारुणी तुम्हारी पुत्री थी वह मर कर तुम्हारे गर्भ से पूर्णचंद्र हो गया। इसलिए उस पर आपका गाढ़ स्नेह है। आगे चलकर वह पूर्णचंद्र सम्यक्दृष्टि होगा। तुम्हारे पिता पूरणचंद्र मुनि दीक्षा लेकर मुझको धर्मोपदेश करके मुझे दीक्षा देकर दीक्षागुरु हो गये। तुम्हारी हिरण्यवती माता ने शांतिमति आर्यिका के पास जाकर आर्यिका दीक्षा ली। तुम्हारे पाँत सिंहसेन राजा सर्पदंश से मरकर सल्लकी नाम के वन में अशनीकोड नाम का हाथी हुआ।

एक दिन जब हम पर्वत पर तप कर रहे थे उस समय वह अशनीकोड हाथी क्रोधित होकर मुझे मारने आया। तब मैं चारण ऋद्धि के प्रभाव से आकाश में चला गया और खड़ा रह कर पूर्वभव का स्मरण उस हाथी को करा दिया। हे सिंहसेन राजा! तुम पूर्वभव के पाप कर्म के निमित्त से हाथी होकर उत्पन्न हुए। अब उससे भी अधिक पाप कार्य कर रहे हो। जब मैं राजा था, उस वक्त भी मैंने तुम्हें देखा था और आज भी तुम्हें मैं हाथी की पर्याय में देख रहा हूँ। इसलिए आप इस पाप से भयभीत होकर धर्म पर रुचि रखकर सम्यक्त्व धारण करो। मैं सिंहसेन राजा का पूर्वभव का बड़ा पुत्र हूँ। इस प्रकार सिंहचंद्र मुनि का उपदेश सुनकर उस हाथी को जाति स्मरण हो गया और खड़ा होकर एकदम से विनयपूर्वक नमस्कार किया। और उस हाथी को धर्म श्रवण कराया और हाथी ने पाँचों पापों को त्याग कर पंच अगुन्नत धारण किये। व्रत लेकर वह हाथी मासोपवास पाक्षिकोपवास करने लगा। और सूखा तृण व पत्ते आदि खाकर अपना जीवन पूरा करने लगा। एक बार पाक्षिकोपवास करने की दशा में केसरी नाम की नदी में पानी पीने गया था। वहाँ कीचड़ में वह फँस गया। इस कारण उस कीचड़ में से निकलने की शक्ति नहीं रही। सत्यघोष मंत्री का जीव चमरी मृग होकर मरकर कुक्कुट नाम का सर्प हुआ था, वह वहाँ मौजूद था। उसको पूर्वभव के बैर का स्मरण होकर उसने हाथी को इस लिया। उस विष से वह महान दुखी हुआ और धर्मध्यान में लीन होकर शांतभाव से पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण करता हुआ प्राण त्याग कर सहस्रार कल्प में सूर्यप्रभ विमान में श्रीधर देव उत्पन्न हुआ। तब वहाँ के अन्य देवों ने पास में खड़े होकर जयजयकार करते हुए वाद्यध्वनि की और बहुत सन्मान किया। उस श्रीधर ने अपने मन में विकल्प किया कि मैं कौन हूँ कहां से आया हूँ, यह कौनसा क्षेत्र है? उन सबका समाधान अवधिज्ञान द्वारा उसने जान लिया। मैंने पूर्वजन्म में जो व्रत ग्रहण किया था उस का ही यह फल है कि मैं वहाँ देव हुआ हूँ और यह विभूति मिली है। और यह सब परिवार के सेवक देव खड़े हैं।

तदनंतर वहाँ के रहने वाले सामान्य देवों ने उसको नमस्कार करके कहा कि त्रिमंजिल नाम की बावड़ी में स्नान करके प्रथम जिनेंद्र भगवान के दर्शन करो और यहाँ



देवियां हैं उनके साथ सुखों का भोग करो । जैसे सामान्य देवों ने कहा उसी प्रकार उस श्रीधर देव ने किया ।

राजा का दूसरा घमिला नाम का मंत्री मरकर वन में बानर हुआ । और उस कुक्कुट सर्प को बैरभाव से मार दिया । समय पाकर उस पाप के कारण बानर का जीव मरकर तीसरे नरक में उत्पन्न हुआ । और कुक्कुट से काटा हुआ वह गजराज मरकर सहस्रार कल्प में देव हुआ । और कुक्कुट सर्प मरकर नरक में गया ।

उस गजराज के मस्तक में जो गजमुक्ता थे तथा उसकी हड्डी आदि पड़ी थी उन सबको एक भील इकट्ठा करके ले गया । और धनमित्र सेठ को बेच दिया । धनमित्र सेठ ने उनको राजा पूर्णचंद्र को अर्पण कर दिये । राजा ने उन हड्डियों का एक पलंग बनवा लिया और पलंग के पायों में गजमोती भरवा दिये और शेष मोतियों की माला बनाकर अपने गले में धारण कर ली । इस प्रकार वह पंचेंद्रिय विषय भोगों में मग्न था ।

सिंहचंद्र मुनिराज ने इस प्रकार सिंहसेन मुनिराज के पूर्वभव की कथा सुनाई । और कहा कि तुम जाकर अपने छोटे पुत्र पूर्णचंद्र को यह कथा सुनाओ । उसका मन धर्म ध्यान में रुचि बाला हो जायेगा ।

तदनंतर रामदत्ता देवी सीधी पूर्णचंद्र के कल्याण हेतु गई और सिंहचंद्र मुनिराज द्वारा कही हुई सारी कथा उनको सुनाई । कथा सुनकर उनको दुःख व पश्चाताप हुआ और मृतक गजराज की हड्डियों व मोतियों का बनाया हुआ पलंग और माला आदि सबको फेंक दिये । आज तक किये हुए पापों का पश्चाताप करके पंचाणुव्रत धारण करके संसार से विरक्त होकर श्रावक के षट्कर्मों में तत्पर हो गया । तब उसने निदान कर लिया कि यही पुत्र अगले भव में मेरे गर्भ में आकर उत्पन्न हो जावे । और रामदत्ता देवी शुभ परिणामों से मरकर महाशुक्र कल्प में भास्कर भ्रम नाम का देव हुआ । और वहां स्वर्गीय सुखों का अनुभव किया । और वह पूर्णचंद्र अपनी आयु पूर्ण करके इसी महाशुक्र कल्प में वैदूर्यप्रभ नाम का देव हुआ ।

तदनंतर सिंहचंद्र मुनि घोर तपश्चरण करते हुए अन्त में सत्लेखना विधि से शरीर छोड़कर उपरिम २ नवें ग्रैवेयिक में अर्हमिद्र उत्पन्न हुआ । वहां इसकी आयु ३१ सागर की हुई । उसको वहां शारीरिक मानसिक भोग नहीं है । सब देव प्रतीचार रहित हैं । मुक्त हुए जीव के समान सुख शांति से रहते हैं और तरव चर्चा किया करते हैं ।

सिंहसेन, सिंहचंद्र, रामदत्ता देवी व पूर्णचंद्र आयु पूर्ण करके अपने २ शुभ परिणामों से देवपर्याय धारण को । उस सत्यधोष का जीव घोर दुःख पाता हुआ नरकों में गया । आर्तरीद्रध्यान के परिणामों से यह जीव नरक गति, तिर्यंचगति को प्राप्त होता है और शुभ परिणामों से मनुष्यगति व देवगति को प्राप्त होता है । इसीलिए सभी लोगों

को चाहिये कि वे आतं रौद्र ध्यान छोड़कर धर्मध्यान में लीन हों। यही परंपरा मोक्ष का मार्ग है और यही कथा का सार है।

पाँचवाँ अध्याय समाप्त

## छठा अध्याय

पुनः मध्यलोक में आकर सिंहसेन, रामदत्ता व पूर्णचंद्र द्वारा पूर्वभव के पुण्य के कारण देवगति को प्राप्त होना।

तदनंतर देव सुख को भोगते हुए उस रामदत्ता का जीव भास्करप्रभ देव के जब आयु के १५ दिन शेष रह गये तब शरीर की व नेत्रों की कांति मलिन हो गई। इससे वह देव डर गया। तब वहाँ के अन्य २ साथी देवों ने आकर उस जीव को अनित्यादि रूप से संसार का स्वरूप समझाया और इस संबोधन से वह देव अपने हित करने के लिए उद्यत हुआ और धर्मध्यान पूर्वक प्राणों का त्याग किया और मध्य लोक में आया। जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र के विजयाद्वर्ग पर्वत की दक्षिण श्रेणी में धरणी तिलक नाम का नगर था। उस नगर का अधिपति अतिवेग था। उसकी पटरानी का नाम सुलक्षणा था। रामदत्ता का जीव इन दोनों दम्पतियों के गर्भ में आकर श्रीधरा नाम की पुत्री हो गई। जब वह पुत्री युवावस्था को प्राप्त हुई तब अलकापुरी के राजा दर्शक के साथ उसका विवाह हो गया था। थोड़े समय बाद वह वैडूर्यप्रभ देव आयु के अवसान पर वहीं से चल कर श्रीधरा के गर्भ में आकर यशोधरा नाम की पुत्री हुई। यौवनावस्था प्राप्त होने पर भास्करपुर के सूर्यावर्त नाम के विद्याधर अधिपति के साथ उस यशोधरा का विवाह हो गया। तब पूर्वभव में सिंहसेन राजा का जीव श्रीधर देव धर्म ध्यान से आयु पूर्ण करके इस यशोधरा से गर्भ में आ गया। नवमास पूर्ण होने पर किरण वेग नाम का पुत्र हुआ। वह किरणवेग यौवनावस्था को प्राप्त करके अनेक राज कन्याओं के साथ विवाह करके सुख से भोग भोगने लगा।

एक दिन राजा सूर्यावर्त ने अपने मन में संसार का स्वरूप विचारा। वे उस विजयाद्वर्ग पर्वत को छोड़कर वहाँ से नीचे भूमि पर आये तब वहाँ एक मुनि चन्द्र नाम के तपस्वी तप कर रहे थे। सूर्यावर्त ने इन्हें नमस्कार करके उनका उपदेश सुना। तत्पश्चात् संसार से विरक्त होकर अपने स्थान को गये और वहाँ जाकर अपने पुत्र को राज्य देकर उनसे मुनिराज के पास आकर विधिपूर्वक जिन दीक्षा ले ली।

इस बात को सुनकर सूर्यावर्त की पुत्री तथा उसकी पटरानी दोनों ने गुणवती आर्यिका के पास जाकर आर्यिका दीक्षा धारण की। तदनंतर किरण वेग (सूर्यावर्त के पुत्र) ने त्रैराग्य प्राप्त किया और जिनेन्द्र भगवान के दर्शनों के लिए विजयाद्वर्ग पर्वत पर स्थित सिद्धायतन कूट के अकृत्रिम चैत्यालय में गया। और वहाँ सब जिन त्रिम्बों के

दर्शन करके भक्तिपूर्वक स्तुति की। उस समय उस चैत्यालय में हरिचंद्र नाम के चारण ऋद्धि धारी मुनि विराजते थे। उनको देखकर नमस्कार करके उनके पास बैठ गया। और कहा कि हे भगवन् ! धर्म का स्वरूप क्या है ? यह मुझको बताइये।

हरिचंद्र मुनिराज ने कहा कि सप्त तत्त्व, षट्द्रव्य, सप्तभंगी, नय आदि के स्वरूप समझने से तुम्हारे कर्मों का क्षय होकर मुक्ति प्राप्त हो जायगी। इस धर्म को सुनने के पश्चात् उसने संसार से विरक्त होकर जिन दीक्षा लेकर निरतिचार पूर्वक तपश्चरण करते हुए चारण ऋद्धि को प्राप्त कर लिया।

वह किरणवेग तपस्या करते हुए कांचनप्रभ नाम की गुफा में रहते थे। तब श्रीधरा व यशोधरा दोनों ने उन महाराज के पास जाकर धर्म का स्वरूप समझा और वापस अपने घर लौट आईं।

तदनंतर वह महामुनि उस गुफा में आ गये और वहां जाते ही देखा कि सत्यघोष का जीव अजगर जो वहां रहता था पूर्वभव के बैर के कारण इन मुनिराज को उसने निगलना शुरू कर दिया। मुनि महाराज ने अपने ऊपर घोर उपसर्ग आया समझ कर ॐ नमः सिद्धेभ्यः ऐसा बोलने लगे। तब इनकी आवाज को सुनकर वे दोनों आर्थिकाएं वापस लौटकर शीघ्र आ गईं और मुनिराज के आधे शरीर को अजगर द्वारा निगला हुआ देखकर अवशिष्ट दोनों भुजाओं को दोनों ने खींचना शुरू किया। परन्तु उस अजगर ने अपने बल से मुनिराज के साथ इन दोनों आर्थिकाओं को खा डाला। ये तीनों मरकर कापिष्ठ नाम के स्वर्ग में उत्पन्न होकर चौदह सागर की आयुष्य वाले देव हो गये। और वह अजगर मरकर चौथे नरक में गया।

इसका सारांश यह है कि पाप कार्य को छोड़कर पुण्य कार्य को शक्ति अनुसार पालन करना चाहिए जिससे यह आत्मा संसार में अधिक समय तक भ्रमण न करता रहे।

छठा अध्याय समाप्त

## सप्तम अध्याय

जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र सम्बन्धी चक्रपुर नाम का नगर है। उस नगर का राजा अपराजित है। उसकी रानी का नाम वसुन्धरा है। अहमिन्द्र नाम के देव ने स्वर्ग से चलकर अपराजित राजा की रानी वसुन्धरा के गर्भ में जन्म लिया। जन्म लेने के पश्चात् उसका नाम चक्रायुध रखा गया। वह कुमार शस्त्र-शास्त्र आदि अनेक कलाओं में पारंगत हो गया। यौवनावस्था को प्राप्त होने पर उनके पिता ने चित्रमाला नाम की राजकन्या के साथ विवाह कर दिया। वह कुमार अपनी स्त्री चित्रमाला सहित विषय भोगों में खूब

मग्न रहने लगा । कापिष्ठ कल्प में रहने वाला देव किरणवेग का जीव चित्रमाला के गर्भ में आया । उसने पुत्ररत्न को जन्म दिया । उसका नाम वज्रायुध रखा गया । क्रम से वह यौवनावस्था में प्रवेश किया तब पृथ्वी तिलक नाम के नगर का राजा अतिवेग राज्य करता था । उनके प्रियकारिणी नाम की पटरानी थी । रत्नमाला का जीव श्रीघरा था । वह श्रीघर का जीव प्रियकारिणी के गर्भ में आया । और उसके रत्नमाला नाम की पुत्री हुई । रत्नमाला कुमारी की यौवनावस्था होने पर वज्रायुध से साथ उसका विवाह हो गया ।

तदनंतर रत्नमाला के गर्भ में यशोधरा का जीव स्वर्ग से आया और नवमास पूर्ण होने पर उसके पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ । जिसका नाम रत्नायुध रखा गया । रत्नायुध के यौवनावस्था को प्राप्त होने पर राजकन्या के साथ लभन कर दिया । इस प्रकार अपराजित महाराज अपने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि सभी परिवार को देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए । कई दिनों के बाद एक दिन पिहितश्रव नाम के मुनिराज उस नगर में आये । राजा अपराजित ने मुनिराज के पास जाकर भक्ति पूर्वक नमस्कार करके धर्मोपदेश सुना और सुनकर संसार से विरक्त होकर अपने पुत्र को राज्य पद देकर जिन दीक्षा धारण की ।

तदनंतर वह चक्रायुध राज्य का परिपालन करता हुआ धर्म ध्यान पूर्वक संसार से विरक्त होकर अपने पुत्र वज्रायुध को राज्य भार सम्हालकर अपने पिता अपराजित के पास मुनि दीक्षा धारण की ।

चक्रायुध मुनि अत्यन्त उग्र बारह प्रकार के निरतिचार तप करते हुए बाईस प्रकार की परीषहों को सहन करते हुए तप में लीन रहने लगे । एक दिन वज्रायुध भी संसार से विरक्त होकर अपने पुत्र रत्नायुध को राज्य भार सम्हालकर अपने पिता चक्रायुध मुनि से जिन दीक्षा ले ली । तदनंतर चक्रायुध ने घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया । केवलज्ञान प्राप्त होने ही चतुर्गिकाय के देवों ने आकर केवलज्ञान की पूजा की और तत्काल ही मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया ।

तब वज्रायुध मुनि ने आकर नमस्कार किया और अपने धर्म ध्यान के हेतु वापस चले गये । वह चक्रायुध केवली पूर्णभव में भद्रमित्र नाम का व्यापारी था । और सिंहचंद्र राजकुमार हुआ और तप करके अहमिद्र स्वर्ग में देव हुआ । तदनंतर मध्यलोक में कर्म भूमि में आकर चक्रायुध राजा हो गया । और तप करके केवल ज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष पद प्राप्त किया ।

सप्तम अध्याय समाप्त

## अष्टम अध्याय

वह राजा रत्नायुध पंचेंद्रिय विषयों में सर्वद रत रहता था । इस प्रकार रत रहते हुए उस नगर के बाहर के मनोहर नामक उद्यान में चतुर्स्र सहित वज्रदंत नाम के

मुनि आ गए। उस समय वह मुनिराज त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति के ग्रन्थ का उपदेश कर रहे थे। उस रत्नायुध का हाथी उस उद्यान में आ गया और उस ग्रन्थ का उपदेश सुनने लगा। उस हाथी का महावत नित्य प्रति मांस मिश्रित आहार उसको खिलाता था। किन्तु उस उपदेश को सुनकर उसने उस दिन वह आहार नहीं खाया। तब महावत ने राजा रत्नायुध से जाकर प्रार्थना की कि राजन् ! आज वह हाथी खाना नहीं खा रहा है। तब राजा ने एक चिकित्सक को उसके इलाज के लिए बुलाया। वह वैद्य महान चतुर था उसने कहा कि इसको कोई रोग तो नहीं है। पूर्वभव का इसको जाति स्मरण हो गया है। यदि परीक्षा करना है तो इसके सामने मांस रहित आहार लाकर रखो। तब उसके लिए मांस रहित आहार मंगवाया गया। उस आहार को रुचि पूर्वक उस हाथी ने खा लिया।

वह रत्नायुध पहले से नास्तिक था किन्तु भगवान के वचनों पर श्रद्धा रखकर उस वज्रदंत मुनि महाराज को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके अपने हाथी के सम्बन्ध में पूछा कि हाथी ने मांस मिश्रित आहार किस कारण से ग्रहण नहीं किया। तदनंतर मुनि अपने अविधिज्ञान के द्वारा हाथी के पूर्वभव का हाल समझाने लगे। हे रत्नायुध सुनो—

इस भरत क्षेत्र सम्बन्धी हस्तिनापुर नाम का नगर है। उस नगर का राजा प्रीतिभद्र था। उसकी पटरानी वसुन्धरा थी। उसके प्रीतिकर नाम का पुत्र था। वह राजपुत्र व मन्त्री का लड़का सदैव एक साथ मित्रता पूर्वक रहते थे। एक दिन प्रीतिकर व विचित्रमति ने धर्मरुचि मुनिराज के पास जाकर भक्तिपूर्वक नमस्कार करके धर्माभूत सुनकर जिनदीक्षा ग्रहण करली। इन दोनों में प्रीतिकर मुनि निरतिचार पूर्वक तप करते थे। तप करते २ क्षीराश्रवी ऋद्धि प्राप्त हो गई।

एक दिन ये दोनों मुनि विहार करते २ अयोध्या नगर के उद्यान में आकर विराजे। वे प्रीतिकर मुनि एक दिन चर्या के लिए नगर में गये। जाते समय जिस रास्ते से वे जा रहे थे उस जगह एक सुन्दर बुद्धिसेना नाम की वेश्या का घर था। उसके घर के बाहर से जाते समय वह वेश्या उनके सामने जाकर खड़ी हो गई और नमस्कार करके पूछने लगी कि हे मुनिराज ! उत्तम कुल, उत्तम जाति, सत्पात्र दान देने की योग्यता किस धर्म से प्राप्त होती है। मुनिराज ने कहा कि सभी जीवों पर दया करना, म्वनिदा और दूसरों की प्रशंसा करने, शील व्रत पालने, सप्त व्यसनों का त्याग करने आदि व्रतों से उत्तम कुल उत्तम धर्म मिलता है। तदनंतर उस वेश्या ने मुनिराज से अणुव्रत ग्रहण किये और पाँचों पापों आदि का त्याग कर दिया।

तदनंतर वह मुनि आहार को आगे न जाकर वापस उद्यान में उन मुनिराज के पास आ गए। तब उस विचित्रमति मुनि ने कहा कि आज आपको इतना समय कैसे लग गया ? तब प्रीतिकर मुनि ने सारे समाचार उस वेश्या सम्बन्धी कह दिये। और यही देर होने का कारण बतलाया। तब विचित्रमति मुनि ने वेश्या का हाल सुनकर उसके प्रति मोह उत्पन्न हो गया। उन्होंने पूछा कि वेश्या का घर कहां किस ओर है। इस बात को सुनकर उन्होंने अमृक मुहल्ले में उसका घर है ऐसा बतला दिया।

तब वह मुनि चर्या के लिए नगर में उसी वेश्या के मकान के बाहर होकर गये तो उस वेश्या ने पहले के अनुसार विचित्रमति मुनि को भक्ति पूर्वक नमस्कार करके पूछा कि हे मुनिवर ! कल जो मैंने अणुव्रत एक मृनिराज से लिए थे उसका फल क्या है ? तब मुनिराज ने उसका फल विपरीत बतलाया ! इस बात को सुनकर उस वेश्या ने विचारा कि कल जो मुनिराज पधारें थे उनसे आज यह मुनि विपरीत मालूम होते हैं ! मुनिराज ने उसको विपरीत कथाएं सुनाई ।

कामातुराणां भयं न लज्जा

तदनंतर उस वेश्या को क्रोध आ गया और अधिक देर तक बात न करके अपने घर वापस चली गई । वे मुनि उस वेश्या से समागम करने का उपाय सोचने लगे ।

उस नगर का राजा गंधमित्र था । वह मांस भक्षण करने का लोलुपी था । वह मुनि उनके रसोइया के साथ जाकर मिला और उससे मिलकर मित्रता करली । वह धूर्त मुनि नित्य स्वादिष्ट मांस लाकर उस रसोइया को देता था और उस मांस को खाकर वह राजा उस पर प्रसन्न हो गया और कहने लगा कि मैं तुमसे प्रसन्न हूं । तुम जो चाहो सो मांगो । उसने कहा कि मुझे और कुछ नहीं चाहिए केवल आपके नगर में जो बुद्धिसेना वेश्या है उससे मैं विषय भोग करना चाहता हूँ । तब राजा ने तथाऽस्तु कह कर उस वेश्या को बुलाया और उस धूर्त मुनि के सुपुर्द कर दिया । वह धूर्त विषय भोग में रत हो गया और अन्त में मरकर वह हाथी की पर्याय में आया है । अब उसको उस मुनि महाराज के प्रभाव से जाति स्मरण हो गया और इसने मांस भक्षण करना छोड़ दिया । इसीलिए मांस मिश्रित आहार नहीं किया ।

तब रत्नायुध को मुनिराज से उपदेश सुनकर संसार से वैराग्य हो गया और जिन दीक्षा धारण करली और उनकी माता रत्नमाला ने भी अपने पुत्र से साथ २ उन मुनिराज से आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली । धर्म ध्यान करते २ समाधिपूर्वक मरण करके वे दोनों अच्युत कल्प में देव हो गए ।

तदनंतर उस कुक्कुट सर्प का जीव पाप कर्म के उदय से चौथे नरक में गया । और वह जीव चार सागर काल तक त्रस पर्याय में भ्रमण करता रहा । वहां से आयु पूर्ण करके आकर कच्छपुर नगर में तारण तरण नाम का भील उत्पन्न हुआ । उसकी स्त्री का नाम मंगी था । उनके अतिदारुण नाम का पुत्र हुआ ।

वह भील एक दिन अपने हाथ में धनुष बाण आदि लेकर वहां के पर्वत पर गया । वहां देखा कि वज्रायुध नाम के मुनि तपश्चरण कर रहे हैं । उन पर उस भील ने अनेक प्रकार के घोर उपसर्ग किये । इस उपसर्ग को सहन करते हुए ध्यान में लीन होकर प्राण छोड़ सर्वार्थसिद्धि में जाकर अहमिद्र नाम के देव हुए । और पाप के उदय से आयु पूर्ण करके वह भील सातवें नरक में गया ।

अष्टम अध्याय समाप्त

## नवां अध्याय

पूर्णचंद्र व रामवस्ता देवी की कथा

घातकीखंड द्वीप के पूर्व भाग में महा मेरु पर्वत के पश्चिम भाग में सीतोदा नदी के उत्तरी तट पर गांधिल नाम का देश है। उस देश सम्बन्धी अयोध्या नगर है। उसका अधिपति अर्हदास है। उसकी दो पटरानी थी। जिनका नाम सुव्रता और जिनदत्ता था। वह रत्नमाला का जीव जो अच्युत कल्प में रहता था, सुव्रता रानी के गर्भ में आया। नवमास पूर्ण होने पर पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। उसका नाम वीतभय रखा गया। और जिनदत्ता के गर्भ में रत्नायुध का जीव आया वह विभीषण नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वीतभय बलभद्र तथा विभीषण वासुदेव थे, वासुदेव को देखकर प्रतिवासुदेव क्रोधित हो गये और परस्पर में युद्ध छिड़ गया। तब प्रतिवासुदेव ने वासुदेव की सेना को पीछे हटा दिया। तदनंतर वासुदेव ने प्रतिवासुदेव की सेना को युद्ध में जीत लिया। तब प्रतिवासुदेव ने अपने पास रखे हुए चक्ररत्न को चलाया। वह चक्ररत्न वासुदेव के तीन प्रदक्षिणा देकर बाईं ओर खड़ा हो गया। वासुदेव ने वही रत्नचक्र वापस उन पर छोड़ दिया। तब उस चक्ररत्न ने प्रतिवासुदेव को ही मार दिया।

तदनंतर वीतभय और विभीषण दोनों ने उस तीन खंड में रहने वाले सब राजाओं को जीतकर वापस अपने नगर से आकर वे सुख से समय व्यतीत करने लगे।

कुछ दिन पश्चात् वह विभीषण मर गया। और वीतभय संसार से विरक्त होकर वैराग्य भाव रखते हुए जिनदीक्षा धारण करके समाधिपूर्वक मरण करके लांतवनाम के कल्प में देव हुआ। वहां जाकर अवधिज्ञान से जान लिया कि विभीषण दूसरे नरक में गया है। तब वह वीतभय विभीषण के जीव को सम्बोधन के लिए दूसरे नरक में गया।

नवम अध्याय समाप्त।

## दशम अध्याय

नरक में वासुदेव द्वारा नारकी को धर्मोपदेश

उस लांतव देव ने दूसरे नरक में जाकर विभीषण के जीव (नारकी) को धर्मोपदेश दिया और पूछा कि हे नारकी जीव ? तुम जानते हो मैं कौन हूँ ? मैं पूर्व जन्म में मादुरी नाम की ब्राह्मण की स्त्री थी उसके तू वारुणो नाम की पुत्री थी। मैं दूसरे जन्म में रामदत्ता देवी हुई और तुम मेरे गर्भ से पूर्णचंद्र पुत्र हुए और हम दोनों तपश्चरण करके देव हो गये। तदनंतर मैं वहां से चयकर श्रीधर नाम की पुत्री हुई। दोनों ने कापिष्ठ नाम के कल्प में देव होकर वहां से आयु पूर्ण करके इस कर्मभूमि में रत्नमाला नाम की

मैं स्त्री हुई । मेरे गर्भ से रत्नायुद्ध का जन्म हुआ । हम दोनों ने तप करके अच्युतकल्प में देव पद प्राप्त किया ।

तदनंतर मैं गंधिला नाम के देश के अयोध्या नाम के नगर में वीतभय नाम का राजा हुआ और तुम विभीषण नाम का केशव पुत्र हुआ । तुमको अधिक परिग्रहों की लालसा से इस नरक में आना पड़ा और मैं तप करके लांतव कल्प से आदित्याभ देव हुआ ।

मैंने अपने अधिज्ञान से जाना कि तुम इस नरक में हो, इस कारण तुमको धर्मोपदेश सुनाने आया हूँ । तुमको इस नरक के दुखों से डरना नहीं चाहिये । तुम्हारे इस नरक से अधिक दुःख तुम्हारे से नीचे के नरक में रहने वाले नारकियों की है । मैं पूर्वजन्म में राजा था, इतना वैभव वाला था, ऐसा विचार मन में मत लाओ और जो अन्य नारकी तुम को कुछ दुख देते हों तो उन पर क्रोध मत करो और यह विचार करो कि यह मेरे अशुभ कर्म का उदय है और सदैव अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन पांच परमेष्ठियों का स्मरण रखो । इसीसे तुम्हारा दुख दूर होगा । इस नरक से मैं कब निकलूँ ऐसा भी विचार मत करो । यदि इस प्रकार तुम शुभ भावनाएं रखोगे तो अगले भव में उच्चकुल में जन्म लेकर कर्मक्षय करके मोक्ष की प्राप्ति करोगे । इस प्रकार जिस तरह तुमको धर्मोपदेश दिया है उसी प्रकार समझ कर उसके अनुसार चलो और यह जिनघर्म ही सुख और शांति देने वाला दयामयी धर्म है । इस प्रकार जो मैंने कहा है उस बात पर विश्वास रखो ।

तत्पश्चात् उस नारकी जीव ने उस देव को नमस्कार करके कहा कि जैसा आपने कहा है उसी प्रकार मैं चलूँगा और इस प्रकार व देव उसको समझा कर स्वर्ग में चला गया ।

बारावां अध्याय समाप्त

## ग्यारहवां अध्याय

मेक और संवर का जन्म वर्णन

तदनंतर पूर्णचंद्र के जीव ने नरकों के सम्पूर्ण दुःखों की उपशम भाव से सहन किया । जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में अयोध्या का अधिपति श्रीवर्मा राजा था । उसके गर्भ से पूर्णचंद्र के जीव ने नरक से आकर जन्म लिया । युवावस्था होने पर अनेक २ कन्याओं के साथ विवाह हो गया और विषय सुखों को भोगने लगा ।

इस प्रकार सुख से समय बीतते हुए एक दिन अनंत नाम मुनि नगर में आए । मुनि को नगर में आया सुनकर उनके दर्शनार्थ गया और भक्ति पूर्वक नमस्कार करके



बैठ गया। मुनिराज के धर्मोपदेश को सुनकर उनको वैराग्य उत्पन्न हो गया। तदनंतर जिन दीक्षा लेकर निरतिचार तप करके अंत में सल्लेखना की विधि से मरणाकर ब्रह्मकल्प नाम के पांचवें स्वर्ग में गया।

हे धररौद्र सुनो ! पंचानुत्तरों में सर्वार्थसिद्धि नाम के अर्हमिद्र लोक में रहा हुआ वज्रायुध का जीव आकर संजयंत हुआ। ब्रह्मकल्प गया हुआ जीव आकर जयंत हो गया। जयंत ने दीक्षा लेकर एक दिन धररौद्र को और उसके पूरे परिवार को देखकर निदान बंध किया कि तप के प्रभाव से मैं धररौद्र होऊँ। सो मरकर वह धररौद्र के जीव आपही हूँ। सत्यघोष का जीव अतिदारुण है। अतिदारुण का जीव सातवें नरक में गया। मरकर अजगर हुआ। अजगर की पर्याय से मरकर तीसरे नरक में गया। वहाँ से आकर पशु पर्यायों में जन्म लिया। अनंतर जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र के भूतरमण वन में मिथ्या तापसी सब मिथ्यादृष्टियों का अधिपति गोश्रृंग नाम का था। उसकी स्त्री का नाम संगी था। उन दोनों के (सत्यघोष का पुराना जीव) मृग श्रृंग नाम का पुत्र हुआ। वह भी मिथ्या तपस्वी हो गया। तब अतिसुंदर विद्याधर आकाश में एक दिन जा रहा था। देखकर उसने निदान किया कि मैं भी अगले जन्म में ऐसा ही विद्याधर हो जाऊँ, तब वह मृगश्रृंग तापसी मरकर विजयार्धपर्वत की उत्तर श्रेणी में कनकपुर के अधिपति वज्रदंत की पटरानी विद्युत्प्रभा से पुत्र हुआ और एक दिन उसने संजयंत मुनि को देखकर पूर्वभव के बैर से उपसर्ग किया। मृग श्रृंग का जीव पूर्वभव में सत्यघोष था। क्रोध व मायाचार के कारण अनेक कुगतियों में दुख भोगत हुआ यहां आया। संजयंत मुनि पूर्वभव में सिंहासेन थे। अब संजयंत हैं। संजयंत मुनि उपसर्ग सहनकर मोक्ष में चले गये। सत्यघोष मंत्री का जीव अगंध सर्प हुआ, तत्पश्चात् चमरी मृग होकर कुक्कुट सर्प हुआ और तीसरे नरक में गया। वहाँ से आयुपूर्ण करके चयकर अजगर पर्याय धारण की और चौथे नरक में गया। वहाँ से भील की पर्याय में गया। तत्पश्चात् भील का जीव सातवें नरक में गया। और सर्प हो गया। वहाँ से तीसरे नरक में गया। अनंतर मध्यलोक में आकर मृगसिंह नाम का तापसी हुआ। तदनंतर अंत में विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर होकर धररौद्र के पास आया।

वह सिंहासेन राजा हाथी की पर्याय धारण कर आयु पूर्ण करके सहस्रार कल्प में देव हुआ। तदनंतर मध्यलोक में किरणवेग राजा हुआ। आयु पूर्ण करके कापिष्ठ कल्प में देव हुआ। तत्पश्चात् मध्यलोक में आकर वज्रायुध नाम का राजा हुआ। तदनंतर पंचाणुत्तर कल्पातीत में देव हुआ। वहाँ से चयकर संजयंत नाम का राजा होकर तपश्चरणा करके मोक्ष चले गये। इसलिये हे धररौद्र इस विद्युद्दंष्ट्र को नागपाश से मुक्त करो। इस प्रकार आदित्याभ देव ने कहा। तब धररौद्र ने आदित्याभ देव को देखकर कहा कि आपने नरक में आकर मुझे धर्मोपदेश दिया। उसके अनुसार चलने से मैंने धररौद्र पद को प्राप्त किया। तब धररौद्र ने कहा कि मैं इस विद्याधर को ऐसे नहीं छोड़ूँगा। इसकी सब विद्याओं को छेद करूँगा तब छोड़ूँगा। इस बात को सुनकर आदित्याभ देव ने कहा कि मैंने जो कहा है कि इसको छोड़ दो इसमें तुमको तर्क नहीं करना चाहिये। इनके अपराध को क्षमा कर दीजिये और आगे ऐसी विद्याओं को पुरुषवर्ग

साधन न करें और केवल स्त्रियां ही ऐसी विद्याओं को प्राप्त करें। यदि संजयंत मूनि के मोक्ष स्थान पर स्त्रियां आकर मंत्र की साधना करें तो अवश्य मंत्र सिद्ध हो जावेगा। वहां जाकर उनका मंदिर बनाना चाहिये। यदि ऐसा नहीं करोगे तो सभी विद्याधर मनुष्यों को कष्ट देगा और इस ह्रीमंत नाम के पर्वत पर संजयंत नाम की प्रतिमा की स्थापना करके पंच कल्याणक प्रतिष्ठा कराओ। तदनंतर वह धरमोंद्र देव अपने भवन लोक में चला गया।

आदित्याभ देव उस विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर को देखकर कहने लगा कि अब तुम पूर्वभव के बैर को छोड़कर उनके चरणों में भक्ति पूर्वक नमस्कार करो। एक भव में बैर करने से तुमको अनेक जन्मांतर में भ्रमण करना पड़ा। इस कारण तुम इस संजयंत मूनि सिद्ध भगवान की पूजा स्तुति करके अपने द्वारा किये हुए अपराधों की क्षमा मांगो और कहो कि मैंने अविवेक से जो आज तक अपराध किए हैं वह क्षमा करिये। इस प्रकार वह विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर क्षमा मांग कर नमस्कार करके अपने स्थान को चला गया और आदित्याभ देव अपने लांतवस्वर्ग में चला गया।

ग्यारहवां अध्याय समाप्त

## बारहवां अध्याय

आगे रामदत्ता का जीव आदित्याभ देव हुआ। पूर्णचंद्र का जीव धरमोंद्र हुआ। इन दोनों के भावी भावों की कथा कहता हूं।

इस भरत क्षेत्र में उत्तर मथुरा नगर का अधिपति राजा अनंतवीर्य था। उनके दो पटरानी थीं। एक रानी का नाम मेरु मालिनी तथा दूसरी पटरानी का नाम अमृतमति था। मेरुमालिनी रानी के गर्भ में आदित्याभ देव का जीव बचकर आया। उसका नाम मेरु रखा गया। अमृतमति रानी के गर्भ में धरमोंद्र देव ने आकर जन्म लिया। इसका नाम मंदर रख दिया। ये दोनों राजकुमार सभी कलाओं में व विद्याओं में प्रवीण होकर यौवन को प्राप्त भए। परन्तु इन दोनों ने संसार को असार समझ कर द्वादशानुप्रेक्षा का चिंतवन किया। एक दिन श्री विमलनाथ तीर्थंकर भगवान विहार करते २ उत्तर मथुरा के निकट उद्यान में पधारे। चतुर्णिकाय देव से निर्मित स्थान पर समवसरण महित वहां भगवान आकर विराजमान हुए। इसको देखकर वहां के रहने वाले वनपाल ने नगर में जाकर दोनों राजकुमारों को निवेदन किया। तब दोनों राजकुमारों ने अपने शरीर पर धारण किये हुए आभरणों को वनपाल को देकर सात पैंड आगे जाकर नमस्कार किया। पूजा करने के लिये अष्ट द्रव्यों को लेकर अपने हाथी पर बैठकर समवसरण देखने को अपने उद्यान में चले गये।

बारहवां अध्याय समाप्त

## तेरहवां अध्याय

समवसरण बर्तन

मेरु और मंदर दोनों ने जब अपने नेत्रों से दूर से ही समवसरण को देखा तब वे दोनों हाथी से उतर कर पैरों से चलकर द्वादश योजन विस्तार वाले उस समवसरण में पहुँचे । समवसरण का उत्सेघ पांच हजार धनुष था । बीस हजार सोपान (सीढियाँ) थे । समवसरण की प्रथम भूमि प्रासाद चैत्य भूमि में चलकर चारों महा दिशाओं में चार मार्ग थे । उनमें से प्रथम मार्ग में स्थित मानस्तंभ को प्रणाम पूर्वक प्रदक्षिणा देकर चले । इसी प्रकार अन्य तीन मानस्तंभों को प्रणाम पूर्वक प्रदक्षिणा देकर मान कषाय को छोड़कर समवसरण के अन्दर प्रवेश कर वहाँ रही हुई खातिका का घुटन प्रमाण जल समुद्र की तरह देखा । उस खातिका में समभूमि थी । और उस खातिका में फूल लता आदि बहुत चीजें थी । इस प्रकार द्वितीय भूमि को देखने के अनंतर गोपुर द्वार के अन्दर जाकर तीसरे कोट को देख लिया । वह लताभूमि थी । वहाँ उदेतरवेदी और गोपुर द्वार में प्रवेश कर आगे भीतर रहने वाली वनभूमि, रहा हुआ चैत्य वृक्ष और स्तूप आदि और मार्ग में मिलने वाली नाटकशाला आदि देखकर उसके अन्दर रहा हुआ प्रीतिकर गोपुर और वेदी को देखकर और भीतर जाकर पांचवीं ध्वजभूमि देखी । जिसमें दस प्रकार के चिन्हों सहित ध्वजाएँ थीं । ध्वजभूमि देखकर अन्त में रहे हुए कल्याणतर वेदी और गोपुर के दर्शन कर उसके अन्दर छठा प्राकार कल्पवृक्ष भूमि और वहाँ के रहने वाले मुनि आदि महाराजों को आनन्द से नमस्कार कर आगे चला । फिर मध्य में आने वाली गृहंगण भूमि में रहने वाले स्तूपों को देख कर नमस्कार कर और भी वहाँ विद्यमान जयास्त्र व मंडप व महोदय मंडप देखा । इस प्रकार देखकर सप्त प्राकारों को क्रम से देखकर इसके आगे रहने वाले लक्ष्मीवर मंडप में गोपुर द्वार से घुसकर यहाँ रहने वाले द्वादश सभा के गणों को देखकर अनंतर मध्य में स्थित चक्रपीठ, त्रिमेखलापीठ के प्रथम पीठ में चढ़कर प्रदक्षिणा करके अनन्तर द्वितीय पीठ ध्वजपीठ के दर्शन करके अनंतर तृतीय पीठ गंधकुटी मंडप में सिंहपीठ ऊपर चतुर्मुख धारण किये हुए अष्टप्रातिहार्य (छत्रत्रय, अशोक वृक्ष, दुर्दुमि, प्रभामंडल, पुष्प वृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, सिंहासन) छत्रत्रय विभूषित चामर आदि ढोरते हुए कोटि सूर्यचंद्र प्रकाश को भी जीतकर प्रकाशित हुए । अनंत ज्ञानादि चतुष्टय मंडित विमलनाथ तीर्थंकरके दिव्य रूप को देखकर आनंद से उनकी स्तुति गुणस्तुति, वस्तुस्तुति करके गणधर कोष्ठ में जाकर दीक्षा देने की प्रार्थना की । सर्वसंघ का परित्याग कर जिन दीक्षा लेकर निरतिचार सम्यक् चारित्र को पालन करके सप्त ऋद्धि से युक्त श्रुत केवली हुआ । तत्पश्चात् लोक स्वरूप, ज्ञान प्रमाण, मिथ्यात्व-स्वरूप, कर्मास्रव के कारण बने हुए संसार स्वरूप और मोक्षस्वरूप आदि को अपने श्रुतज्ञान के बल से बियालीस परमाणु को बनाकर अपने मुख से सब लोगों को उपदेश दिया ।

श्री विमलनाथ तीर्थंकर के मेरु मंदर आदि गणधर पंचपन थे । पूर्वधारी मुनि एक हजार सौ थे । अवधिज्ञानी मुनि चार हजार नब्बे थे । विक्रियाऋद्धि प्राप्त मुनि

नौ सौ थे । संपूर्ण सम्यक् दृष्टि श्रावक छह हजार आठ सौ थे । नव सम्यक् दृष्टि पुरुष तीन लाख चौसठ हजार थे । सब श्रावक दो लाख थे । श्राविका चार लाख थी । आर्यिका एक लाख तीन हजार थी ।

श्री विमलनाथ भगवान के गए में श्रेष्ठ रहे हुए मेरु मंदर दोनों अपने कर्मों को नाश करने के लिये सोच कर उस गए को छोड़कर एक पर्वत शिखर पर गये ।

तदनंतर दशधर्मों में लीन होकर, पंच समिति, त्रिगुप्ति बाईस परीषदों को निरतिचार पालन करते हुए आत्म-भावना में लवलीन होकर अप्रमत्त गुणस्थल में बढ़कर सप्त प्रवृत्तियों को नाशकर क्रम से प्रथम द्वितीय शुक्ल ध्यान से घातिया कर्मों को नाशकर केवली होकर अनंत चतुष्टय को प्राप्त हुए ।

तब तुरंत ही चतुर्णिकाय के देवों ने आकर केवलज्ञान की पूजा की । तब मेरु और मंदर दोनों ने अघातियां कर्मों को नाश करके मोक्ष पधार गये । चतुर्णिकाय देव निर्वाण कल्याण की पूजा करके अपने २ स्थान चले गये ।

इस प्रकार मेरु और मंदर पुराण समाप्त हुआ । जो भव्य प्राणी इस पुराण को पढता है व सुनता है वह क्रम से संसार से विमुक्त होकर शीघ्र मुक्ति को प्राप्त होता है ।

श्रीपतिर्भगवान् पुष्पाद् भक्तानां वः समीहितम् ।

यद्भक्तिः शुक्लतामेति भुक्तिकन्याकर गृहे ॥

शुभं भवतु

शंभवतु

—





॥ श्री जिनाय नमः ॥

श्री वामनाचार्य विरचित तामिल भाषा का मूल ग्रन्थ

# मेरु मंदर पुराण

हिन्दी टीकाकार

( श्री आचार्य देशभूषण महाराज )

मंगलाचरण

कुट्टंगलिङ्गान् गुणत्ता निरंदात् गुणत्तान् ।  
मट्टिव वंयमळंदात् वंय निड् पेट्टि ॥  
मुट्टु मुरेत्तानुरेईरोव दाय वोंडार ।  
सेट्टुगंडी पन् विमलन् शरण शैलि वंत्तेन् ॥१॥  
मेदक्क ज्योति विमलन् गणत्तुक्कु नामर् ।  
मादक्क कीर्ति युयर् मंदर मेरु नामर् ॥  
पोदक्कडलार् पुराणघोरुळान् मनत्तंच ।  
सोविवक्क लुट्टेन् तमिलाळोंडु सोल्ल लुट्टेन् ॥२॥

पंच परम पद कूं प्रणमि श्रुत को नमि हितकार ।  
मंदर मेरु पुराण की भाषा लिखिहूँ सार ॥  
विमलनाथ श्री विमल ज्ञान से, हने घाति अघात ।  
पाए महा अष्ट गुण तुमने, सिद्धन के सुख नाथ ॥  
श्री 'देशभूषण' त्रियोगकर, वन्दे विमल महान ।  
करे भाषा तामिल की, मंदर मेरु पुरान ॥

ग्रंथकार ने ग्रंथ के निर्माण की आदि में श्री १००८ विमलनाथ तीर्थंकर को नमस्कार किया है। वह विमलनाथ तीर्थंकर कैसे हैं सो कहते हैं—विभाव परिणति से उत्पन्न हुए राग-द्वेष मलिनता से रहित और स्वभाव गुण से युक्त, अनन्त गुणों से परिपूर्ण हैं, लोकालोक को जानने वाले हैं और देखने वाले हैं। तीनों कालकी चराचर वस्तु को भी एक ही समय में जानने वाले तथा देखने वाले हैं। ऐसे श्री विमलनाथ तीर्थंकर के चरणा कमलों में मस्तक झुकाकर नमस्कार करता है कि मेरे द्वारा निर्माण किये जाने वाले ग्रंथ को समाप्ति निर्विघ्नता पूर्वक हो।

भावार्थ—श्री वामनमुनि ने इस श्लोक में प्रथम मंगलाचरण द्वारा भक्ति पूर्वक श्री १००८ विमलनाथ तीर्थंकर को नमस्कार किया है कि ग्रंथ की समाप्ति निर्विघ्नता पूर्वक हो। श्री विमलनाथ कैसे हैं? वे विमलनाथ तीर्थंकर, अनादि काल से जो आत्मा के साथ ऋतु के समान लमते आ रहे हैं, आत्मगुणों को तथा उनके बलको दबाकर नरकादि चार नतियों में भ्रमण कराने में अत्यंत बलवान हैं और हमेशा आत्माको दुख उत्पन्न कराने वाले हैं, ऐसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मों को नाश करके केवलज्ञान कर युक्त है, जो अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं और जो इंद्रों के द्वारा पूजनीय हैं; भूत भविष्यत और वर्तमान इन तीनों काल की चराचर वस्तुओं के एक ही समय में एक साथ जानने वाले तथा समझने वाले हैं, तथा केवलज्ञान रूपी अंतरंग लक्ष्मी और देवों द्वारा निर्मित समवसरण रूप बहिरंग लक्ष्मी इन दोनों लक्ष्मी से सहित हैं अर्थात् अठारह दोषों से रहित हैं।

समस्त बारह सभा में स्थित मनुष्य देव तिर्यंच (पशु पक्षी) आदि सर्व जीवों को अपने दिव्य-ध्वनि के द्वारा सातसौ अठारह भाषाओं में सुनाते हैं। वे सर्व जीव अपनी भाषाओं में सुनकर अपने जीवन को सुधार लेते हैं। और कैसे हैं विमलनाथ भगवान! जन्म मरण से रहित हैं। पुनः संसार में आने वाले नहीं हैं, अतः सच्चे देव होने से इनके उपदेश से जीवों का उद्धार होता है। जो पुनः पुनः संसार में आकर जन्म मरण के आधीन होते हैं वे ऐसे सच्चे देव कैसे हो सकते हैं?

ऐसे विमलनाथ भगवान को मैं साष्टांग नत मस्तक होकर नमस्कार करता हूँ।

प्रश्न—वामन-मुनि ने कौन से धर्म का उपदेश किया? संसार में ३६३ मत हैं अथवा ३६३ धर्म वाले हैं उन्होंने भी धर्म का उपदेश अपने २ शिष्यों को व अनुयायियों को दिया और देते आए हैं और वे भी इसी धर्म के द्वारा संसारी जीवों का उद्धार हो ऐसी कामना करते हैं और इसी प्रकार जैन धर्म और जैनाचार्य भी भव्य जीवों के हित के लिए धर्मोपदेश देते हैं; क्योंकि भिन्न भिन्न मतों वाले अपने माने हुए मत के अनुसार उपदेश देते आ रहे हैं। वे भी कहते हैं कि हमारे देवों ने भी सम्पूर्ण प्राणियों को उपदेश देने का मार्ग बताया है। अब कौनसे धर्म से हमारा आत्म-कल्याण हो और कौनसा धर्म ग्रहण करना है? इसका स्पष्टीकरण किया जाय ताकि वही धर्म मैं ग्रहण करूँ।

उत्तर—सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री समन्त भद्र ने धर्म का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।

संसारदुःखतः सत्त्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ ( २० आ० )

अर्थ—संसार के दुःखों से बचाने वाले आत्मा के परिणाम अथवा आचरण को धर्म कहते हैं ।

इस प्रकार श्री विमलनाथ तीर्थंकर भगवान ने अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा उपदेश दिया है ।

प्रश्न—जैन धर्म में ही ऐसी क्या महत्ता व विशेषता है कि वही धर्म सच्चा है और माननीय है ? ऐसा प्रतीत होता है कि यह अपने जैन धर्म की महानता तथा अपने मत की पुष्टि करते हैं और अन्य धर्म की लघुता बतलाने के लिए ही इस प्रकार तुमने प्रयत्न किया है ।

उत्तर—हमारे जैन धर्म में किसी भी प्रकार का आक्षेप व पक्षपात नहीं है । आचार्यों ने जो सच्चा धर्म बतलाया है उसका मैं प्रतिपादन करूंगा । क्योंकि जिस धर्म में अहिंसा का सर्वोपरिस्थान हो, समस्त जीवों का जिस धर्म के द्वारा कल्याण होता हो, और जो धर्म दया से युक्त हो, जिस धर्म के धारण करने से प्राणी मात्र का कल्याण होता हो, वही धर्म दयामई धर्म है । “अहिंसा ही परम धर्म है ।” जैनाचार्य पक्षपात रहित धर्मोपदेश करते हैं । “गुण” निम्न प्रकार होना चाहिए—कहा है कि—

यो विश्वं वेद—वेद्यं जनन जलनिधेर्भगिनः पारदृश्वाम् ।

पौर्वाषर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम् ॥

तं वंदे साधुवद्यं निखिलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषंतं ।

बुद्धं वा वर्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ॥

अर्थ—जो जानने योग्य, जगत को जानता है और जो नाना प्रकार के शोक भय, पीडा, चिन्ता, अरति, खेद आदि रूप तरंगों वाले संसार रूप समुद्र के पार को देख चुका है और जिसका पूर्वापर विरोध रहित है, निर्दोष उपमा रहित वचन है । रागादि दोष रूपी शत्रु के नाशक समस्त गुणों के प्रकाशक, बड़े बड़े मुनीश्वरों द्वारा बन्दनीय है उस महान परमात्मा को मैं वंदना, नमस्कार तथा स्तुति करता हूँ । चाहे वह बुद्ध हो, वर्द्धमान या ब्रह्मा हो अथवा विष्णु, महादेव कोई भी हो । तात्पर्य यह है कि जिसमें सर्वज्ञता हो, सर्वदर्शिता हो, हितोपदेशिता हो, वीतरागता हो, वही हमारा इष्ट है, और उसे ही हम नमस्कार करते हैं । वह नाम से बुद्ध वर्द्धमान ब्रह्मा, विष्णु और महेश कोई भी हो, हमें नाम से कोई विवाद नहीं है । जो रागी हो द्वेषी हो मोही हो भय से युक्त हो, आशावान हो वह देव नहीं कहलाता है—कहा भी है—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञमगमेशिना ।

भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ ( २० आ० )



अर्थ—निश्चय से अठारह दोष रहित, वीतराग, सर्वज्ञ और हेयोपादेय का विश्वास उत्पन्न कराने वाले शास्त्र का प्रतिपादक प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि इससे विपरीत प्रकार अर्थात् १८ दोष रहित बिना सत्य आप्तता नहीं आ सकती ।

धुत्पिपासा—जरातंक—जन्मान्तकभयस्मयाः ।

न रागद्वेषमोहारत्र यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ ( २० श्रा० )

अर्थ—जिस देव में क्षुधा, तृषा, जरा, रोग जन्म मरण भय मद राग द्वेष मोह और चिन्ता, अगति निद्रा, आश्चर्य, विषाद, स्वेद और खेद यह अठारह दोष नहीं होते हैं वह आप्त कहा जाता है ।

परमेष्ठी परं ज्योतिर्विरागो विमलः कृति ।

सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलात्यते ॥ ( २० श्रा० )

अर्थ—इन्द्रादि द्वारा बन्दीय, परम पद में स्थित, ज्ञान का धारक भाव कर्म रहित, मूल और उत्तर कर्म प्रकृति रूप मल रहित, सम्पूर्ण हेय तथा उपादेय तत्त्वका ज्ञानी, समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञाता, उक्त आप्त के प्रवाह की अपेक्षा आदि मध्य और अन्त रहित, सबके हित के लिये इस लोक और पर लोक के उपकार मार्ग का व्याख्यान करने वाला, पूर्वापर विरोधादि दोष रहित, समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप का वक्ता, हितोपदेशी कहा जाता है । इस प्रकार इन आप्त या वीतराग भगवान के द्वारा कहा हुआ धर्मका मार्ग सदैव जीवों का कल्याण करने वाला है । इसलिये इनके द्वारा कहा हुआ धर्म संसारी प्राणी को संसार रूपी समुद्र से निकाल कर सुखमय स्थान में रखने वाला है । इसलिये इन श्री विमलनाथ तीर्थंकर ने आत्मा को घात करने वाले ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अंतराय ऐसे चार घातिया कर्मों का नाश कर जीवन मुक्त अवस्था अर्थात् केवलज्ञान को प्राप्त किया है । इस कारण इनको आप्त, सर्वज्ञ, वीतराग तथा हितोपदेशी कहते हैं । और तीन विशेषण अर्हंत श्री विमलनाथ भगवान में पाये जाने से ये सच्चे देव हैं । इसलिये प्रथम ग्रंथ के आरम्भ में इनको नमस्कार किया गया है । इस सम्बन्ध में पात्रकेशरी स्तोत्र में भी अर्हंत भगवान की महिमा बताई है:—

परिक्षपित कर्मणस्तव न जातु रागादयो ।

न चेन्द्रिय विवृत्तयो न च मनस्कृता व्यावृत्तिः ॥

तथापि सकलं जगद् युगपदक्षसावेत्सि च ।

प्रपश्यसि च केवलाभ्युदित दिव्य सच्चक्षुषा ॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र आपने मोहनीय आदि कर्मों का नाश कर दिया है इसलिये आपके कभी भी रागादिक दोष नहीं होते हैं । केवलज्ञान का प्रकाश हो जाने से आपके मतिज्ञान व श्रुतज्ञान नहीं रहा है । इसी से न इन्द्रियों का व्यापार है न मन की संकल्प विकल्प रूप चंचल क्रिया है; तथापि आप केवल ज्ञान मई दिव्य चक्षु से सर्व विश्व को एक साथ जानते व देखते हो । आपकी महिमा अपार है ।

प्रश्न—ग्रन्थकार ने प्रथम तीर्थंकर या अन्य तीर्थंकरों को नमस्कार न करके इन्हीं श्री विमलनाथ तीर्थंकर को क्यों नमस्कार किया है ?

उत्तर—हमको ऐसा भाव भासित होता है कि ग्रन्थ-कर्त्ता को इन भगवान का इष्ट विशेष रूप से था तथा जिनका वे पुराण लिख रहे हैं वे दोनों मेरु और मन्दर इन्हीं भगवान के गणधर थे । इसलिए इन भगवान को नमस्कार किया है । तथा सामान्य रूप में यदि विचार किया जाय तो ग्रन्थकार ने जिन गुणों को नमस्कार किया है वे गुण सभी भगवानों में विराजित हैं अतः उन्होंने इन गुणों को कहते हुए सभी तीर्थंकरों को नमस्कार किया है । अब यह मेरु और मंदर कौन थे इनका आगे चलकर विवेचन होगा ।

ग्रन्थकार ने इस श्लोक में अपना लघुत्व प्रकट करते हुए कहा है कि इस ग्रंथ की रचना करने से मुझे कोई इसके प्रतिफल की, संसार की तथा अन्य वस्तु की कामना नहीं है; किन्तु जिस प्रकार श्रीविमलनाथ तीर्थंङ्कर ने अपने तप के द्वारा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय इन चारों कर्मों का नाश कर केवल ज्ञान ज्योति अर्थात् आत्मज्योति को प्राप्त की तथा जगत् की सर्व आत्मा को जगा कर सच्चा मार्ग दिखाया है उसी प्रकार मैं “वामन” मुनि उन्हीं के समान उन्हीं महानुभावों की पुनीत कथा की रचना करने से इस वाणी रूपी स्तुति के द्वारा मेरे अन्दर अनादिकाल से मोह अविद्या अज्ञान रूपी अन्धकार में छुपी हुई आत्म-ज्योति प्रकट होकर इस संसार रूपी अटवी से मुक्त हो जावे, इस हेतु से श्री विमलनाथजी तीर्थंङ्कर के समवसरण सभा में जो मुख्य प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं, सुखी हैं और तीन लोक के भव्य जीवों के द्वारा पूजा के योग्य हुए ऐसे मेरु और मन्दर के नाम के जो गणधर शास्त्र समुद्र के पारगामी होकर भव्य जीवों को कल्याण का मार्ग बता दिया है ऐसे महान पवित्र पुराण पुरुषों की कथा लिखने के लिये मेरे मन को अत्यन्त परिशुद्ध कर के मन वचन काय के द्वारा इस तमिल भाषा ग्रन्थ की रचना का प्रारम्भ करता हूँ ।

विशेष विवेचन—ग्रन्थकार ने भव्य प्राणियों के लिए संसार की विचित्रता और संसार शरीर भोग सम्बंधी वस्तुओं का परिचय करने के लिये सबसे पहले पंचेन्द्रिय विषय में मग्न हुए अज्ञानी जीवों को महान पुरुषों का कथन करके इन संसारी विषयों ( पंचेन्द्रिय भोगों ) से विरक्त करके वास्तविक आत्म तत्त्व के सन्मुख करने का प्रयास किया है । क्योंकि संसार, शरीर एवं भोगों को इन संसारी जीवों ने अनेक बार प्राप्त करके उनको छोड़ते आए हैं । इसके बारे में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में कहा है कि—

एयत्तशिञ्छयगग्रो समग्रो सन्वत्थ सुंदरो लोए ।

बंधकहाएयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

भावार्थ—बंध होने का कारण यह है कि अन्य पदार्थ से बद्ध होने वाला एक पदार्थ स्वस्वभाव त्याग पूर्वक पर स्वभाव को स्वीकार करने वाला न होने से दो विजायतीय पदार्थों का वस्तुतः एकीभाव अभिन्नत्व होना असंभव होने से वास्तव बंध होता ही नहीं । बंध का अर्थ एकीभवन है । पदार्थ और उसके गुण पर्याय में जिस प्रकार एकीभवन तादात्म्य होता है उसी प्रकार दो भिन्न स्वभाव वाले अतएव विजायतीय पदार्थों में एकीभवन-

तादात्म्य नहीं होता। अशुद्ध अज्ञानी जीव और पुद्गल कर्म इनमें जो बंध होता है वह वास्तव बंध न होने से स्वस्वरूप स्थित वे दोनों पदार्थ किसी समय अलग हो जाते हैं। यदि वह बंध वास्तव होता तो उनका मोक्ष पृथग्भाव होना ही असंभव हो जाता। क्योंकि बंध से उन दोनों में तादात्म्य हो जाता है। जिनमें वास्तव बंध-एकीभाव-तादात्म्य होता है उनमें एक का अभाव हो जाने पर दूसरे का भी अभाव हो जाता है, जैसे गुणी का अभाव होने पर गुणों का अभाव और गुणों का अभाव होने पर गुणी का अभाव। एकीभाव स्तोत्र के “एकी भावगतं इव मया यः स्वयं कर्मबन्धः” इस प्रथम चरण में आचार्य श्री वादिराज सूरि ने “एकी भावगतं इव” इन पदों के द्वारा इसी आशय को पुष्ट किया है। क्योंकि “इव” शब्द के द्वारा जीव के साथ वास्तव कर्म बंध के एकीभाव का अभेद का तादात्म्य का प्रतिषेध किया है।

इस प्रकार समयसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने बंध कथा को गीण करके निश्चय कथन को मुख्य बताया है क्योंकि व्यवहार नय का परिचय जीव को अनेक बार हो चुका है किन्तु एकत्व आत्म स्वरूप व शुद्ध चैतन्य स्वरूप का निश्चय अनुभव में नहीं आया। सो यह बात ठीक ही है। परन्तु निश्चय नय आत्म स्वरूप की अनुभूति के लिये व्यवहार नय गृहस्थाश्रम में मुख्य माना गया है। क्योंकि जब तक वस्तु स्वरूप का ज्ञान हो, तब तक उसके साधन भूत व्यवहार नय का आश्रय अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार सोने का पत्थर मिल जाय और यह सोने का पत्थर ही है ऐसी प्रतीति होती है तब मनुष्य उस पत्थर जैसे सोने को अलग करने हेतु जुटाने की सामग्री करने का प्रयत्न करता है। यदि सामग्री ठीक मिल जाय कृति भी मिल जाय और फिर सोने को भी मुस (प्याला) में गला दे तो उस मुस में रहने वाला कचरा व सोना भिन्न हो जाता है। तब उसमें जो साधन होता है वह अपने आप छूट जाता है। तत्पश्चात् जो पहले सामग्री साधन जुटाई थी साधक उस तरफ कभी भी दृष्टि नहीं डालता। इस प्रकार अनादिकाल से सोना व पत्थर जैसे एक रूप में उसके सम्पूर्ण पत्थर के अवयव में पूर्ण रूप से छिपे हुए हैं उसी प्रकार आत्मा अनादि काल से इस सर्वाङ्ग शरीर में एक क्षेत्रावगाह रूप में धारण किये हुए है। अब इन दोनों को भिन्न भिन्न रूप में करने के लिये भेद ज्ञान की आवश्यकता है।

इसलिये आचार्यों ने सर्व प्रथम संसारी जीवों को अनादिकाल से पंचेन्द्रिय विषय भोगों का परिचय होने से उसी को अपने सुख का मार्ग मान रखा है, अतः उन्हीं में अशुभ से शुभ की ओर जाने की कहा है।

आचार्य ने इस अज्ञानी जीव को इसका परिचय या भोगों की लालसा हटाने के लिये सब से पहले संसार और भोग विषय का तथा उससे भिन्न परमार्थ का पृथक् २ प्रतिपादन किया है। दुःख से छुड़ा कर पुण्य में तथा शुभ राम में परिरामन कर पुण्य का बंध होने वाली कथाओं का विवेचन किया है। जैसे छोटे बालक की माता उसकी खोटी आदत छुड़ाने के लिए किसी मीठी वस्तु का लालच देकर बुरी आदत छुड़ाने का प्रयत्न करती है। तब वह बच्चा एक बार मीठी चीज को चाटने पर बुरी चीज को छोड़ देता है तब उस बुरी वस्तु पर उसकी इच्छा नहीं होती है। इसी तरह आचार्यों ने संसार की विषय वासनाओं को कम करने के लिए सर्व प्रथम प्रथमानुयोग की कथाओं का विवेचन किया है। श्री समन्त

भद्राचार्य ने भी अज्ञानी गृहस्थ को पुण्य की ओर परिणामन करने के लिये प्रथमानुयोग का ही कथन किया है। यह प्रथमानुयोग सम्यक्ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है। यह प्रथमानुयोग कैसा है:—इस सम्बन्ध में श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी लोक नं० ४३ में कहा है—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।  
बोधिसमाधि-निधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥

इसकी टीका करते हुए प० सदासुखजी लिखते हैं—

अर्थ—“सम्यक् ज्ञान है सो प्रथमानुयोग नै जाने है। कैसा है प्रथमानुयोग ? अर्थ जे धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप चार पुष्टार्थ जिनका है कथन जायै, बहुरि चरित कहिये एक पुरुष के आश्रय है कथा जायै, बहुरि त्रिपठिणलाका पुरुषनि की कथनी का सम्बन्ध का प्ररूपक यातें पुराण है। बहुरि बोधि समाधि को निधान है जो सम्यग्दर्शनादिक नाही प्राप्त भये तिनकी प्राप्ति होना सो बोधि है और प्राप्त भये जिन सम्यक् दर्शनादिकनि की जो परिपूर्णता सो समाधि है। वही प्रथमानुयोग रत्नत्रय की प्राप्ति को अर परिपूर्णता को निधान है, उत्पत्ति को स्थान है, अर पुण्य होने का कारण है, नातें पुण्य है। ऐसा प्रथमानुयोग कूँ सम्यक् ज्ञान ही जानै है।”

इस कारण यह प्रथमानुयोग पुण्य बंध का कारण है और प्रथम अवस्था में यह कारण रूप साधन है। इसलिए श्री वामन मुनि ने अज्ञानी जीवों को पुण्य रूप में परिणत करने के लिये पुण्य पुरुषों की पुनीत कथाओं का विवेचन किया है।

मलै पोल निडु वैयिल्-वन् परिण मारि वंबाल् ।  
निलै पेर्द लिल्लार् निलयिन् मुन्नैन्नाडु निडुन् ॥  
कलैया निरेदार् कडुदं कवि मा कडुलिन् ।  
निलैयाडु मिन्ना विदु नीडुदकु मेळु देन् ॥३॥

अर्थ—ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल, शीतकाल ऐसे ये तीन काल अपने को प्राप्त होने पर भी पर्वत के समान अचल रह कर अपने आत्म स्वरूप में स्थिर रहने वाले, उसी स्थान को छोड़ कर अन्य स्थान में नहीं जाने वाले, अथवा संघ के समूह का अनुभव न करने वाले मनुष्य अत्यंत दुर्लभ हैं। इसके द्वारा आत्म साधन के लिये तपश्चरण करके आत्मानुभव अभी तक नहीं करने वाले, दुर्द्धर तपस्या का अनुभव न करने वाले, तपश्चरण के द्वारा अत्यंत दुर्लभ ऐसे आत्म स्वरूप का अनुभव न करने वाले में वामन मुनि नवीन दीक्षित होकर सम्पूर्ण शास्त्र समुद्र के पारंगत, ऐसे श्रुत केवली के द्वारा ही उसका अन्त न लगने वाले ऐसे शास्त्र समुद्र को मैं पूर्ण विचार न करके शास्त्र रूपी समुद्र से तिरकर पार होने ऐसा मन में विचार करके इस काव्य रचना को करने के लिये कटिबद्ध हुमा हूँ।

भावार्थ—इसका सारांश यह है कि वामन मुनि के नवीन दीक्षित होते ही इस काव्य की रचना करने की भावना उत्पन्न हुई। ऐसा इसका आशय है।

विशेष विवेचन—गर्मी, वर्षा तथा शीतकाल में किसी भी बाधा के उत्पन्न होने पर अपने अचल ध्यान में स्थित रहने वाले तथा घबरा कर एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान में न जाने वाले ऐसे मुनियों के समुदाय के सामने मैं नवीन दीक्षित वामन मुनि हूँ। वे सम्यग्दृष्टि मुनि अपने अंदर क्या विचार करते हैं सो रत्नकरंड श्रावकाचार में कहा है कि—

“दुःखक्खयकम्मक्खय समाहि-मरणं च बोहिलाहो य ।  
एयं पत्थेदब्बं एण पत्थणोयं तदो अण्ण” ॥

अर्थ—“हमारे शरीर धारणादिक जन्म मरण क्षुधा तृषादिक दुःखनि को क्षय होहु, आत्म गुण कू नष्ट करने वाला मोहनीय ज्ञानावरण दशनावरण कर्म को क्षय होहु, तथा इस पर्याय में चार आराधना का धारण सहित समाधि मरण होहु, बोधि जो रत्न-त्रयता का लाभ होहु। सम्यक् दृष्टि के ऐसी ही प्रार्थना करने योग्य है। इनमें अन्य इस भव में परभव में प्रार्थना करने योग्य नहीं है। संसार में परिभ्रमण करता जीव उच्चकुल नीचकुल, राज्य, ऐश्वर्य, धनाढ्यता, निर्धनता, दीनता, रोगीपना, नीरोगपना, रूपवानपना विरूपपना, बलवानपना, पण्डितपना, मूर्खपना, स्वामीपना, सेवकपना, राजापना, रङ्गपना, गुणवानपना, निर्गुणपना, अनन्तान्त बार पाया है, अर छोड़चा है। तातें इस क्लेश रूप संयोग-वियोग-रूप संसार में सम्यग् दृष्टि निदान कैसे करे ? इस संसार में अनन्तपर्याय दुःख रूप पावे तदि एक पर्याय इन्द्रिय जनित सुख को पावे, फिर अनन्त बार दुःख को पावे। सो ऐसे परिवर्तन करते इन्द्रिय जनित सुख हूँ अनन्त बार पाया।

अब सम्यग्दृष्टि इन्द्रियनि के सुखकी कैसे बांछा करे है ? इस संसार में स्वयंभू-रमण समुद्र का समस्त जल प्रमाण तो दुःख है, अर एक बालकी अणु ताका अनन्त भाग करिये तिनमें एक भाग प्रमाण इन्द्रियजनित सुख है। इसतें कैसे तृप्ति होय ? अर भोगनिका त्याग तथा इष्ट सम्पदाका संयोगका जेता सुख है तिसतें असंख्यातगुणा वियोग कालमें दुःख है। अर संयोग होय ताका वियोग नियम से होयगा। जैसे शहदकरि लिप्त खड्गकी धाराकू जो जिह्वाकरि चाटे, त्राके स्पर्शमात्र मिष्टताका सुख अर जिह्वा कटि पड़े ताका महादुःख। तैसे विषयनिकें संयोग का सुख जाने। तथा जैसे किपाकफल देखनेमें सुन्दर, खावनेमें मिष्ट हैं पीछे प्राणनिका नाश करे हैं। तथा जहरते मित्या मोदक खाने में मीठा, परन्तु परिपाक कालमें प्राणनिका नाश करने वाला है। तैसे भोग-जनित सुख जानहु। बहुरि जैसे कोऊ पुरुष कने बहुत धन होय। अल्पमोल लीया चाहें तो बहुत धनके साटे थोरा धन मिल जाय। अर आप कने अल्प धन होय अर बाका मोल बहुत चाहै तो नहीं मिलें। तैसे जो स्वयं की सम्पदा पाके योग्य पुण्यबन्ध किया होय-अर पीछे निदान करनेतें अपना अधिक पुण्य होय ताकू घाति तुच्छ सम्पदा जाय पावे है, पाछे संसार परिभ्रमण याका फल है। जैसे सूतकी लंबी डोरीकरि बंधा पक्षी दूर उडि गया हुआ उसी स्थानकू प्राप्त होय है। जातें दूर उडि चल्या तो कहा ? पग तो सूत की डोरीतें बांधा है, जाय नाहीं सकेगा। तैसे निदान करने वाला अति दूर स्वर्गादिकमें महर्द्धिकदेव हुआ हू संसार ही में परिभ्रमण करेगा। देव लोक जाय करके हू निदानके प्रभावतें एकेंद्रिय तिर्यचनि में तथा पचेन्द्रिय तिर्यचनिमें तथा मनुष्य में आय, पापसंचय करि दीर्घकाल परिभ्रमण करे है। अथवा जैसे ऋण सहित पुरुष करार करि बन्दीगृहते छूटकरि अपने घरमें सुखसूँ आय

ब्रह्मा, तो हूँ करार पूर्ण भये फिर बंदीगृहमें जाय बसे । तैसे निदानकरि सहित पुरुष हूँ तप संयमते पुण्य उपजाय, स्वर्गलोक जाय करके हूँ आयु पूर्ण भये स्वर्गते चय, संसारहीमें परिभ्रमण करै है । यहां ऐसा जानना जो मुनिपनामें व श्रावकपनामें मन्द-कषायके प्रभावते वा तपश्चरणके प्रभावते अर्हमिद्वनिमें तथा स्वर्गमें उपजनेका पुण्यसंचय किया होय अर पाछे भोगनिकी बांछादिकरूप निदान करे तो भवनत्रिकादिक अशुभ देवनिमें जाय उपजे । अर जाके पुण्य अधिक होय अर अल्प पुण्यका फलके योग्य निदान करे तो अल्प पुण्यवाला देव मनुष्य जाय उपजे, अधिक पुण्यवाला देव मनुष्यनिमें नाहीं उपजे । जो निर्वाणका तथा स्वर्गादिकनिके सुखका देनेवाला मुनि श्रावकका उत्तमधर्म धारणकरि निदानतें बिगाड़े है सो इंधनके अर्थ कल्पवृक्षकूँ छेदे है । ऐसे निदानशल्यका दोष वर्णन किया ।

अब मायाशल्य का दोष कौन वर्णन करि सके ? मायाचारके अनेक दोष कहे ही हैं । मायाचारी का व्रत शील संयम समस्त भ्रष्ट है । जो भगवान् जिनैन्द्र का प्ररूप्या धर्म धारण करि अर आत्माकूँ दुर्गतिनिके दुखतें रक्षा करी चाहो हो तो कोटि उपदेशनिका सार एक उपदेश यह है जो मायाशल्यकूँ हृदय में से निकास छो, यश अर धर्म दौऊनिका नाश करने वाला मायाचार त्याग, सरलता अंगीकार करो । बहुरि मिथ्यात्व है सो इस समस्त संसार परिभ्रमण का बीज है । मिथ्यात्व के प्रभाव ते अनन्तानन्त परिवर्तन किया । मिथ्यात्व विषकूँ उगल्यां बिना सत्य धर्म प्रवेशही नाहीं करै। मिथ्यात्वशल्य शीघ्र ही त्यागो । माया मिथ्यात्व निदान- इन तीन शल्य का अभाव हुआ बिना मुनि श्रावक का धर्म कदाचित् नाहीं होय, निःशल्य ही व्रती होय है । बहुरि दुष्ट मनुष्यनिका संगम मति करो । जिन की संगतितें पाप में ग्लानि जाति रहे, पाप में प्रवृत्ति होय तिनका प्रसंग कदाचित् मति करो । जुआरी चोर छली परस्त्री-लंपट जिह्वा-इन्द्रिय का लोलुपी, कुल के आचारतें भ्रष्ट, विश्वासघाती, मित्रद्रोही, गुरुद्रोही अपयशके भय रहित, निर्लज्ज, पाप क्रिया में निपुण, व्यसनी, असत्यवादी असन्तोषी, अतिलोभी, अतिनिर्दयी, कर्कष परिणामी, कलहप्रिय, विसंवादी वा कुचाल प्रचण्डपरिणामी, अति क्रोधी, परलोक का अभाव कहने वाला नास्तिक, पाप के भयरहित, तीव्र मूर्च्छा का धारक, अभक्ष्य का भक्षक, वेश्यासक्त, मद्यपायी, नीच कर्मों इत्यादिकनि की संगति मति करो । जो श्रावक धर्म की रक्षा किया चाहो हो, जो अपना हित चाहो हो, तो अग्नि समान विनाशमान कुसंग जानि दूरतें ही छांडो । जातें जैसा का संग करोगे तिसमें ही प्रीति होयगी, अर प्रीति जामें होय ताका विश्वास होय । विश्वासते तन्मयता होय है । तातें जैसी संगति करोगे तैसा हो जावोगे । जातें अचेतन मूर्त्तिका हूँ संसर्गते सुगन्ध दुर्गन्ध होय है तो चेतन मनुष्य की संगति करि परके गुण अवगुण रूप कैसे नाहीं परिणमेगा ? जो जैसे की मित्रता करे है सो तैसा ही होय है । दुर्जन की संगति करि सज्जन हूँ अपनी सज्जनता छांडि दुर्जन हो जाय है । जैसे शीतल जल अग्नि की संगति से अपना शीतल स्वभाव छांडि तप्तपने नें प्राप्त होय है । उत्तम पुरुष हूँ अधम की संगति पाय अधमताकूँ प्राप्त होय हैं । जैसे देवता के मस्तक चढ़नेवाली सुगंध पुष्पनि की माला हूँ मृतक का हृदय का संसर्गकरि स्पर्शने योग्य नाहीं रहै है । दुष्टकी संगतिते त्यागी संयमी पुरुष हूँ दोष सहित अंका करिये है । लोक तो परके छिद्र देखने वाले हैं, पर के दोष कहने में आसक्त हैं, जो तुम दुष्टनिकी दुराचारीनि की संगति करोगे तो तुम लोकनिदान प्राप्त होय धर्म का अपवाद करावोगे । ताते कुसंग मति करो । खोटे मनुष्य की संगति ते निर्दोष हूँ दोषसहित मिथ्या-

मार्गी शीघ्र होय है । जातें मिथ्यात्व कषायनिका परिचय तो अनादि काल का है और वीतरागभाव कदाचित् कोई महा कष्टतै उपज्या सो कुसंग पाय क्षण मात्र में जाता रहेगा ”

इस प्रकार दीर्घकाल से दीक्षा लेकर व मुनि तपस्या कर के शास्त्र समुद्र के पारंगत ऐसे मुनि का जैसा ज्ञान मेरे में कहां ? इस कारण मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उनके चरण कमल के प्रसाद से छोटा बालक जिस प्रकार महा समुद्र की उपमा अपने हाथ फेला कर बताता है उसी प्रकार मैं अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना करता हूं ।

नल्लोर्गळ् पोय वळिनालडिपोयिनालुं ।  
 पोंल्लांगु नींगि पुगळाइ पुण्यमुमागुं ॥  
 सोल्ला निरंदं श्रुतकेवलि सेंड्र मार्गं ।  
 सोल्वा नेळुंदेर् कोरुतीमै युंडाग वट्रो ॥४॥

ग्रन्थकार निर्विघ्नता से ग्रन्थ की समाप्ति की कामना करता है ।

श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त जाने वाले मार्ग से यदि अज्ञानी उनके साथ चार कदम भी चला जावे तो वह अपने दुःखों को समाप्त करके पुण्य प्राप्त करने वाली कीर्ति को प्राप्त करता है । उत्तम वचनों से युक्त परिपूर्ण ऐसे मेरु और मंदर नाम के जो दो श्रुत केवली हैं यह दोनों जिस मार्ग पर गये हैं उसी मार्ग से जाने वाले अज्ञानी भी श्रेष्ठ चरित्र मार्ग को प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार मैं अपने मन में ऐसा विचार कर के मेरु और मंदर गणधर श्रुत केवली हैं जो उनके चरित्र लिखने से मैं भी उनके समान कीर्ति को प्राप्त होकर आत्म कल्याण का श्रेष्ठ मार्ग आगे चल कर प्राप्त करूं इस हेतु से मैं ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ कर रहा हूं । इसके प्रारम्भ करने में कोई विघ्न नहीं आएगा । क्या ऐसे महान् पुरुषों के चरित्र लिखने में कभी विघ्न आयेगा ? कदापि नहीं आयेगा ।

भावार्थ—ग्रन्थकार ने अपनी लघुता प्रकट करते हुए इस श्लोक में प्रतिपादित किया है कि महान् गुणों से युक्त चरित्रवान् ज्ञानी लोगों के साथ चार कदम भी अज्ञानी चले तो पुण्य व कीर्ति को प्राप्त होता है और उसके सम्पूर्ण कष्ट दूर हो जाते हैं—सत्पुरुषों की संगति से क्या २ नहीं होता है । चरित्रवान् पुरुष की संगति से यमपाल चाण्डाल, जम्बूकुमार आदि अपने कुकृत्य को छोड़कर सच्चरित्र को धारण करते हुए महान् तपस्वी हो गये । महान् पापी जीव भी श्रेष्ठ पुरुषों की संगति से तिर गये तो मैं भी ऐसे महान् तपस्वी मेरु व मंदर नामक श्रुतकेवलियों के चरित्र का वर्णन करूंगा तो क्या मेरी भी संसार की स्थिति नहीं छूटेगी ? अवश्य छूट जावेगी । इस निमित्त से ऐसे चरित्रवान् पुरुषों के चरित्र को भव्य जीवों के आत्म कल्याण के हेतु कहने के लिये मेरे द्वारा प्रारंभ करने वाले पुण्य के के मार्ग में क्या कभी विघ्न उपस्थित हो सकता है ? कदापि नहीं । ऐसे महान् पुरुषों के चरित्र वर्णन करने से कभी कोई विघ्न हो ही नहीं सकता है । श्री पूज्यपाद आचार्य ने अपनी समाधि भक्ति में इस प्रकार भावना की है कि—

“शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः।  
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम् ॥  
सर्वस्यापि प्रिय-हितवचो भावना चात्मतत्त्वे।  
सपद्यंता मम भव-भवे यावदेतेऽपवर्गः ॥

अर्थात्—मेरे अंदर भगवान की जो वाणी है वह सदैव भरी रहे। उनके गुण गान की स्तुति, महान पुरुषों की संगति, सदाचारवृत्ति, हमेशा साधु की संगति में रहने की भावना, गुणीजनों की कथा, दोषी जनों से मौन, सभी के साथ हित मित वचन, आत्म-तत्त्व में रुचि इतनी बातें हे भगवन् ! मेरे हृदय में सदैव बनी रहे। इस प्रकार मैं भी यही भावना भाता हूँ कि उन्हीं के समान मेरे अंदर भी इस पुण्य नायक मेरु और मंदर श्रुतकेवनी के वर्णन करने में मेरी भावना बनी रहे। इसलिये भव्य जीव पुण्य पुरुषों की कथा का मनन करके अपने जीवन को कल्याणमय बना लेवें। ऐसी मैं इच्छा करता हूँ।

मैं छद्मस्थ हूँ, परन्तु मैं पुण्य पुरुषों की कथा काव्य रूप लिखने के लिये कटिवद्ध हूँ। ज्ञानी लोग इस कविता को पढ़ते समय इस काव्य में, लघु गुरु शब्द, तर्क, व्याकरण आदि की दृष्टि से काव्य को देखेंगे। इसमें कदाचित् व्याकरण की शुद्धि अंक शुद्धि, गुरु लघु आदि २ दोषों को देखकर के मेरी अवहेलना न करें। मैं मन्दबुद्धि हूँ। तर्क व्याकरण आदि शास्त्रों का ज्ञान मुझे न होने पर भी केवल मैं पुण्य पुरुषों के पुण्य चरित्र को लिखना प्रारम्भ कर रहा हूँ। इसलिये इसमें दोषों को न देखकर जिन महान पुरुषों का चरित्र मैं लिख रहा हूँ, उन्हीं की तरफ दृष्टि डालकर, उसमें महान पुरुषों के जो गुण हैं वह ग्रहण करें और ज्ञानी लोग मेरी भूल को न देखें।

पुष्पं पोद्दिद किळिपोष्पोद्धिरुंद पोळ्दिर्।  
पोष्पे पोद्दिद किळि तन्न युं पोष्पिन् वंपर् ॥  
पुष्पं सोल्लेनुं पुराण पुरुळं पोद्दिदाल्।  
नन्मैकन् वैतकिणीनामिरंगु पडित्तो ॥५॥

अर्थ—लोक में पुराने फटे हुए मलिन कपड़े में जिस प्रकार सोने को लपेट कर रखने से कपड़ा भी सोने के साथ पूज्य हो जाता है, उसी प्रकार के पुराण पुरुषों के चरित्र को मेरी अल्प बुद्धि द्वारा कहने पर ही मेरे जैसे श्रेष्ठ तथा पवित्र हो जाते हैं। इसलिये पवित्र भाव से लिखे हुए इस चरित्र को ग्रहण करके मेरी भूल पर ध्यान न देकर इसे क्षमा करें। इस कृति को मन, वच, काय व उपयोग द्वारा जो सुनेगा उनको क्या कभी कष्ट धायेगा ? कभी नहीं।

भावार्थ—कवि इस श्लोक में अपनी लघुता को प्रकट करता है। जिस प्रकार पुराने मलिन कपड़े में लिपटे हुए होने के साथ कपड़ा भी पूज्य हो जाता है उसी प्रकार सज्जन चरित्रवान पुरुषों के साथ अल्पज्ञानी भी महा ज्ञानी बन जाता है। यह संगति का प्रभाव है। इसी तरह मेरे में अल्प बुद्धि होने पर भी जिस महान् पवित्र चरित्रशाली उत्तम पुरुषों



का चरित्र निर्माण करने में मेरी बुद्धि लीन हो जाय तो मेरा ज्ञान उन्हीं के समान होने में कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिये भव्य सज्जन ज्ञानी पुरुषों को अल्प बुद्धि के द्वारा कविता के रूप में स्मरण कर रहा हूँ, अतः इसके पवित्र सार को ग्रहण करके इह लोक और परलोक में सुख भाव रखकर मैं इस कृति को प्रारम्भ करता हूँ। इसके अलावा मुझे अन्य कोई भी प्रयोजन की कामना नहीं है।

चन्द्रमा में थोड़ा सा काला दाग रहने पर भी चन्द्रमा के प्रकाश में क्या कभी न्यूनता आती है? कदापि नहीं। उसी तरह महान पुरुषों की कथा का वर्णन करते समय कहीं शब्द दोष भी आ जाये तो सत्पुरुषों के महान चरित्र को कहने में कभी मालिनता नहीं आयेगी।

**विदेह क्षेत्र का वर्णनः—**

मणि मुडि कवित्, बेंवन् मन्नवर् तन्नं चूळ ।

वणिइ नोडिरुंद वे पो लयंकियं कडलुं तीवु ॥

तनिविल्, सूळ् मेरु बेन्नुं तडमुडि कवित्, जंब ।

वनियि नोडिरुंद दीप तरसन तगल तौबन् ॥६॥

अर्थ—अत्यन्त मणिकय और मोती की मणियों के द्वारा सुसज्जित मणियों का हार धारण कर सभा के बीच में बैठे हुए एक चक्रवर्ती को जिस प्रकार उनके चारों ओर मुकुटबंध राजा महाराजा घेरे हुए के समान असंख्यात द्वीप और समुद्र से घेरे उसमें कहीं अधिकता और न्यूनता रहित महान मेरु रूपी मुकुट को धारण कर अत्यन्त सुन्दर, उसके बीच में विराजित होकर जम्बू द्वीप नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ जम्बू नाम के राजा के हृदय के बीच में अर्थात् जम्बू द्वीप के मध्य में अत्यन्त सुन्दर लक्ष्मी के समान प्रकाशमान होने वाले पीले सोने के पर्वत के समान चमकने वाले महामेरु पर्वत से सम्बन्धित होकर धर्म तीर्थ जैसे नदी के समान बहा कर जाने वाले परम्परा के रूप में गन्ध मालिनी नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ देश है। ऐसा देश इस संसार में अत्यन्त दुर्लभ है। और ऐसे देश में भव्य जीव जन्म लेकर मानव जीवन को सार्थक बनाने की भावना रखने वाले भी अत्यन्त दुर्लभ होते हैं। और उसे वैराग्य भावना से युक्त जिनेन्द्र भगवान के तत्त्व के प्रति उपासक के अनुसार धर्म का पालन, व्रत, शील का नियम पालन करने वाले भव्य श्रावकों का देश में मिलना दुर्लभ है। उत्तम श्रावक धर्म की प्राप्ति होने पर भी श्रावक धर्म का पालन कर अपने मनुष्य शरीर के द्वारा मोक्ष और स्वर्ग प्राप्त करने वाले तपश्चर्य की भावना करके इस शरीर की संप के द्वारा कर्म निर्जरा कर मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा करने वाले जीवों के लिये यह क्षेत्र हमेशा जीवों का साधन और मोक्ष स्थान है। ऐसे मोक्ष स्थान को जिसमें मोक्ष की परिपाटी हमेशा चलती रहती है क्षेत्र को सार्थक नाम प्राप्त हुआ, विदेह क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध है। वह विदेह क्षेत्र सीतोदा नदी के पास उत्तर में है ॥६॥

भावार्थ—कवि ने इस श्लोक में जम्बू द्वीपका वर्णन किया है। यह जम्बू द्वीप अत्यन्त सुन्दर, उत्तम मणि और मुकुट को धारण कर बैठा हुआ षट्खंडाधिपति चक्रवर्ती के चारों ओर अनेक मण्डलिक महामण्डलिक राजा-महाराजा घेरे हुए बैठे हुए के समान

प्रतीत होते हैं। इस तरह असंख्यात समुद्र द्वीपों से घेरा हुआ उसमें तिलमात्र भी कम ज्यादा नहीं और मानो महा मेरु के समान महान पर्वत की मुकुट के रूपमें धारण कर बैठा हो, ऐसे प्रसिद्ध जम्बू द्वीप के राजा के हृदय में अत्यन्त सुन्दर महालक्ष्मी के समान युक्त होने वाले सोने के माफिक लाल रंग वाले मेरु पर्वत से सम्बन्ध रखने वाले व मालिनी नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ देश है। वह देश संसार में अत्यंत दुर्लभ है। और उसमें रहने वाले जीव वैराग्य भावना बल से संसार के भव्य जीवों को विरक्त कराके, उम धारण किये हुए मानव शरीर के बल से, तप धारण कर सम्पूर्ण कर्मकी जड़को उखाड़कर इन भव्य जीवों को संसार से उठाकर मोक्ष रूपी स्थान में रखने की सामर्थ्य को रखता है। ऐसे सामर्थ्य रखने वाले प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ क्षेत्र है। यह विदेह क्षेत्र सीतोदा नदी के उत्तर में है ॥ १ ॥

### गंध मालिनी देशका वर्णन

तिरुवेनतिगळ् दु शंबोन् मलैइनेच् सेर्दु तोर्थ ।  
 मरुविये सेल्लुं गंध मालिनि एन्नु नाडु ॥  
 विरविला विदेह कंडु मुरे युळ्ळाय् विदेगनामम् ।  
 मरुविय नादुच्चिबोवगै वड तडत्ति लुडे ॥७॥  
 ऐजिर पयर् देवर् नाल्वगै कुळु ओडंबो ।  
 निजि सूळ्दिसंगुमेळु निलत्तिरै यिरुवकै वट्टु ॥  
 मंजिलं पार्गळाड लरिवन देळुच्चियादि ।  
 एंजिडा वंद नाटिन् पेरुमया रियंब वल्लार् ॥८॥

इस पवित्र गंध मालिनी देश में सदैव भगवान के पांचों कल्याण होते रहते हैं। पांच कल्याण पूजा के लिये आने वाले भवनवासो, व्यंतर, ज्योतिषी, कल्पेन्द्र तथा स्वर्ण मयी शरीर तीनों भित्तियों से घेरा हुआ सात भूमियों से युक्त त्रिलोकीनाथ ऐसे अर्हन्त परमेष्ठी विराजमान होने वाले रत्नाकार उस समवसरण भूमि में सुन्दर पांवों में पैजनी पहनने वाली स्त्रियां आदि उत्सव में अधिक से अधिक आती हैं। ऐसे धर्म हमेशा मोक्ष के साधन रूप में रहने वाले गंध मालिनी देशका वर्णन कौन कर सकता है—कोई नहीं।

भगवान के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इस प्रकार पांच कल्याण होते हैं। तीर्थङ्कर भगवान स्वर्ग अथवा नरक गति से च्युत होकर उत्पन्न होते हैं। भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र में उनका आगमन होता है। अर्थात् स्वर्ग या नरक से च्युत होकर इन क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं। उनके गर्भावतरण के छह मास पूर्व लगातार माता के आंगण में स्वर्ण व रत्नों की वर्षा होती है। तथा गर्भावतरण-ही चुकने के बाद नौ मास पर्यन्त माता के आगमन में सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर स्वर्ण और रत्नों की वर्षा करता है। तथा उनका नगर स्वर्णमय हो जाता है। अर्हन्त की इस समस्त संपत्ति का वर्णन महा पुराण से जानना चाहिये। इन नौ बातों का आश्रय लेकर अत्यन्त निकट श्रेष्ठ भव्य जीव अर्हन्त भगवान की

भावना करते हैं। अर्थात् उन्हें अपने हृदय कमल में निश्चल रूप से धारण करते हैं। जैसा कि कुन्द-कुन्दाचार्य ने अष्ट पाहुड ( बोध पाहुड ) में गायत्रि सं० ३० में कहा है—

जरवाहिजम्म मरणं चउगइगमणं च पुण्यपावं च ।  
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहतो ॥

अर्हन्त भगवान के जो नाम हैं वे नाम जिन हैं। उनकी प्रतिमाएँ स्थापना जिन है। अर्हन्त भगवान का जीव द्रव्य जिन है। और समवशरण में भगवान भाव जिन हैं। बोध पाहुड में यही कहा है—

णामे ठवणे हि य संदब्बे भावे हि सगुणपज्जाया ।  
चउणमदि संपदिमे भावा भावति अरहतं ॥२८॥

इस श्लोक में नामादि चार निक्षेपों की अपेक्षा अर्हन्त का वर्णन किया है। अर्हन्तों का वर्णन करते हुए बोध पाहुड में और भी लिखा है—

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्टुकम्मबंधेण ।  
णिरुवमगुणामारूढो अरहत एरिसो होई ॥२९॥

गाथार्थ—जिनके अनंत दर्शन और अनंत ज्ञान विद्यमान है। आठों कर्मों का बंध नष्ट हो जाने से जिन्हें भाव मोक्ष प्राप्त हुआ है तथा जो अनुपम गुणों को प्राप्त हैं ऐसे अर्हन्त होते हैं।

विशेषार्थ—पदार्थ की सत्ता मात्र का आलोचक न होना दर्शन है और विशेषता के लिये विकल्प सहित जानना ज्ञान कहलाता है। ज्ञानावरण के क्षय से अनन्त ज्ञान और दर्शनावरण के क्षय से अनन्त दर्शन अर्हन्त भगवान के प्रकट होते हैं। इन दोनों गुणों के रहते हुए उनके आठों कर्मों का बंध नष्ट हो जाने से मोक्ष भाव मोक्ष होता है।

प्रश्न—मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय-क्षयान्च केवलम्, मोहनीय तथा ज्ञानावरण और अन्तराय के क्षय से केवल ज्ञान होता है। उमास्वामी के इस वचन से सिद्ध है कि अर्हन्त भगवान के चार कर्म ही नष्ट हुए हैं जन्हें “नष्टानष्ट कर्म बन्धे” क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—आपने ठीक कहा है, परन्तु जिस प्रकार सेनापति के नष्ट हो जाने पर शत्रु समूह के जीवित रहते हुए भी वह मृत के समान जान पड़ता है, उसी प्रकार सब कर्मों के मुख्य भूत मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर यद्यपि अर्हन्त भगवान के वेदनीय आयु नाम और गोत्र ये चार अघाति कर्म विद्यमान रहते हैं तथापि नाना प्रकार के फलोदय का अभाव होने से वे भी नष्ट हो गये, ऐसा कहा जाता है। क्योंकि विकार उत्पन्न करने वाले मास का अभाव हो जाता है। उपा-रहित अनन्त चतुष्टय रूप गुणों को प्राप्त हुये अर्हन्त अष्ट कर्म से रहित कहे जाते हैं। ऊपर कही विशेषताओं से युक्त पुरुष होता है तथा उपचार से उसे मुक्त ही कहते हैं।

विवेचन—X “अर्हन्त के गुराणि में अनुराग सो अर्हन्त भक्ति है । जो पूर्व जन्म में षोडश कारण भावना भायी है सो तीर्थङ्कर होय, अर्हन्त होय है । ताके तो षोडश कारण नाम भावना ते उपजाया अद्भुत पुण्य ताके प्रभाव ते गर्भ में आवने के छह माह के पहले इन्द्र की आज्ञा ते कुवेर बारह योजन लम्बी, नव योजन चौड़ी रत्नमयी नगरी रचे है । तिसके मध्य राजा के रहने के महल, नगरी की रचना बड़े-बड़े द्वार कोट खाई परकोटे इत्यादिक रत्नमयी कुवेर रचना करे, ताकी महिमा कोऊ हजार जिह्वानि करि वर्णन करने कूँ समर्थ नाही है । तथा तीर्थङ्कर की माता का गर्भ का शोधना अरु रुचक द्वीपादिक में निवास करने वाली छप्पन कुमारिका देवी माता की नाना प्रकार की सेवा करने में सावधान होय है । और गर्भ के आवने के छह मास पूर्व प्रभात मध्याह्न और अपराह्न एक एक-काल में आकाश ते साड़े तीन कोटि रत्ननि की वर्षा कुवेर करे है । अर पाछे गर्भ में आवते ही इन्द्रादिक चार निकाय के देवनिका आसन कम्पायमान होने ते च्यार प्रकार के देव आय नगर की प्रदक्षिणा देय माता पिता की पूजा सत्कारादि करि अपने स्थान जाय हैं ।

भगवान तीर्थङ्कर स्फटिक मणि का पिटारा समान मलादि रहित माता के गर्भ में निष्ठे हैं । अर कमल वासिनी छह देवी अर छप्पन रुचिक द्वीप में बसने वाली और अनेक देवी माता की सेवा करे हैं । और नव महीना पूर्ण होते उचित अवसर में जन्म होते ही चारों निकाय के देवनिका आसन कम्पायमान होना अर वादित्रनि का अकस्मात् बाजने तें जिनेन्द्र का जन्म जानि, बड़ा हृष से सौ धर्म नामा इन्द्र लक्ष योजन प्रमाण ऐरावत हस्ती ऊपरि चढ़ि, अपना सौधर्म स्वर्ग का इकतीसवां पटल में अठारवां श्रेणी बद्ध नाम विमान ते असंख्यात देव अपने परिवार सहित साड़े बारह जाति के वादित्रनि की मिष्ट ध्वनि अर असंख्यात देवनि का जयजयकार शब्द, अनेक ध्वजा उत्सव सामग्री अर कोटर्चा अप्सरादि का नृत्यादि कर उत्सव अर कोटर्चा गन्धर्व देवनि का गावने करि सहित असंख्यात योजन ऊँचा इन्द्र का रहने का पटल, अर असंख्यात योजन ऊँचा इहाते तिर्यक् दक्षिण दिशा में है । तहां ते जम्बूद्वीप पर्यन्त असंख्यात योजन उत्सव करते आय नगर की प्रदक्षिणा देय इन्द्राणी प्रसूति गृह में जाय माता कूँ माया निद्रा के वश करि, वियोग के दुःख के भय ते अपनी देवत्व शक्ति ते तहां बालक और रचि, तीर्थङ्कर कूँ बड़ी भक्ति से ल्याय इन्द्र कूँ सौपे हैं । तिस काल में देखता इन्द्र तृप्तताकूँ नाही प्राप्त होता हजार नेत्र रचि करि देखे हैं । फिर ईशान स्वर्ग के देव, भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषीनिके इन्द्रादिक असंख्यात देव अपनी-अपनी सेना वाहन परिवार सहित आवे हैं । तहां सौधर्म ऐरावत हस्ती ऊपरि चढ्या भगवान कूँ गोद में लेय चालें । तहां ईशान इन्द्र छत्र धारण करें, अर सनत्कुमार महेन्द्र चंवर ढारते अन्य असंख्यात देव अपने अपने नियोग में सावधान बड़ा उत्सव ते मेरु गिरि का पांडुकवन में पांडुक शिला ऊपरि अकृत्रिम सिंहासन है तिस ऊपरि जिनेन्द्र कूँ पधराय है । अर पांडुक वन ते समुद्र पर्यन्त दोऊ तरफ देवां की पंक्ति बंध जाय है । क्षीर समुद्र मेरु की भूमि ते पांच कोड़ दस लाख साढ़ा गुराचास हजार योजन परे है । तिस अवसर में मेरु की चूलिकाते दोऊ तरफ मुकुट कुण्डल हार कंकणादि अद्भुत रत्ननि के आभरण पहरे देवनि की पंक्ति मेरु की चूलिकाते क्षीर समुद्र पर्यन्त श्रेणी बंधे हैं । अर हाथूँ हाथ कलश सौपे हैं, तहां दोऊ तरफ इन्द्र के खड़े रहने के अन्य दोय छोटे सिंहासन ऊपरि सौधर्म ईशान इन्द्र कलश लेय अभिषेक

X पं० सदासुखजी कृत रत्नकरं आवकाचार से ।

एक हजार आठ कलशनिकर करे है । तिन कलशनिका मुख एक योजन का, उदर चारि योजन चौड़ा, आठ योजन ऊँचा, तिन कलशनिते निकसी धारा भगवान के वज्रमय शरीर ऊपरि पुष्पनि की वर्षा समान बाधा नाहीं करे है । अर पाछे इन्द्राणि कोमल वस्त्र ते पीछकर अपना जन्म को कृतार्थ मानती स्वर्गतै ल्याये रत्नमय समस्त आभरण वस्त्र पहरावे है । तहां अनेक देव अनेक उत्सव विस्तारे है तिनकूं लिखनेकूं कोऊ समर्थ नाहीं । मेरु गिरतें पूर्ववत् उत्सव करते जिनेन्द्र कूं ल्याय माता कूं समर्पण कर इन्द्र वहां तांडव नृत्यादिक जो उत्सव करे है तिन समस्त उत्सवनि कूं कोऊ असंख्यातकाल पर्यन्त कोटि जिह्वानि करि वर्णन करने कूं समर्थ नाहीं है ।

जिनेन्द्र भगवान जन्मते ही तीथङ्कर प्रकृति के प्रभाव से दस प्रतिशय जन्म के साथ उत्पन्न होते हैं, पसीना रहित शरीर के मल, मूत्र, कफ आदि से रहित और शरीर में दूध के समान रुधिर, समचतुरस्र संस्थान व्रजऋषभनाराच संहनन, अद्भुत अप्रमाण रूप, महा सुगंध शरीर, अप्रमाण बल, एक हजार आठ लक्षणा, प्रिय हित मधुर वचन, ये समस्त पूर्व जन्म में षोडश कारण भावना भायी हुई के कारण है । और इन्द्र द्वारा अंगुष्ठ में स्थापना किया हुआ अमृत का पान करते हैं । माता के स्तन में आया हुआ दूध नहीं पीते हैं । पुनः अपनी अवस्था के समान देवकुमार के साथ क्रीड़ा करते दृष्ट वृद्धि को प्राप्त होते हैं । और स्वर्गलोक तें आया हुआ आभरण वस्त्र, भोजन आदि मनोवाञ्छित देव द्वारा लाये हुये भोजन से तृप्त होते है और वह देव रात दिन उनकी सेवामें हाजिर रहते हैं । पृथ्वी लोक का भोजन, वस्त्रादिक, आभरण को अंगीकार नहीं करते हैं । स्वर्ग से आये हुए भोगों को भोगते हैं । पुनः कुमारकाल व्यतीत कर इन्द्र के द्वारा अद्भुत उत्साह करके भक्ति पूर्वक पिता के द्वारा समर्पण कियाहुआ राजभोग को भोग कर तत्पश्चात् अवसर पाकर संसार, देह और भोगों से विरक्त होते हुए बारह भावना भाते हुए वंदन श्रवण करते हुए भगवान को सम्बोधन करते हैं । और जिनेन्द्र वैराग्य भाव होते ही चार निकाय इन्द्रादिकनि के देव अपने आसन कम्पायमान होते ही जिनेन्द्र का जन्म अवधि ज्ञान से जानकर बड़े उत्सव के साथ आकर अभिषेक करके देवलोक से लाये हुए वस्त्र आभरण भक्ति से अलंकार भगवान को कराते हैं । तत्पश्चात् रत्नमयी पालकी की रचना करके जिनेन्द्र भगवान को विराजमान करते हैं । अनेक प्रकार के उत्सव करके जयजयकार करते हुए तप करने योग्य वन में ले जाकर उतार देते हैं । वहां आभरणःसमस्त त्यागकर-देव अघर नतमस्तक होकर नमस्कार करते हैं । तब भगवान एक शिला पर बैठ कर सिद्ध भगवान को नमस्कार करके पत्र मुट्ठी केश लोच करते हैं । उस केश लोच को जो भगवान ने उसको अत्यन्त भक्ति के साथ नमस्कार करते हुए रत्नों की पेट्टी में रख कर उसको क्षीर समुद्र में ले जाकर के क्षेपण करते हैं ।

जिनेन्द्र केतेककाल में तप तथा शुक्ल ध्यान के प्रभाव से क्षपक श्रणी में घातिया कर्म का नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त करे हैं । तब ही अरहंत पना प्रकट होता है । तद् केवल ज्ञान भूत, भविष्य, वर्तमान त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों की अनन्तानंत परिणति कर सहित अनुक्रमते एक समय में सब को जान लेता है और देख लेता है । तथा चारों प्रकार के देव ज्ञान कल्याण की पूजा स्तवन कर भगवान के उपदेश के लिये समवसरण रचते हैं । वह समवसरण महान विभूति वाला, पांच हजार धनुष ऊँचा, जिसके बीच हजार पेढी, जिस पर इन्द्र नील मणि मय गोल भूमि बारह योजन प्रमाण समवसरण की रचना है । जह

समवसरण रचना होय और भगवान का विहार होय वहां ग्रंथों को देखने लग जाय, बहरे श्रवण करने लग जाय, लंगड़े चलने लग जाय, नूंगे बोलने लग जाय। इस प्रकार भीतराग की अद्भुत महिमा है।

उस समवसरण धूलि शालादिक रत्नमयी कोट मानस्तम्भ बावड़ी जल को खातिका, पुष्पवाड़ी फिर रत्नमय कोट दरवाजे, नाट्यशाला, उपवन, वेदी-भूमि, फिर कोट, फिर कल्पवृक्षनि का जिसमें देवच्छद नाम का एक योजन का मंडप सब तरफ बारह सभा अंतरिक्ष विराजमान भगवान प्ररहंत है। जिनकी अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत सुखमयी, अंतरंग विभूति की महिमा कहने के लिये चार ज्ञान का धारक गणधर भी समर्थ नहीं हैं। अन्य कौन कह सकता है? उस समवसरण की विभूति ही वचन के अगोचर है। तीसरी कटनी पर गंध कुटी है जहां चौसठ चँवर बत्तीस युगल देवन के मुकुट; कुंडल हार, कड़ा, भुजबंधादिक, सर्व आभरण पहने ढाल रहे हैं। तीन छत्र अद्भुत कांति के धारक जिनकी कांति से सूर्य अश्वि भी मंद ज्योति भासे हैं और जिनकी देह का प्रभा मंडल का अक्र बंध रहा। जिसके कारण उस समवसरण में रात दिन का कोई भेद भाव नहीं है। सदैव दिन ही प्रवर्ते हैं। और वहां की सुगंध ऐसी है जैसी सुगन्ध त्रैलोक्य में भी नहीं है। ऐसी गंध कुटी के ऊपर देवों-द्वारा रचित अशोक वृक्ष को देखते ही समस्त लोकनि का शोक नष्ट हो जाता है। और आकाश से कल्प वृक्षों की पुष्प वर्षा होती है तथा साढे बारह करोड जाति के बादियों की ऐसी मधुरी ध्वनि होती है जिनके सुनने मात्र में शुष्का तृषा आदि सर्व रोग, वेदना नष्ट हो जाती है और रत्न जड़ित सिंहासन सूर्य की कांति को जीतता है।

जिनेन्द्र भगवान की दिव्य ध्वनि की अद्भुत महिमा है। वह ध्वनि त्रैलोक्य के जीवों की परम उपकार करने वाली और मोह अंधकार का नाश करने वाली है तथा समस्त जीव अपनी-अपनी भाषा में उन शब्दों का अर्थ ग्रहण करें हैं। दिव्य ध्वनि की महिमा गणधर तथा इन्द्र भी अपने वचनों के द्वारा कहने को समर्थ नहीं हैं। उस समवसरण में सिंह और हाथी, व्याघ्र और गाय, बिल्ली और हंस इत्यादिक सर्व जाति विरोधी शत्रु वंर बुद्धि छोड़ कर परस्पर मित्रता करने लगे हैं। भीतरागता की अद्भुत महिमा को असंख्यात देव जय जयकार करें हैं और देवनिकर रचित कण्ठ, झारी, दर्पण, ध्वजा, ढोल छत्र, चँवर, बीजना ये अटूट अचेतन द्रव्य भी लोक में मंगलता को प्राप्त होते हैं। भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् दस अतिशय प्रकट होते हैं। चारों ओर सौ-सौ योजन सुभिक्षता और आकाश गमन, भूमि का स्पर्शन तथा किसी भी प्राणी का बध नहीं होता और भोजन तथा उपसर्ग का अभाव चतुर्मुख दीखे, समस्त विद्या का ईश्वरपना, छाया रहितपना तथा नेत्रों का टिमकारना व केश व नख नहीं बढ़ते हैं। इस प्रकार दस अतिशय घातिया कर्मों के नाश करने से स्वयं प्रकट हो जाते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति के प्रभाव से चौदह अतिशय देवों द्वारा होते हैं। अर्ध मागधी भाषा, सर्व जनों में मैत्री भाव, समस्त ऋतु के फल फूल, पत्रादिक सहित वृक्ष होय। पृथ्वी दर्पण समान रत्नमयी, तृण-कटक-रजरहित, शीतल मंद, सुगन्ध, हवा चले। सब प्राणियों को आनन्द प्रकट हो, अनुकूल पवन सुगन्ध जल की वृष्टि होती है। भगवान जहां चरण धरते हैं

वहाँ सात पैँड आगे और सात पीछे और एक बीच में ऐसे पन्द्रह पन्द्रह कर दो सौ पञ्चीस कमलों की रचना करते हैं । आकाश तथा दिशार्थे चार प्रकार के देवों द्वारा जय-जयकार का शब्द । एक हजार सूर्य मंडल का आरां सहित किरणिनिकाधारक अपना उद्योत कर सूर्य मंडल का तिरस्कार करता हुआ घर्म चक्र आगे चले । अष्ट मंडल द्रव्य । इस प्रकार चौदह अतिशय प्रकट होते हैं । भगवान के अठारह दोष, क्षुधा, तृष्णा, जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, भय, विस्मय, राग, द्वेष, मोह, अरति, चिंता, स्वेद । खेद, मद, निन्दा नहीं होते । इस कारण सदैव उनकी वेदना व स्तवन करना चाहिये । ये अरहत सुख का करने वाला है । इनके अनन्त नाम है और इन्द्र भक्ति के वशमय भगवान का एक हजार आठ नाम का स्तवन करते हैं, तथा अल्प सामर्थ्य के धारक अपनी शक्ति प्रमाण, अरहत भगवान की पूजन स्तवन तथा नस्कार करते हैं । इस प्रकार संक्षेप में भगवान के पाँचों कल्याणों का विवेचन किया गया इस प्रकार समवशरण का वर्णन किया है । उस समवशरण में भगवान के बिहार में भवनवासी, ज्योतिषी, व्यंतर, कल्पेन्द्र इस प्रकार चारों प्रकार के देवेन्द्र सामनिक त्रायस्त्रिंशत्परिषद आत्म रक्ष लोकपाल, आर्णव, प्रकीर्णक, अवयोग, किलविष, ऐसे दस प्रकार के देव रहते हैं । इसमें व्यंतर और ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंशत् और लोकपाल देव नहीं रहते बाकी चार प्रकार के देव भगवान के बिहार काल में आते हैं ।

मण्डिला मलयुमिद्धं वनस्पिला वनमुमिद्धं ।

कण्डिला निलमु मिद्धं कर्बिला काडुमिद्धं ॥

वेनिइलामगळिरिद्धं येळगिला मंड रिद्धं ।

तुनिबिला तुरवुमिद्धं तूतिला वोळुक्क मिद्धं ॥६॥

अर्थ—वहाँ नव रत्न मणि केसिवाय पर्वत नहीं रहते हैं । सुन्दरता रहित उपवन नहीं रहता है—अन्य-धान रहित खेत नहीं रहता, गन्ना रहित देश नहीं है, रूप रहित स्त्रियाँ नहीं है । रूप रहित पुरुष नहीं है, सम्यक दर्शन रहित तपस्वी नहीं है, हमेशा परिशुद्ध चारित्र्य वाले व्यक्ति रहते हैं ।

भावार्थः—अन्यकार ने इस श्लोक में गन्ध मालिनी देश के स्त्री और पुरुषों का और वहाँ स्थित पर्वत-भूमि उद्यान आदि का भी वर्णन किया है । उस देश में रत्न मणिमय पर्वत है, अत्यन्त रूपवती स्त्रियाँ रहती हैं । उसी प्रकार अत्यन्त सुन्दर कामदेव के समान पुरुष रहते हैं, तथा अन्य धान्य से समृद्धि शाली वहाँ की भूमि है सुन्दर फल और पुष्पों से भरे हुए हरे-भरे अनेक प्रकार के उद्यान हैं, कामदेव के धारण करने वाले अत्यन्त सुन्दर पुरुष और सम्यक दर्शन से युक्त श्रावक हमेशा रहते हैं । चारित्र्य से रहित वहाँ कोई साधु नहीं रहते । कारण इसका यह है कि जहाँ सदैव चतुर्थ काल बरतते हैं वहाँ अधिक से अधिक पुण्यवान स्त्रियाँ और पुरुष रहते हैं—और उस स्थान में नहानतीर्थकर व त्रेषठ शलाका पुरुषों का जन्म होता—रहता है—क्योंकि वहाँ भूमि पुण्यमय होने के कारण सदैव पुण्य पुरुष ही उत्पन्न होते हैं जिस जीव ने पूर्व जन्म में अतिशय पुण्य किया हो और जिसने अतिशय निरतिचार पुण्य को पालन कर अत्यन्त घोर तपश्चरण किया हो ऐसा पुण्यशाली जीव उस भूमि में उत्पन्न होकर पूर्व जन्म के पुण्योदय से मन पूर्वक सुख भोगकर

अन्त में संसार के भोगों से विरक्त होकर तप धारण करके उस तप के द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है । अतः ऐसी पुण्य भूमि में उत्पन्न होना यह पूर्व जन्म में किया हुआ तप और निरिच्छा-चार पूर्वक श्रावक व्रत को पालन किया हुआ पुण्य का फल है ॥६॥

कपिला मगळिरिल्लं करुणो इल्लारु मिल्लं ।

पोपिला वरमुमिल्लं पोद मिल्लारु मिल्लं ॥

तर्क मिल्लारु मिल्लं दानमिल्लारु मिल्लं ।

सोकंन् मे लाव मिल्लं त्थयरल्लारु मिल्लं ॥१०॥

अर्थ—गंधमालिनी देश में पतिव्रतारहित स्त्रियां नहीं हैं । दया धर्म रहित पुरुष नहीं हैं । उस देश में अधिक से अधिक धर्माचरण वाले मनुष्य मिलेंगे । ज्ञान तथा स्वाध्याय रहित वहां कोई भी श्रावक नहीं मिल सकता । उस देश में प्रतिदिन ग्राह्य, औषधि, शास्त्र अभय इन चार प्रकार के दान देने वाले तथा अपने कर्तव्य को समझने वाले श्रावक मिलेंगे । वहां असत्य बोलने वाले कोई भी स्त्री या पुरुष नहीं मिल सकते । उस देश में शुद्ध परिणामी तथा सद्भावना रखने वाले मनुष्य मिलेंगे ॥१०॥

भावार्थ—प्राचार्य ने इस श्लोक में विदेह क्षेत्र के श्रावक श्राविकाओं का वर्णन किया है । उस गंधमालिनी देश में स्त्रियां पतिव्रता सुधीर, संतोषी पुरुष अधिक धर्म में रुचि रखने वाले, अत्यन्त ज्ञान से युक्त-न्याय तर्क व्याकरण आदि के ज्ञाता तथा चार प्रकार के दान देने वाले श्रावक सदैव मिलेंगे । वहां के मानव प्राणी सदा सत्य वचन का पालन करने वाले होते हैं । सत्य के अतिरिक्त झूठ वचन उनके मुख से कभी भूलकर भी नहीं सुनने में आते । ऐसे शुद्धभाव सहित धर्मात्मा पुरुष दुर्द्धर तप करने में रुचि रखने वाले सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित पुरुष सदैव वहां विचरते रहते हैं । जहां पर भक्ति नहीं है वहां पर मोक्ष मार्ग का ख्याल भी नहीं है ।

भावार्थ—इस सम्बन्ध में श्री कुन्द कुन्दाचार्य ने रयणसार के गाथा नं० ७७ में इस प्रकार लिखा है—

वत्थुसमग्गोमूढो लोहियलहिए फलंजहा पच्छा ।

अण्णण्णो जो विसय परिवतो लहइ तहा चेवा ॥७७॥

भावार्थ—समस्त सामग्री और भोगोपभोग साधनों का समागम प्राप्त होने पर लोभी मनुष्य उनका भोग नहीं करता है, बल्कि लोभवश वह पापों का ही संग्रह करता रहता है । ठीक इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव व्रत तपश्चारणादि करके उसके फल से संसार की वृद्धि ही करता है । मिथ्यादृष्टि जीवों का तपश्चरण भी पाप का ही कारण है ।

वत्थु समग्गो ण्णो सुपत्तदाणो फलं जज्ञ लहइ ।

ण्णण्ण समग्गो विसय परिवतो लहइ तहा चेव ॥७८॥



भावार्थ—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष धन संपत्ति और भव को सत्पात्रों को दान देकर उसके प्रभाव से चक्रवर्ती तीर्थकर, इन्द्र, नागेन्द्र पद तथा मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् ज्ञानी जीव विषय कषायों से विरक्त होकर चारित्र्य को धारण करके उसी भव से मोक्षपद प्राप्त कर लेते हैं।

भू महिला कण्ठाइ लोहाहि विसहरं कहपि हवे ।  
सम्भत्तणाण वेरग्गो सहमतेण जिणुद्धिं ।।७६।।

भावार्थ—स्वर्णादि अलंकारों से अलंकृत राजमहल और स्त्री आदि पदार्थों के लोभ रूपी सर्प के विष का निवारण करने के लिये सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान तथा वैराग्य रूपी अमोघ मंत्र ही फलदायक है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

पुब्ब पच्चेंदिय तरुमणुवच्चि हत्थायमुंडाउ ।  
पच्छा सिर मुंडाउ फिवगइ पह्णायगा होइ ॥८०॥

भावार्थ—सर्वप्रथम अपने पाँचों इन्द्रियों को निग्रह करना चाहिये। तत्पश्चात् क्रम से मन वचन काय द्वारा अपने शरीर को वश में करना चाहिये। फिर सिर का मुंडन करना चाहिये, इससे भव्य जीवों को मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥८०॥

पतिभत्ति विहीण सदी भिच्चोय जिण समय भत्ति हीण जई ।  
गुरुभत्ति बिहीण सिस्सो दुग्गइ मग्गारु लग्गारो णियमा ॥८१॥

भावार्थ—पति की भक्ति से रहित स्त्री, स्वामी की भक्ति से रहित सेवक, शास्त्र की भक्ति से रहित साधु तथा गुरु की भक्ति से रहित शिष्य महान् निन्द्य और दुर्गति का पात्र होता है।

इस प्रकार उस गंधमालिनी देश में श्रावक और श्राविकायें कर्म निर्जरा करने के लिये सदैव दान धर्म में मग्न रहती हैं ॥८१॥

माणि नल वरं पंबोन् वरंङ्किमा तिरयुं सेंदुम् ।  
तुनिनल वेळ्ळु कौबुम् तोगयु मयिरुमैदि ॥  
बनिग नल्लोरु वन् पोल बयलग मडुत्तवार ।  
पनिविला पळकोडंगि निलेयन परदंवंडे ॥८१॥

गंध मालिनी देश की नदियों का वर्णन

अर्थ—जिस प्रकार रत्न, हीरे, मोती, पन्ना वैडूर्य मणि, माणिक्य स्वर्णादि के आभूषण सदा जगमगाते रहते हैं उसी प्रकार बड़े वेग से बहने वाली वहाँ की नदियों का अत्यन्त निर्मल नीर निरन्तर कल-कल ध्वनि करता रहता है। जिस प्रकार एक व्यापारी अनेक प्रकार के स्वर्ण, चाँदी, चन्दन, हाथी दांत, मोरपंख, चमरी गाय के बाल आदि सामग्री

एक देश से दूसरे देश में भेजते रहते हैं। उसी प्रकार वहां से बहने वाली नदियां अपने स्वच्छ घांतल जल को एक देश से दूसरे देश में प्रवाहित करती रहती हैं। इन नदियों के किनारे किसी प्रकार के फल-फूल की कमी नहीं रहती। अर्थात् कदली, ताड़, नारियल, विजनीर, सुपारी, आम, नींबू, नारंगी, अनार, संतरा आदि अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम वृक्ष उस नदी के दोनों तट पर स्थित हैं, जिनमें कि सदा उत्तमोत्तम फल लगे रहते हैं। उनके आकर्षण में पथिक गण सदैव फलों का आस्वादन करते हुये वृक्षों के नीचे विश्राम करते रहते हैं।

भावार्थ—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में नदियों का वर्णन किया है। जिस प्रकार बँडूर्य मणि, माणिक्य मोती आदि सूर्य के प्रकाश के समान जगमगाते रहते हैं उसी प्रकार ब्रह्मता हुआ नदी का अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ तथा चमकता हुआ जल कल-कल ध्वनि करना हुआ बहता रहता है। जिस प्रकार एक बड़ा व्यापारी सुगन्धित चंदन, माणिक्य मोती, हार्थी दांत तथा चंवर बनाने के लिए चंवरी गाय के बालों के व्यापार करने के लिये एक देश से दूसरे देश में ले जाता है उसी प्रकार विदेह क्षेत्र की नदियां दोनों तट पर चंदन, कदली, जम्भीर, नींबू, नारंगी, आम, खजूर, ताड़, श्रीफल तथा अमरुद आदि अनेक वनस्पतियों से सुशोभित होती हैं। इनमें अनेक प्रकार के फूल-फल बराबर लगे रहते हैं। इस सघन उपवन की शोभा को देखकर पथगमन करने वाले पथिकों का श्रम दूर हो जाता है, और वे आकर इसी उपवन में फल-फूल खाकर विश्राम करते हैं तथा नदी के निर्मल जल में स्नान-पान आदि करके आनन्द मनाते हैं।

कुळं गळुम् मलरुक् सेट्टिन् कुयिल्गळु मयिलुमातुं ।  
मळयेन मदुक्कळ् दुहु वंडोडु तुंबि पाडि ॥  
चिलं धुरुल् तगैय वागि वेंडि नार् वेंडिट्टियु ।  
मळगुडं मरंगळ् पोंडु वम्मलरस् सोलं येळाम् ॥१२॥

अर्थ—नाना प्रकार के सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पों के बीच बैठकर सुगन्धित तथा स्वादिष्ट पुष्परस को पान करके प्रसन्न होकर कोयल, भ्रमर तथा मयूरादि की पत्तियां परम सुहावनी लगती थीं, तथा गान करती हुई इन पक्षियों की ध्वनि ऐसी सुहावनी लगती थी कि मानों कोई किन्नर किंपुरुष आदि देव-देवियां स्वर्ग से नीचे उतरकर वीणा-वादन के माध्यम अत्यन्त मधुर स्वर में गान कर रही हों। उन भ्रमर, कोयल और मयूरादि पक्षियों की मधुर ध्वनि पथिक जनों के कानों को अत्यन्त आनन्द उत्पन्न करती थी। उस वन में उत्पन्न सभी वृक्ष पथिक जनों को इच्छित फल देकर कल्पवृक्ष के समान प्रतीत होते थे ॥१२॥

भावार्थ—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने विदेह क्षेत्र में स्थित वनभूमि का वर्णन किया है। उस वनप्रदेश में उत्पन्न सुगन्धित लता, वेली, वृक्ष, केतकी, चंपा, चमेली मंदार, पुष्प, मालती, जुही, मुक्ताफल आदि पुष्पों के बीच बैठकर उस कणिका के मध्य रहने वाले भ्रमर समूह मधुर रस को पान करके अत्यन्त मधुर स्वर वीणा-वादन के समान गुंजार करते थे। आम्र कदली आदि अनेक वृक्षों में बैठकर सुषुक्व मिष्ट मधुर फल को खाकर कोयल और मयूर पक्षी इस प्रकार मधुर स्वर करते थे कि मानों स्वर्गीय अप्सरायें या किन्नर देव-देवियां एकत्रित होकर वीणा वादन पूर्वक गान कर रही हों। उस वन में उत्तम फल और फूलों से

भरे हुये वृक्ष पथिक जनों को इच्छानुसार कल्पवृक्ष के समान तृप्त करते थे । इस प्रकार विदेह क्षेत्र के पवित्र भूमि का वर्णन हुआ ॥१२॥

मदियोडु मींग नील मणितल्लत्तिहंद वेपोर् ।  
पोदिय विल् कमल माबिल् पूत्तन पीयर्गएल्लाम् ॥  
मदमिसं कसप्पिन् वंडा मरेमिसं वंडिन् पाडल् ।  
मदियन्न मुगत्ति नल्लार् बाय् पक्षि नेळु क्चिदोड् ॥१३॥

अर्थ—चन्द्रमा को नक्षत्र इस प्रकार घेर लेते हैं कि जैसे इन्द्र नील मणि रत्नों के द्वारा निर्माण किया हुआ यह भूभाग ही है । उस भूमि में रहने वाले सरोवर के सभी कमल ऐसे दीखते थे कि चन्द्रमा में रहने वाले कालेपन के समान श्वेत वर्णके सफेद पुष्पों पर भ्रमरों के अत्यन्त सुन्दर और सरस भंकार शब्द हो रहे हों । और चन्द्रमा के समान स्त्रियों के मुख कमलों से “सा रे ग म प” ऐसे शब्द निकल रहे हों । इस प्रकार भ्रमर के शब्द सुनाई दे रहे थे ।

भावार्थ—चन्द्रमा के समान नक्षत्र ऐसे प्रतीत होते हैं कि जैसे इन्द्र नीलमणि के समान भूमि में खिलने वाले नील व श्वेत कमल खिले हुये हों । वह ऐसा प्रतीत हो रहा था कि चन्द्रमा में रहने वाले काले-पन कमल में अन्दर रहने वाले उड़ने वाले भ्रमर हों और अत्यन्त सुन्दर व सरस भंकार शब्द चन्द्रमुखी स्त्रियों के मुखकमल से अत्यन्त मधुर शब्द निकल रहे हों ॥१३॥

अन्नमेन् कुरुगुतारानारं वंडानड् कोळि ।  
तुन्निन पेडंगलोडुम् तुरंदवु मळत्त तोट् ॥  
मिन्नरि शिल्लिंवि नल्लार् सिल्लरि शिलंबवाडि ।  
कणियाळ् पंलुम् शालं पोंडन कयंगळेळाम् ॥१४॥

॥ विदेह क्षेत्र की उपजाऊ भूमि का वर्णन ॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर पुष्प बगीचों, वृक्षों, और कोमल लताओं में थोड़ा भा अन्तर न होता हुआ एक में एक सभी पत्तलों पर बैठे हुये कोयल पक्षी के अत्यन्त मधुर शब्द और वर्षा को बून्दे पड़ने तथा मधुमक्खी के शहद के छत्ते से बून्द पड़ने के समान ऊपर से गिरते हुये ऐसे मालूम होते हैं कि जैसे आकाश में मेष की बून्दे पड़ रही हों और उसके बीच अत्यन्त मधुर शब्द के समान भ्रमर गुंजार कर रहे हों । ऐसी सुन्दर वहाँ की भूमि है ।

भावार्थ—सभी तालावों और सरोवरों में हंस पक्षी, अत्यन्त मधुर ध्वनि करने वाले सारस पक्षी तारा नामक पक्षी, सफेद बक पक्षी, जलमुर्गी अपने २ मादियों के साथ परस्पर में प्रेम पूर्वक उस पानी में जल क्रीड़ा करते हुये कल्लोल के साथ आनन्द मनाते हैं । क्षण मात्र भी यदि दोनों में से किसी का विरह हो जाय तो दोनों अत्यन्त दुःखी हो जाते हैं और विरहातुर होकर चारों ओर देखने लगते हैं । इसके प्रतिरिक्त अत्यन्त प्रकाशमान व मधुर ध्वनि करने वाली वैजनियां अपने पावों में बांधकर स्त्रियां और अल्पवय की बाल

कन्यायें इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं कि मानों बीणा वादन व नृत्यकला आदि का शिक्षण केन्द्र ही इस सरोवर में स्थापित किया गया हो ॥१४॥

सालिगळ् करुंबिर् सेट्टि शाक्तवु मुयर्दु तम्मिन् ।

मेलळ वोत्तु शंबोन् विरिदुड नोड्डु मेलोर् ॥

कालुर बनैगु वारिर् कमलत्ति निरैजिकायत्त ।

नीलनर् पवळ् मुत्तिन् कळुत्त वाय् निरैद पूगम् ॥१५॥

अर्थ—तालाब व सरोवर में रहने वाले सभी पक्षी अपने २ बाल बच्चों के साथ बड़े हर्ष पूर्वक जल क्रीडा करते हुये आनन्दपूर्वक अपने समय को व्यतीत कर रहे थे। वहां पर उत्तमोत्तम तथा सुगन्धित धान, चावल, गेहूं, गन्ना आदि की फसलें परस्पर में मिलकर एक साथ अधिक से अधिक वृद्धि को प्राप्त करने नीचे झुक जाती हैं। इनकी बालियां एक समान होती हैं और दर्शकों को देखने से ऐसी प्रतीत होती है कि मानों वे सभी स्वर्ण की बनी हुई हों, कुशल शिल्पियों द्वारा हाथों से तैयार की गई हों। भव्य जीव जिस प्रकार पूज्य पुरुषों के चरणों में विनीत भाव से नत मस्तक होकर प्रणाम करते हैं उसी प्रकार कमल पुष्पों को नमस्कार करते थे और उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो सुपारी के बूझों में इन्द्र नील मणि या पन्ना की मणि ही लगकर फल रूप में परिपक्व हो गई हों। उसकी शोभा दर्शकों को इस प्रकार प्रतीत हो रही थी कि मानों परम सुन्दर स्त्रियां नीलमणि व मोती मणि के हार को पहिन कर आई हों।

भावार्थ—सुन्दर धान, चावल तथा गन्ने की फसलें अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होकर उसकी बालियां एक समान झुकी हुई थीं और वह देखने में इस प्रकार प्रतीत होती थीं कि मानों पीत वर्ण के सोने के तार बढ़कर नीचे को झुक गये हों। जिस प्रकार सत्पुरुषों के चरणों में भव्य जीव भक्ति भाव पूर्वक नमस्कार करते हैं उसी प्रकार कमल तथा सुपारी के सुन्दर पुष्प झुककर सुशोभित हो रहे थे। जिस प्रकार स्त्रियां अपने कंठ में पुखराज, मोती मारणक आदि के सुन्दर हार को धारण किए रहती हैं उसी प्रकार वहां की सुन्दर सुगन्धित हरे रंग की सुपारी झुकी हुई सुशोभित हो रही थी ॥१५॥

सूर्पळि इलामे यानुं तूय नल्लोळुक्कि नानु ।

मिर्पिरण्पोंब लानु मेल्लर् पाडिन्मैयानुं ॥

नट्टवर गीत लानु नादन् शीरोदलानुं ।

कपुडै कामर बल्लियार्गळे पोलु मूर्गळ् ॥१६॥

गंधमालिनी देश तथा तत्सम्बन्धी नगर में जितने भी प्राणी रहते हैं उनके मुंह से कभी कटु वचन नहीं निकलते। वे अत्यन्त परिशुद्धभाव वाले, श्रेष्ठ चारित्र्य को धारण करनेवाले, संसार के समस्त प्राणियों पर करुणाभाव रखने वाले, महातपस्वी मुनियों को आहारदान देनेवाले, सदैव जिनेन्द्रभगवान् की स्तुति व गुणगान करने वाले, पतिव्रता स्त्रियों से युक्त पुष्पलता के समान अत्यन्त सुन्दर शरीर से सुशोभित स्त्रियों से युक्त उस नगर में उत्तम श्रावक धर्म में रत रहा करते थे।

भावार्थ—उस देश के प्रत्येक ग्राम और नगर ऐसे सुशोभित हैं कि वहाँ के निवासियों के मुख से कभी कटु वचन नहीं निकलते हैं। संसार से भयभीत, शुभकामना वाले, चारों प्रकार के दानों में सदैव तल्लीन, उत्तमसत्पात्रों में प्रेम, शास्त्र-स्वाध्याय में लीन रहने वाले, त्रिनेन्द्र भगवान् का गुणगान करने वाले तथा सुन्दर पुष्पों को धारण करने वाले वहाँ के नगरनिवासी होते थे ॥१६॥

पारिलुळ्ळ वकॅलास् पडुपयन् पोटुउमाय् ।  
 एर्मलिन् दिडंगळ् गु मिबमे पयंदु नल् ॥  
 वेरिशान्द मूडु पोगि मेवि पाडल् पाडलोडु ।  
 वार मादर पौडु माड ऊगंडोह साडलाम् ॥१७॥

अर्थ—वहाँ की जनता विशाल नगर में ऊँचे २ महलों में निवास करती हुई विपुल वैभव से सम्पन्न थी। अर्थात् वहाँ पर चारों ओर से सर्व प्रकार का सुख ही सुख भरा हुआ था। वहाँ के स्त्री-पुरुष अत्यन्त सुन्दर शरीर को धारण करने वाले होते थे। चन्दन का शरीर में लेप करके उत्तमोत्तम अलंकारों से अलंकृत होकर नृत्यमंडप में जाते समय उनके शरीर की सुगंध चारों ओर फैलती जाती थी। और वेश्या स्त्रियों के द्वारा संगीत तथा नृत्यादि करते समय इस प्रकार नगर में महल सुशोभित हो रहे थे कि मानों स्वर्ग लोक में देवांगनायें नृत्य कर रही हों।

भावार्थ—वहाँ के महल तथा गोपुर अत्यन्त रमणीक, सम्पन्न तथा शोभायमान दीखते थे। उस नगर के निवासी सुख-शांति सम्पन्न होते थे। अर्थात् वहाँ पर सामान्य रीति से सर्वथा सुख ही सुख था। उस नगर में अत्यन्त सुगंध से भरी हुई वस्तु तथा चन्दन आदि के तेल को शरीर पर लेप करके नर्तन मंडप में प्रवेश करने वाले मनुष्यों की सुगन्ध चारों ओर फैल जाती थी और नृत्य संगीत आदि खेल को खेलने वाली देवांगनाओं के समान प्रतीत होती थी। उस समय ऐसा मालूम होता था कि मानों देवगण देवलोक से नीचे नृत्य करते हुये आ रहे हों। ऊँचे २ महलों से नीचे उतरते समय उनके शरीर के आभरण देदीप्यमान होकर देवांगनाओं के समान सुशोभित हो रहे थे।

सुंदरत्तलं मणि सुवर् पळिगु शंबोन ।  
 लंदर तडक्क मायनेग मालै नांदगम् ॥  
 मैंदरुं मैलनारु मल्गुमाड माळिगे ।  
 इंदिर विमान मिगिलि गिरुव नीरवे ॥१८॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर भूमि में वहाँ की बनी हुई दीवारें अनेक रत्नों तथा स्फटिक मणियों से निर्मित थीं। उस दीवार पर पीले रंग का लेप करके सुनहरे रंग से रत्न व सोने की मालाओं के समान चित्राम बना दिये गये थे। मयूर के समान चाल वाले पुरुष व स्त्रियों के महल ऐसे सुन्दर व रमणीय बने हुये थे कि मानों देवों के सुन्दर २ विमान ही स्वर्ग से उतर कर भूमि पर आ रहे हों।

भावार्थ—अत्यन्त रमणीय उस भूमि पर बने हुये मकान व महलों की दीवारों पर स्फटिकमणिमय रत्न व सोना से लेप किया हुआ था, जिन पर सुन्दर मालायें लटकी हुई थीं । सुन्दर मयूर के समान चाल वाले स्त्री-पुरुषों के लिये ऐसे महल बना दिये गये थे कि मानों देवों के विमान ही स्वर्ग से उतर कर भूतल पर आ रहे हों । इस प्रकार वे महल और मकान सुशोभित हो रहे थे ॥१८॥

चातुर्यं मिल्लबहू मिल्लं मैद्वर् तन्सोलु ।

माधुर्यं मिल्लबयं मिल्लं मद्रवर्षोयळ ॥

षोडुयं मिल्लबयं मिल्लं पोन्नेइ लिरं ।

कादरमु मिल्लबहू मिल्लं यंदनाडेलाम् ॥१९॥

अर्थ—उस देश में रहने वाले पुरुषों में से कोई भी ऐसा पुरुष नहीं था जो कि शास्त्र आदि कलाओं से रहित हो । अर्थात् सभी स्त्री-पुरुष संपूर्ण कलाओं सहित थे । उनकी मधुर वाणी थी, सदैव उनकी बुद्धि सत्कार करने में लगी रहती थी । वे स्वर्गमयी मन्दिर में भगवद् भजन, अर्हंत की भक्ति तथा पूजा में सदैव ठीक रहा करते थे । कोई भी प्राणी भगवान् की पूजा आदि के बिना नहीं रहता था । अर्थात् उस देश में भगवान् की भक्ति से रहित कोई भी मनुष्य नहीं था ।

भावार्थ—उस देश में रहने वाले स्त्री-पुरुष संपूर्ण कलाओं के जानकार थे । कोई भी कला से रहित नहीं था । सभी सुमधुर वाणी बोलते थे, सत्कार करने से कोई भी रिक्त नहीं था । वहां भगवान् की वेदी स्वर्ग से युक्त है । उसमें विराजमान भगवान् अर्हंत की भक्ति व पूजा करने वाले मनुष्य रहते थे । पूजा से रहित कोई मनुष्य नहीं रहता था । इसका सारांश यह है कि उस देश के निवासी पुरुष अत्यन्त वैभवशाली बलवान, धर्मात्मा, सकल शास्त्र-कला, तर्क, व्याकरण तथा छन्द शास्त्र आदि में परम प्रवीण, सर्वजन हितकारी तथा आनन्द को उत्पन्न करने वाले थे । वहां के रहने वाले भव्य प्राणी भगवान् की पूजा में सदैव लीन रहते थे । यह सभी सौभाग्य मनुष्य को सम्यग्दर्शन सहित दान के कारण से होता है । धर्म रहित मनुष्य को यह सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं हो सकता । आगे चलकर यही पुण्यानुपुण्य मोक्ष को देनेवाला हो जाता है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने रयणासार में कहा है कि :—

कामदुहिं कप्पतरुं चितारयण रसायणं य समं ।

लद्धो भुंजइ सोक्खं जहच्छियं जाण तह सम्मं ॥५४॥

जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, चितामणि रत्न और रसायन को प्राप्त कर मनवांछित उत्तम सुख को प्राप्त होता है उसी प्रकार सम्यग्-दर्शन से भव्य जीवों को सभी प्रकार के सर्वोत्कृष्ट सुख और समस्त प्रकार के भोगोपभोग स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं ।

पद्मनन्दी आचार्य ने इस मानव प्राणी को सम्बोधन के साथ पञ्चनन्दिपंचविंशतिका में कहा है कि :—

लब्धे कथं कथमपीह मनुष्यजन्मन्यङ्गप्रसंगवशतो हि कुरु स्वकार्यम् ।  
प्राप्तं तु कामपि गतिं कुमते तिरश्चां कस्त्वां भविष्यति विबोधयितुं समर्थः ॥१६८॥  
जन्म प्राप्य नरेषु निर्मलकुले क्लेशान्मतेः पाटवं ।  
भक्तिं जैनमते कथं कथमपि प्रागर्जितश्रेयसः ॥  
संसारार्णवतारकं सुखकरं धर्मं न ये कुर्वन्ते ।  
हस्तप्राप्तमनर्ध्वरत्नमपि ते मुञ्चन्ति दुर्बुद्धयः ॥१६९॥

अर्थ—हे दुर्बुद्धि प्राणी ! यदि किसी भी प्रकार से तुम्हें मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ तो फिर प्रसंग पाकर अपना कार्य ( आत्महित ) कर ले । अन्यथा यदि तू मरकर किसी तिर्यच पर्याय को प्राप्त हुआ तो फिर तुझे समझाने के लिये कौन समर्थ होगा ? अर्थात् कोई नहीं समर्थ हो सकेगा । जो लोग मनुष्य पर्याय के भीतर उत्तम कुल में जन्म लेकर कष्टपूर्वक बुद्धि की चतुरता को प्राप्त हुये हैं तथा जिन्होंने पूर्वोपाजित पुण्य कर्म के उदय से जिस किसी भी प्रकार से जैन मत में भक्ति भी प्राप्त कर ली है, फिर यदि वह संसार सागर से पार कराकर सुख को उत्पन्न करने वाले धर्म को नहीं करता तो समझना चाहिये कि वह दुर्बुद्धि जन हाथ में प्राप्त हुये अमूल्य रत्न को स्वयमेव छोड़ रहा है ॥१६९॥

शीलं वदंगळं शेरिबु मिल्हवरिलं ।  
कालं मालं नीदियोडु कन्वि इल्लवरिलं ॥  
बेलंमुंबु नल्लदान मिडियुं ववरिलं ।  
मालं कालं मादवरं वंदियारु मिल्हये ॥२०॥

अर्थ—वहाँ के श्रावक शीलाचार व व्रत मर्यादा से रहित नहीं होते । प्रातःकाल सायंकाल क्रम से शास्त्र स्वाध्याय से रहित लोग नहीं हैं । भोजन करने के पहले वे दिग्म्बर जैन मुनियों को आहार दान देते हैं । सत्पात्रों को दान दिये बिना वे कभी भोजन नहीं करते । वे प्रातः सायंकाल महान् तपश्चरण करने वाले साधु पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करते हैं तथा वहाँ पर एमोकार मंत्र के जाप से रहित कोई भी श्रावक नहीं होता ।

भावार्थ—वहाँ पर शीलाचार सहित व्रती श्रावक सदैव रहते हैं । सभी प्रातः सायंकाल शास्त्र स्वाध्याय करते हैं, दिग्म्बर मुनियों तथा सत्पात्रों को आहार दान देते हैं । प्रातः सायंकाल सभी श्रावक पंचपरमेष्ठियों व साधुओं को नमस्कार करते हैं तथा जाप करते हैं । पञ्चनन्दिपंचविंशतिका में पद्मनन्दी आचार्य कहते हैं कि :—

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वन्ते ।  
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥१६१॥

ये पठन्ति न सन्ध्यास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम् ।  
 तेऽन्धाः सचक्षुषोऽपीह संभाव्यन्ते मनोषिभिः ॥२०॥  
 मन्ये न प्रायशस्तेषां कर्णाश्च हृदयानि च ।  
 यैरम्यासे गुरोः शास्त्रं न श्रुतं नावधारितम् ॥२१॥  
 देशव्रतानुसारेण संयमोऽपि निषेच्यते ।  
 गृहस्थैर्येन तेनैव जायते फलवद्भवतम् ॥२२॥  
 त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधुदुम्बरपंचकम् ।  
 षष्ठो मूलगुणाः प्रोक्ताः गृहियाो दृष्टिपूर्वकाः ॥२३॥

अर्थ—जो अज्ञानी जन न तो गुरु को मानते हैं और न उसकी उपासना ही करते हैं उनके लिये सूर्य का उदय होने पर भी अन्धकार जैसा ही है। ज्ञान की प्राप्ति गुरु के प्रसाद में ही है। अतएव जो मनुष्य आदर पूर्वक गुरु की सेवा सुश्रुषा नहीं करते वे अज्ञानी ही रहते हैं। उनके अज्ञान को सूर्य का प्रकाश भी दूर नहीं कर सकता। कारण यह है कि वह तो केवल सीमित वाह्य पदार्थों के भवलोकन में सहायक हो सकता है, न कि आत्मावलोकन में। आत्मावलोकन में तो केवल गुरु के निमित्त से प्राप्त हुआ अध्यात्मज्ञान ही सहायक होता है। जो जन उत्तम गुरु के द्वारा प्ररूपित समीचीन शास्त्र को नहीं पढ़ते उन्हें बुद्धिमान मनुष्य दोनों नेत्रों से युक्त होने पर भी अंधा समझते हैं। जिस व्यक्ति ने गुरु के समीप जाकर न तो शास्त्र ही सुना और उनके उपदेश को ही हृदय में धारण किया उसके पास कान और हृदय होते हुये भी नहीं के समान समझना चाहिये। क्योंकि कानों का सदुपयोग इसी में है कि उनसे शास्त्रों का श्रवण किया जाय तथा सदुपदेश सुना जाय और मन का भी यही सदुपयोग है कि उसके द्वारा सुने हुये शास्त्र का चिन्तन, मनन किया जाय तथा उसके रहस्य को धारण किया जाय। इसलिये जो प्राणी कान और मन को पाकर के भी उन्हें शास्त्र के विषय में प्रयुक्त नहीं करते उनके कान और मन दोनों निष्प्रज्ञ ही हैं। श्रावक यदि देशव्रत के अनुसार इन्द्रियों के निग्रह और प्राणिदया रूप संयम का सेवन करते हैं तो इससे उनके व्रत (देशव्रत) के परिपालन की सफलता इसीमें है कि पूर्ण संयम को धारण किया जाय।

मद्य, मांस मधु और पांच उदुम्बर फलों (ऊमर, कठुमर, वड़, पाकर और पीपल) का त्याग करना चाहिये। सम्यग्दर्शन के साथ ये आठ श्रावक के मूलगुण कहे गये हैं। मूल शब्द का अर्थ जड़ होता है। जिस वृक्ष की जड़े जितनी अधिक गहरी और बलिष्ठ होती हैं उसकी स्थिति बहुत समय तक रहती है, किन्तु जिसकी जड़े अधिक गहरी और बलिष्ठ नहीं होती उसकी स्थिति बहुत काल तक नहीं रह सकती। वह एक छोटी सी झांघी में ही उखड़ जाता है। ठीक इसी प्रकार से इन गुणों के बिना श्रावक के उत्तर गुणों (अणुव्रतादि) की स्थिति भी सुदृढ़ नहीं रह सकती। इसलिये श्रावक के ये आठ मूलगुण कहे जाते हैं। इनके भी प्रारम्भ में सम्यग्दर्शन अवश्य होना चाहिये, क्योंकि उसके बिना प्रायः सभी व्रतादि निरर्थक ही रहते हैं ॥२०॥



ऐंगनेकिल्लवनं कंडं मैत्तवरेनुं ।

पुंगवर् किरवनर शिरप्पु मुंघिलावन ॥

मंगलत्तु लिल्लगल्लिं मानमायमंवना ।

डेगुमिल्ले यावर मिरैजि संयोळु गलाल् ॥२१॥

अर्थ—पंचबाण पंचेन्द्रिय सहित कामदेव को अर्थात् मन्मथ को जीतकर, निज धर्म रूप आत्मस्वरूप को जानकर दृढ़र तपस्या करने वाले श्रेष्ठ मुनियों की और तीन लोक के अधिपति भगवान् जिनेश्वर की पूजा आदि नित्य-क्रिया किये बिना वहां के भव्य जीव कोई भी कार्य नहीं करते । उस देश में सभी भव्य जीव सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व पूर्वक नमस्कार करने वाले, सच्चारित्र के धारी तथा शुभ आचरण करने वाले होते हैं । वे मान माया कपटादि से रहित होते हैं । अर्थात् वहां मायाचारी नहीं रहते । इस प्रकार उस देश में लोग रहते हैं ।

भावार्थ—पंचेन्द्रिय विषय में पंचवाणों को जीतकर सच्चे आत्मधर्म को समझकर श्रेष्ठ तपश्चरणा करने वाले मुनि जनों की भक्ति और त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्र भगवान् की पूजा, अभिषेक आदि षट्कर्म क्रिया नित्य आवश्यक कर्म समझकर उसके किये बिना भव्य प्राणी अन्य संसारी कोई कार्य नहीं करते थे । उस विदेह क्षेत्र में रहने वाले भव्य श्रावक देववंदना सच्चारित्र पालन करने वाले, माया मिथ्या निदान आदि से रहित होते हैं । उनके अन्दर लेश मात्र भी कपटाचार नहीं रहता । इसका सारांश यह है कि वहां के निवासी नित्य निरन्तर जिनेन्द्र भगवान् की पूजा, अभिषेक तथा नित्य के षट् आवश्यक कार्य करते रहते हैं । वे कभी असत्य वचन नहीं बोलते तथा धर्म अर्थ, काम और मोक्ष के साधनार्थ सदैव तत्पर रहते हैं ॥२१॥

नहु कडर पिरंदु संगि नुळिळ् रंद पानिनर् ।

कुडिप्पिरंद मैदतम् कुळं मुंग पिरर् मनं ॥

इडेकन्वेत्तिल्ले कांद लागळ् मेलुमावमूर् ।

कडेक्कु नोकिनाद मादर् कर्पयादर् सेप्पुवार् ॥२२॥

अर्थ—समुद्र के मध्य रहने वाले शंख के अन्दर उत्पन्न होने वाले घवल शंख के समान उच्च कुल में उत्पन्न होकर कानों में कुंडल को धारण किये हुये श्रेष्ठ पुरुष अपनी आंखों से कभी भी परस्त्री पर कटाक्ष नहीं करते थे और स्त्रियां भी पतिपरायणा होकर पतिव्रत धर्म का पूर्ण रूपेण पालन करती हुई अपने पति की सेवा में रहकर समय व्यतीत करती थीं । ऐसी गुणी स्त्रियों के वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । वे धर्मपरायणा पतिव्रता स्त्रियां कभी अपने मन में पर पुरुष का स्मरण तक नहीं करती तथा अपने इष्ट देव, गुरु शास्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी देव को नमस्कार नहीं करती थीं ।

भावार्थ—समुद्र के बीच में उत्पन्न होनेवाले घवलशंख के समान उच्च कुल में जन्म लेने वाले पुरुष कानों में कुण्डलादि आभरणों से आभूषित होकर अत्यन्त सुन्दर लगते थे,

किन्तु उनके मुख कमल की शोभा अद्भुत होते हुये भी उनकी दृष्टि कभी पर स्त्री पर नहीं जाती थी। उस देश के स्त्री पुरुष सभी सच्चरित्र होकर धर्म ध्यान में लगे रहते थे। ऐसे स्त्री-पुरुषों का वर्णन कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥२२॥

अग्निदूनुक्कनियनार् कळाडु मामयिलनार् ।  
मणियैमन्नि वैत्तनर्गळ् वंजमिन् मनत्तिनार् ॥  
पनिविला ओळुक्कि नर्गळ् पन्नवर् पळिच्चवार् ।  
कनिगैमाद्वर् शीलमिन्न कामहं तगयवे ॥२३॥

अर्थ—उस देश में रहने वाली वेश्या स्त्रियां उत्तम अलंकारों से अङ्कित होकर अत्यन्त सुन्दर रूपको धारण करने वाली, मयूर के समान सुन्दर नृत्य करने वाली, रत्ना-भरणां को धारण करने वाली, सारंग के समान गति वाली होती हैं। वे सभी कपटाचार माया, मिथ्या, निदान आदि छलों से रहित, दुश्चरित्र से वर्जित, सत्य शील पालने वाली, अर्हन्त भगवान् की भक्ति में परायण होती हैं। उस देशकी स्त्रियां वेश्या होने पर भी सच्चरित्र पालन करने वाली होती हैं। और सभी के साथ प्रेम करने वाले गुणों को धारण करने वाली होती हैं।

भावार्थ—इस विदेह क्षेत्र में रहने वाली वेश्या स्त्रियां अत्यन्त सुन्दर और अलंकार सहित होती हैं। उनका शरीर रत्न के समान अथवा बिजली के समान चमकता है। जाति से वेश्या होने हर भी वे एक ही पुरुष पर दृष्टि रखने वाली होती हैं। उनकी चाल मयूर के समान, आंखें मृग के समान, कमर सिंह के समान अत्यन्त सुन्दर होती है। वे कपट तथा दुश्चरित्रता से रहित शील धर्म को पालन करने वाली भगवान् की भक्ति में मग्न रहती हैं। इस प्रकार उस देश की वेश्या स्त्रियां भी उत्तम शील धर्म का पालन करती हुई सभी के परम प्रिय होती हैं ॥२३॥

इडैरा तरि ओळि इरवियन् केळुदलाल्  
कडै यिळावरी विरैव नालयंग लल्लदु ॥  
पडरोळि विमानत्तोडु पाइरुळ् तिन्मय पोल् ।  
बिडैयुलावि पादियाय वेट्टैल्लग मिल्लक्ये ॥२४॥

अर्थ—विशाल प्रकाश से युक्त सूर्य के समान सदैव अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने वाले अथवा रात-दिन को एक समान कर देने वाले अनन्तज्ञान रूपी प्रकाश को प्राप्त हुये जिनेन्द्र भगवान् रूपी सूर्य उस देश में प्रकाश फैलाते रहते थे तथा केवली भगवान् के मन्दिर के अतिरिक्त और कोई अनायतन का स्थान ही वहां नहीं होता। अर्थात् वहां पर अन्य देवों के स्थान ही नहीं होते हैं।

भावार्थ—उस देश में विशाल सूर्य प्रकाश के समान रात-दिन एक समान करने वाले अनन्त ज्ञान को प्राप्त हुये भगवान् जिनेन्द्रदेव के मन्दिर के अतिरिक्त वहां अन्य-मतियों

का कोई स्थान नहीं है । वहां पर सभी सम्यग्दृष्टि जीव रहते हैं । सम्यग्दृष्टि के ६३ गुण इस प्रकार होते हैं :—

१ संवेग, २ निर्वेद, ३ निन्दा, ४ गर्हा, ५ उपशम, ६ भक्ति, ७ अनुकम्पा, ८ वात्सल्य ये आठ गुण, शंका आदि पांच अतिचारो का छूटना रूप ५ गुण, सात भयों का छूटना रूप ७ गुण, तीन शल्यों का छूटना रूप ३ गुण, पचीस दोषों का छूटना रूप २५ गुण, आठ मूल गुण पालन रूप ८ गुण, सात व्यसनों का त्यागना रूप ७ गुण, इस प्रकार ६३ गुण होते हैं । सम्यग्दृष्टि जीव इन गुणों को प्राप्त करता है और करना भी अनिवार्य है ।

इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्दर्शन आदि ८ अंग भी होते हैं, जिनके बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, और फल स्वरूप वह सम्यग्दर्शन जीव को मोक्ष में नहीं पहुँचा सकता । ऐसी स्थिति में उनका संचय करना अनिवार्य है । परन्तु वे आठों अंग निश्चय और व्यवहार नय के भेद दो प्रकार होते हैं ।

१, सरागी जीव और दूसरा वीतरागी जीव । सरागी जीव, व्यवहाररूप आठ अंगों को पालता है और वीतरागी जीव निश्चयरूप से आठ अंग का पालन करता है ॥२४॥

**कुरेयिला कुडिगळार कुळिइयऊर् कोडेवळर् ।**

**तिरैयिडु मिवटिना लियलविनाय नाडेळिन्**

**तिरैमदि नडुवनैव निड्रमीन् कुळांगळ्पो ।**

**लिरैवन विरुके सूळ्द नाळेण्ण नाईरंगळे ॥२५॥**

अर्थ—वहां पर धन्य धान्यादि सम्पत्ति से परिपूर्ण गृहस्थों के निवास करने वाले ग्राम थे और वे लोग प्रचुर मात्रा में धन्य-धान्य उत्पन्न करके बिना मंगि ही स्वयमेव राजा को कर देने वाले स्वाभाविक गुण के धारी थे । उस देश में दश प्रकार की कलाओं से संयुक्त रहने वाले थे । इनके बीच में चन्द्रमा के समान परम तेजस्वी धर्म से युक्त शान्त स्वभावी वहाँ के राजा थे । और चन्द्र मंडल में तारागणों के समान वहाँ की प्रजा भी उत्तम गुणों से युक्त प्रकाशमान थी ।

राजाओं के रहने तथा देशों को घेरे हुये नगरों की संख्या ३२००० है । ये सभी नगर चक्रवर्ती के अधीन हैं । और यहां पर सभी लोग चक्रवर्ती की आज्ञानुसार चलते हैं ।

भावार्थ—वहां की जमीन धन धान्यादि से सर्वथा सुसम्पन्न थी । और सर्वथा सम्पन्न होनेके कारण वे सदगृहस्थ धान्य की मात्रा अधिक उत्पन्न होने के प्रमाणानुसार अपनी इच्छा से स्वयमेव ही राजा को कर देने वाले होते हैं । और वे स्वभाव से ही धार्मिक वृत्ति वाले होते हैं तथा उस देश में सभी १० कलाओं से परिपूर्ण रहते हैं । आकाश में स्थित चन्द्रमा को चारों ओर रहने वाले तारागण जिस प्रकार घेरे रहते हैं उसी प्रकार उस नगर के मध्य में राजा की राजधानी को घेर कर रहने वाली ३२००० नगरों की प्रजा चक्रवर्ती की आज्ञा का पालन तथा अनुसरण करती थी ॥२५॥

अरं कळ लरसर् कोमानिरु कंय दर्यदि सेधिर ।  
 कुरंविता दीतशोगं कुवेरन विरुक्कं पोलुं ॥  
 निरंनार् पुगईरंडा रोबोडु नोंडगंडु ।  
 मरुगु मानविगळ् पोंडु वळं गु माइवत्तवामे ॥२६॥

अर्थ—मधुर स्वर को उत्पन्न करने वाले कंठों से युक्त शूरवीर राजाधिराज चक्रवर्ती की राजधानी का वर्णन कहां तक करूं ? वहां पर घन धान्य से परिपूर्ण कुवेर के नगर व अल्कापुरी के समान अत्यन्त सुशोभित वीतशोक नाम का नगर है । क्रम से इस सुन्दर नाम को प्राप्त हुआ । यह वीतशोक नगर १२ योजन लम्बा व ६ योजन चौड़ा है । वहां पर सदैव जल से परिपूर्ण नदी के प्रवाह के समान-जलधारा बहती रहती है और प्रजाजनों के आवा-गमन के लिये एक हजार मार्ग व गलियां निर्मित हैं ।

भावार्थ—सुन्दर सुमधुर शब्दों से उत्पन्न होनेवाले वीर-कंठों से युक्त राधाधिराज चक्रवर्ती की राजधानी का वर्णन कहां तक करें ? उसका वर्णन करना मेरे द्वारा अशक्य है । फिर भी यथौशक्ति उसका वर्णन करता हूँ । घन-धान्य से परिपूर्ण कुवेरपुरी अथवा अल्का-पुरी के समान वीतशोक नगर की शोभा अत्यन्त सुहावनी प्रतीत होती है । यह नगर १२ योजन लम्बा व ६ योजन चौड़ा है । पानी से भरी हुई छोटी २ नदियां सदैव बहती रहती हैं । और सभी प्रजाजनों के आने-जाने के लिये १००० एक हजार मार्ग व गलियां बनी हुई हैं ।

अरुवदु तलेवतीट्ट मूंडु नूररिक्कु कोईल् ।  
 सेरिमलर् सोलै कुंडुम् वावियुं सेप्पिनन्न ॥  
 अरुवदिर् गुणिकप्पट्ट वायिरम् सेरिपाट्टि ।  
 अरुवदोडिसैद पात्तार् गुणित्त वायिरंगडामे ॥२७॥

अर्थ—भगवान् सर्वज्ञदेव के ३६० मन्दिर हैं । उस नगर के चारों ओर परकोटे बने हुये हैं और दरवाजों पर तोपें लगी रहती हैं । नगर के चारों ओर छोटी छोटी पहाड़ियां तथा कुडियां हैं, जिनकी गणना करना असंभव है । उस कोट के चारों ओर ३६० कुयें हैं । वहां पर गड़रियां आदि जातियों के रहनेवालों के ६०००० साठ हजार घर हैं । इन सभी स्थानों को मिलाकर साठ हजार तथा छोटे २ ग्रामों व पाड़ी नाम के प्रसिद्ध देहात ७०००० सत्तर हजार हैं ।

भावार्थ—उस वीतशोक नामक नगर में ३६० मन्दिर हैं । नगर के चारों ओर तोपें लगी हुई हैं । वहां पर छोटे २ तालाब, पहाड़, उपवन और कुयें बने हुये हैं । उन कूपों की संख्या लगभग ३६० है ॥ २७ ॥

अंशु नूरिरट्टि वायिलेळु नूरागुं पूळं ।  
 तुंजिला वलिपेपोठ माइरंसकुक्क मन्न ॥

कुञ्जरं कडावि धाळुं कुडिगळुं नूट्टु कोडि ।  
इंजि मानगर भिक्वारियर् कंयालियेड् दोंडे ॥२८॥

अर्थ—उस नगर के गोपुर द्वार १००० एक हजार तथा छोटे २ द्वार ७०० सात सौ हैं । वहां पर चिरस्थायी बलिपूजा करने के लिये एक हजार बलिपीठ हैं । चारों कोनों में बड़े २ हाथी हैं, जिनकी रक्षा करने वाले महावत तथा अपनी आजोविका उपाजित करने वाले अन्य २ सौ करोड़ मनुष्य हैं । इस प्रकार विशाल कोठ से घिरा हुमा वीतशोक नाम का नगर महान् शोभा से सम्पन्न है ।

भावार्थ—उस वीतशोक नामक नगर के गोपुर द्वार एक हजार हैं । और छोटे द्वार ७०० हैं । वहां पर निरंतर बलि पूजा करने के लिये एक हजार बलिपीठ हैं । उस गोपुर के चारों कोनों में हाथियों तथा उनकी रक्षा करने वाले महावत और जीविका द्वारा पेट भरने वाले नौकर व अन्य मनुष्यों की संख्या सौ करोड़ है । इस प्रकार सुदृढ दीवारों से घिरा हुमा वीतशोक नामक सुन्दर नगर स्वर्ग की अल्कापुरी नामक नगरी के समान शोभायमान प्रतीत होता है ॥२८॥

सुंदरं मलगळन्ने सुन्नं तादु कुंकुमम् ।  
संदन कुबंबु मेरुपरंदु पाडिसूळ् दग ॥  
ळंदर तरुक्कने येनिदुसूळ् किडंद दो ।  
रिदिर तनुविन् वन्न मेन्न दघ्न दागुमे ॥२९॥

अर्थ—उस नगर के चारों ओर खाई बनी हुई है और उसके किनारे अत्यन्त सुगन्धित फूलदार वृक्ष हैं तथा तेल, चूना, पुष्प, घातु, रोली आदि अनेक प्रकार के द्रव्य उस खाई में भरे हुये पानी के ऊपर तैरते हुये चमकते हैं । रंग वगैरह से सुशोभित उस नगर की शोभा इस प्रकार दीखती है कि मानों सूर्य ने उसे चारों ओर घेर रक्खा हो । उपमा से रहित इन्द्र धनुष वर्ण के समान वीतशोक नामक नगर अत्यन्त शोभायमान दृष्टिगोचर होता है ।

भावार्थ—उस नगर के चारों ओर खाई घिरी हुई है जिसके किनारे फूलदार वृक्ष लगे हुए हैं । उसके अन्दर सुगन्धित तेल, चूना, पुष्प घातु, रोली कुंकुम आदि द्रव्यों से मिश्रित वस्तुयें पानी पर चमकती रहती हैं । स्त्री और पुरुष अपने शरीर में उसका लेप करके उस खाई के जल से स्नान करते हैं, जिससे उस जल की चमक के अनुसार उनका शरीर चमकने लगता है । इस कारण वह वीतशोक नामक नगर पथिकों को ऐसा दीखता था कि मानों इन्द्रधनुष सूर्य को घेर कर सुशोभित हो रहा हो । चारों ओर खाई से घिरे होने के कारण वीतशोक नामक नगर अत्यन्त शोभायमान दीखता था ॥२९॥

किडंकिडंतडंगळ् सूळ् दु केडुतोट्टिमिडिये ।  
मडंगन् मोयिविन् वानवकुं भीडु पोगना मदिळ् ॥  
तडंगळ् मरत्तल तरंयुं सूळ् मान वट् ।  
कंदिडा वगई निड् नागन् तन्ने काट्टुमे ॥३०॥

अर्थ—उस खाई के मध्य फैला हुआ विशाल मैदान है। उस उन्नत भूमि को लांघ कर सिंह के समान अत्यन्त पराक्रमी शक्तिशाली देव भी उस नगर से पार जाने में समर्थ नहीं थे। उस नगर के चारों ओर दीवार (कोट) है। और पृष्कर नामक एक विशाल समुद्र है। मनुष्य के द्वारा उसका उल्लंघन करना सर्वथा अशक्य है। अर्थात् मनुष्य के अन्दर उसके उल्लंघन करने की शक्ति नहीं है। जैसे मानुषोत्तर पर्वत को लांघकर मनुष्य नहीं जा सकता। वह इतना विशाल वीतशोक नामक नगर है।

भावार्थ—वीतशोक नगर के चारों ओर खाई के मध्य एक विशाल मैदान है। उसके चारों ओर रक्षार्थ सिंह के समान कोट हैं, जिसे महान् पराक्रमी देवता भी लांघकर नहीं जा सकते। अर्थात् जिस प्रकार कोई मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत को लांघकर नहीं जा सकता उसी प्रकार इस वीतशोक नामक नगर को उल्लंघन करने में कोई भी समर्थ नहीं था। इस प्रकार अत्यन्त सुन्दर व शोभायमान वीतशोक नाम का नगर है ॥३०॥

दिवकथं मल्लगळ् पोर् सिरदुनिङ्ग गोपुरंग ।  
लोककुमाळीगै निरंकुलमलै गळोत्तन ॥  
मिवकभासनम् शक्तुवीदि सीदेयादि यारन ।  
चक्करङ्गन् माळिगैयु मेरुवेस्सरुन्दे ॥३१॥

अर्थ—वहाँ के गोपुर तथा उस वीतशोक नगर के चारों ओर रहने वाले हाथी ऐसे दीखते हैं कि जैसे छोटे २ पहाड़ तथा छोटे २ गोपुर ही हों। उस नगर में बने हुये कई मंजिल के ऊँचे २ मकान व महल इस प्रकार प्रतीत होते थे कि मानों कुलपर्वत हों। उस नगरी की बड़ी २ गलियों से आने जाने वाले मनुष्य ऐसे प्रतीत हो रहे थे कि मानों सीता नदी की निर्मल धारा नित्य निरन्तर कलकल ध्वनि करती हुई बह रही हो। अर्थात् उस गली से लोग नदी के प्रवाह के समान नित्य निरन्तर गमन करते हुये दिखाई दे रहे थे। यानी वे रात दिन चलते रहते थे। राजा के राजमहल सुमेरु पर्वत के समान विशाल व सुन्दर प्रतीत हो रहे थे ॥३१॥

मुगिर्करणगळ् पोन्मल्लै मोयत्तयानं पोन्मोष्प ।  
पगर्किडे कोडादसेबोन् मालिगैर्पाडिन ॥  
वगिर्पुगय लायनीर् मदत्तरुवि पौङ्गन ।  
तुगिर्करणगळ्मगर् मदिमरुत्तुडेक्कुमे ॥३२॥

अर्थ—महा मेरु पर्वत को किसी बहुत बड़े हाथी ने घेर लिया हो और उससे सूर्य के चलने का मार्ग अवरुद्ध हो गया हो, इसी प्रकार अत्यन्त उन्नत और स्वर्णनिर्मित उस राज महल को मेघों के समूह ने घेर लिया था। चन्दन व धूप का धुआँ स्वाभाविक रूप से जिस प्रकार फैल जाता है उसी प्रकार राजमहल के ऊपर मेघ उमड़ रहे थे। उन मेघों से जो जल की बून्दें नीचे गिर रही थीं वह ऐसी मालूम पड़ रही थी कि मानों मतवाले हाथी का मद भर रहा हो। उस नगर में ध्वजा के समूह ऐसे प्रतीत हो रहे थे कि मानों चन्द्रमा के अन्दर रहने वाले कलंक को साफ कर रहे हों। ध्वजा की उन्नत ऊँचाई इतनी अधिक हो गई थी कि मानों वह चन्द्रमंडल तक पहुँच रही हो ॥३२॥

पलिवकरंत्तलत्तिण्डु पन्दोडांडु पावेयर् ।  
 कलिवकय लनेयकरागळ् कामर्षदिन्नेच्चंज्ब ॥  
 वळं तनर् पुरुवविल् मसंक्कसौत्तोडुत्तु विल् ।  
 लिळं प्पनीङ्ग मारनन् पिलविकसेय्दबोक्कुमे ॥३३॥

अर्थ—स्फटिक निर्मित प्रांगण में मेन्द के खेल को वहाँ की कुमारी स्त्रियाँ खेलती थीं। उन स्त्रियों की आँखें मछली की सुन्दर आँखों के समान परम सुशोभित हो रही थीं। स्त्रियों के चलते समय कटि की शोभा इस प्रकार प्रतीत हो रही थी कि मानों कामदेव मन्मथ वाण छोड़ रहा हो।

भावार्थ—वीतशोक नगर की सारी कुमारी स्त्रियों की चोटियाँ अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रही थीं। उनके भौंहें धनुष के समान झुकी हुई थीं। उन स्त्रियों की शोभा जब वे परस्पर में एक दूसरी को देखती थीं तब ऐसी मालूम पड़ती थी कि मानों कामदेव एकाग्रचित्त से टकटकी लगाकर देख रहा हो ॥३३॥

माले सादेन्नं सुन्नं कै शंबा मरुडु मैदर् ।  
 पोक्तवार् कुळलिनार् पोलिहंदन धनिसैवोदि ॥  
 मालि मा माणियुं मुमुं वीळ्द वै किडडे तोट्टं ।  
 मेलुलाम् वान यारु वीळ्बि वट्ट किडंद वौड् ॥३४॥

अर्थ—पुष्पों के हार, चन्दन, सुगन्धित तेल, चूना आदि से युक्त गलियों में व्यापारियों की दूकानें थीं। और तरुण पुरुष मस्त होकर जब उस गली से निकलते थे तब ऐसा मालूम होता था कि मानों सुन्दर स्त्रियों के केश ही सहलहा रहे हों। माला बनाने वालों के हाथ से माला बनाते समय यदि कोई पुष्प भूल से नीचे गिर जाता तो उसे कोई पुरुष नहीं उठाता था। दूकानों में जो माला व फूलों के गजरे टंगे हुये थे उनमें से जब कोई पुष्प गिरता था तो वह ऐसा प्रतीत होता था कि मानों आकाश से पुष्पवृष्टि हो रही हो ॥३४॥

भावार्थ—उस गली में फूलों के हार, चंदन, कपूर, चूना, तेल इत्यादि सुगन्धित वस्तुयें तैयार होती थीं। वहाँ से आने-जाने वाले नवयुवक पुरुषों के सिर के केश इस प्रकार सुशोभित होते थे कि मानों सुन्दर स्त्रियों के लम्बे बाल हों। फूलों की बड़ी २ दूकानों में मौला गुंधने वालों के पास से जब फूल की कोई छोटी कली नीचे गिर जाती थी तो उसे कोई नहीं उठा सकता था और गिरते हुये पुष्प ऐसे मालूम हो रहे थे कि मानों आकाश से फूलों की वर्षा हो रही हो ॥३४॥

कुळं मुगं कुरळवांगि कोडंजिलेकुरवं कोलि ।  
 एळुलिमि विलंगुवेकलंबु कोताड वारै ॥  
 युळयिन् मेन्नोक्क देदित् डळ्ळत्तं परित्तु कोळ्ळुं ।  
 मळलंयाळ् मोळिपिनर्दं वाळ्कै या हरैक्क वल्वर् ॥३५॥

अर्थ—यहाँ की स्त्रियां कानों में कर्णाभरण को धारण किये हुये कंधों को स्पर्श करती हुयी अत्यन्त सुन्दर मालूम होती थी । उनकी भृकुटि घनुष के समान टेढ़ी थी तथा आँखें ऐसी प्रतीत हो रही थीं कि जैसे विरहाग्नि से दग्ध कोई अपने मुख से स्वसोष्णवास निकाल रहा हो । मृगनयनी सुन्दर स्त्रियां अपने चक्षु रूपी कटाक्ष को फेंककर कामो पुरुषों को अत्यन्त चंचल व मद नेत्रों से देखती हुई उनके मनको आकर्षण करने में अत्यन्त निपुण थीं । उनके मुख से बीणा के समान अत्यन्त मधुर वचन निकलते थे, जिसका कि वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ ।

भावार्थ—कर्णाकुण्डल को धारण किये हुये वे स्त्रियां अत्यन्त सुन्दर मालूम होती थी । उनकी भृकुटि घनुष के समान ऊपर उठी हुई थी । विरहाग्नि से दग्ध अत्यन्त प्रकाशमान भास के समान कटाक्ष बाण को छोड़कर हरिणी के समान अत्यन्त मृदु आँखों से मुख घुमा कर देखती हुई कामी पुरुषों के मन को आकर्षण करती थीं । ऐसी धर्मपरायण स्त्रियों का वर्णन कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥३५॥

कळ्त्सु निविलंगुम् वास कमलवान् मुचत् काम ।  
 चळ्त्सुं कष्णं वंडोदुडन् सुळ्त्वाड वाडि ॥  
 तेळ्ळेलि याकुं पाडुं तिवव नारवैसुं सार्ले ।  
 पुळ्ळेलि तळ्ळिळ् पाडुं तामरे पैने पोसुं ॥३६॥

अर्थ—अत्यन्त प्रिय व मधुर शब्द बोलने वाली, सुवन्धित दृष्यों से मुक्तचारों और मुग्ध फैलाने वाली, कमल के फूल के समान तेज मुख व सुन्दर नेत्रों से युक्त स्त्रियां भ्रमर के समान चारों ओर नाट्यशाला में नृत्य करती थीं । नृत्य करते समय उनके पावों की वैज्रनिर्वा तथा उनके सुन्दर संगीत से स्त्रियां लक्ष्मी के समान अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होती थीं उस समय की शोभा ऐसी मालूम होती थी कि मानों मंडपशाला में वक्षियों को कलकलाहट हो रही हो अथवा भ्रमर गुंजार कर रहे हों ।

भावार्थ—उस वीतशोक देश की निवासिनी पुण्यशाली स्त्रियां अत्यन्त मधुर शब्द बोलने वाली, कमल के समान विशाल नेत्र व सुन्दर मुख कमल वाली भ्रमर-नाच के समान मनुष्यों को आकर्षण करने वाली थीं । उस नाट्यशाला में नृत्य करने वाली स्त्रियों के पावों में वंधी हुई वैज्रियों की द्युति मनुष्यों के मन को लुभाने वाली थी । वे नृत्य करने वाली स्त्रियां प्रभुत् शोभा दे रही थीं । उस नाट्यशाला में भरे हुये सौम्य संगीत करने वाली स्त्रियों के मधुर गायनों से मुग्ध होकर आनन्द से अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहे थे ॥३६॥

आखेतेरे कुकुरेनिकुं मिडं यडैक्कुं सार्ले ।  
 शैरौमाबेडर् देण्वर् तवदिरे कार्लं सार्ले ॥  
 माखेन्मन्नर कोमार संदिर शार्ले वाडि ।  
 एखव चिरवु निव्वा रिबंदुवर् करिव वंडु ॥३७॥



अथ—उस राजा के राज्य में हाथियों के रथ, घोड़ों की वृद्धशाला, आयुषशाला तथा बड़े र सैन्यादि थे । उन्हें शत्रु राजा अनेक प्रकार की नजर (भेंट) करते रहते थे, जिससे कि कोषागार सदा परिपूर्ण रहा करता था । अभिमानी राजाओं से परामर्श करने के लिये अनेक मंडपशाला आदि निर्मित किये गये थे जिसका वर्णन अल्पवृद्धि के द्वारा वर्णन किया जाना शक्य नहीं है ॥३७॥

कामवेवनेयर मँदर कावियन् काण्णिग नारुम् ।

पूमगळिलंगुं वीरर् पोर् कुलि कुळ्ळामल् पोल्वार ॥

तामवेन्कुडै नालुं शक्करन् द्रुन्नै योक्कुं ।

वामम् सूळ् कमलं संगिन् वन्कयर् वनिगरेल्लाम् ॥३८॥

अर्थ—वीतशोक नामक नगर में रहने वाले पुरुष कामदेव के समान अत्यन्त सुन्दर थे और नील कमल के समान नेत्रधारिणी स्त्रियां लक्ष्मी के समान शोभायमान होती थीं । प्रकाशपुंज से युक्त वीर पुरुष नगरी में सिंह के समान महान् पराक्रमी थे । वे गले में सदैव फूलों का हार धारण किये हुये रहते थे । घवल छत्र को धारण किये हुये चक्रवर्ती सभा के मध्य में देवों की भांति सुशोभित हो रहे थे । व्यापार करने में वैश्य लोग अत्यन्त निपुण होते थे तथा उनके हाथ में शंख पद्म आदि मांगलिक चिन्ह बने हुये थे । उनके हाथों की रेखा ऐसी सुन्दर व सुलक्षणा थी, जिससे कि वे महान् पुण्यवान् प्रतीत हो रहे थे ।

भावार्थ—उस विदेहक्षेत्र में उत्पन्न होने वाले मनुष्य पुण्यशाली होते थे । उनका निरोग शरीर, उत्तम कुल तथा इच्छानुसार सुखसामग्री पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्रभाव से ही उनको प्राप्त हुई थी । वहां के पुरुष महान् पुण्यवान तथा शक्तिशाली थे । और सदा भोगोप-भोग से परिपूर्ण रहा करते थे । वहां के स्त्री, पुरुष तथा बालक स्वभाव से ही सुन्दर तथा मधुर वचन बोलते थे । वे सदा सत्पात्र दान देने व अर्हत भगवान की पूजा करने में श्रद्धा भक्ति पूर्वक संलग्न रहते थे । वे परम दयालु, धर्मात्मा शीलधर्म परायण रहते थे । शील पालन करने में वे इतने सावधान रहते थे कि अपनी सभी शक्तियों का सदुपयोग करके वे पूर्ण रूप से उसमें दत्तचित्त हो जाया करते थे । प्रोषधोपवास धारण करने में सदा रुचि रखते थे और सत्पात्रों को दान देकर पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्रभाव से विदेह क्षेत्र में जाकर जन्म धारण करते थे । अत्यन्त पुण्यशाली होने के कारण वहां के स्त्री-पुरुष सदा शोभा को प्राप्त करते रहते थे । प्रकाश से युक्त वीर पुरुष सिंह के समान पराक्रमी मालूम होते थे, तथा गले में पुष्पों का हार धारण किये रहते थे । श्वेत छत्र को धारण किये हुये चक्रवर्ती इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानों देवों की सभा लगे हुई हो । उनकी हथेली में शंख चक्र आदि शुभलक्षण अंकित थे, जिससे उनकी शोभा अत्यधिक दृष्टिगोचर होती थी ॥३८॥

मालै युं सांदु पंच वासमुम् वलगुं वारुम् ।

शालीई नडिसिलुं बार तमगळ् कूटु वारुम् ॥

वेलै नल्लुलगं विकुं विकुण्णोरुल् वांगु वारु ।

मालैयन् तोरु मै मै यमरुंदु शैवारु मानार् ॥३९॥

अर्थ—वहाँ पर भांति २ के फूलों की माला, चंदन तथा अनेक प्रकार की सुगंधित वस्तुओं का आदान-प्रदान निरन्तर लगा रहता है तथा भांति २ के स्वादिष्ट पकवान बनाकर परस्पर में एक दूसरे को भोजन कराते रहते हैं। जिस प्रकार समुद्र से घिरी हुई जमीन में द्रव्य पड़ा रहता है उसी प्रकार न्याय पूर्वक खरीदना, बेचना, न्याय पूर्वक चलना, अन्याय से सर्वथा दूर रहना तथा भगवान् का पंचामृताभिषेक पूजा आदि शुद्धि पूर्वक करना वहाँ के पुण्यवान् पुरुषों की तिथि के समान सुरक्षित रहती है।

भावाय—उस महान् वीतशोक नगर में रहनेवाले भव्य जीव पुण्यानुबंधी पुण्य के संचय के कारण खाने-पीने में कभी अभक्ष्य वस्तु काम में नहीं लेते। उनका खान-पान परम पवित्र होता है। वहाँ न तो अकाल ही पड़ता है और न अतिवृष्टि ही होती है। वहाँ का धान पुष्टिकारक, सुगंधित तथा उत्तम प्रकार का होता है। वहाँ पर मद्य, मांस मधु का सेवन करने वाले पैदा ही नहीं होते। केवल तीन वर्ण वाले लोग वहाँ पर होते हैं। वे महान् पुण्यशाली हैं। एक देशव्रत को धारण करने वाले भव्य पुरुष ही वहाँ उत्पन्न होते हैं। यह सभी उनके पूर्वजन्म में किये हुये पुण्य का ही प्रभाव है। अर्हत भगवान् की पूजा, अभिषेक सत्पात्रों को दान आदि पुण्य करने से वे विदेह क्षेत्र में जन्म धारण करते हैं। वे न्यायपूर्वक घनोपाजित करके दया धर्म के पालक तथा सत्पात्र को दान देने में सदा दत्तचित रहते हैं। इस प्रकार वीतशोक नगर निवासी भव्य जीवों का वर्णन किया गया ॥३६॥

मुळवमा मुरसन् संगड् कडलन मुळंगवं पोर् ।  
कुळलियाल् वीरुयेंग कोंवनार कुलावियाड ॥  
निळलुला मदियं कोलुं कुडेमुम्मै नीळल् वेंवन् ।  
बिळंबर मूहूर् वीत शोक माड् बिळंगु निड्रे ॥४०॥

अर्थ—उस वीतशोक नगर के भव्य श्रावक और श्राविका परस्पर में मिलकर अनेक प्रकार शंख, भेरी आदि वाद्य यन्त्रों से नाद करते रहते हैं। जैसे समुद्र में लहरों के आवागमन से निरंतर कलकल ध्वनि होती रहती है उसी प्रकार विविध भांति के नक्कारे वाद्यों, स्वर्णमयी शहनाई, बांसुरी वीणा इत्यादि के शब्द सुनाई देते रहते हैं। फूलों की लता के समान नाना प्रकार के नृत्य करने वाली स्त्रियां जैसे चन्द्रमा अपने शीतल किरणों से सभी को शान्ति पहुँचाता रहता है उसी प्रकार छत्र चंवर सहित वेदी में विराजमान भगवान् अर्हत परमेश्वर का उत्सव करते समय सभी को शान्ति का अनुभव कराती रहती हैं। उस नगर का नाम वीतशोक इसलिये पड़ा कि वहाँ को जनता शोक से सर्वथा रहित रहकर सदा सुख शान्ति का अनुभव करती रहती है ॥४०॥

पोण्णुलगु साय् पोंवु पूमि सै ।  
मन्नु मन्नविम् मानगर् किरं ॥  
एण् मेन्नडे या कनंगणा ।  
मन्नर् मन्न वन्न वैजयंतने ॥४१॥

अर्थ—मानों देवलोक से ही वह भूमि उतर कर आई हो, ऐसा अत्यन्त सुन्दर कुवैर की नगरी के समान वीतशोक नामक नगर सुशोभित हो रहा था और इसका अधिपति हंस पत्नी के समान मन्द-मन्द बाल से मन्मथ के समान वैजयन्त नाम का राजा था ।

भावार्थ—देवलोक ही यहाँ उतरकर आया हो, ऐसा वह वीतशोक नगर सुशोभित हो रहा था और मन्मथ के समान अत्यन्त सुन्दर वैजयन्त नाम का वहाँ का राजा चक्रवर्ती के समान था । वह राजा कैसा था ? इसका वर्णन इस प्रकार है :—

वक्राग्रं भाग्यलक्ष्मीं करतलकमले सर्वतो दानलक्ष्मीः ।

शोदंशे वीरलक्ष्मीं हृदये सरस्वतीं भूतकारुण्यलक्ष्मीं ॥

सर्वांगे सौम्यलक्ष्मीनिखिलगुणगणां बरे कीर्तिलक्ष्मीः ।

खड्गाग्रे शत्रुलक्ष्मीजयतु विजयते सर्वसांभ्राज्यलक्ष्मीः ॥

अर्थ—मुख्य में भाग्य लक्ष्मी, हाथरूपी कमल में दानलक्ष्मी, भुजा में वीर लक्ष्मी, हृदय में सरस्वती रूपी लक्ष्मी, सम्पूर्ण जीवों पर करुणा रूप लक्ष्मी, अंगों में सौम्य रूपी लक्ष्मी, सम्पूर्ण जगत् में गुण (कीर्ति रूपी) लक्ष्मी, शत्रुओं को जीतने के लिये खड्ग रूपी लक्ष्मी और समस्त साम्राज्य को जीतने वाली विजय आदि लक्ष्मियां चक्रवर्ती राज्य में विश्वमान थीं और वह राजा जगते में सदैव जय जयकार को प्राप्त होता था । इस प्रकार अत्यन्त पराक्रमी, गुणवान् सर्व सुलक्षणयुक्त धर्मनीति आदि जानने वाला शूरवीर वह वैजयन्त नाम का राजा था ॥४१॥

आरुती नयमर्गं काशिया ।

नार नम्रम समरं दमाशिया ॥

नार तील्पगै येडस्तं सूक्षिया ।

नारिसोडु कौड गंडु वेळ् कैयान् ॥४२॥

अर्थ—वह राजा कैसा था ? छह प्रकार मिथ्यानय को त्याग कर सम्भ्रंशर्शन को प्राप्त, छह प्रकार के नयोसे युक्त और सत्कीर्ति को प्राप्त था । वह अनादि काल से जीव के साथ जैसे आये क्रोध, मान, माया, लोभ मद आदि को जीतने में चतुर था । वह विविध प्रकार के अच्छे उपायों को जानने वाला था । प्रजाजनों से छह भाग में से एक कर लेने वाला और परिग्रह में अधिक इच्छा न रखने वाला अर्थात् परिमित परिग्रही था ।

भावार्थ—इस भाँति छह प्रकार के मिथ्या नय को त्यागकर छह प्रकार के सच्चं नय से युक्त अनेक प्रकार के जीव के साथ चले आये क्रोध, मान, माया लोभ मदादि को जीतने वाला, अच्छे उपायों को जानने वाला, छह प्रकार के करों में केवल एक भाग कर लेने वाला, परिमित परिग्रहधारी, ऐसा वह वैजयन्त नामक राजा था । नय का स्वरूप छठे अध्याय में विशेष रूप में विवेचन किया जायगा ॥४२॥

कर्पग मबन् करुदिट्टि दलाल् ।  
सोर पोरुळरि सुरदि माकडल् ॥  
सर्पु यस्तिनान् मालवरेमलं ।  
कोट्ट बर्कलाम कूट्ट नोक्कुमे ॥४३॥

अर्थ—वह वैजयन्त राजा याचक जनों की इच्छा पूर्ति करने के लिये कल्पवृक्ष के समान था तथा छहों प्रकार के द्रव्यों का भली प्रकार से ज्ञाता था । इसके साथ ही साथ वह मनन करने में सदैव दत्तचित्त रहता था । सम्पूर्ण आगम को समझकर उनमें सागर के समान अपार ज्ञानभंडार था । वहाँ का राजा युद्धकला एवं बाहुबल में पर्वत के समान महाबलशाली एवं शत्रुजनों के लिए यमराज के समान था ।

भावार्थ—वह राजा याचक जनों के लिये कल्पवृक्ष के समान था । अर्हन्त भगवान् द्वारा प्रतिपादित छहों द्रव्यों को अच्छी तरह से जानता था तथा परिपूर्ण रूप से पालने वाला था । युद्ध में शत्रुवर्ग को जीतने के लिये उनके भुजबल पर्वत के समान प्रतीत होते थे । और वह शत्रु को जीतने के लिये यमराज के समान अजेय था । धार्मिकजनों में बन्धु के समान, साधुओं के लिये सेवक और विनम्रभावी तथा जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने में वह सर्वदा अमर की भांति लवलीन रहा करता था । सत्पात्रदान करने में राजा श्रेयांस के समान और प्रजा में वात्सल्यभावी तथा धर्मानुरागी था । उत्तम श्रावक के सम्बन्ध में एक कवि ने कहा भी है कि :—

श्रोसर्वज्ञ—पदाब्जसेवनमतिः शास्त्रागमे चिंतना ।  
तत्त्वातत्त्व—विचारणे निपुणता ससंयमी भावना ॥  
सम्यक्त्वे रचिता अघोपसमता जीवादिके रक्षणा ।  
सत्सागरोगुणा जिनेन्द्रकथिता येषां प्रसादाच्छिवम् ॥

अर्थ—सदैव श्री जिनेन्द्र भगवान् के चरणों में सेवन की बुद्धि, शास्त्र का चिंतन तत्त्वा का विचार उसमें निपुणता, सत्संग की भावना, सम्यक्त्व में रुचि, समता, जीवों पर दया तथा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित धर्म में सदैव रुचि रखने वाला था ॥४३॥

सूक्ष्म यार परे सुरक्क वल्लडु ।  
वाळरै पोरिलन् बन् सो लिङ्गिमन् ॥  
नाक्षियालिसै केट्ट वसुनमा ।  
त्ताक्षिपोल् बैयंदा निरंजुमें ॥४४॥

अर्थ—शत्रु राजाओं के बल को किस प्रकार से कम करें, इसका वह प्रयत्न भली भांति जानने वाला था । युद्ध न हो ऐसे कठोर वचनों को त्यागकर मधुर वचनों द्वारा प्रीति से काम लें, ऐसा वह वैजयन्त राजा न्याय नीति से राज्य करता था । वह साम दाम दण्ड भेदादि से प्रजा पर शासन करने वाला था । जिस प्रकार प्रातः उठकर जिनेन्द्र भगवान् का

स्मरण किया जाता है उसी प्रकार वीतशोक नगर की सारी प्रजा उस राजा की स्तुति करती रहती थी ॥४४॥

नल्ल तोलकुल तरस नादलार् ।  
सोळ्ळुं संगयुं सोर् वेदामैयारं ॥  
पुं ल्लिनार् पुगळ्माडु पूमगळ् ।  
सोल्लिन् सेल्वियुं सुलिवुनेगिये ॥४५॥

अर्थ—परम्परा से श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुये चक्रवर्ती का वचन और उनके द्वारा होने वाले सत्कर्म अत्यन्त सुदृढ़ थे और कीर्ति देवी, सरस्वती तथा लक्ष्मी देवी प्रेम से युक्त होकर उनका आश्रय ग्रहण किये हुये थीं ।

भावार्थ—वह राजा परम्परा से चले आये उत्तम कुल में जन्म धारण किये हुये था और शीलवंत तथा चक्रवर्ती था । पांचों पापों से रहित, सत्यवादी व निश्चल मति वाला था । उसके द्वारा किये जाने वाले सभी कार्य अनुकूल हो जाते थे । उनकी कीर्ति चारों ओर फंली हुई थी । इस कारण उस गुणवान् सत्यवान् राजा के पास सरस्वती, कीर्ति तथा लक्ष्मी देवी आश्रय में थी ॥४५॥

कर्पगं तनैयने कामर्बल्लि पोल् ।  
वेट्टि वेल् वेदने वेळ्विनोर्मे यार् ॥  
पोर्प मैदेळुदिय कोडियनार् पुनर्न् ।  
तर्पुनीर् कडलिडे वेळ्वुनाळिदे ॥४६॥

अर्थ—कल्पवृक्षों से सम्बन्धित कामलता के समान जय को प्राप्त हुये आयुध को धारण करने वाला राजा वैजयन्त सुन्दर शरीर को धारण किये हुये था । उनका शरीर ऐसा मालूम होता था कि चित्रकार द्वारा चित्रित किया गया मानों कोई पुतला ही हो । इस प्रकार उनका शरीर अत्यन्त शोभायमान था । और पुष्पलता के समान शोभने वाली स्त्रियों के साथ पाणिग्रहण करके भोग-विलास में स्नेह पूर्वक आनन्द मनाता था अर्थात् देवों के समान इन्द्रिय सुखों के भोगने में मग्न था ।

भावार्थ—कल्पवृक्ष में कामलता के समान जय को प्राप्त किये हुये और हाथ में आयुध धारण किये पुष्पलता के समान सुन्दर शोभनेवाली स्त्रियों के साथ भोग विलास में होने वाले आनन्द में मग्न तथा जनता की दृष्टि को कामदेव के समान शोभने वाली प्रजा के अत्यन्त प्रिय थे ॥४६॥

पुव्विर् कौंबुं पुगळ् पडिनल् वडिविन् मा ।  
वेविप्पट्टुम् पेट्टनल्लिं तिरुबैबाल् ॥  
काविककण्णाळ् वरनक्कमळ तळियायिमन् ।  
कावर् कोमा नियलुं नाळार् कविन् पेट्टाळ् ॥४७॥

अर्थ—लक्ष्मी देवी को देखकर कीर्ति देवी प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करने वाली के समान सुन्दर रूप को धारण करने वाली सर्व श्री नाम की उनकी पटरानी थी । उसकी आंखें नील कमल के समान तथा शरीर स्वर्ण के समान गौर वर्ण था । जिस प्रकार नील कमल में भ्रमर लीन रहता है उसी प्रकार राजा वैजयन्त महारानी सर्वश्री के साथ भोगों में मग्न रहता था । इस प्रकार सुख भोगते २ कुछ दिनों के पश्चात् रानी सर्व श्री गर्भवती हो गई ॥४७॥

मुल्लं वकन्निकोडिमुन्नरुं बं पर्यदार पोर ।

सेत्वस्सिरुवर् पर्यंदा ठं द तिरुवन्नाळ् ॥

मल्लिर् पोलितोन् मन्नन् मुन्नान् मदिकाना ।

ओत्तेन् कडल् पोलु वंदिट्टु लग तिडत्तीन् ॥४८॥

अर्थ—जिस प्रकार जुही गुलाब आदि पुष्पों में अत्यन्त सुगन्धित कलियां उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार नव मास पूर्ण हो जाने के पश्चात् उस सर्वश्री रानी ने पुत्ररत्न को उत्पन्न किया । जिस प्रकार शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा को देखकर समुद्र उमड़ पड़ता है उसी प्रकार पुत्र जन्म होने पर महा प्रतापी मल्लयुद्ध में प्रचंड बलशाली राजा वैजयन्त को अत्यन्त सन्तोष प्रद आनन्द प्राप्त हुआ । पुत्ररत्न प्राप्त होने के हर्ष में देव के याचकों को इच्छा पूर्वक दान देकर उनके मन को तृप्त किया ।

भावार्थ—जुही चमेली के पुष्प तथा लक्ष्मी के समान राजा वैजयन्त की पटरानी सर्वश्री के अत्यन्त सुलक्षण से सम्पन्न पुत्र रत्न पैदा हुआ । जिस प्रकार शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा को देखकर समुद्र उमड़ पड़ता है उसी प्रकार महान् प्रतापी बलशाली तथा मल्लयुद्ध में परम प्रवीण उस राजा को पुत्रोत्पत्ति के हर्ष में अपार आनन्द प्राप्त हुआ । पुत्र जन्म के हर्ष में प्रसन्न होकर राजा ने सभी प्रजाजन व याचकों को बुलाकर उनके दुःख को दूर किया तथा इच्छापूर्वक दान देकर उन्हें भली-भांति सन्तुष्ट किया । ४८॥

सुन्न मेन्ने सोरिदनरत्तरियम् ।

विन्नैविम्मि मुळंगिन वेण्कोडि ॥

एण्ण रोंडुं लु मंगनु भाडिन ।

पुषिण्णयेन्नगर पोण्णगरायदे ॥४९॥

अर्थ—उस राजा वैजयन्त के परिवार वालों ने अत्यन्त सुगन्धित द्रव्यों से युक्त सुगन्धित चूर्ण तथा तेल आदि लाकर उनको दिया । तत्पश्चात् राजा ने अठारह प्रकार के वाद्य बजवाये, जिसकी ध्वनि देवलोक तक चली गयी और उससे सारा नगर गूँज उठा । जहां तहां रास्ते तथा गलियों में श्वेत पताकायें बंधी हुई थीं । इस प्रकार श्रेष्ठ व सुन्दर पुत्र जन्म के समाचार को सुनते ही सम्पूर्ण देश में आनन्द छा गया । और राजा वैजयन्त की कीर्ति सारे वीतशोक नगर में फैल गई । उस समय वह वीतशोक नगर ऐसा सुन्दर मालूम होता था कि मानों यह सब देवलोक ही हो ।

भावार्य—सुगन्धित द्रव्यों से मिश्रित तेल आदि वस्तुयें राजा के परिवार वाले उनको लाकर देते थे । अठारह प्रकार के वाद्यों की ध्वनि से सारा नगर भूँज उठा । नगर के सभी गोपुर तथा प्रजा के घरों में धवल पताकायें फहरा रही थीं । पुत्र के उत्पन्न होते ही उसकी कीर्ति सर्व देशों में फैलने से वह नगर देवमय सा प्रतीत होता था । ४१॥

संजयंदनेनुं पेयरानव ।

नञ्जुवायर् तं कैवळि यंबिवाय ॥

मंजिलामदि पोल वळरुन्व पि ।

नंजिलोदियर् किल्लमिदं आईनान् ॥५०॥

अर्थ—राजा वैजयन्त ने विधिपूर्वक नामकरण संस्कार करके उस पुत्र का नाम संजयत रक्खा । अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से उसको अलंकृत किया । शुभलक्ष के चन्द्रमा के समान वह पुत्र शीघ्र ही वृद्धि को प्राप्त होकर अत्यन्त सुन्दर दिखने लगा । सभी स्त्रियों को उसका वचन मधुर लगने लगा और वह क्रमशः जीवनवास्था को प्राप्त हुआ ।

भाथार्थ—सकल सम्पत्ति, भोग सामग्री, अनुकूल स्त्री तथा शुभलक्षण युक्त पुत्र यह सब पुण्योदय से पुण्यवान् पुरुष को ही प्राप्त होते हैं । एक कवि ने कहा भी है कि:—

चित्रानुवतिनी भार्या पुत्रा विनयतत्पराः ।

वैरमुक्तं च यद्दराज्यं सफलं तस्य जीवनम् ॥

अर्थ—अपने मन के अनुकूल स्त्री, विनयवान पुत्र तथा शत्रु से रहित राज्य जिस भाग्यशाली पुरुष को प्राप्त हो उसी सत्पुरुष का जीवन सफल होता है । ५०॥

पुंजि कणिल्लन् मणिककदिर् कुळामुग ।

मंजिलामदि पुयमणि येळ्क् कन्मार् ॥

बन्निनृभिदं मसरट् किडुडुं ।

मळ्ळोमार् मनक्कळिरणं पोदुं बने ॥५१॥

अर्थ—उस संजयंत राजकुमार के सिर के केश सूर्य की किरण के समान प्रकाशमान हो रहे थे । उनका मुखमण्डल निष्कलंक चन्द्रमा के समान चमक रहा था और भुजबंड हाथी की सूंड के समान अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रहा था । उनका हृदय अत्यन्त विशाल तथा लक्ष्मी के अवन के समान अत्यन्त मृदुलता तुल्य प्रतीत हो रहा था । उस बालक के दोनों बांध कदली स्तम्भ के समान अत्यन्त कोमल तथा चमकीले होकर स्त्रियों के मन को आकर्षित करने वाले थे । ५१॥

मणियि नं कडंबाविकय वामबिर् ।

कनं वं तुनिगळाक् कणं कासदि ॥

पिनिय बीळं व सेंदामरं पोडिमा ।

बणियिनुक्कलि युष् सवनाईनान् ॥५२॥

अर्थ—उनके पैरों की हड्डी तैयार किये हुये स्वर्ण के नीले की भाँति सुशोभित हो गयी थी । घुटने के नीचे का भाग पिङ्गली वा नसों से भरी हुई वत्तल के समान था । उनका चरणतल रक्त कमल के समान था । इस प्रकार वह पुत्र अनेक प्रकार के अलंकारों से अलंकृत होकर अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रहा था ॥५२॥

इंदु बिन्नुबयैति लंघुम् विसई ।

वंद तारणं पोसमडं वै पाळ् ॥

सैदन् बंदु पिरंदु जयंद नन् ।

रिद बयण मेरा बळं व नाळ् ॥५३॥

अर्थ—चन्द्रोदय से प्रकाशमान पूर्वाचल को उदय पाकर आनेवाले नक्षत्र के समान उस राजा की पटरानी के गर्भ में द्वितीय पुत्र आया । और नवमास पूर्ण हो जाने के बाद उसके पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ । उसका नामकरण संस्कार करके जयन्त नाम रक्खा गया । वह बालक पूर्ण चन्द्र के समान दिनोदिन वृद्धि को प्राप्त हुआ और परम तेजस्वी ब गुणों से सम्पन्न होकर प्रजापति को मृग्य कर लिया, जिससे सभी उसका गुणगान करने लगे ॥५३॥

पुष्णिय मुच्चिण्णि तुळिण संय्दु मा ।

त्तण्णाल् संजयं व नहुं मर नासुळि ॥

बिण्णरं तिसवनाळ् वेळ् जि नीमंयार ।

पण्णसै मुळियळीर् पावं येय्दिनाळ् ॥५४॥

अर्थ—पूर्व जन्म में संव्य किये हुये पुण्योदय से भोगोपभोग सुख तथा अनुकूल सामग्री अधिक से अधिक प्राप्त होती है । उसी प्रकार पुण्योदय से कृपाति को प्राप्त हुए जबत कुमार ने क्रम से भौवनावस्था को प्राप्त किया । तत्पश्चात् उपासकाध्ययन, तर्क, व्याकरण, न्यायशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र आदि का भली भाँति अध्ययन कर लिया । इस प्रकार वह सकल शास्त्रों में पारंगत हो गया । राजकुमार के समान ही सर्वगुणों से सम्पन्न, संगीत कला में प्रवीण लक्ष्मी, सरस्वती को तिरस्कार करने वाली मधुर वचन बोलने वाली सुन्दरी कन्या के साथ जयन्त का विवाह संस्कार सम्पन्न हो गया ।

भावायं—शास्त्रों में लिखा है कि पूर्वजन्म के पुण्योदय से प्राणों को सारी विभूति प्राप्त होती है । बनपल आदि ७ भाई थे । उन्होंने सभी अनेकों प्रकार के धन्य व्यापार आदि किये किन्तु पूर्वजन्म में किये गये पाप कर्म के उदय होने से उनकी दरिद्रता दूर न हो सकी । पर जब आठवें भाई धन्यकुमार का जन्म हुआ तब उसकी शोचनाल भूमि में गाड़ते समय ही पुण्योदय से जमीन के अन्दर से धन से भरा हुआ एक बहुत बड़ा हंडा मिला गया । इस प्रकार पुण्य के प्रताप से उस जयन्त कुमार का बस तेज कीर्ति आदि चारों दिशाओं में फैल



गयी । और पुण्य के प्रभाव से अनेक स्थानों से उनकी सगाई के लिये लोग अपनी पुत्रियों को देने के कहलावे भेजने लगे । यौवनावस्था को प्राप्त हुये उपाध्याय के समान अनेक शास्त्र, तर्क, व्याकरण आदि सर्वांगम का ज्ञाता हो जाने पर शुभ मूर्हत में एक सुन्दर सुयोग्य राज कन्या के साथ राजकुमार का पाणिग्रहण संस्कार हो गया ॥५४॥

वंडु पूमलंदुंळि मडुवेंयुंबदिर् ।

ट्रौडैवा यवनलम् परगुनाळवन् ॥

वंडिरं वलं पुरि मणियैईं ड्रवा ।

पुंडवळ् वेर्कणाळ् पुदल्वर् पेट्टनळ् ॥५५॥

अर्थ—जब पुष्प खिल जाता है तब भ्रमर उसमें रसास्वाद लेता हुआ उसमें मग्न हो जाता है । इसी प्रकार कदली फल के समान अत्यन्त सुन्दर मुख तथा रक्त वर्णावली सर्वगुण सम्पन्न स्त्रीमुख अथवा रतिसुख का अनुभव करते समय लहरों से सुशोभित समुद्र के अन्दर तरंगों के समान मोती को धारण करने वाला तथा विरोधी जनों के वक्षःस्थल में भाले के समान प्रवेश करने वाले पुत्र रत्न को उस राजकन्या ने जन्म दिया ।

भावाद्यं—जिस प्रकार कमलपुष्प के मध्य में बैठा हुआ भ्रमर फूल के रसास्वाद में मग्न हो जाता है उसी प्रकार कदली फल के समान अत्यन्त लाल अधर व चमकदार मुख वाली स्त्री के साथ भोग करने लगा । विविध भांति के शंख व मोती को धारण कर विरोधी शत्रु के हृदय में प्रवेश होने वाले तेज अस्त्र के समान परम तेजस्वी पुत्र रत्न को उस स्त्री ने जन्म दिया ॥५५॥

मदि दल्ले पट्ट पोळ्दिन् मगिळ् दु वै जयंद नेड्रे ।

निघियरं तिरंदु बीसि नीदियार् सेल्लु नालुट्ट् ॥

दुवैमलरशोक मेन्नु वनत्तिडै स्वयंभुनाम ।

तदिशय मडयक्कंडररसनुवकरवितिट्टार् ॥५६॥

अर्थ—जिस प्रकार सकलकला सम्पन्न पूर्ण चन्द्रमा को देखकर समुद्र उमड़ने लगता है उसी प्रकार होनहार उस राजकुमार को देखकर राजा के मन में अपार हर्ष हुआ । पुत्रोत्पत्ति के हर्ष में राजा ने बड़े हर्षोल्लास के साथ बच्चे का नामकरण संस्कार किया तथा याचकों को भिन्न २ प्रकार के वस्त्रादि का दान देकर सन्तुष्ट किया । इस प्रकार आनन्द-पूर्वक क्रमशः समय व्यतीत होने लगा ।

विविध भांति के फूलों से सुसज्जित राजा का एक उद्यान बड़ा रम्य था । उसका नाम अशोक था । उस उद्यान में भगवान् श्री स्वयम्भू स्वामी का समवसरण आया । भगवान् का पदार्पण देखकर उद्यान का वनमाली परमानन्दित हुआ । भगवान् का समवसरण आते ही उस उद्यान के जितने भी फल-फूल थे वे सभी हरे भरे हो गये । उस उद्यान में अममय में ही फूले-फले सामग्रियों को वनमाली बड़े हर्ष के साथ राजा के पास ले जाकर

उपस्थित किया और कहने लगा कि भगवान् उद्यान में भगवान् का समवसरण आया हुआ है ॥५६॥

विळुनि दियेळिविर् पेद्रु वरियवन्पोलखेंद ।  
नेळुतरु विशोदितन्ना लेळु बु सेंडिरिरंजि वाळ्ति ॥  
मुळुदुड नवर्गट्कोदु मुनिवर्तको सिरप्पु ।  
केळु गण वीदिरोरु यियबिन मुरस निङ्गे ॥५७॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी दरिद्र को अमूल्य निधि प्राप्त हो जाने से उसे बड़ा हर्ष होता है उसी प्रकार उस वैजयन्त राजा को अपार आनन्द प्राप्त हुआ । तत्पश्चात् शुद्ध परिणामों के साथ सिंहासन से नीचे उतरकर अपने मन में इस प्रकार का विचार किया कि जिससे सात प्रकार के संसार का नाश हो और सात प्रकार के परम स्थान की प्राप्ति हो, ऐसी सद्भावना करके सात पग आगे चलकर परोक्ष रूप से नमस्कार किया और अपने शरीर पर से बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को उतारकर उस वनमाली को पुरस्कार रूप में दे दिया । तदनन्तर सभी लोगों को स्वयम्भू भगवान् के दर्शनों के लिये चलने के लिये नगर में आनन्द भेरी बजवाई ॥५७॥

इडिमुरसियेबु मेळ्ळैइंदिर नगरन् तन्न ।  
पडिमिसं यनिदु पडंगळं दिट्ट वण्णम् ।  
कोडि नगराण्णदु पूणु मारम्, पुळयु मिन्न ।  
कडिमलर् कळव मेदि कनत्तिडं येळु व दंडु ॥५८॥

अर्थ—जिस प्रकार आकाश में बादल गरजते हैं उसी प्रकार के बाद्य बजने लगे । उस समय की शोभा ऐसी लगती थी मानों देवेन्द्र देवलोक से अमरपुरी को अर्लंकृत करके इस कर्मभूमि में लाकर स्थापना करदी हो अथवा समुद्र में तरंगों की सुन्दर ध्वनि निकल रही हो । उस वीतशोक नगर में रहने वाली प्रजा अनेक प्रकार के आभरणों से सज्जबजकर नील मणि, माणिक्य आदि के हार पहनकर तथा कानों में कुण्डल सुगंधित पुष्पमाला आदि धारण करके इस प्रकार सुशोभित हो रही थी कि मानों हाथ में अष्ट-द्रव्य लेकर स्वयम्भू भगवान् की पूजा करने के लिये जाने को तैयार हो ।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश में बादल गरजते हैं उसी प्रकार भेरी मृदंगादि विविध प्रकार के बाजे उस वीतशोक नगर में बज रहे थे । उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि मानों देवलोक से देवता अमरपुरी को अर्लंकृत करके लाये हों ।

जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती हैं उसी प्रकार अनेक ध्वजाओं से सुशोभित उस वीतशोक नगर में रहने वाले प्रजाजन अनेक प्रकार के मोती मणियों से सुशोभित होकर भगवान् स्वयम्भू की अष्टद्रव्य से पूजा करने के लिये जाने को तैयार हो गये ॥५८॥

काल् पोरु कडलिर् पोंगिक् कडि नग रडेयु मेळ्ळे ।  
मास्यु सांडुमेदि मेइस नार् सूळ्ळपोणि ॥

कालने कंडिव बेंदन् कडि नगर् कुवगि कैमा ।

मेलिळिदिरंजि पुष्कान् बिभ्रवर् किरंभ नोत्ताम् ॥५६॥

अर्थ—पंचण्ड वायु के वेग से जिस प्रकार समुद्र तरंगों कलकलाहट करती रहती है उसी प्रकार उस नगर के सारे स्त्री पुरुष चंदन केशर पुष्प आदि अष्ट द्रव्य की सामग्री हाथ में लेकर अत्यन्त आनन्द से चलने लगे और राजा वैजयन्त अपनी पटरानी सहित हाथी पर सवार होकर कर्मरूपी यमराज को तप द्वारा नष्ट करके आत्मरूपी साम्राज्य को प्राप्त किये हुये भगवान् स्वयम्भू को देखकर हाथी से नीचे उतरा और भगवान् के दर्शनार्थ समवसरण में गया । जाते समय वह ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जैसे देवलोक से साक्षात् देवेन्द्र ही आया हो । यह सब पूर्वभवं में किये हुये पुण्य का ही प्रभाव था । पुण्यहीन पुरुष को ऐसा वैभव नहीं प्राप्त हो सकता ॥५६॥

बानबिर् कडंदु मान पीडत्तं वनगि बाळत्ति ।

मानत्तं बत्तं यंपदि बलकॉडुं पनिबु पोगि ॥

माणमेल्लाकुं भोत्तुमलर् मली किडंगु पिन्ना ।

मानमिह्लाद बाल्लवनत्तिडं मलर् कै येंदि ॥६०॥

अर्थ—इन्द्र धनुष के समान घूलि नाम की शाला की वेदी का उल्लंघन करके रहने वाले बलिपीठ को नमस्कार व स्तुति करके मानस्तम्भ के पास आकर तीन प्रदक्षिणा दी । तत्पश्चात् सुगंधित पुष्पों से भरे हुये लतावन में जाकर उसमें रहनेवाले मर्यादा रहित पुष्पों को तोड़कर अपने हाथों में लेने पर भी कुछ लोग फल व पुष्पों को भगवान् की पूजा में नहीं लगाते, बल्कि मर्यादित फल-फूलों को ही लगाते हैं । इस विषय में अष्टपाहुड ग्रन्थ में आचार्य कुन्व-कुन्द ने कहा भी है कि:—

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये ।

तावन्ति सततं भक्त्या त्रिःपरीत्य नयाम्यहम् ॥

फुल्ल पुकारइ वागियहि कहियो जिणहं चंडोसि ।

धम्मो को वि न आवियउ कंपिय घरणि पडेसि ।

केणय वाडोवाईया केणय वीणिय फुल्ल ।

केणव जिणह चडाविया ए तिण्ण व समतुल्ल ॥

जिन मन्दिर व जिनागम में षट्कायिक जीवों का हितकारक स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराने वाला कहा है । चैत्यगृह के निर्माण के लिये जो मिट्टी खोदी जाती है वह काम योग के द्वारा चैत्यगृह का उपकार करके पुण्यकर्म का उपार्जन करती है और उस पुण्यकर्म द्वारा परम्परा से स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त होता है । जो जल चैत्यगृह के काम में आता है वह भी मिट्टी की तरह पुण्य को प्राप्त होता है । जो अग्नि चैत्य गृह के निमित्त जलाई जाती है वह भी उसी तरह पुण्य को प्राप्त होती है । जो वायु चैत्यगृह के निमित्त अग्नि को प्रदीप्त

करने के लिये होती है अथवा धूप के अंगार और नैवेद्य के पाक के लिये उत्क्षेप निक्षेप को प्राप्त होती है, ऊँची नीची की जाती है वह भी उसी तरह पुण्य को प्राप्त होती है। जो पुष्प आदि वनस्पति चतयवृह की पूजा के लिये छेदे जाते हैं वे भी काय योग के द्वारा पुण्यो-पार्जन करते हैं। अतः उसका भी भला होता है। बागवान फूल से कहता है कि हे फूल ! तुम जिनैन्द्र भगवान् के ऊपर कैसे चढ़ाये जाओगे ? क्योंकि कोई धर्मात्मा जीव नहीं आ रहा है। तुम यहीं पर कम्पित होकर पृथ्वी पर गिर जाओगे। किसी ने कहा भी है कि किसी व्यक्ति ने बाटिका लगवाई किसी ने फूल चुने और किसी ने जिनैन्द्र भगवान् के चरणों में पुष्प चढ़ाये। ये तीनों ही पुरुष एक समान हैं और एक ही समान पुण्य को प्राप्त होते हैं ॥१०॥

गोपुरं सुरंबुन् सोलं गोपुरं कोडियिन् पंडि ।

गोपुरं काऊं शंबोन् माळिगै कुळ्वुं कुण्डा ॥

मापुरि येनय तूबै मणिसुत्त मनलि मुद्र ।

नूपुरसरव मापं नुबलिय कंडंबु पुक्कान् ॥११॥

अर्थ—उदय गिरि नामक कोट (दीवार) और गोपुर के भीतरी भाग में अमर के द्वारा मधुर रस को खींचने के समान दीखनेवाले तोप से युक्त बरांभूमि और गोपुरों को ध्वजा से युक्त ध्वजा भूमि को, छोड़कर आगे कल्याणकर नामक कोट और गोपुरों को उल्लर्घन कर उसमें रहने वाले कल्पवृक्ष की भूमि को, इससे आगे स्वर्ण द्वारा निर्मित गोपुर के समूह से युक्त गुहांगण भूमि को, तथा किसी भी प्रकार की न्यूनता से रहित नगर के स्तूप और मणियों से सुशोभित होनेवाली मोती और स्त्रियों के पैरों में बंधे हुये नूपुर आदि मधुर शब्दों से युक्त सातवीं भूमि को उल्लर्घन कर भीतर प्रवेश किया ॥११॥

पत्तोड् पवनाराय पंडीमन् मणिय वट्टिर् ।

चित्तिरत्ति यद् पट्टित्तिह्निलयसं येय्वि ॥

मत्तमाल कळिर् शंबोन् मल्लैरुर्न बलं बंवाद् पील् ।

द्रीत्तोळिर् मल्लगंडुवि पल मुरै वलं बंदिट्टान् ॥१२॥

अर्थ—शुद्ध स्वर्ण तथा श्रेष्ठ रत्नों से निर्मित अत्यन्त शोभायमान श्री निलय में जाकर जिस प्रकार मन्दोन्मत हाथी महा मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करता है उसी प्रकार राजा वैजयन्त गेन्दा के फूल को लेकर भगवान् की प्रदक्षिणा करता हुआ पुष्पवृष्टि की।

भावार्थ—शुद्ध स्वर्ण तथा रत्नों से निर्मित सुन्दर निलय को जिस प्रकार महा मन्दोन्मत हाथी महा मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करता है उसी प्रकार राजा वैजयन्त ने पुष्पवृष्टि करते हुए प्रदक्षिणा की ॥१२॥

निरैमदि कंड नीलमा कडल् पील नीडा ।

धिरैवन बुबवन् काना वेळु बर विशोदि तप्पार् ॥

शिरं यळिपुनलिद् शेळ्ळुं कावळ नामि शीर् साल् ।

सुरैविनु किरैवन् दुम्मे द्रुधि वगी तोडंमि नाने ॥१३॥

अर्थ - पूर्ण चन्द्रमा को देखकर महासागर के समान अत्यन्त शीघ्रता से स्वयम्भू भगवान् का दर्शन करते हुये उसके अन्दर उत्पन्न हुये शुद्ध परिणामों से कर्माश्रव से बंधे हुये बांध रूपी कर्म का नाश करके आगे जाने वाले के समान अत्यन्त तीव्र भक्ति के द्वारा अपेक्षा करते हुये भगवान् की पूजा तथा समस्त मुनिजनों की भक्ति करते हुये अत्यन्त आनन्दित होकर जिनेन्द्र भगवान् की इस प्रकार स्तुति करने लगा :-

अहो ! जगत गुरुदेव, सुनियो अरज हमारी ।  
 तुम हो दीनदयाल, मैं दुखिया ससारी ॥१॥  
 इस भव वन में वादि, काल अनादि गंवायो ।  
 भ्रमत चतुर्गति मांहि, सुख नहि दुःख बहु पायो ॥२॥  
 कर्म महारिपु जोर, एक ना कान करें जी ।  
 मन मान्या दुख देहि, काहू सों नाहि डरें जी ॥३॥  
 कबहूँ इतर निगोद, कबहूँ नकं दिखावैं ।  
 सुरनर पशुगति मांहि, बहुविधि नाच नचावैं ॥४॥  
 प्रभु इनके परसंग, भव भव मांहि बुरे जी ।  
 जे दुख देखे देव ! तुमसो नांहि दुरे जी ॥५॥  
 एक जनम की बात, कहि न सकों सुन स्वामी ।  
 तुम अनन्त परजाय, जानत अन्तरयामी ॥६॥  
 मैं तो एक अनाथ, ये मिलि दुष्ट घनेरे ।  
 कियो बहुत बेहाल, सुनियो साहिब मेरे ॥७॥  
 ज्ञान महानिधि लूट, रंक निबल करि डारयो ।  
 इनहीं तुम मुझ मांहि, हे जिन ! अन्तर पारयो ॥८॥  
 पाप पुण्य मिलि दोड़, पायनि बेड़ी डारी ।  
 तन कारागृह मांहि, मोहि दिये दुःख भारी ॥९॥  
 इनको नेक बिगार, मैं कुछ नांहि कियो जी ।  
 बिन कारन जगबंधु ! बहुविधि बेर लियो जी ॥१०॥  
 अब आओ तुम पास, सुनि कर सुजस तिहारो ।  
 नीति निपुन महाराज, कीजे न्याय हमारो ॥११॥  
 दुष्टन देहु निकार, साधुन को रख लीजै ।  
 बिनवै 'भूधरदास' हे प्रभू ! डील न कीजै ॥१२॥

पूमाले मोवलाय पुनेयाद तिरुमुति ।  
 कामादि वैडु यरुं द कडवु लोडु रेमे ॥  
 कामादि वैडु यदं कडवु लोडु रेदालुं ।  
 कोमानिन् तिरुवुरुवन् कोडु वप्पाररियरे ॥६४॥

अर्थ—तत्पश्चात् पुष्पों के हार इत्यादि अलंकारों से अलंकृत परमौदारिक शरीर का भ्रम श्लेष मद आदि दोषों को जीतकर प्रकाशमान करने वाले ये ही देव हैं, ऐसा कोई दूसरा देव नहीं, ये ही भगवन्त हैं, रागदि दोष को जीतकर स्वभावगुण सहित ये ही जिनेन्द्रदेव हैं, ऐसा भक्तिभाव पूर्वक उच्चारण करते हुये बोले कि हे भगवन् ! आपके सुन्दर रूप को मनमें धारण कर संतोष के साथ जो स्मरण व ध्यान करता है वह प्राणी शीघ्र संसार सागर से पार हो जाता है । ऐसा ध्यान व स्मरण करने वाला भव्य जीव संसार में महादुर्लभ है ।

निराभरणभासुरं विगतरागवेश दयात् ।  
 निरंबरमनोहर प्रकृतिरूपनिर्दोषतः ॥  
 निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमात् ।  
 निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानाक्षमात् ॥ चर्यभक्ति ॥

श्री भगवान् का रूप अलंकार अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता है । भगवान् अपने शरीर का शृङ्गार वस्त्राभूषणों से क्यों नहीं करते ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिन्होंने सम्पूर्ण रूप से राग भाव का नाश किया है कदाचित् मन में राग द्वेष अथाव विषय भोग की इच्छा रहे तो शृङ्गार आदि करने की भावना मनमें होती है और तभी शरीर का शृङ्गार करते हैं तथा तभी अपने पास सुन्दर २ पदार्थ रखने की इच्छा उत्पन्न होती है परन्तु भगवान् ने सम्पूर्ण रूप से विषय वासना का नाश कर दिया है, इस कारण उनके मनमें शृङ्गार आदि की भावना उत्पन्न ही नहीं होती । भगवान् का शरीर राग-द्वेषादि नष्ट हो जाने के कारण अत्यन्त सुन्दर दीखता है । तीन लोक के जीव भी उनके दिव्य शरीर को देखकर प्रसन्न होते हैं । राग-द्वेषादि विकारों से सर्वथा रहित होने कारण भगवान् निर्विकारी होते हैं, इसलिये समस्त विकारों को छिपाने के लिये उनको वस्त्रादि की आवश्यकता नहीं होती । भगवान् ने सम्पूर्ण पापों का नाश कर दिया है । मोह कर्म से उत्पन्न लज्जा ही एक भेद है, इस कारण भेद का नाश अथवा मोह कर्म का नाश होने से भेद ज्ञान उत्पन्न होता है । भगवान् सदैव निर्विकारी हैं । वे अपने पास एक भी वस्त्र नहीं रखते । वे निर्भय हैं, जीव की हिंसा नगैरह नहीं करते और न वैसा उपदेश ही देते । भगवान् परम दयालु हैं—भव्य जीवों को सदा दयामय ही उपदेश देते हैं, इसलिये उनको वस्त्र-शस्त्रादि पास में रखने की आवश्यकता नहीं होती । भगवान् आहार नहीं करते—आहार न होने पर भी ज्ञानामृत भोजन से वे सदा तृप्त रहते हैं । ऐसी विलक्षण तृप्ति उनके समान अन्य किसी को नहीं होती । इस प्रकार भगवान् के स्मरण व ध्यान करने वाले विरले ही भव्य जीव होते हैं ॥६४॥

बिल्लकसु पळिगे पोल् विरिदोळि मून्डु डे मेनि ।  
 यळ्पपरिय योळि यगत्तुळ् तिरुप्पु वैडु रेमुमे ॥

यत्प्रपरिय ज्योति यगत्तुळ् छिक्पुर्बेङ्ग रंवालुं ।  
तुळ्बकर वेन् रुपरं दोये तोळवेळ् वा ररियरे ॥६५॥

अर्थ—हे भगवन् ! दीपक के प्रकाश, स्फटिक मणि की ज्योति युक्त मन, वचन, काय ऐसी तीनों ज्योति सहित परमौदारिक शरीर की तुलना अन्य मनुष्य के शरीर की तुलना करने में अशक्य है। ऐसा आपके शरीर का प्रकाश है। ऐसा देखने में आनेवाला परम प्रकाश आप में रहता है। ऐसा कहते हुये चलन रहित विभावों को नाश कर स्वभाव गुणों को जानकर भक्ति करने वाले जीव इस संसार में महान् दुर्लभ हैं।

भावार्थ—जैसे दीपक स्फटिक मणि में अत्यन्त प्रकाशमान होकर चारों ओर उसका प्रकाश फैल जाता है उसी प्रकार आपकी मन, वचन काय इन तीनों ज्योतियों से युक्त आपके परमौदारिक शरीर की उपमा किसी अन्य के शरीर से देने में नहीं आती, इसलिये आपका शरीर अनुपम है। आत्मप्रकाश इस शरीर में मौजूद है, ऐसा जानने पर भी विभाव परिणति में मग्न होनेवाला जीव विभाव को छोड़कर स्वभाव परिणति में मग्न होकर अपने निज स्वरूप को जानने वाले जीव संसार में महान् दुर्लभ हैं ॥६५॥

अमलमा यरुळ् सुरविट्टिरिवरिये तिरुमूसी ।  
विमल माय विरिद नार् गुणसालेमे विरिक्कुमे ॥  
विमल माय विरिद नास् गुणसाल मे विरिवालुं ।  
कमल नीवुलब् मुने कावलिप्पा ररियरे ॥६६॥

अर्थ—विभाव से रहित सम्पूर्ण प्राणियों में दया रखने वाले आपके समान गुण किसी अन्य देव में मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः त्रिपूर्ति भगवन् ! आपका परमौदारिक शरीर अठारह दोषों से रहित होने के कारण अनन्त दर्शन, अनन्त चतुष्टय तथा अनन्त वीर्य के चार चतुष्टय आपके अन्दर विशाल रूप में होते हैं। इस कारण अष्ट अनन्त चतुष्टय को प्राप्त किये भगवान् को जानने वाले १०८ कमलों पर विहार करने वाले तथा आपकी इच्छा व भक्ति करने वाले जीव बहुत दुर्लभ हैं।

भावार्थ—आचार्य ने प्रवचनसार में कहा है कि यह आत्मा शुद्धोपयोग के प्रभाव से स्वयम्भू तो हुआ परन्तु इन्द्रियों के बिना ज्ञान और आनन्द इस आत्मा के किस तरह होता है ? इसकी शंका दूर करते हैं कि यह अज्ञानी जीव इन्द्रिय विषयों के भोग में ही ज्ञान और आनन्द मान बैठा है। उनको चैतन्य करने के लिये निज स्वभाव से उत्पन्न हुये ज्ञान तथा सुख को दिखाते हैं। वह स्वयम्भू भगवान् आत्मा इन्द्रिय ज्ञान से रहित होता हुआ निज पर प्रकाशक तथा आकुलता रहित अपना सुख इन दोनों स्वभाव रूप परिणामता है। भगवान् कैसे हैं ? चार घातिया कर्मों को नाश किया है जिसने अर्थात् जब तक घातिया कर्म सहित या तब तक क्षायोपशमिक मत्यादिज्ञान तथा चक्षुरादि दर्शन सहित था। घातिया कर्मों के नाश होते ही अतीन्द्रिय हुआ। फिर कैसा है ? मर्यादा रहित है। जिसके उत्कृष्ट बल है अर्थात् अन्तराय के दूर होने से जो अनन्त बल सहित है। फिर कैसा है ? अनन्त है ज्ञान दर्शन रूप प्रकाश जिसके अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के जाने से अनन्तज्ञान अनन्त

दर्शनमय है और समस्त मोहनोय कर्मों के नाश होने से स्थिर होकर अपने स्वभाव को प्राप्त हो गये हैं । इस प्रकार भगवान् के बचन व गुरुओं पर भक्ति व श्रद्धा रखने वाले जीव संसार दुर्लभ हैं ॥६६॥

धेङ्गु निङ्गिरं वने एत्ति मावव ।

तौद्रिय मनत्ताना गुल्लग मावने ॥

निङ्गु तत्तु बत्तादु नीर्मे पेन्नन ।

कुङ्गनार् करुळिनान् कुट्टमट्ट कोन् ॥६७॥

अर्थ—इस प्रकार भक्ति सहित भगवान् के सम्मुख खड़ा होकर पूजा भक्ति तथा उनके गुणों का स्मरण किया और ऐसा करने से मन में वैराग्य तथा तपश्चरणा की भावना उत्पन्न हुई । राजा वैजयन्त भगवान् से इस प्रकार प्रार्थना करता है कि हे त्रिलोकीनाथ ! इस लोक में सदैव रहने वाले चराचर जीव किस प्रकार के हैं तथा उनका क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न को सुनकर स्वयम्भू तीर्थंकर ने सकल चराचर वस्तु तथा जीवाजीव पदार्थ के स्वरूप को समझाने लगे ।

भावार्थ—नाम कर्म के उदय से उसे जितना छोटा-बड़ा शरीर प्राप्त होता है वह उतना ही संकोच विस्तार रूप हो जाता है । उस जीव का अन्वेषण करने के लिये गति आदि चौदह मार्गणाओं का निरूपण किया गया है । इसी प्रकार चौदह गुणस्थान और सत्संख्या आदि अनुयोगों के द्वारा भी वह जीव-तत्त्व अन्वेषण करने के योग्य है ।

भावार्थ—मार्गणाओं, गुणस्थानों, सत्संख्या और अनुयोगों द्वारा जीव का स्वरूप समझा जाता है । गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारक ये चौदह मार्गणा स्थान हैं । इन मार्गणा स्थानों में सत्संख्या आदि विशेष रूप से जीव का अन्वेषण करना चाहिये । और उसका स्वरूप जानना चाहिये । सिद्धान्त शास्त्र रूपी नेत्र को धारण करने वाले भव्य जीवों को सत्संख्या, क्षेत्र स्पर्शन काल भाव, अन्तर, अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों के द्वारा जीवतत्त्व का अन्वेषण करना चाहिये । इस प्रकार जीवतत्त्व के ये उपाय हैं । इनके सिवाय विद्वानों को नय और निक्षेपों के द्वारा भी जीवतत्त्व की जानकारी कर लेनी चाहिये । उसका स्वरूप जानकर हृद प्रतीति करनी चाहिये । औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदायिक और पारिरामिक ये पांच भाव जीव के निज तत्त्व कहलाते हैं । इन गुरुओं का जिसके द्वारा निश्चय किया जावे वे जीव कहलाते हैं । उस जीव का उपयोग ज्ञान और दर्शन भेद से दो प्रकार का होता है इन दोनों प्रकार के उपयोगों में से ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का और दर्शनोपयोग चार प्रकार जानना चाहिये । जो उपयोग साकार है अर्थात् विकल्प सहित पदार्थ को जानता है उसे दर्शनोपयोग कहते हैं और जो प्रनाकार है, विकल्प रहित पदार्थ को जानता है उसे दर्शनोपयोग कहते हैं । घट-पट आदि की व्यवस्था लिये किसी के भेदकरण करने को आकार कहते हैं । और सामान्य रूप से ग्रहण करने को प्रनाकार कहते हैं । ज्ञानोपयोग वस्तु को भेदपूर्वक ग्रहण करते हैं । इसलिये वह साकार सविकल्प उपयोग कहलाता है और दर्शनोपयोग वस्तु को सामान्य रूप से ग्रहण करता है, इसलिये वह



अनाकार-अविकल्प उपयोग कहलाता है। जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा और ज्ञानी ये सब जीव के पर्यायवाची शब्द हैं। चूँकि यह जीव वर्तमान काल में जीवित है, भूतकाल में भी जीवित था और अनागत काल में भी अनेक जन्मों में जीवित रहेगा। इसलिये इसे जीव कहते हैं। सिद्ध भगवान् अपनी पूर्व पर्यायों में जीवित थे इसीलिये वे भी जीव कहलाते हैं। पाँच इन्द्रिय, तीन बल आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण इस जीव के पास विद्यमान रहते हैं इसलिये प्राणी कहलाता है। यह बारम्बार अनेक जन्म धारण करता है, इसलिये जन्तु कहलाता है। इसके स्वरूप को क्षेत्र कहते हैं और यह उसे जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाता है। पुरु अर्थात् अच्छे-अच्छे भोगों में ज्ञान प्राप्त करने से यह पुरुष कहलाता है। अपने आत्मा को पवित्र करने के कारण पुमान् कहलाता है। यह जीव नर-नारकादि आठ कर्मों के अन्तर्वर्ती होने से अन्तरात्मा भी कहलाता है। यह जीव ज्ञान गुण से सहित होने से ज्ञेय अथवा ज्ञानी कहलाता है। इस प्रकार यह जीव उपरोक्त पर्यायवाची शब्दों के समान अन्य अनेक शब्दों से जानने योग्य है। यह जीव नित्य है, परन्तु उसकी नर-नरकादि पर्याय पृथक् पृथक् है। जिस प्रकार नित्य होने पर भी पर्यायों की अपेक्षा उसका उत्पाद और विनाश होता रहता है उसी प्रकार यह जीव नित्य है, परन्तु पर्यायों की अपेक्षा उसमें भी उत्पाद और विनाश होता रहता है।

भावार्थ—द्रव्यत्व सामान्य की अपेक्षा जीव द्रव्य नित्य है और पर्यायों की अपेक्षा अनित्य है। एक साथ दोनों अपेक्षाओं से यह जीव उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप है। जो पर्याय पहले नहीं थी उसका उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है, किसी पर्याय का उत्पाद होकर नष्ट हो जाना व्यय कहलाता है और दोनों पर्यायों में तदवस्तु होकर रहना ध्रौव्य कहलाता है। इस प्रकार यह आत्मा उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणों सहित है। ऊपर कहे हुये स्वभाव से युक्त आत्मा को नहीं जानते हुये मिथ्या-दृष्टि पुरुष उसका स्वरूप अनेक प्रकार से मानते हैं और परस्पर में विवाद करते हैं। कुछ मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि आत्मा नाम का पदार्थ ही नहीं है, कोई कहता है कि वह अनित्य है, कोई कहता है कि वह कर्ता भोक्ता नहीं है कोई कहता है कि आत्मा नामक पदार्थ है तो सही, परन्तु उसका मोक्ष नहीं है और कोई कहता है कि मोक्ष भी होता है, परन्तु मोक्ष प्राप्ति का कुछ उपाय नहीं है। इसलिये आयुष्मन् हे वैजयन्त ! ऊपर कहे हुये इन अनेक मिथ्या नयों को छोड़कर समीचीन नय के अनुसार जिसका लक्षण कहा गया है ऐसे जीव तत्व का तुम निश्चय करो। जीव की दो अवस्था मानी गयी है। एक संसारी और दूसरा मुक्त (मोक्ष)। नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव इन चार भेदों से युक्त संसार रूपी भवर में परिभ्रमण करना संसार कहलाता है और समस्त कर्मों का बिल्कुल क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है। वह मोक्ष अनन्त सुख स्वरूप है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप साधन से प्राप्त होता है। सच्चे देव, शास्त्र और समीचीन पदार्थ का बड़ी प्रसन्नता पूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष प्राप्ति का प्रथम साधन है। जीव, अजीव आदि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने वाला तथा अज्ञान रूपी अन्धकार को परम्परा से नष्ट हो जाने के बाद उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में समता भाव धारण करने को सम्यक्चारित्र्य कहते हैं। वह सम्यक्चारित्र्य यथार्थ रूप से तृष्णा रहित मोक्ष की इच्छा करने वाले, वस्त्र रहित और हिंसा का सर्वथा त्याग करने वाले मुनिराज को ही होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों

मिलकर ही मोक्ष के कारण कहे गये हैं। यदि इनमें से एक भी अंग की कमी हुई हो तो कार्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकते। सम्यग्दर्शन के होने से ही ज्ञान और चारित्र्य फल को देने वाले होते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य के रहते हुये ही सम्यग्ज्ञान मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित चारित्र्य कुछ भी कार्यकारी नहीं होता, किन्तु जिस प्रकार अंधे पुरुष का दीढ़ना उसके पतन का कारण होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान से शून्य पुरुष का चारित्र्य भी उसके पतन अर्थात् नरकादि गतियों में परिभ्रमण का कारण है। इन तीनों में से कोई तो अलग-अलग एक-एक से मोक्ष मानता है और कोई दो से मोक्ष मानता है। इस प्रकार अज्ञानी लोगोंने मोक्षमार्ग के विषय में छह प्रकार के मिथ्या नयों को कल्पना की है, परन्तु उपर्युक्त कथन से उन सभी का खंडन हो जाता है।

भावार्थ—कोई केवल दर्शन से, कोई केवल ज्ञान से, कोई केवल चारित्र्य से, कोई दर्शन और ज्ञान दो से, कोई दर्शन और चारित्र्य इन दो से और कोई ज्ञान तथा चारित्र्य इन दो से मोक्ष मानते हैं। इस प्रकार मोक्ष मार्ग के विषय में छह प्रकार के मिथ्या नय की कल्पना करते हैं, परन्तु उनकी यह कल्पना ठीक नहीं है, क्योंकि तीनों की एकता से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। जैन धर्म में आप्त, आगम तथा पदार्थ का जो स्वरूप कहा गया है उससे अधिक वा कम न तो है, न था और न आगे ही होगा। इस प्रकार आप्त आदि तीनों के विषय में श्रद्धान की दृढ़ता होने से सम्यग्दर्शन में विशुद्धता उत्पन्न होती है। जो अनन्त ज्ञान आदि गुणों से सहित हो, घातिया कर्म रूपी कलंक से रहित हो, निर्मल आशय का धारक हो, कृतकृत्य हो और सबका भला करने वाला हो वह आप्त कहलाता है। इसके सिवाय अन्य देव आप्ताभास कहलाते हैं। जो आप्त का कहा हुआ हो, समस्त पुरुषार्थों का वर्णन करने वाला हो और नय तथा प्रमाणों से गंभीर हो उसे आगम कहते हैं। इसके अतिरिक्त असत्य पुरुषों के वचन आगमाभास कहलाते हैं। जीव और अजीव के भेद से पदार्थ के दो भेद जानना चाहिये। उसमें से जिसका चेतना रूप लक्षण ऊपर कहा जा चुका है और जो उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य रूप तीन प्रकार के परिणामन से युक्त है वह जीव कहलाता है। भव्य-अभव्य और मुक्त इस प्रकार जीव के तीन भेद कहे गये हैं। जिसे आगामी काल में सिद्धि प्राप्त हो सके उसे भव्य कहते हैं। भव्य जीव स्वर्ण पाषाण के समान होता है अर्थात् जिस प्रकार निमित्त मिलने पर सुवर्ण पाषाण आगे चलकर शुद्ध सुवर्ण रूप हो जाता है उसी प्रकार भव्य जीव भी निमित्त मिलने पर शुद्ध सिद्धस्वरूप हो जाता है। जो भव्य जीव से विपरीत है अर्थात् जिसे कभी सिद्धि की प्राप्ति न होसके उसे अभव्य कहते हैं। अभव्य जीव अन्ध पाषाण के समान होता है अर्थात् जिस प्रकार अन्धपाषाण कभी सुवर्ण रूप नहीं हो सकता। उसी प्रकार अभव्य जीव कभी सिद्ध स्वरूप नहीं हो सकता। अभव्य जीव को मोक्ष प्राप्त होने की सामग्री कभी प्राप्त नहीं होती। और जो कर्मबंधन से छूट चुके हैं, तीनों लोकों का शिखर ही जिनका स्थान है, जो कर्म कालिमा से रहित हैं और जिन्हें अनन्त सुख अम्युदय प्राप्त हुआ है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी मुक्त जीव कहलाते हैं। इस प्रकार हे बुद्धिरूपी धन को धारण करने वाले वैजयन्त ! मैंने तुम्हारे लिये संक्षेप से जीव तत्व का निरूपण किया है। अब इसी तरह अजीव तत्व का भी निश्चय कर; धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल इस प्रकार अजीव तत्व का पांच भेदों द्वारा सविस्तार निरूपण किया जाता है। जो जीव और पुद्गलों के गमन में सहायक कारण हो उसे धर्म कहते हैं और जो उन्हीं के स्थित होने में सहकारी कारण हो उसे अधर्म कहते हैं। धर्म और अधर्म ये दोनों ही पदार्थ अपनी इच्छा से गमन करते और

ठहरते हुये जीव तथा पुद्गलों के गमन करने और ठहरने में सहायक होकर प्रवृत्त होते हैं स्वयं किसी को प्रेरित नहीं करते ।

जिस प्रकार जल के बिना मछली का गमन नहीं हो सकता फिर भी जल मछली को प्रेरित नहीं करता उसी प्रकार जीव और पुद्गल धर्म द्रव्य के बिना नहीं चल सकते; फिर भी धर्म द्रव्य उन्हें चलने के लिये प्रेरित नहीं करता, किन्तु जिसप्रकार जल चलते समय मछली को सहारा दिया करता है उसी प्रकार धर्म पदार्थ भी जीव और पुद्गलों को चलते समय सहारा दिया करता है । जिस प्रकार वृक्ष की छाया स्वयं ठहरने की इच्छा करनेवाले पुरुष को ठहरा देती है— उसके ठहरने में सहायता करती है, परन्तु वह स्वयं उस पुरुष को प्रेरित नहीं करती तथा इतना होने पर भी वह उस पुरुष के ठहरने का कारण कहलाती है, उसी प्रकार षडर्मास्तिकाय भी उदासीन होकर जीव और पुद्गलों को स्थित कर देता है—उन्हें ठहरने में सहायता पडुं चाता है, परन्तु स्वयं ठहरने की प्रेरणा नहीं करता । जो जीव आदि पदार्थों को ठहरने के लिये स्थान दे उसे आकाश कहते हैं । वह आकाश स्पर्श रहित, अमूर्तिक, सब जगह व्याप्त और क्रिया रहित है । जिसका वतना लक्षण है उसे काल कहते हैं । वह वतना काल तथा काल से भिन्न जीव आदि पदार्थों के आश्रय रहती है और सब पदार्थों का जो अपने-अपने गुण तथा पर्याय रूप परिणामन होता है उसमें सहकारी कारण होती है । जिस प्रकार कुम्हार के चक्र के फिरने में उसके नीचे लगी हुई शिला कारण होती है उसी प्रकार काल द्रव्य भी सब पदार्थों के परिवर्तन में कारण होता है ॥ ६७ ॥

उधिरुं उधिरल्लडुं पुन्नियं पावमूट्टुं ।  
 संडुर् तीर् सेरिप्पु मुदिरपुं कट्टुं वीडुमुट्टुं ॥  
 तुयतीकुं तूयनेरियुं सुखकायुरेप्पन् ।  
 मयडोर्द काक्ष युडयो इवुक्केन् मदित्ते ॥६८॥

अर्थ—मूर्छा से रहित होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त हे वैजयन्त राजा सुनो ।

जीव पदार्थ, अजीव पदार्थ, पुण्य तथा पाप पदार्थ, आश्रव पदार्थ, दोषों को रोकने वाला संवर पदार्थ, निर्जरा पदार्थ, तथा मोक्ष पदार्थ इनका अनादि काल से संसार में रहने वाले जीव के दुःख को नाश करके मोक्ष के दाता ऐसे अत्यन्त निर्मल रत्नत्रय मार्ग का संक्षेप में वर्णन करूंगा ।

भावार्थ—हे राजन् ! मूर्छा रहित सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुये तुम सावधानी पूर्वक मुनों । जीव अजीव पुण्य तथा पाप पदार्थों को तथा आत्मा में सर्वदा कर्म को लानेवाले आश्रव पदार्थ हैं । पाप और पुण्य को रोकनेवाला संवर पदार्थ है । कर्म की निर्जरा करने वाला निर्जरा पदार्थ है । आत्मा के साथ कर्मबंध को करनेवाले बंध पदार्थ हैं । आत्मा को संसार से मुक्त कर सम्पूर्ण कर्मों को नाश करनेवाले ये मोक्ष पदार्थ हैं । इस प्रकार अनादि काल से आत्मा को संसार का कारण होनेवाले मोक्ष देनेवाले रत्नत्रय मार्ग का संक्षेप में निरूपण करेंगे । इसको हे राजन् ! ध्यान पूर्वक सुनो ।

अरिबु काक्षिय दायेंदु मूंडु मं ।  
 पोरियोडट् करणत्तु इर् पायुबिन् ॥  
 नेरियिन् वाळुं पोरळुबु जोवना ।  
 मरियिन् षोटदुमाट्टु मागुमें ॥६६॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन आत्मा का स्वाभाविक लक्षण है। पांच इन्द्रिय, प्रायु, श्वासोच्छ्वास मनबल, वचन बल और काय बल इन दश प्राणों से जीवित प्राये हुये और वर्तमान में जी रहा है तथा भविष्य में भी जीवेगा, ऐसे दश प्राण हैं। जो जीता आ रहा है उसको जीव कहते हैं। जीव के दो भेद हैं—जीव और अजीव। कहा भी है :-

तिक्काले चदुपाणा इन्द्रिय बलमा उआणपाणो य ।  
 ववहारा सो जोवो रिाच्छयणयदो दुचेदणा जस्स ॥

अर्थ—तीन काल में इन्द्रिय, बल, प्रायु, श्वास, निःश्वास इन चारों प्राणों को जो धारण करता है वह व्यवहार नय से जीव है और निश्चय नय से जिसके चेतना है वही जीव है ॥ ६६ ॥

षोटि निडुदु वेव्विने येन्मइन् ।  
 केटिलेन्गुरा मेय्दियोर् केडिला ॥  
 माक्षि यालुलगं तोळ माट्टर ।  
 ओट्टि वय्त शंबोन् नोत्तोळ्ळिक्कमें ॥७०॥

अर्थ— मोक्ष की प्राप्ति करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा को दुःख उत्पन्न करने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को नाश करने से अनन्त ज्ञानादि आठ गुणों को प्राप्त कर इसी काल में नाश न होने वाले व दुःख को न देने वाले मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं। इस कारण हे राजन् ! तुझ को यदि संसार के दुःखों का नाश करना है तो सम्पूर्ण परिग्रहों को छोड़कर जिनदीक्षा धारण करो। क्योंकि जिनदीक्षा धारण किये बिना अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति व अनन्त सुख आदि देनेवाले मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। आठों कर्मों से रहित शुद्ध स्वर्ण के समान कलंक रहित यह जीव सदैव प्रकाशमान होता है ॥ ७० ॥

माट्टि निडुदु वयग मूडिनु ।  
 माट्टुं परियट्टु मोरेबिनार् ॥  
 रोट्टुं बीब ट्रोड्दिडै इल्बिने ।  
 काट्टि नार् गति नांगीर् सुळुत्तु मे ॥७१॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करनेवाले जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं। आत्मा को दुःख देने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को नाश करने से अनन्त ज्ञानादि को प्राप्त कर अविनाशी

व दुःख न देनेवाली कीर्ति से सिद्धगति को प्राप्त हुये सिद्धजीव को इस लोक में रहनेवाले भव्य जीव नमस्कार करके कलक रहित तीन लोक में प्रकाशमान होता है ।

भावार्थ—मोक्ष की इच्छा करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा को दुःख देनेवाले ज्ञानावरणीय, दशनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, अंतराय, गोत्र, आयु नाम इन आठ कर्मों के नाश करनेसे अनन्त ज्ञानयुक्त क्षायिक सम्यक्त्व, समस्त लोकालोक विषयों को जाननेवाला क्षायिक ज्ञान, समस्त लोक को जाननेवाला क्षायिक दर्शन, अनन्त पदार्थों का जाननेवाला ज्ञानमय भेदाभावरूप क्षायिक वीर्य शक्ति, केवल ज्ञान को जाननेवाला क्षायिक सूक्ष्मत्व एक दीपक में अनेक दीप प्रकाशमान होनेवाले के समान एक शुद्ध परमेष्ठी रहने के क्षेत्र में शंका कांक्षादि दोष रहित अनन्त शुद्धात्मा को अवकाश दान देने के सामर्थ्य युक्त क्षायिक अवगाहन, लोक के पिंड समान गुरुत्व, रूई के समान अगुरुलघुत्व अर्थात् क्षायिक अगुरुलघुत्व अनन्त सुख क्षायिक अव्याबाध और अनन्त गुणरूप क्षायिक अव्याबाध ऐसे आठों गुणों से युक्त सिद्ध भगवान् होते हैं । ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आयु, नाम, वेदनीय, गोत्र अंतराय रूपी मल से कर्मों से रहित होने से यथाक्रम क्षायिक ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध, सम्यक्त्व अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व और वीर्य ऐसे विशेष गुणों से युक्त रहते हैं । ये गुण कभी भी नाश नहीं होते और वे सिद्ध भगवान् दुःख से रहित तान लोक के पात्र होते रहते हैं । भव्य जीव ऐसे गुणों की आराधना तथा नमस्कार करने से कर्मकलंक से रहित होकर जैसे १६ (सोलह) ताव देने से स्वर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार शुद्ध कर्मकलंक से रहित सिद्ध भगवान् सिद्धावस्था को प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न—सिद्ध भगवान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—चौदहवें गुणस्थान के अत समय में शरीर अंगोपांग के नाश होने से अंतिम के शरीर से वे सिद्ध भगवान् छोटे शरीरवाले होते हैं । मनुष्य के हाथ में रहनेवाले वस्त्र कुम्हार के हाथ में रहनेवाले शकोरे मटके आदि का जैसे संकोच-विस्तार होता है और छोड़ते ही जिस आकार में वह पहले था उसी आकार में आ जाता है उसी प्रकार आत्मा सम्पूर्ण कर्मों के नाश होने से वह अपने स्वरूप में रहता है ।। ७१ ।।

माण्डुं मिडागति नान् गेदु ।

मोन मिल् विलंग्लु मोर् नान् गेदुं ॥

वागिन् वंदु विलंगु मणिदना ।

मीन मिल्लवे येविदु नारगन् ॥७२॥

अर्थ—पीछे कहे हुये मुक्त जीव से विपरीत जीव अधोलोक, मध्यलोक तथा पाताल लोक और द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन क्षेत्रों में हमेशा जन्म-मरण प्राप्त करते रहते हैं । कर्म रूपी वायु के वेग से चारों गतियों में सर्वदा भ्रमण करते रहते हैं ।

भावार्थ—आचार्य ने इस श्लोक में पंचपरिवर्तन स्वरूप का वर्णन किया है ।

प्रश्न—परिवर्तन किसे कहते हैं ?

उत्तर—संसार संसारः अर्थात् द्रव्य क्षेत्र काल और भाव इनको संसार कहते हैं । ये चार प्रकार के होते हैं ।

१—द्रव्य परिवर्तन—इसका पुद्गल परिवर्तन नाम है । इसके भी २ भेद हैं । पहले का नाम नव कर्म परिवर्तन है । यह नौ कर्म परिवर्तन औदारिक वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीर से सम्बन्धित छह पर्याप्ति होने से योग्य पुद्गल वर्गणा ऐसे २ इनके नौ नाम हैं । कर्म परिवर्तन—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के रूप होने से पुद्गल वर्गणाओं को कर्म-वर्गणा कहते हैं । एक जीव एक समय में आठ प्रकार के कर्म होने से योग्य कर्मवर्गणा को ग्रहण किया हुआ अन्योन्य समय आदिक अवली मात्र आवाधा काल बीतने के बाद उसका नाश होने से श्रेणी चढता है । उसके बाद मोह कर्म परिवर्तन में क्रमबद्ध होकर पूजाति कथनानुसार अग्रहीत मिश्र और ग्रहीत मिश्र के समय को अनन्तानन्त बार ग्रहण कर छोड़ता है । इसी प्रकार ग्रहण करते २ वह जीव प्रथम समय में ग्रहण किये हुये कर्मवर्गणा के अनुसार समय के पश्चात् कर्मत्व भाव परिणामों को प्राप्त होता है । उसके बीच में सम्पूर्ण कार्य को एक कर्मवर्तन का काल समझना चाहिये ।

२—क्षेत्र परिवर्तन—कोई जीव एक समय में जघन्य अवगाहन से युक्त सूक्ष्म लब्धिपर्याप्तक निगोदी जीव के शरीर को धारण कर उससे अन्योन्य एक २ प्रदेश वृद्धि प्राप्त हुये अवगाहन को धारण करता है, इसी प्रकार एक २ प्रदेश बढ़ते २ महामच्छ के उत्कृष्ट अवगाहन के बाहर शरीर को धारण करने में जितना समय लगता है उस काल को क्षेत्र परिवर्तन काल कहते हैं ।

३—काल परिवर्तन—एक जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में जन्म धारण करके अन्योन्य जन्म-मरण को प्राप्त कर संसार में परिभ्रमण करनेवाला होकर पुनः वह जीव उत्सर्पिणी काल में दूसरे समय में उत्पन्न होता है । इसी प्रकार तीसरे समय में क्रमसे जन्म-मरण को बार २ प्राप्त होते हुये उत्सर्पिणी काल तथा अवसर्पिणी काम के दश कोड़ा-कोड़ी सागर अर्थात् बीस कोड़ा-कोड़ी सागर समय को क्रम से जन्म-मरण को बार २ पूर्ण करता है । ऐसा करने से जितना समय होता है उस समय को काल परिवर्तन कहते हैं ।

४—भावपरिवर्तन—यहां का जीव प्रथम नरक की दश हजार वर्ष की आयु प्राप्त कर वहां की आयु को पूर्ण कर वहां से चयकर संसार में आता है और पुनः २ भ्रमण कर किसी एक काल में उतना ही आयुष्य को धारण करता है । इसी प्रकार दश हजार वर्ष का त्रितना समय है उतना समय तक एक हजार वर्ष की आयु प्राप्त करके क्रम से एक २ समय अधिक आयु प्राप्त कर नरक आयु की उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागर काल को पूर्ण करता है । इसी प्रकार देव आयु की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की आयु से लेकर उत्कृष्ट स्थिति ३१ सागर की होती है । मनुष्य व तिर्यच आयु की वस्तु स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त से उत्कृष्ट स्थिति कर्मपल्य से क्रम २ से एक २ समय वृद्धि होकर पूर्ण करता है । इस तरह चार प्रकार आयुष को पूर्ण करने में जितना समय लगता है वह सब भाव परिवर्तन है । देव आयुष में ३१ सागर से अधिक आयु को प्राप्त हुआ जीव नियम से सम्यक्त्व को प्राप्त करने

बाला होकर मोक्षमार्गी होता है । उनकी आयु ३१ सागर की ही है, इससे अधिक नहीं ।

५—क्षेत्र परिवर्तन—योग स्थान, अनुभाग-अध्यवसाय, सासादन कषाय, अद्य-वस्थान स्थिति स्थान ये चार स्थान के परिवर्तन क्रम पूर्वक पूर्ण होना भाव परिवर्तन काल है । इनके विशेष स्वरूप को गोम्मटसार से समझ लेना चाहिये । द्रव्य परिवर्तन का काल अनन्त है । उससे अधिक काल क्षेत्र परिवर्तन है, उससे अधिक अनन्तकाल परिवर्तन, और उससे अधिक अनन्त गुणा परिवर्तन है । इस प्रकार परिवर्तन के काल समूह को एक परिवर्तन काल कहते हैं ।। ७ ।।

नालरिईरु नांगुं नरगरुं देवर् तामुं ।

मालुरु भोग भूमि मक्कळुं विलगु मागार् ॥

मेलुर् वानवावि देवर् गळ् विलंगिन् वारार् ।

शाल बोशानन् मेलाई रंवर् सेन्नि यावार् ॥७३॥

अर्थ—मनुष्य पर्याय को धारण किया हुआ जीव अपने शरीर को छोड़कर अपने २ परिणाम के अनुसार चारों गतियों को प्राप्त करता है । न्यूनतम परिणामों के अनुसार पंचेन्द्रिय पर्याय तथा तिर्यच गति को प्राप्त हुये जीव अपने २ परिणामानुसार पूर्वोक्त कथन के समान अनेक गतियों में जन्म लेते हैं । देव गति में जन्म धारण किया हुआ जीव देव पर्याय को छोड़कर मनुष्य व तिर्यच गति को प्राप्त होता है । पीछे कहे अनुसार नारकी जीव मनुष्य व तिर्यच गति में जन्म लेता है ।

भावार्थ—मनुष्य पर्याय को प्राप्त हुआ जीव अपने धारण किये हुये शरीर को छोड़कर परिणामानुसार चारों गतियों में जन्म लेता है । अर्थात् कम व अधिक परिणामों के अनुसार पर्याय को धारण करता है । तिर्यच गति को प्राप्त हुआ जीव अपने परिणाम के अनुसार पीछे के कथन के समान तिर्यच गति में जन्म लेता है । देवगति में उत्पन्न हुआ जीव अपने परिणामों के अनुसार मनुष्य व तिर्यच गति में पैदा होता है । नारकीय जीव भी इसी प्रकार अपने २ परिणामों के अनुसार मनुष्य व तिर्यच गति में पैदा होता है ॥ ७३ ॥

नीर् मर निलंगळावर निडु नालवगयवेवर् ।

नीमंर निलंगळ् सेल्लुं विलंगोडु मक्कळ् उम्मिर् ॥

शीमेंडल् विलंगु मक्कळ्ती योडु वळियुसावर् ।

नीमंयिन् निरिपिर् काट्टि निडुं नविलंगि टोडुम् ॥७४॥

अर्थ—एकेन्द्रिय, दोन्द्रिय, तेन्द्रिय जीव और नर्क गति के जीव तथा देवगति के जीवों में से राग रहित भोग भूमि में मनुष्य और तिर्यच गति के जीव उत्पन्न नहीं होते ।

प्रश्न—भोग भूमि में उत्पन्न होनेवाले जीव कौन से हैं ?

उत्तर—कर्मभूमि तथा तिर्यच गति के जीव जो उत्तम मध्यम और अधन्य पात्र

है उनके द्वारा उत्तम मध्यम व जघन्य पात्र को दान देने व अनुमोदना करने से जो पुण्य संपादन होता है उसके कारण से उत्तम, मध्यम व जघन्य भोगभूमि में जन्म लेते हैं। प्राणत, प्राणत, प्रारण और अच्युत ऐसे चार प्रकार के श्रेष्ठ देव तथा अहमिन्द्र देव तिर्यंच गति में जन्म नहीं लेते। मनुष्य गति में ही जन्म लेते हैं। शेष सौधर्म-ईशान कल्प के रहने वाले सनत्कुमार आदि सहस्रार; कल्प के ऊपर रहनेवाले देव वहां से सैनी जीव आकर उत्पन्न होते होते हैं, असैनी नहीं।

भावार्थ—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीव नर्क व देव गति के जीव राग रहित भोगभूमि में जन्म नहीं लेते। कर्म भूमि में उत्पन्न हुये मनुष्य व तिर्यंच जीव उत्तम मध्यम और जघन्य पात्रों को दान देने से पुण्य संचय करके उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि में जन्म लेते हैं। प्राणत प्राणत प्रारण व अच्युत ये चार प्रकार के कल्प-वासी देव और अहमिन्द्र देव ऐसे पांच प्रकार के देव तिर्यंच गति में जन्म नहीं लेते, बल्कि मनुष्य गति में ही जन्म लेते हैं। शेष सौधर्म ईशान कल्प में रहनेवाले सनत्कुमार आदि सहस्रार कल्प के ऊपर रहने वाले जीव वहां से आकर सैनी जीव उत्पन्न होंगे, असैनी नहीं।  
॥ ७४ ॥

अरुणण दुरुवनिह्ला रगमिनि रतुद्रोंड्रा ।  
रुमइर् शासरांद मडेवरा जीवरंदि ॥  
पिरमरां येदंमाग परिभाजगरुं शेलवर् ।  
मरुवुबर् ज्योति डांतम् मट् तापवर्कडामे ॥७५॥

अर्थ—तपस्वी दिगम्बर साधु अहमिन्द्र नामक नवें प्रैवेयिक तथा पंचानुत्तर में जन्म नहीं लेते। जो साधु अच्छे चारित्रवान हैं पर वस्त्र धारण करने के कारण सहस्रार कल्प तक जाते हैं, उससे आगे नहीं। परिव्राजक सन्यासी ब्रह्म कल्प तक जाते हैं, इससे आगे नहीं जाते। पंचाग्नि तपनेवाले साधु ज्योतिष कल्प तक जाते हैं।

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान् के रूप को धारण किये हुये तपस्वी मुनि जिनलिग धारण करनेवाले साधु अहमिन्द्र नाम के नवें प्रैवेयिक तक पंचानुत्तर में जन्म नहीं लेते। वस्त्रधारी साधु तपश्चरण करने पर भी सहस्रार कल्प तक ही जाते हैं। परिव्राजक साधु ब्रह्मकल्प से आगे नहीं जाते। पंचाग्नि तपनेवाले साधु ज्योतिषकल्प तक ही जाते हैं ॥ ७५ ॥

नरकाक्षि युडेबिलंगुम् मानिडहं वदन् सेरिदु ।  
कर्पादि मुदलाग कर्पादि मुरच्छलवर् ॥  
नर्पाल बवं शरिद नरर् बिलंगु भवनादि ।  
कर्पातम् शासरांतम् कान्बर् मुरं युळिये ॥७६॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले तिर्यंच प्राणी पांच अणुवत को धारण करने वाले सौधर्म आदि अच्युत कल्प तक जाते हैं। निरतिचार पंचाणुवत को धारण करनेवाले



साधु भवनवासी कल्प तक जाते हैं। तिर्यंच गति के जीव भवन लोक आदि में सहस्रार कल्प तक क्रम से स्वपरिणामों के अनुसार उत्तम गति में जाते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन धारण किया हुआ मनुष्य तथा तिर्यंच व्रत धारण करके सौधर्म आदि अच्युत स्वर्ग तक जाते हैं। और निरतिचार अणुव्रतों को धारण करके मनुष्य भवनवासी कल्प तक जाते हैं और तिर्यंच जीव भवनवासी सहस्रार कल्प तक अपने परिणामों के अनुसार जाते हैं ॥ ७२ ॥

भोगनिल बिलंगु नरर् पोहंदिय नरकाक्षियरेल् ।

नागमोदलाम् सोदनीशान् नसिद्धवर् ॥

मोग मिच्छार् भवनर् व्यतरर् ज्योतिडरावा ।

रागु भवरणति शानुत्तरत्तं य मरसोळिवांर् ॥७३॥

अर्थ—भोग भूमि में रहनेवाले तिर्यंच व मनुष्य सम्यग्दृष्टि जीव पहले सौधर्म स्वर्ग में जाते हैं। तीव्र मोहनीय कर्म से युक्त मिथ्यादृष्टि जीव भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देवों में जाते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि महामुनि तपश्चरण के प्रभाव से नवानुदिश व पंचानुत्तर में उत्पन्न होते हैं ॥ ७३ ॥

मीनानुं पेष्ण नार्कालुं कालिलवुं ।

वान् मेल वरुव तवळ्व कुरिलवु ॥

मेन् मेल वेळ् नरगिन् कीळ् शेळा मेर्चेवु ।

मेनांगु वीडु तवं विरदं विलंगा मुरये ॥७४॥

अर्थ—स्वयम्भू रमण समुद्र में रहनेवाले महामच्छ, मनुष्याकार रहनेवाले जीव, सर्प इत्यादि और आकाश में संसर्ग करने वाले पक्षी आदि भूमि गोचरी, मन सहित गिरगिट वगैरह जीव सातवें नर्क तक जाते हैं। स्त्री छठवें नर्क तक जाती है, इससे आगे नहीं। चतुष्पाद जीव पांचवें नरक तक जाते हैं। सप आदि जीव चौथे नरक तक जाते हैं। पक्षी आदि जीव तीसरे नर्क तक जाते हैं। कछुवा आदि जीव दूसरे नर्क तक जाते हैं। इस प्रकार ऊपर कहे अनुसार जीव अपने २ परिणामों के अनुसार नर्कों में जाते हैं। पहले नर्क से चौथे नर्क तक के जीव इस मनुष्य लोक में आकर मनुष्य पर्याय प्राप्त कर जिन दीक्षा लेकर दुर्द्धर तपश्चरण के द्वारा कर्म क्षय करके मोक्ष जाते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि पांचवें नर्क से आगे हूये जीव तपश्चरण के द्वारा मोक्ष नहीं जा सकते। छठे नर्क से आया हुआ जीव अणुव्रत धारण कर एकदेश व्रत को धारण करता है। सातवें नर्क से आया हुआ जीव तिर्यंच गति में उत्पन्न होता है ॥ ७४ ॥

इंदिय मुंदिना सुसगुमेंगुमा ।

येदिना नाल्लो एमत्त वाळु मे ॥

एतिनोडिरंडरं दीप माळिमून् ।

द्विविद्य नांगु मूंडिरंडि नेल्लये ॥७६॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीव ३४३ घनराज्य प्रमाण लोक में भरे हुये हैं । पंचेन्द्रिय जीवों से त्रस नाडी भरी है । आधा स्वयंभूरमणद्वीप, अढाई द्वीप, महालवणोदधि, कालोदधि और स्वयंभूरमण समुद्र ऐसे तीनों समुद्रों में दो इन्द्रिय आदि जीव जन्म लेते हैं ।

भावार्थ—एकेन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय जीव तक ३४३ घन राज्य प्रमाण लोक में भरे हुये हैं । पंचेन्द्रिय जीव त्रसनाडी में भरे हैं । आधा स्वयंभूरमण द्वीप, अढाई द्वीप, लवण समुद्र कालोदधि समुद्र, स्वयंभूरमण समुद्र इन तीनों समुद्रों में एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं ॥७६॥

इरंडरं तीविनुन् मणिव नान् ककंड ।

तिरंड न् टिल्लुवरत्तना द्विरुवरत्तना ॥

मुरंकड कुलगळोर् मूंडि टोंडिनार् ।

द्विरंड तीविनै येडा सिद्धि यंदुमे ॥८०॥

अर्थ—ढाई द्वीप के जम्बू द्वीप, घातकीखण्डद्वीप, पुष्कराद्ध द्वीप में मनुष्य उत्पन्न होते हैं और उसमें भिन्न २ एक सौ सत्तर आर्यखण्डों में श्री जैन धर्म को प्राप्त करने वाले जीव उत्पन्न होते हैं । ये जीव पाप को नाश करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में तथा उत्तम कुल में जन्म लेकर अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुये शत्रुओं को जीतकर मोक्षपद प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—जम्बू, घातकी, पुष्कराद्ध ऐसे ढाई द्वीप के मनुष्य और उसके अन्तर्गत रहने वाले १७० आर्य खण्डों में श्री जैन धर्म को प्राप्त करने वाले जीव उत्पन्न होते हैं । वे जीव पाप को नाश करने के निमित्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों में जन्म लेकर अनदि काल से सम्बद्ध कर्म शत्रुओं को नाश करके दुर्द्धर तपश्चरण करके मुनिदीक्षा धारण कर मोक्ष को चले जाते हैं ॥८०॥

कुडंगइल् बिल्लक्केन कोंडकोंडवन् ।

नुडंपिन वळव मामुलगमेंगु मा ॥

मोडुंगुळि पुरे तरंगि छै योंगिय ।

विडंकोलिर् पिळत्तलु मिड्मूर्तियाल् ॥८१॥

अर्थ—जीव अमूर्तिक स्वभाव वाले हैं । जिस प्रकार एक दीपक को दोनों हाथों की अंगुली में रखकर यदि बंद किया जावे तो वह प्रकाश मंद २ प्रतीत होता है उसी प्रकार अनदि काल से रहने वाले शरीर में आत्मा शरीर रूपी आवरण को प्राप्त हुआ है । नाम-कर्म द्वारा जितना शरीर का परिमाण होता है उतना ही आत्मा छोटे-बड़े शरीर

प्रमाण धारण किये हुये है । केवली समुदघात के चार भेद हैं । दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूर्ण । लोकपूर्ण समुदघात के समय इस झकेले जीव में तीन लोक को व्याप्त करने की शक्ति है । यह जीव अत्यन्त सूक्ष्म तथा मोटे रूप को धारण करता है, परन्तु आत्मा शरीर के निमित्त कारण छोटा-बड़ा कहलाता है । यदि निश्चय नय की दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा न छोटा है और न बड़ा है; लोक प्रमाण है । यह आत्मा शरीर का निमित्त पाकर छोटा-बड़ा शरीर धारण करता है । आत्मा छोटा-बड़ा नहीं है । इसका अधिक विवेचन पदार्थसार ग्रन्थ से समझ लेना चाहिये ॥८१॥

पोरिगळार् पुलत्तोळ भोगं तुइप्पुळि ।

इरुगिय विनेगळु किरंब नाय पिव् ॥

पिरिबोर पिरप्पिनोबिने पर्यत्तिनु ।

किरं बना मिदु उइरिय के बप्पण मे ॥८२॥

अर्थ—जीव पदार्थ इन्द्रिय विषय के भोगों को भोगता है । राग-द्वेष मोह से अनुभव के समय में उस राग परिणति के द्वारा आकर आश्रय करने वाले कर्मों का कर्त्ता होकर आप ही उन कर्मों के बंध का कारण होकर आगे चलकर उस कर्म के फल का अनुभव करने वाला होता है ।

भावार्थ—जीव इन्द्रिय विषयक भोगों को राग द्वेष मोह से अनुभव के समय में उस राग परिणति के द्वारा आकर आश्रय करने वाले कर्मों का कर्त्ता होकर आप ही उन कर्मों के बंध का कारण होकर आगे चलकर उस कर्म के फल का अनुभव करने वाला होता है । इस प्रकार जीव और पुद्गल का सम्बन्ध समझना चाहिये ।

द्रव्य संग्रह में कहा है:—

पुगलकम्मादीणां, कत्ता ववहारदो दु रिण्चयदो ।

चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥

ववहारासुहदुक्खं, पुगलकम्मप्फलं पभु जेदि ।

आदा रिण्चयणयदो, चेदणभावं खु आदस्स ॥

जीव व्यवहार नय से पुद्गल कर्म भावि का कर्त्ता है । अशुद्ध निश्चय नय से चेतन रागादि भाव कर्मों का कर्त्ता है । शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है । इसी तरह जीव व्यवहार नय से पुद्गल कर्मों का फल सुख दुःखों को भोगता है । निश्चय नय से आत्मा अपने शुद्ध भावों को भोगता है ॥८३॥

नाट्टं सुं सुवयु मूहं वल्लमं तन्मंदाणि ।

पोटोल् पूरित्तल् चार लुडयवा पुगंसंदान् ॥

माद्रिडे उईरे पट्टि धिने मोदलागि तुंब ।

माद्रुं शीकु गंभ मनुबुमा निपंदासे ॥८३॥

अर्थ—पुद्गल, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इनसे युक्त होते हुये पूरण और गलन सहित होने के कारण व्यवहार नय से संसार में बर्तनावाले संसारी जीवों में संबद्ध होकर ज्ञानावरणीय भावि घाठ कर्मों के कारण सुख दुःख को उत्पन्न कर कर्मस्कंध को उत्पन्न करनेवाले होते हैं—कर्म स्कंध रूप होने के कारण होते हैं ।

भावार्थ—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि से युक्त यह पुद्गल राग द्वेष मोह के आश्रय से ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, वेदनीय, अन्तराय, मोहनीय, नाम, गीत्र और आयु ऐसे घाठ कर्म रूप परिणत होता । उनके निमित्त से अनेक दुःखों को सहते हुये जीव संसार में परिभ्रमण करता है । सारांश यह है कि यह आत्मा शुभाशुभ भावों से उत्पन्न होने वाले घाठ कर्मों को बांधकर संसार में परिभ्रमण करता है ॥८३॥

नुन्मयु नुन्मयु तन्न नुन्मयु ।

नुन्मइर् परमैयुं परमै नुन्मयुं ॥

मेन्नरुं परमै यु भिर परमै युं ।

कण्णारु मनुविता रासुं गंध मे ॥८४॥

अर्थ—स्कंध छह प्रकार के हैं । स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म ॥८४॥

करुमत्तिन् कीळन करुम नोगमस् ।

पेरिय वा नोगमस् पोरिकोळावन ॥

ओरु पीरि पुलत्तन पलपुलत्तन ।

करुदिय वरुवगे कंद मागुमे ॥८५॥

अर्थ—छह प्रकार के स्कंधों का स्वरूप इस प्रकार है—जो छूट जाने पर फिर न मिलें उन्हें स्थूल—स्थूल स्कंध कहते हैं । जैसे पृथ्वी पत्थर आदि । जो टूट कर फिर मिल जाय उन्हें स्थूल स्कंध कहते हैं । जैसे दूध जल आदि । जो देखने में आवें, पकड़ने में न आवें उन्हें स्थूल—सूक्ष्म स्कंध कहते हैं । जैसे तम, छाया, धूप आदि । यह नेत्रेन्द्रिय के विषय होते हैं । रस गंध स्पर्श शब्द रूप चार इन्द्रियों के विषयों को सूक्ष्म-स्थूल स्कंध कहते हैं । जैसे गंध रस स्पर्श तथा शब्द परिणति स्कंध । कर्म वर्गणाओं को सूक्ष्म—सूक्ष्म स्कंध कहते हैं । इस प्रकार ये छह प्रकार के स्कंध सर्व लोक में भरे हुये हैं ॥८५॥

ऊरि रंडागि नाद्रुं वण्णामुं सुवैयुमंड्राय् ।

गिरि रंडाकू' लागा नुन्मैसा येळवैकड्ढाय् ॥

पेहदन् वळिय दागि पिरंमि सु बलग मुद्रु ।

मारु कंदगट्कादि त्यागिय वनुववामे ॥८६॥

अर्थ—स्निग्ध परमाणु और रूक्ष परमाणु ऐसे दो प्रकार हैं। स्निग्ध परमाणु को स्निग्ध स्पर्श और रूक्ष परमाणु को रूक्ष स्पर्श कहते हैं। उष्ण स्पर्श और रूक्ष स्पर्श ये दो प्रकार हैं। सुगंध दुर्गंध में, पंचवर्णों में और पंच रसों में इन अणुओं को भिन्न २ जानने की शक्ति केवल अर्हत भगवान् में ही है, अन्य में नहीं। इस प्रकार इस जगत में छह प्रकार के स्कंध अनादि काल से सदैव भरे हुये हैं।

भावार्थ—सफेद, पीला, नीला, लाल और काला ये पांच वर्ण, चरपरा, कडुआ, कषैला, खट्टा और मीठा ये पांच रस, सुगंध और दुर्गंध ये दो गंध तथा ठंडा, गरम, नरम, चिकना, रूखा, कठोर, भारी और हल्का, ये आठ प्रकार के स्पर्श शुद्ध निश्चय से शुद्ध-बुद्ध स्वभाव धारक शुद्ध जीव में नहीं हैं। इस कारण यह जीव अमूर्तिक अर्थात् मूर्ति रहित है।

शंका—यदि जीव अमूर्तिक है तो इसके कर्म का बंध कैसे होता है ?

समाधान—अनुपचरित असदभूत व्यवहार नय से जीव मूर्तिक है। इस कारण कर्म का बंध होता है।

शंका—जीव मूर्तिक किस कारण से है ?

समाधान—अनन्त ज्ञान आदि की प्राप्ति रूप जो मोक्ष है उसके विपरीत अनेक अनादि बंधन के कारण जीव मूर्तिक है। कश्चित् मूर्तिक और कश्चित् अमूर्तिक जीव का लक्षण है। कहा भी है कि "कर्म बंध के प्रति जीव की एकता है और लक्षण से उस कर्मबंध की तथा जीव की भिन्नता है। इसलिए एकांत से जीव के अमूर्तिक भाव नहीं हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस अमूर्तिक आत्मा की प्राप्ति के अभाव से इस जीव ने अनादि संसार में भ्रमण किया है। उसी अमूर्तिक शुद्ध स्वरूप आत्मा को मूर्त पांचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग करना चाहिये ॥८६॥

करुमा नल्लपशय कायनोगर्म ।

मरुविय पुलसु वस भोगङ्कारण ।

मिहळ् वंत्योकि थोलि निळनार् मूतमाय् ।

तिरिषुडे पुद्गलंबान जीयने ॥८७॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि जो आठ कर्म हैं तथा धातु उपधातु आदि से युक्त यह पांच प्रकार का शरीर, तो कर्म वर्गेण से पांच इन्द्रिय मिश्रित होकर तो इन्द्रिय आदि विषय को उत्पन्न करने वाली और भोगोपभोग वस्तु का कारण होने वाली तम, छाया, आताप, प्रकाश शब्द, पृथ्वी, अग्नि, तेज, वायु आदि परिणाम को उत्पन्न करने वाली पुद्गल वर्गेण है। अर्थात् जितना भी पीछे वर्गेण कर चुके हैं वे सभी पुद्गल के भेद हैं, आत्मा के नहीं।

भावाथं—शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आताप, ये सभी पुद्गल की पर्याय हैं। अब इसको विस्तार के साथ बतलाते हैं।

भाषात्मक और अभाषात्मक ऐसे शब्द दो प्रकार हैं। उसमें भाषात्मक शब्द अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक रूप से दो प्रकार का है। उसमें भी अक्षरात्मक भाषा संस्कृत प्राकृत और उनके अपभ्रंश तथा पैशाची आदि भाषा के भेद से आर्य व म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार के कारण अनेक प्रकार की है। अनक्षरात्मक भाषा द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों में तथा सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि में है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैशेषिक भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें बीणा आदि के शब्द को तत और डोल आदि के शब्द को वितत कहते हैं। मंजोरे और तार आदि के शब्द को घन और बांसुरी आदि के शब्द को सुषिर कहते हैं। कहा भी है कि:—

ततं बीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकम् ।

घनं तु कांस्यतालादि सुषिरं वंसादिकं विदुः ॥१॥

इस श्लोक में कहे हुये क्रम से प्रायोगिक शब्द चार प्रकार के हैं। विश्रुसा अर्थात् स्वभाव से होने वाला वैश्रसिक शब्द बादल आदि से होता है वह अनेक प्रकार का है।

विशेष—शब्द से रहित निज आत्मा को भावना से छूटे हुये तथा शब्द आदि मनोज्ञ अनमोज्ञ पंच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीवों के दुस्वर तथा सुस्वर नामकर्म का जो बंध किया है उस कर्मबंध के अनुसार यद्यपि जीव में शब्द दीखता है तो भी वह जीव के संयोग के निमित्त से व्यवहार नय की अपेक्षा जीव का शब्द कहा जाता है, पर निश्चय नय से वह शब्द पुद्गलमय ही है।

मिट्टी आदि के पिंडरूप जो अनेक प्रकार का बंध है वह तो केवल पुद्गल बंध है और जो कर्मरूप कर्मबंध है वह जीव और पुद्गल के संयोग से होने वाला बंध है। विशेष यह है कि कर्मबंध से उत्पन्न निजशुद्ध भावना से रहित जीव के अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य बंध है और इसी तरह अशुद्ध निश्चय नय से रागादि रूप भावबंध कहा जाता है। यह भी शुद्ध निश्चयनय से पुद्गल का ही बंध है। बेल आदि की अपेक्षा बेर आदि फलों में सूक्ष्मता है और परमाणु में साक्षात् सूक्ष्मता है। बेर आदि की अपेक्षा बेल आदि में स्थूलता है। तीन लोक में व्याप्त महास्कंध में सबसे अधिक स्थूलता है। समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध-परिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक ये छह प्रकार के संस्थान व्यवहार नय से जीव के होते हैं, किन्तु संस्थान शून्य चित् चमत्कार प्रमाण मात्र जीव से भिन्न होने के कारण निश्चय नय की अपेक्षा संस्थान पुद्गल के ही होते हैं।

जो जीव से भिन्न गोल त्रिकोण चौकोर आदि प्रकट अप्रकट अनेक प्रकार के संस्थान हैं वे भी पुद्गल ही हैं। गेहूं आदि के चूर्ण रूप से तथा दाल खण्ड आदि रूप से अनेक प्रकार का भेद जानना चाहिये। दृष्टि को रोकने वाला अंधकार है उसको तम कहते हैं। पेड़ आदि की अपेक्षा से होने वाली तथा मनुष्य आदि की परछाई को छाया जानना चाहिये। चन्द्रमा के विमान तथा जुगुनु (सद्योत) आदि तिर्यंच जीवों में उद्योत होता है। सूर्य के विमान में

तथा अन्यत्र भी सूर्यकान्त मणि आदि पृथ्वीकाय में होने वाले को आताप जानना चाहिये । सारांश यह है कि जिस प्रकार शुद्ध निश्चय नय से निजात्मा की उपलब्धि रूप सिद्धस्वरूप आकार में स्वभाव व्यंजन पर्याय विद्यमान है, फिर भी अनादि कर्म बंधन के कारण पुद्गल के स्निग्ध तथा रूक्ष गुण के स्थान रूप रागद्वेष के परिणाम होने पर स्वाभाविक परमानन्द रूप एक स्वास्थ्य भाव से भ्रष्ट हुये जीव के मनुष्य नारक आदि विभाव व्यंजन पर्याय होती है उसी प्रकार पुद्गल में निश्चय नय की अपेक्षा शुद्ध परमाणु दशा रूप स्वभाव व्यंजन पर्याय के विद्यमान होते हुये भी स्निग्ध तथा रूक्ष से बंध होता है । इस वचन से राग श्रौर द्वेष के स्थानीय, बंध योग स्निग्ध तथा रूक्ष परिणाम के होने पर पहले बताये गये शब्द आदि के सिवाय अन्य भी शास्त्रोक्त सिकुड़ना, फँलना, दही दूध आदि विभाव व्यंजन पर्याय आदि को जानना चाहिये ॥८७॥

अस्तिया यमुतिया येळविरेशिया ।

यात्तळ उलगि नोडुलग लोगमस् ॥

तत्तु बंदने सैदु तन्म तन्ममा ।

मत्तिगळ शैल बोडु निलयिर् केवुवासु ॥८८॥

अर्थ—अस्ति स्वरूप से युक्त अमूर्त्त तथा असंख्यात प्रदेश से युक्त यह आत्मा लोक जितना प्रमाण है उतने लोक में उतने प्रमाण भरे हुये धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इस जीव और पुद्गल के गति-स्थिति में सहायक रूप होते हैं ।

भावार्थ—प्राचार्य ने इस श्लोक में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का स्वरूप बतलाया है कि जीव तथा पुद्गल को चलने में सहकारी धर्म द्रव्य होता है । इसका दृष्टांत यह है कि जैसे मछलियों के गमन में जल सहायक है, परन्तु स्वयं ठहरे हुये जीव पुद्गलों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता तथापि जैसे सिद्ध भगवान् अमूर्त्त हैं क्रिया रहित हैं, तथा किसी को प्रेरणा भी नहीं करते, तो भी, “मैं सिद्ध के समान अनन्त ज्ञानादि गुणरूप हूँ” इत्यादि व्यवहार से सविकल्प सिद्ध भक्ति के धारक और निश्चय से निविकल्प ध्यान रूप अपने उपादान कारण से परिणत भव्य जीवों को वे सिद्ध भगवान् सिद्ध गति में सहकारी कारण होते हैं । ऐसे ही क्रिया रहित, अमूर्त्त, प्रेरणा रहित धर्म द्रव्य भी अपने अपने उपादान कारणों से गमन करते हुये जीव तथा पुद्गलों को गमन में सहकारी कारण होता है । जैसे मत्स्य आदि के गमन में जल आदि सहायक कारण होने का लोक प्रसिद्ध दृष्टांत है । इस तरह धर्म द्रव्य के व्याख्यान के साथ यह गाथा समाप्त हुई ।

सारांश यह है कि—पुद्गल तथा जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है जिसका दृष्टांत इस प्रकार है कि जैसे छाया पथिकों के ठहरने में सहकारी कारण है, परन्तु स्वयं गमन करते हुये जीव व पुद्गलों को अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता । ऐसे ही निश्चय नय से आत्म-अनुभव से उत्पन्न सुखामृत रूप जो परम स्वास्थ्य है वह निज रूप में स्थिति का कारण है परन्तु “मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनन्त ज्ञान आदि गुणों का धारक हूँ, शरीर प्रमाण हूँ, नित्य हूँ, असंख्यात प्रदेशी हूँ, तथा अमूर्तिक हूँ । इस गाथा में कही हुई सिद्ध भक्ति के रूप से पहले

सविकल्प अवस्था में सिद्ध भी जैसे भव्य जीवों के लिये बहिरंग सहकारी कारण होते हैं उसी तरह अपने २ उपादान कारण से अपने आप ठहरते हुये जीव पुद्गलों को अधर्म द्रव्य ठहरने का सहकारी कारण होता है। लोक व्यवहार से जैसे छाया अथवा पृथ्वी ठहरते हुये यात्रियों आदि को ठहरने में सहकारी होते हैं उसी तरह स्वयं ठहरते हुये जीव पुद्गलों के ठहराने में अधर्म द्रव्य सहकारी होता है। इस प्रकार अधर्म द्रव्य के कथन द्वारा यह गाथा समाप्त हुई।

॥८८॥

अरुवदासु पोरुलुलगत्तु विल्लये ।  
लळविला कायेत्ति लनु क्कळोडुइ ॥  
रळवत्ता विडिये येगंडु पोप पित्तु ।  
नुळवत्त कसु बीडुत्तग तोडमे ॥८९॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय न होने से अनन्त रूप आकाश में तथा अणुरूप में रहने वाली कर्मवर्गणा उस आकाश में अणुरूप होने वाले कर्म परमाणु के साथ जीव परस्पर न मिलने से इस जगत में लोक, बंध, मोक्ष सभी का अभाव हो जायगा ॥८९॥

अच्चु नीर् तेरोडु मीने ईर्त्तिडुं ।  
अच्चु नीर् इडिये तेरुमीन्तेला ॥  
अच्चु नीर् पोत्त तन्मत्ति शेरत्ते ।  
इच्चै युं मुपत्तिव यु मिडि याकुमे ॥९०॥

अर्थ—जिस तरह गाड़ी चलाने के लिये रथ में लोहे की धुरी सहायक होती है उसी प्रकार जीव और पुद्गल के गमन के लिये धर्मास्तिकाय सहायक होता है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य सहायक नहीं होता।

भगवान् स्वप्नू राजा वैजयन्त को यह बतला रहे हैं कि हे भव्य शिरोमणि ! जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने की योग्यता जिस द्रव्य में है उसको श्री जिनेन्द्र भगवान् ने आकाश द्रव्य कहा है। वह आकाश लोकाकाश और अलोकाकाश इन दो भागों में है। अब इसको विस्तार के साथ कहेंगे। स्वभाविक शुद्ध सुखरूप अमृतरस के आस्वाद रूप परम समरसी भाव से परिपूर्ण तथा ज्ञान आदि अनन्त गुणों के आधारभूत जो लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश अपनी आत्मा के हैं उन प्रदेशों में यद्यपि विश्वबन्ध सिद्ध जीव रहते हैं तो भी औपचारिक असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से सिद्ध मोक्ष शिला में रहते हैं, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार पूर्व में कहा जा चुका है।

ऐसा मोक्ष वहीं है और कहीं नहीं होता। ध्यान करने के स्थान में कर्म पुद्गलों को छोड़कर तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव से गमन कर मुक्त जीव ही लोक के अग्रभाग में जाकर



निवास करते हैं। इस कारण लोक का अग्रभाग भी उपचार से मोक्ष कहलाता है। जैसे कि तीर्थभूत पुरुषों के द्वारा सेवित भूमि पर्वत आदि स्थान उपचार से तीर्थ होते हैं। यह वर्णन सुगमता से समझाने के लिये किया गया है। जैसे सिद्ध अपने प्रदेश में रहते हैं उसी प्रकार निश्चय नय से सभी द्रव्य अपने-अपने प्रदेशों में हैं तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से लोकाकाश में सब द्रव्य रहते हैं ॥६०॥

अंदर दरवत्तू मूंडुवागिय ।  
विंदर पडलमुं निरेय मेळगळुम् ॥  
मंदर मलं मण्णुमत्तु निडुडा ।  
वंद मिनिलय तन्मत्ति इल्ल येल् ॥६१॥

अर्थ—अन्त रहित अधर्मास्तिकाय यदि नहीं रहेगा तो आकाश में रहने वाले स्वर्ग अर्थात् १६ स्वर्ग, ७ नरक मेरु पर्वत, कुल गिरि पर्वत तथा पृथ्वी आदि सभी वस्तुओं का अभाव हो जाएगा। यदि यह अधर्म द्रव्य नहीं होगा तो यह कभी स्थिर नहीं रह सकेगे ॥६१॥

परवं इन् सिर गीडु पाद निडुळि ।  
नेरियि नार् शेलवोडु निलयं याकुमा ॥  
तुरवि पुर्कल मिबंधोड निट्रलं ।  
शेरिदुरि तम्म तम्मत्तुत्ति सेय्युमें ॥६२॥

अर्थ—पक्षी के उड़ने के लिये, जैसे पंख आदि तथा खड़े होने के लिये पांव निमित्त होते हैं उसी प्रकार जीव के गमन स्थिरता के लिये धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय सहायक हैं ॥६२॥

अळविडि येत्ति याय मूति यादिया ।  
युळवेंडु पोरुट्टेळा मिडडु कोडुत्तुडुन् ॥  
ट्रलर् विडि निरपवा कामं साविना ।  
सळविशा कालत्तोड जीवनेंदुमे ॥६३॥

अर्थ—असंख्यात अस्ति स्वरूप रहने वाले अमूर्तिक तत्व, अति सूक्ष्मत्व, अगुरु लघुत्व, अवगाहन, लघुत्व इन गुणों को प्राप्त करके इस लोक में रहने वाले सभी जीवों को अवगाहन शक्ति देने वाला आकाश द्रव्य है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच अजीव द्रव्य हैं ॥६३॥

कणं वळिवुडुपुं तोव मिलवमे नाळि मूळ्त ।  
मिनइ नाळ् पक्कं तिगं लिरदु वे यथन मांडु ॥  
पनै युगं पूबं पल्ल पव्वमे येनंद मीरा ।  
कण मुदर् काल भेदम् सोळ्ळरिर् काल मिल्लै ॥६४॥

अर्थ—कालद्रव्य—एक निश्चय और एक व्यवहार ऐसे काल के दो भेद हैं। जो द्रव्य परिवर्तन रूप है वह व्यवहार रूप काल है। ऐसा कैसे है? सो बतलाने हैं। परिणाम, क्रिया, परत्व अपरत्व से जाना जाता है। इसलिये परिणाम आदि से लक्ष्य है।

निश्चय काल—जो वर्तना लक्षण वाला है वह परमार्थ काल है।

विशेषार्थ—जीव तथा पुद्गल का परिवर्तन रूप नूतन तथा जीर्ण जो पर्याय है उस पर्याय का समय घड़ी आदि रूप स्थिति है स्वरूप जिसका वह द्रव्य पर्याय रूप व्यवहार काल है। अर्थात् जो स्थिति है वह काल संज्ञा है, द्रव्य की पर्याय को सम्बन्ध रखने वाली जो यह समय घड़ी आदि रूप स्थिति है वही व्यवहार काल है। पर्याय व्यवहार काल नहीं है, क्योंकि पर्याय सम्बन्धी स्थिति व्यवहार काल है। इसी कारण जीव और पुद्गल के परिणामन रूप पर्याय से तथा देशांतर में आने जाने रूप अथवा गाय दुहने व रसोई करने आदि हलन चलन रूप क्रिया से तथा दूर या समीप देश में चलन रूप काल कृत परत्व तथा अपरत्व से एक काल जाना जाता है। इसलिये यह व्यवहार काल परिणाम क्रिया परत्व तथा अपरत्व लक्षणवाना कहा जाता है।

अब द्रव्य रूप निश्चय काल को कहते हैं:—

अपने २ रूप उपादान कारण से स्वयं परिमाणन करते हुये पदार्थों को जैसे कुंभकार के चाक के भ्रमण में उसके नीचे की कील सहकारिणी है तथा जैसे शीतकाल में पड़ने के लिये अग्नि सहकारिणी है उसी प्रकार पदार्थों के परिणामन में भी काल सहकारी है। उसको वर्तना कहते हैं। वर्तना ही लक्षण है, जिसका—वह वर्तना लक्षण कालानुद्रव्य रूप निश्चय काल है। इस तरह व्यवहार तथा निश्चय काल का स्वरूप समझना चाहिये।

यहां कोई ऐसा कहता है कि समय रूप ही निश्चयकाल है। उस समय से भिन्न कोई कालानुद्रव्य रूप निश्चयकाल नहीं है, क्योंकि वह देखने में नहीं आता। इसका उत्तर यह है कि समय तो काल ही की पर्याय है।

प्रश्न—समय काल की पर्याय कैसे है ?

उत्तर—पर्याय का लक्षण उत्पन्न व नाश होता है। समय का भी उत्पन्न व नाश होता है, इसलिये पर्याय है। पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती। उस समयरूप पर्याय काल का उपादान कारणरूप द्रव्य भी कालरूप ही होना चाहिये। जैसे ईंधन अग्नि आदि सहकारिणी है तथा भात का सहकारी कारण चावल ही होता है, अथवा कुंभकार चाक चीवर आदि निमित्त कारण से उत्पन्न जो मिट्टी का बहिरंग घट पर्याय है उसका उपादान कारण

मिट्टी का पिंड ही है। अथवा जो नर नारक आदि जीव की पर्याय है उसका उपादान कारण जीव ही है। इसी प्रकार घड़ी आदि का समय भी उपादान कारण काल ही होना चाहिये। यह नियम भी इसलिये है कि अपने उपादान कारण के समान ही कार्य होता है।

कदाचित् कोई ऐसा कहे कि समय आदि काल पर्याय का कारण काल द्रव्य नहीं है, किन्तु समय रूप काल पर्याय की उत्पत्ति में मंदगति से परिणामनशील पुद्गल परमाणु उपादान कारण है तथा निमेष काल पर्याय की उत्पत्ति में नेत्रों के पुटों को अर्थात् पलक का गिरना व उठना उपादान कारण है। ऐसे ही घड़ी रूप काल पर्याय की उत्पत्ति में सामूहिक रूप जल का कटोरा और पुरुष के हाथ आदि का व्यवहार उपादान कारण है। दिनरूप काल पर्याय की उत्पत्ति में सूर्य का बिंब उपादान कारण है। ऐसा नहीं कि जिस प्रकार चावल रूप उपादान कारण से उत्पन्न भात पर्याय के उपादान कारण में प्राप्त गुणों के समान ही सफेद काला आदि वर्ण, मच्छी या बुरी गंध, चिकना अथवा रूखा आदि स्पर्श, मीठा आदि विशेष गुण दीख पड़ते हैं वैसे ही पुद्गल परमाणु नेत्र पलक विघटन, जल कटोरा, पुरुष व्यापार आदि तथा सूर्य का बिंब इन रूप जो उपादान भूत पुद्गल पर्याय है उनसे उत्पन्न हुये निमेष घड़ी आदि में यह गुण नहीं दीख पड़ते, क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है, ऐसा समझना चाहिये।

विशेषार्थ—अधिक कहने से क्या लाभ? जो आदि तथा अन्त से अमूर्त है, रहित है, नित्य है, समय आदि का उपादान कारणभूत है तो भी समय आदि भेदों से रहित है और कालानुद्रव्य रूप है वह निश्चय काल है, और जो आदि तथा अन्त से सहित है समय घड़ी आदि व्यवहार के विकल्पों से युक्त है वह उसी द्रव्यकाल का रूप व्यवहारकाल है। सारांश यह है कि यद्यपि यह जीव काललब्धि के दश से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव का धारक जो निज परम तत्व का सम्यक् अद्धान, ज्ञान, आचरण और सम्पूर्ण भाव द्रव्य की इच्छा को दूर करने रूप लक्षण वाला, तपश्चरण रूप, दर्शन ज्ञान चरित्र तप रूप निश्चय चार आराधना है, वह आराधना ही उस जीव को अनन्त सुख की प्राप्ति में उपादान कारण ही जानना चाहिये। उसमें काल उपादान कारण नहीं है। इसलिये वह उपादान कारण हेय है। आचार्यों ने व्यवहार कालका विवेचन इस प्रकार किया है कि काल द्रव्य एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान में जाने को समय कहते हैं। वह समय असंख्यात समय मिलकर एक आवली होता है। असंख्यात आवली मिलकर उच्छ्वास होता है। सात उच्छ्वास मिलकर एक स्तोक होता है। सात स्तोक मिलकर एक लव होता है, ३८ लव मिलकर एक घड़ी होती है, दो घड़ी मिलकर एक मुहूर्त्त होता है, तीस मुहूर्त्त मिलकर एक दिन होता है, १५ दिन मिलकर एक पक्ष तथा दो पक्ष मिलकर एक मास होता है। दो मास मिलकर एक ऋतु होती है, तीन ऋतु मिलकर एक अयन होता है। दो अयन मिलकर एकवर्ष होता है। पांच वर्ष मिलकर एक युग होता है। ८४ हजार वर्ष मिलकर एक पूर्व होता है। असंख्यात पूर्व मिलकर एक पत्य होता है। दश कोड़ाकोड़ी पत्य मिलकर एक सागर होता है। इस प्रकार काल के अनन्त भेद हैं। समय कम होने वाला कोई काल भेद नहीं है ॥६४॥

अहडेळि बाबंम् सिंदे येळगिय निगळ् चिज्ञानं ।

पोरुबरु तवत्ति नातुं पुण्णिदना मुइरं पुक्कु ॥

मरुविय विनेगळ् माट्रा मासिमे कळुवि वीटें ।

तरु दलार् पुण्णद मांगुं तन्मे यार् पुण्णय मामे ॥६५॥

अर्थ—करुणा और समता भाव से युक्त रत्नत्रय में श्रद्धा सहित ध्यान के प्रभाव तथा प्रशस्त परिवर्तन और सम्यग्ज्ञान की वृद्धि से उपमा रहित पवित्र परिणाम भाव के द्वारा पुण्योपाजन किया हुआ भव्य जीव के आत्म स्वरूप को प्राप्त कर पहले जन्म के आत्मा के साथ लगे हुये कर्म समूह को नाश कर मोक्ष को देने वाला दो प्रकार का पुण्य है । एक भाव पुण्य और दूसरा द्रव्य पुण्य ।

भावार्थ—आचार्य ने इस श्लोक में द्रव्य पुण्य और भाव पुण्य का वर्णन किया है । दया और करुणा से युक्त रत्नत्रय सहित रुचि पूर्वक ध्यान करने वाला तथा उस परिणाम से होने वाले सम्यग्ज्ञान की वृद्धि से पवित्र पुण्यबंध के कारण से अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुये कर्म समूह को नाश कर मोक्ष को देने वाला है । यह भाव पुण्य है ।

द्रव्य पुण्यः—दर्शन अधिकार में श्री समन्त भद्राचार्य ने इस प्रकार कहा है किः—

देवेन्द्र—चक्रमहिमानममेयमानम्, राजेन्द्रचक्रमवतीन्द्रशिरोचंचनीयम् ।

धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्, लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरूपैति भव्यः ॥

अर्थात्—श्री जिनेन्द्र भगवान् का भव्य भक्त, अपरिमित देवेन्द्रों के समूह में महत्, राजाओं के मस्तक से पूजनीय, राजाओं के इन्द्र चक्रवर्ती के चक्ररत्न तथा तीन लोक को दास बना लेने वाले रत्नत्रय अथवा उत्तम क्षमादि धर्म के इन्द्र अर्थात् प्रणयन करने वाले तीर्थेकरों के चक्र को प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त करता है । ऐसा निदान रहित पुण्य अन्त में क्रम से मोक्ष को देने वाला है । इसको द्रव्य पुण्य कहते हैं ॥६५॥

सादमे पुरुषवेदं सम्मत्तां तक्क नामं ।

कोदमे लाय देवर् मानव रायु वाळुं ॥

पोदमे पोरुकोडिन्बस् पुगळ्चि मीकूट्ट मघर् ।

घाति या तन्मे नल्गि घरवर शाकु मघ्ना ॥६६॥

अर्थ—हे राजा वैजयन्त! यह पुण्य साता वेदनीय कर्म, पुरुष वेद, सम्यक्त्व, शुभ नाम कर्म, उच्च गोत्र, देवायु, सम्यग्ज्ञान, यश, कीर्ति तथा मुख को देने वाला चक्रवर्ती पद का आधिपत्य सापद को देता है ।

भावार्थ—कुछ लोग केवल निश्चय नय को लेकर व्यवहार नय को बिस्कुल गौरा करके मोक्ष प्राप्ति का साधन बतलाते हैं तथा अध्यात्मप्राप्ति करना चाहते हैं । परन्तु जैन धर्म में निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के अवलम्बन से मोक्ष की प्राप्ति माना है । व्यवहार

नय कारण है और निश्चय नय कार्य है। कारण व कार्य के बिना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। कुछ लोग श्रावक की षट्कर्म की क्रिया को श्रावक अवस्था में आडम्बर समझकर उसका लोप करके केवल अध्यात्मवाद की ही चर्चा करते हैं। कहा भी है कि:—

गृहकर्मणापि निश्चितं कर्मविमर्षितं खलु गृहविमुक्तानाम् ।

अतिथीनाम् प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥रत्नकरण्ड०॥

अर्थ—सावद्य व्यापार से रहित, अतिथियों मुनियों को दान, निश्चय ही साधक व्यापार से उपार्जन किये हुये पाप रूप कर्म को नष्ट कर देता है। जैसे अपवित्र पानी भी खून को धोकर साफ कर देता है उसी प्रकार मुनियों अथवा उत्तम पात्रों को दान देने से गृहस्थ सम्बन्धी संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—तपस्वियों को प्रणाम करने से उच्च गोत्र, दर्शन शुद्धि स्वरूप यथा विधि दान देने से भोग सामग्री, प्रतिग्रहण पड़गाहने आदि से प्रतिष्ठा, गुणानुरूप से उत्पन्न अन्तरंग श्रद्धा से सुन्दर रूप और भक्तामर स्तोत्र सकल ज्ञेय इत्यादि स्तुति करने से सर्वत्र कीर्ति प्राप्त होती है ॥६६॥

घाति युं कर्णुं इन्मं यदि धार् कट्टिनिड्रं ।

वेदने मुदलवेल्लाम् वेंतुयर् विळैक्कुं पाष ॥

मोदिय विरंडुस् योगि नुयिरिर्नं गुरुद्वुद्रं ।

दादुर काईदूं पोळ्दिर् रानुरु नीरं योत्ते ॥६७॥

अर्थ—घाति कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले अकारण अप्रसन्नत्व अगुरुताम राग अर्थात् दुर्घ्यान प्रवृत्ति, अत्रशस्त प्रवृत्ति, अज्ञानवृद्धि, कुतप प्रयोग आदि से पिछले जन्म में बंधे हुये अशुभ कर्मों के योग से असाता वेदनीय आदि कर्म घोर तरक के दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिये इसको पाप पदार्थ कहते हैं। उपरोक्त पुण्य पदार्थ और पाप पदार्थ दोनों मिलकर संसारी जीवों को शुभाशुभ संसार के बंधन करने वाले हैं। जिस प्रकार लोहे के गोले को तपाकर पानी में डाला जाय तो वह पानी को भस्म कर देता है उसी प्रकार आत्मा रागी द्वेषी परिणामों को अपने में खींचकर कर्म बन्ध को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—ग्रन्थकार ने यहां पुण्य और पाप का विवेचन किया है। पुण्य अनेक प्रकार के साता वेदनीय कर्म को प्राप्त कर लेता है और पाप अनेक प्रकार के संसार को प्राप्त करने वाले पाप को प्राप्त करता है। ये दोनों मिलकर संसारी जीव को पाप और पुण्य में परिणत करके दीर्घकाल तक भ्रमण के लिये कारण बना देते हैं। जिस प्रकार लोहे के गोले को अग्नि में तपाकर पानी डालने पर वह पानी को सुखा देता है उसी प्रकार यह आत्मा अशुभ परिणामों से शुभाशुभ संसार बंधन में बंधकर दीर्घकाल तक संसार में भ्रमण करता रहता है ॥६७॥

ईनमे यदिग मीरा पदगमे सांपरायं ।  
 ज्ञानमिन्मं नल्लवाम् पुण्णाय पावं ॥  
 तेनुला मलंगल् वेंवे तविय में पावमेंडु ।  
 तानेला वुडकुं मागुमुट्टिवं ताम्पत्तागुं ॥६८॥

अर्थ—कंठ में अत्यन्त सुगन्धित पुष्पों का हार धारण किये हुये भव्य शिरोमणि हे राजा वैजयन्त ! सुनो । आस्रव के दश भेद होते हैं । अशुभ आस्रव, हीन आस्रव, अधिक तथा ईर्यापथ, कषाय आस्रव, अज्ञान आस्रव, पुण्य आस्रव, पाप आस्रव, द्रव्य आस्रव और परिणाम आस्रव । ये सभी संसारी जीवों के लिये होते हैं ।

भावार्थ—हे भव्य शिरोमणि राजा वैजयन्त! हीन आस्रव, कषाय आस्रव, अशुभ आस्रव, पाप तथा पुण्य आस्रव द्रव्य आस्रव आदि १० प्रकार के आस्रव सभी जीवों के होते हैं । ये अशुभ आस्रव क्रोध कषाय के हीन, मंदनर अथवा कषाय के परिणाम नीत्र हों ता कषाय आस्रव होता है । ईर्यापथ आस्रव मुनियों को होता है । सर्वदा ईर्यापथ सहित यत्नाचार पूर्वक चलते समय कदाचित् जीव मर भी जाय तो उससे लगनेवाले पाप का निवारण भी ईर्यापथ साधन ही है । अर्थात् उसमें यत्नाचार पूर्वक क्रिया होनेके कारण कदाचित् उनके द्वारा होनेवाले आस्रव ईर्यापथ आस्रव हैं और कषाय युत होनेवाले आस्रव कषाय आस्रव होते हैं । ज्ञान आस्रव, अज्ञान आस्रव, पुण्य आस्रव, पाप के द्वारा होनेवाला पाप आस्रव, द्रव्य के द्वारा होनेवाला द्रव्यास्रव परिणाम के द्वारा होनेवाला परिणामास्रव होता है ।

आचार्य ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि इन आनेवाले आस्रवों को रोकने के लिये तीन गुप्ति, पांच समिति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बारह संयम, बाईस परीषह, आदि का पालन करना आवश्यक है । इनको जीतनेवाले महाव्रती मुनि शुद्धोपयोग में लवलीन होकर निश्चल ध्यान में आनेवाले आस्रव के मार्ग को रोकने से जिस प्रकार दीपक के रहने से अन्धकार नहीं आता उसी प्रकार ऐसे महा तपस्वियों को ही संवर पदार्थ प्राप्त होता है ॥ ६८ ॥

कोपनं समिति तम्मं सिद्धैरारडवकं ।  
 तापनं परिषं वेल्लं तम्मं यान् मुनिष निड्दाल् ॥  
 वेप मोंडिलाड सिद्धं विनं बल्लि बिलविक निकुं ।  
 दीप निड्दमत्ते मेरु मिरुकुंदो सेरिप्पि दासे ॥६९॥

इन आस्रवों के द्वार को बन्द करने का मार्गः—

अर्थ—तीन गुप्ति, पांच समिति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बारह संयम, बाईस परीषह आदि को जीतनेवाले वीतराग युक्त महामुनि को शुद्धोपयोग में लीन होने से हलन-

चलन रहित ध्यान कर्मस्त्रिव्र आने के मार्ग को रोककर जिस प्रकार दीपक के प्रकाश होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार महाव्रतियों को उक्त प्रकार मंहनन करने से संवर की प्राप्ति हो जाती है ॥ १९ ॥

निड्वंबार्त्तन् मूङ्ङु निनप्पुरणर् उदिप्पं याकु ।  
 मुंबु से ङ्ङु इकं निड् विनयिन् कन् मूळ्त् मादि ॥  
 निड्वर्त्तिदिनोडु पयन् सेय्युमाट्टुइक्कु ।  
 मोङ्ङिय वगैनाले कणांबोरु मुखत्तारोय् ॥ १०० ॥

अर्थ—हे राजा वैजयन्त ! ऊपर कहे श्लोक में बारह प्रकार का संयम, बारह प्रकार की अनुश्रुति, बाईस प्रकार का परीषद्, धर्मध्यान, शुक्लध्यान ये सब उत्कृष्ट सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न होते हैं । पहले आत्मा से मिले हुये ज्ञानावरणादि आठ कर्म एक मूर्च्छा से अधिक रहनेवाली कर्मस्थिति से कर्मफल को देता है । यह कर्म तत्त्वज्ञान ध्यान में मिश्रित होकर एक-एक समय में उदय में आता है ॥ १०० ॥

अनंतमा मनुक्कळ् कूडियेगुलि ययंगं पागिर् ।  
 गुणंगळार शेरिय कट्टि गुणंगळोडाट्टन् मूङ्ङिर् ॥  
 ट्टुण्णदिडादेयंग लोक पेदर्शमाम् समय काल ।  
 अनंतमा लोगयेल्लाम् वर्गण रूपत्ताले ॥ १०१ ॥

अर्थ—अनेक परमाणु मिलकर अंगुल के एक भाग क्षेत्र में स्थित रूक्ष गुणों से बंधा हुआ वर्णादि गुणों से स्वभाव उपलब्धि संस्कार नाम की त्रिशक्ति में स्थिर होकर उत्कृष्ट स्थिति से असंख्यात लोक प्रमाण समय कार्य और जघन्य स्थिति से एक समय को प्राप्त होना काल सम्पत्ति है । सम्पूर्ण लोक में कार्माण वर्गणा है और एमे कार्माण अनन्त है ॥ १०१ ॥

योगमेपांब तानु मुड्ढनिड् डड्ढरिण् योगिन् ।  
 वेगंदान् मूलमागिविगर्पमाम् विरिद गंदम् ॥  
 योगत्तालुइपं देशतोळ्ळिविड्ढि योप्प सेंडार् ।  
 पाग मुद्विपु पावत्तार् बंधमामे ॥ १०२ ॥

अर्थ—मन वचन काय के द्वारा भाव परिणामों से मिले हुये आत्मा के मन वचन काय की तीव्रता के कारण नाना विकल्पों से विशाल प्रकृतिबंध आत्मप्रदेश में सदैव परस्पर में मिले हुये हैं अर्थात् दूध और पानी मिलकर एक होने के समान कर्मस्त्रिव्र मिलकर आत्मा और शरीर दोनों एक रूप में प्रतीत होते हैं । मोहनीय कर्म के परिणाम से अनुभागबंध और स्थिति बंध होते हैं ॥ १०२ ॥

एळु मूर्डिरंडु पत्ताक्तेरिदंन कोडाकोडि ।  
याळ्ळिगळागुमांडु निलयेळु तंद मूळतं ॥  
मोळं मोवात्तिनुक्कु मुदल् मुम्मै ईट्टिनुक्कु ।  
माळ्ळिय नामगोद तायुमुप्पत्तु मूंड्रे ॥ १०३ ॥

अर्थ—अज्ञान रूपी मोहनीय कर्म का काल सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर, ज्ञानावरणीय, दशनावरणीय, वेदनीय व अन्तराय का तीस कोड़ाकोड़ी सागर, नाम, कर्म व गोत्र का उत्कृष्ट काल बीस कोड़ाकोड़ी सागर, प्रायु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर होती है । मध्यम स्थिति अनेक प्रकार है ॥ १०३ ॥

नंजन उरैक्कु पावं नल्विनै नाविलियट्टु ।  
वंजुवेयमिदंम् पोल विन्बतं माकुमाट्टु । ।  
पुंजिय पंद संद उदय मोडुविच्चि माकि ।  
एंजिना लुदयं चंविट्टुप्पय नाकुमण्णा ॥ १०४ ॥

अर्थ—हे राजा वैजयन्त ! पापानुबन्धी पाप जीव को विष के समान परिणामों के अनुसार सदैव उत्पन्न होता रहता है । जीव के अग्र भाग में रखे हुये अमृत के समान अधिक सुख देनेवाले ये पुण्य कर्म हैं, और पुण्यानुबन्धी पुण्य कर्म से इस बंधे हुये कर्म की निर्जरा करके द्रव्य क्षेत्र काल भाव और भव ऐसे पांचों के उदय में आकर उस स्थिति के अनुसार कर्मफल को उत्पन्न करता है ॥ १०४ ॥

योगमे पावंतम्म लुहरिनं यार्तं कम्मं ।  
योगमे पावंताम् वंदुहरिनं युट्टु पोळ्निन् । ।  
योगमे पांब तमु मुहरिन् कन् विडदत् वीडाम् ।  
योगमे पांच तम्मु लुबंदेळु सरस वेडान् ॥ १०५ ॥

अर्थ—हे भव्य शिरोमणि राजा वैजयन्त ! यह शुभाशुभ आस्रव मन वचन काय से आत्मा के बंधे हुये कर्मों को शुद्ध निश्चय नय से तथा शुद्ध परिणामों का आत्म में प्रवेश करने एवं शुभाशुभ मन वचन के परिणाम का आत्मा से छूट जाने को भावमोक्ष कहते हैं । इस प्रकार से शुद्ध निश्चयरूप मन वचन काय रूप परिणामों में आनन्दित होकर इस मार्ग से चलने से संसार से पार हो सकेगा । इस प्रकार स्वयम्भू तीर्थंकर ने राजा वैजयन्त को उपदेश दिया ॥ १०५ ॥

विनयर विट्टु पोळ्दिन् वेडित्त वेरंडम् पोल ।  
निनैवहं गुणंगलेट्टु निरैदुनीरोक्कि ओडि ॥



मुनिवरु मुळग मूंडू निरंज मूवुलग नुच्चि ।

कनेकळलरस निट्टल् चंचलमार्गु कंडाय् ॥ १०६ ॥

हे धीरवीर राजन् वैजयंत! ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन कर्मों का आत्मा से छूटते समय जिस प्रकार एरण्ड का बीज सूखने पर उछलते समय ऊपर जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्णा घातिया व अघातिया कर्मों का नाश होते ही अनन्त ज्ञानादि गुणों से युक्त यह आत्मा उद्भवगमन करता है अर्थात् सिद्ध लोक में विराजमान होता है। इस संसार में घोर तपश्चरणा करने वाले भव्य तपस्वियों के कर्मों की निर्जरा होते ही तीन लोक के ऊपर रहने वाले सिद्धक्षेत्र के शिखर पर जाकर विराजमान होता है। इसको द्रव्य मोक्ष कहते हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार कर्मों का नाश होने से केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। आठों कर्म तथा शरीर के नाश होने से जो सम्पूर्णा गुणों का विकास होता है वह भाव मोक्ष है। तथा आठों कर्मों के छूटने को द्रव्य मोक्ष कहते हैं ॥ १०६ ॥

उरेत्तविप्पोरुळिन् मै मै युनचंदु नल्लज्ञानं ।

पुरेप्पर तेळिबल् काक्षि पोह दिय विरंडु मोंडिर् ।

ट्ररित्तनल् सोळुळ् मार्गु साट्टियमूंडू मोंडिन् ।

विरं पोलि तारोय् वीटिन् मैनेरि यावद मे ॥ १०७ ॥

स्वयम्भू भगवान फिर कहते हैं कि हे राजा वैजयंत! पीछे कहे जीवादि तत्त्वों का भली प्रकार श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है। जीवादि तत्त्वों को संशय रहित ठीक तौर पर समझना सम्यक् ज्ञान है तथा उसी को अच्छी तरह समझ कर आचरण करना यह सम्यक्-चारित्र्य है। इन तीनों की एकता होना ही आत्मा का स्वरूप है और ये ही मोक्ष मार्ग हैं। व्यवहार नय की दृष्टि से इस ही के तीन मार्ग बतलाये हैं और वे तीन मार्ग हैं सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य। इन तीनों को भिन्न २ समझना यह व्यवहार मार्ग है और निश्चय रूप से इन तीनों में एक-आत्म-रूप परिणत होना निश्चय मोक्ष मार्ग है ॥ १०७ ॥

येळु तरु परुदि मुन्न रिरंजिय कमलं पोल ।

तोळु वेदिर् मुळुदुं केदु पोइनगर तुन्मी सोट्ट ।

मुळवयु मळंत्तु मुत्ति करसनाय मुयल्ब नेंडु ।

पळुदिला पुबल्बन् ट्रन्मेर् पारं वैत्तिनय सोझान् ॥ १०८ ॥

जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अंधकार नष्ट हो जाता है और अंधकार नष्ट होने पर कमलों की कली खिल जाती है उसी प्रकार भगवान की वाणी रूपी किरण ने वैजयंत

राजा के हृदय में प्रवेश किया और उनका अज्ञान रूपी अंत्रकार नष्ट हो गया। अर्थात् आत्म-कली खिल गई। आत्म-ज्ञान की कली खिलते ही वह राजा वैजयंत स्वयम्भू तीर्थंकर के चरणों में नत मस्तक होकर उनके द्वारा कहे हुए जीवादि पदार्थों का स्वरूप भली प्रकार समझकर उनको बार २ नमस्कार करने लगा। वह राजा वैराग्य युक्त होकर वहां से लौटकर अपने राज महल में आया और इष्ट मित्र बन्धु जन स्त्री पुत्रादि को बुलाकर इस प्रकार कहने लगा—

वैरागी मनुष्य के द्वारा अपने कुटुम्ब को उपदेश किस प्रकार दिया जाता है इसके सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचन सार में बतलाया है कि जो मनुष्य विरागता धारण करके मुनि होना चाहता है वह पहले अपने कुटुम्ब के लोगों से पूछकर अपने को मुक्त करावे, जिसकी रीति इस प्रकार है।

ओ कुटुम्बी जनो ! आप अनेक क्षेत्रों में कई २ बार भाई बन्धु माता पिता बहन भानजा आदि होते आए हो। मेरी आत्मा अलग है, आपकी आत्मा भिन्न है। ऐसा आप निश्चय समझें। मेरी आत्मा में ज्ञान-ज्योति प्रकट हुई है। आप जन्म देने वाले मेरे शरीर के माता पिता हो। मेरी आत्मा को आपने उत्पन्न नहीं किया, इसलिये अब आप मेरे से ममत्व भाव छोड़ दो। मेरे मन को हरने वाली ऐ मेरी स्त्री ! तू मेरी आत्मा के साथ, रमण नहीं करती अर्थात् प्रसन्न नहीं करती, यह निश्चय से जान। अब इस आत्मा में ममत्व भाव छोड़ दे ! आत्म-ज्ञान ज्योतिरूपी रमणी प्रकट हो गई है इसलिए अपनी अनुभूति रूपी स्त्री के साथ रमण करना स्वाभाविक बात है। हे मेरे शरीर के पुत्र ! तू मेरी आत्मा से उत्पन्न नहीं हुआ, यह तू निश्चय से समझ ले। इस कारण तू अब मुझसे स्नेह करना छोड़ दे। आत्मा में ज्ञान की झलक उत्पन्न हो गई है, और वही आत्म-झलक पुत्र हैं। इस कारण हे कुटुम्ब के लोगों, मित्रों, परिवार जनों मेरे से समत्व भाव छोड़ दो। इस प्रकार कहकर प्राणी माता पिता स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बी जनों से अपना पीछा छुड़ावे। अथवा जो कोई जीव, मुनि दीक्षा लेना चाहता है तो वह तो जगत से विरक्त ही है। उनको कुटुम्ब से पूछने का कोई कार्य ही नहीं रहा। परन्तु यदि कुटुम्ब से विरक्त होवे और जब कुछ कहना ही पड़े तब वैराग्य के कारण कुटुम्ब को समझाने को वचन निकालते हैं। यहां पर यह न समझना कि जो विरक्त होवे वह कुटुम्ब को राजी करके छूटे, यदि कुटुम्ब राजी न होवे तो न सही, अर्थात् ऐसा न होवे तो वह कुटुम्ब से कभी विरक्त हो ही नहीं सकता। इस सम्बन्ध में कुटुम्ब से पूछने का नियम नहीं है परन्तु यदि कभी किसी जीव को मुनि दीक्षा धारण करते समय कहना ही होवे तो पूर्वोक्त उपदेश वचन निकलते हैं। इस प्रकार वैराग्य होने पर विरक्तता का उपदेश देकर ऊपर कहे अनुसार संसार से निकलने का प्रयत्न करो।

इसी प्रकार उपदेश के अनुसार वैजयंत राजा कहने लगे कि हे स्त्री, पुत्र, बन्धु व अन्य कुटुम्बी जनों ! सुनो—मैं अनादि काल से अभी तक मेरे निज आत्म-स्वरूप को न जानते हुए क्षणिक पंचेन्द्रिय भोगों में सुख मानकर अभी तक अनेक प्रकार के दुःख मैंने सहे, संसार में भ्रमण किया। अब मेरे अन्दर आत्म जागृति उत्पन्न हो गई है इस कारण इस क्षणिक संसार रूपी इन्द्रिय सुख को छोड़ कर अब मैं आत्म-साधना के मार्ग को अपनावूंगा। अब मोक्ष-मार्ग के धारण करने की भावना मेरी आत्मा में जग चुकी है। ऐसा कहकर वह राजा वैजयंत

अपने ज्येष्ठ पुत्र संजयंत को बुलाकर और उसका राज्याभिषेक करके राजगद्दी पर बिठाया और कुछ धर्मोपदेश करना प्रारंभ किया ॥ १०८ ॥

इळमयु मेळिलुं वाणत्तिडु विलिनीड मायुं ।  
 वळमयुं किळयुं वारिण्णुविय वन् वरवु पोळुं ॥  
 वेळिइडे विळक्किन् वीयु मायुउ मेडु वीदु ।  
 कुळ पग लूकं शैवारुनर् विनार् पेरिय नीरार् ॥ १०९ ॥

हे संजयंत ! सद्गुण सहित प्राप्त किया हुआ ज्ञान, मनुष्य जन्म, बाल अवस्था, सुन्दरता ! यह सब दीखने में पहले पहल बड़े सुन्दर लगते हैं, सब को आकर्षित करते हैं । जब इसकी मर्यादा पूर्ण हो जाती है तब आकाश में इन्द्र धनुष के समान क्षणिक यह राज वैभव, पुत्र, कलत्र, बन्धु वर्ग इत्यादि सब अलग हो जाते हैं । जिस प्रकार जोर से वर्षा होने के बाद कूड़ा कर्कट सभी उसके साथ पानी के वेग से बह कर चले जाते हैं उसी प्रकार तीव्र पुण्य द्वारा प्राप्त हुवा यह क्षणिक वैभव तथा सभी मिली हुई सम्पत्ति आदि सर्व नष्ट हो हो जाती है । इस प्रकार मेरी प्रायु के नाश होने के पूर्व, मोक्ष मार्ग के साधन के लिये सर्वबंध का परित्याग करके मैंने मेरी आत्मा के कल्याण करने का सुविचार किया है ॥ १०९ ॥

कडल्गळं मलयुं कारणुं वानयुं कडल्गळ् सूळ्व ।  
 तिडर् तिडर्गळुं कयमुमारुं नाळिगे पुरुवंतीरा ।  
 पडुत्तुयर् नरग मेळुं निगोदमुं पदेरामुन्न ।  
 रुडल्किडंदाळिदि डाव विडमिळ्ळै पुनरि निडान् ॥ ११० ॥

अली प्रकार से ज्ञानी जीव यदि उपरोक्त सभी वस्तुओं को यथार्थ ज्ञान द्वारा पूर्ण-तया विचार करके देख लेवे तो असंख्यात समुद्र महो मेरु पर्वत देवारण्य, भूतारण्य आदि और अरण्य, देवलोक, समुद्र से घेरे हुए असंख्यात द्वीप, पद्मादि सरोवर, गंगादि नदी, त्रस नाली बाहुल क्षेत्र में भ्रमण करते आए हैं । यह सभी असह्य दुख देने वाले हैं । सात नरक निगोद रूप होने वाली भूमि के प्रदेश में हम पूर्व में कितनी बार जन्म और मरण करते आए हैं । हमने कभी जहां जन्म न लिया हो ऐसा कोई क्षेत्र नहीं रहा, न ऐसा कोई पुद्गल परमाणु रहा जो न ग्रहण किया हो । बाल के समान कोई ऐसा स्थान नहीं रहा है, जहां जन्म न धारण किया हो । हमारी आत्मा अनादि काल से इसी प्रकार लोक में भ्रमण करती आई है ॥ ११० ॥

वेरु गुरु तुयंर लुइत्तु तिलगि तुन्मयंगुं पोळदुं ।  
 मरुवियां करुविन् मक्कळ् याकंन्द इन् वरुं दुम् पोळदुं ॥  
 एरियन नरगिन् मूळगि येळुं दु वीळ्वलरुं पोळदुं ।  
 अरुगण शरणमल्ला लरन् पिरिविल्लै कंडाय् ॥ १११ ॥

हमेशा भय को उत्पन्न करने वाली पशु व मनुष्य गतियों में स्त्री के गर्भ में नौ महिने दुःख को सहन करते समय और अग्नि के समान घोर नरक जैसे कूप में से जन्म लेते समय सर नीचा और पाँव ऊपर इस प्रकार होने वाले दुःख से रुदन करते समय इस जीव को अर्हत परमेश्वर के चरण कमल के सिवाय और कोई शरण नहीं होता है ।

भावार्थ— इस समय सत्य भावना के विरारों से ही मेरी आत्मा को लाभ होगा । मैंने अनादि काल से इस पंचेन्द्रिय क्षणिक सुख के पीछे कितनी बार चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण किया, अनेक पर्यायों धारण कीं, परन्तु उस पर्याय तथा योनि की जब मुझे याद आती है तो मेरी आत्मा कंपायमान हो जाती है । इस कारण इस परिग्रह पिशाच को देखकर मेरा आत्मा में भयानक भय सा मालूम होता है ।

हे कुमार ! जब पृथ्वी रूप मेरा जन्म था उस समय खोदना, विदीर्ण करना, कूटना, फोडना, पीसना, चूर्ण करना, इत्यादि बाधा देकर लोग मुझे सताते थे, अर्थात् पृथ्वी-काय अवस्था में मैंने दीर्घकाल तक अवर्णनीय दुःख सहे । जब मैंने जलकायिक शरीर धारण किया तब सूर्य की प्रचंड किरणों तथा अग्नि की ज्वालाओं में मेरा शरीर अत्यंत गर्म होने से मैंने घोर वेदनाएँ सहीं । पर्वत की दरारें आदि ऊँचे स्थान से अति वेग से नीचे मेरा पतन होते समय, कठिन शिलाओं पर टकराते समय मैंने घोर दुःख सहन किया । खट्टा, मीठा, क्षार आदि पदार्थों का मेरे साथ जब मिश्रण करके अग्नि में मुझे भोंकते थे तो घोर दुःख होता था । ऊँची शिलाओं पर ऊँचे वृक्षों पर से गिरने से, पाँव और हाथों के सहारे नदी में तिरने वाले मनुष्यों के हाथों से ताड़ते समय और बड़े वृक्षों मेरे (जलकाय में) अन्दर प्रवेश करने से स्नान करते समय और सून्ड से जल क्षोभ करते समय मुझे समान दुःख होता था ।

वायुकाय—जब जल अवस्था का त्याग कर मैंने वायु रूप शरीर धारण किया तब वृक्ष आदि के हिलने, चीरने तथा उनके षक्का लगने से मैंने असह्य दुःखों का अनुभव किया । जिसका शरीर अति कठिन है ऐसे प्राणियों के घात से तथा मेरे से भिन्न वायु से टकराने पर मेरा शरीर चूर चूर होकर बहुत दुःखों को सहन किया । अग्नि ज्वालाओं से जब मेरा शरीर स्पर्श हुआ तब तो मेरे प्राण ही निकल गये ।

अग्निकाय—जब वायु शरीर को छोड़कर अग्नि रूप शरीर को धारण किया तब मेरे ऊपर लोगों ने मिट्टी धूल डालकर मुझे बुझाया, घनघोर वर्षा पडने पर मूसल काण्ठादि से ठोक कर मेरा चूर्ण करके कण्ठों का सामना करना पडा, मिट्टी के ढेले, पत्थर तथा वायु के झकोरों से मुझे असह्य दुःख उठाना पडा ।

वनस्पतिकाय—जब अग्निकाय शरीर छोड़कर मैंने पत्र पुष्प फल कोमल अंकुर वाले शरीर को धारण किया तो लोगों ने ताड़ना, मर्दन करना, दांतों से चबाना, अग्नि में डालना इत्यादि दुःख देना शुरू किया जिसको मैंने सहन किया । भ्राड लता पौधे, इत्यादि रूप में जब मैंने जन्म लिया तब दुष्ट लोगों के द्वारा मैं छेदन भेदन किया गया जिससे मुझे घोर दुःख सहना पडा । इस प्रकार के उन सभी दुःखों को कहने में तथा उनका वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ ।

जब मैंने कुन्धु जीव आदि पर्यायों में शरीर धारण कर दो इन्द्रिय ते इन्द्रिय आदि में जन्म लिया तब अत्यन्त वेग से चलने वालो गाडियां मोटर आदि वाहनों के नीचे आकर दबने से प्राणों का विसर्जन किया। इसके अतिरिक्त घोड़े बैल आदि के खुरों के नीचे आने तथा अग्नि पानी का वेग मेरे पर गिरने व मनुष्यों के द्वारा कुचले जाने आदि २ स मुझे असह्य दुख भोगना पड़ा। उक्त पर्याय को छोड़कर पंचेन्द्रिय में घोड़ा हाथी बैल आदि २ पर्याय में जन्म लिया तब मनुष्यों द्वारा मेरे पर बोझा लादकर, मेरे ऊपर चढ़कर असह्य दुख दिया, मुझे लाठी चाबुक आदि से मारकर घोर कष्ट दिया। घास, दाणा, चारा आदि का न मिलना, सरदी गरमी वर्षा का सहना, कान, नाक छिदाना, नुकीली वस्तु से प्रहार करना इस प्रकार नीच व दुष्ट प्राणियों के द्वारा मैंने अत्यन्त वेदनाएँ सहन कीं। इसके अतिरिक्त पाँव टूट जाने पर लगडा कर चलना, गिर पडना, लडपना, क्रूर पशुओं द्वारा भक्षण होना, कच्चे गीध आदि नीच पक्षियों द्वारा नोंच नोंच खाया जाना, ऐसे घोरतिघोर कष्टों के समय मेरी रक्षा करने वाला भी कोई नहीं था। मेरी पीठ पर अधिक बोझा लादने से मैं जख्मी हो गया, जिसमें कीट लटें आदि पड जाने से विषैले जानवर मांस नोंच २ कर खाते थे। अब पापों का उपशम होने अथवा पूव जन्म के पुण्य संचय से मैंने मनुष्य पर्याय धारण की है। परन्तु इन्द्रियों की न्यूनता या दरिद्रता आदि असाध्य रोगों से मैंने महान दुख पाया अर्थात् दरिद्रता का अनुभव किया। प्रिय पदार्थ न मिलना, कांटे, कीले आदि पदार्थों का संयोग होना, दूसरों की नोकरी करना, शत्रु से पराजय होना आदि २ दुखों से मैं बहुत ही व्याकुल बन गया था। धन कमाने की इच्छा से असह्य दुखदायक कर्माश्रव के कारण असि मसि आदि षट् कर्मों में मैंने रात दिन प्रयत्न किया। ऐसे नाना प्रकार की विपत्तियां मुझे सता रही थी।

कुछ शुभोदय से देवगति में जन्म हुवा तो वहाँ भी मैंने यही दुख देखा कि यहाँ से दूर हटो, शीघ्र चले जावो, प्रभु के आने का समय है. उनके प्रस्थान की सूचना देने का नक्कारा बजावो। और यह ध्वजा हाथ में पकड़ कर खड़े हो जावो। अरे दीन ! इन देवाङ्गनाओं की रक्षा कर, स्वामी की आज्ञानुसार वाहन रूप धारण कर ! अत्यन्त पुण्य रूपी धन जिसके पास है क्या तू ऐसे इन्द्र का दास है ? जिसके पास अतिशय रूप सामग्री है। क्या भूल गया है ? क्यों व्यर्थ खड़ा हुआ है। इन्द्र के आगे २ क्यों नहीं भागता ? इस प्रकार देवगति में अधिकारियों के वचन सुन कर मुझे घोर अपमान सहना पड़ा। इन्द्र की अप्सराओं के समान सुन्दर सुन्दर देवाङ्गनाएँ मुझे कब मिलेंगी, यह अभिलाषा रही। मैंने देव पर्याय में रहकर ऐसा ही मानसिक दुख का अनुभव किया। इस प्रकार घोर दुख सहन करते २ मेरा दीर्घ काल चला गया।

अतः परीषह उपसर्ग आदि दुख आने पर विषाद करने से कुछ भी लाभ नहीं होगा। खिन्न हुए पुरुषों को क्या कोई दुख छोड़ देगा ? यह दुख तो अपने ही कारण तथा निमित्त से हुआ है। ऐसा विचार कर उत्तम २ भावनाओं से उपसर्ग सहन करना चाहिये। यदि इस शरीर को देखकर भय उत्पन्न होता है तो ऐसा क्ना भी उचित नहीं है; क्योंकि मैंने स्वयं ही अशुभ शरीर असंख्यात बार धारण किया है। देखा भी है। सारी पर्यायों मेरे परिचय में हैं; अब इस समय उत्कृष्ट आर्य क्षेत्र कर्म भूमि में, उत्तम मनुष्य कुल में मेरा जन्म हुआ है और मुझे पंचेन्द्रियों के अनुकूल सम्पूर्ण भोग सामग्री प्राप्त हुई है इसलिये अब इस शरीर के द्वारा कुछ आत्म-हित करने की भावना मुझ में जागृत हो गई है। जितने भी





राजा बंजयंत दरबार में राज्यसिंहासन पर बैठे हुए अपने दोनों पुत्र संजयंत और जयंत को उपदेश दे रहे हैं।

संसार में पुत्र मित्र बन्धु वांधव हैं सब स्वार्थी हैं, पुण्य के उदय से यह सब मामग्री मुझे प्राप्त हुई है। पाप के उदय में कोई साथ नहीं देते। केवल भगवन ही शरण हैं और कोई शरण नहीं है। इस प्रकार राजा वैजयंत ने कुमार संजयंत को उपदेश दिया ॥ १११ ॥

इरंदनपिरथि मेना ल्हेनुदर करियतम्मुट् ।  
करंदु कौंडरै युनुं कालन् वाय् पट्ट पोळ्दुं ॥  
पिरंदु नान् गति कनान्गिर् पेरंदुय हळक्कुं पोळ्दुं ।  
तुरंदिडा विनेगळ् डि तुनं पिरिदिल्लं कंडाय ॥ ११२ ॥

इस प्रकार अनादि काल से अनेक योनियों में जन्म मरण करते आए हैं उनकी गिनती मैं कहने में असमर्थ हूं। इस संसार में यमराज नामक कर्म रूपी शत्रु द्वारा हम आत्मा को खींचकर चारों गति में डालते समय वहां होने वाले असह्य दुखों से छुड़ाने वाला कोई स्नेही व बन्धु नहीं है। केवल एक धर्म ही सखा है। ऐसे समय में और कोई सखा सहायक नहीं है। कहा भी है "धर्मः सखा परमः परलोकगमने" अर्थात् परलोक में जाते समय धर्म ही एक बन्धु है और कोई सहाई नहीं है ॥ ११२ ॥

घातिग नान्गुं वीध कनत्तुळे कानळ् पाडि ।  
लादियाय पिरिदिनाय वंडिडु मनंद नान्मै ॥  
योदिनोर वगेनाट्ट लुडिरिनान् मुडिद मुन्ने ।  
घातियामेघं सूळ्द कविरेन निड् कडाय् ॥ ११३ ॥

विभाव परश्रुति द्वारा होने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन घातिया कर्मों को अपने शुद्ध आत्म स्वभाव के एकान्त ध्यान से नाश करते ही आत्मा में अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति होती है। यह अनन्त चतुष्टय आत्म शक्ति से आत्मा में उत्पन्न होते हैं। मेघ पटल जिस प्रकार सूर्य पर छा जाता है उसी प्रकार अनादि काल से आत्म रूपी सूर्य के ऊपर यह चार घातिया कर्म आच्छादित हुए हैं। अब इन घातिया कर्मों का उपशम होने से आत्म रूपी सूर्य जागृत होकर अपने प्रकाश से अपने निज स्वरूप को अनुभव करने लगा है ॥ ११३ ॥

कुट्ट मोर मूड् नान्गु गतिगळिर पोरिगळ् दिर् ।  
पट्टिय कायमारिर् पळविनै तिरिओरेळिर् ॥  
सुट्टिय विनयेगळिट्टीर् टोट्टिय सुळ्ळत्ति कडाय् ।  
कट्टवर् कडक्क वेन्नु माट्टिदु कडिको डारोय् ॥ ११४ ॥

हे संजयंत कुमार ! उत्तम सम्यक्दृष्टि ज्ञानी लोग उत्तम चारित्र्य को धारण करने की भावना भाते हैं। और मिथ्यादृष्टि जीव राग द्वेष मोह से पंचेन्द्रिय विषयों में मग्न होकर चारों गतियों में भ्रमण करते हैं। तथा इन पंचेन्द्रिय विषय में मग्न हुवा जीव पृथ्वी, अग्नि,



तेज, वायु, धनस्पर्ति और त्रस ऐसे षट्काय जीवों में जन्म लेकर सात प्रकार के संसार के परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले आठों कर्मों के बंधन से संसार में परिभ्रमण करते हैं ।

प्रश्न—सप्त परिवर्तन कौन से हैं ?

उत्तर—स्थापना और नाम यह दोनों मिल कर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव यह परिवर्तन होते हैं ॥ ११४ ॥

एळक्कयरगंडु मीरेळ् कयर् रुयरं बिडेई लोंड्राय् ।

मुळवेन बिडेलेंदाय् मुडिबंड्रा अडिई लेळा ॥

एळिविला उलगिट्टोड् मनंतमाम् पडित्पवेश ।

मेळ् वेन तिरंडतोळा इरंडनाळ् पिरंब वेंड्रान् ॥ ११५ ॥

हे बलिष्ठ राजकुमार ! सुनो, उत्तर दक्षिण का व्यास ७ राजू और उच्छेद १४ राजू है । सात राज उच्छेद के मध्य में १ राजू मध्य भाग है । मध्य भाग के ऊपर मृदंगाकार अर्थात् मध्य लोक के साठे तीन उच्छेद के ऊपर ब्रह्म कल्प के शिखर में पांच राजू होकर क्रम से कम होकर शिखर पर एक राजू प्रमाण रह गया है । अधोलोक में ७ राजू है । इस प्रकार यह पूर्वापर व्यास है । इस लोक की ऊंचाई, लम्बाई और चौड़ाई इन सब को नापने से ३४३ घन राजू होता है । यह अनादि निघन है । यह किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है, और कभी भी नाश होने वाला नहीं है । इस प्रकार इस तीन लोक में सम्पूर्ण जीव जन्म मरण के आधीन होकर अनेक दुख को पाकर इस संसार में भ्रमण करते हैं ॥ ११५ ॥

एंबिनं नरंबिर् पिन्नि युविरं तोय् दिरेंच्चि मत्ति ।

पुनपुर तोलिन् मूडि यळ्क्कोड् कुळ्क्कळ् सोरु ॥

बंबदुवायिट्टाय् वून् पईल् कुहं बै तन्मेल ।

लंबरा मान्दर् कंडा यरिबिनार् शिरियनीरार् ॥ ११६ ॥

नस को रक्त में भिगोकर उस नस से हड्डी को भली प्रकार बांध कर उसको मांस रूपी कीचड़ से लेप कर के उसके ऊपर चाम की चादर लपेट कर कृमि कीटक आदि अनेक मलों से भरना हुआ नव द्वारों से युक्त, ऐसे यह अशुचि अपावन कचचे दुर्गन्धित मल के भरे शरीर पर प्रेम करने वाला आत्म ज्ञान से रहित होकर संसार रूपी वन में भ्रमण करता है ।

भावार्थ—जो जीव धर्म में अनुराग रखते हैं वे इन्द्रिय रूपी सुख को साधते हुए शुभोपयोगी रूपी भूमि में विचरण करते हैं ।

शुभयोग सहित, उत्तम तिर्यच, उत्तम मनुष्य अथवा उत्तम देव होता हुआ उतने काल तक अर्थात् तिर्यच आदि की स्थिति तक नाना प्रकार के इन्द्रिय सुख को पाता है । सब नांसारिक मुखों में मग्न होकर जीव देवगति में जाता है, वहाँ अस्तिमा गरिमा आदि २ आठ





राजा वेजयंत अपने पौत्र वेजयंत का राज्याभिषेक कर रहे हैं ।

ऋद्धि सहित सुख देवों में प्रधान है। परन्तु यथार्थ में वह आत्मिक तथा स्वाभाविक सुख नहीं हैं क्योंकि जब पंचेन्द्रिय पिशाच उनके शरीर में पीडा उत्पन्न करता है तब ही वे देव मनोग्य विषयों में गिर पड़ते हैं अर्थात् जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी वस्तु से पीडित होकर पर्वत से गिरता है उस ही प्रकार इन्द्रिय जनित दुःखों से पीडित होकर उन विषयों में यह आत्मा पीडित होता है। इसलिये यह इन्द्रिय सुख दुःखरूपी ही है। अज्ञान बुद्धि से सुखरूप मालूम पड़ता है। दुःख के भी दो भेद हैं, सुख और दुःख। मनुष्य चारों गतियों में उत्पन्न होकर शरीर की पीडा को भोगते हैं तो जीवों का चेतन रूप परिणाम अच्छा बुरा कैसे हो सकता है, ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसलिये हे कुमार संजयंत ! पाप और पुण्य यह दोनों दुःख के कारण हैं। और ये ही दुःख चारों गति के कारण हैं। आत्मा के सुख के आगे कोई शाश्वत सुख नहीं है ॥११६॥

तींड़ि माइंदुलग मूंड़ि टू यरेंदु मुइरगडंमै ।  
ईंड़ुताय पोल वॉबि इंबत्तु छिरुत्ति नादन् ॥  
मूंड़ुलगिवकु माक्कि मुडिविला तन्मै नळ्गु ।  
मांड्र नळ्ळरत्तौ पोलु मरिय दोंड्रिल्लै येंड्रान् ॥ ११७ ॥

हे कुमार संजयंत ! जन्म-मरण रूप से युक्त इस तीन लोक में दुःख भोगने वाले जीवों को जिस प्रकार माता अपने बच्चे का रक्षण करती है उसी प्रकार माता के रूप में धर्म, देवलोक, चक्रवर्ती आदि इन्द्रिय सुख इस जीव को देकर अन्त में मोक्ष फल को दिला देती है। ऐसे जैन धर्म के सिवाय और कोई परम रक्षक नहीं है ॥११७॥

अरियदु तिरुवरमल्ल विन्नैयेल् ।  
मरुधिय तिरुवर मोरुवि मन्नना ॥  
युरुगळ् मुडिग कवित्तुलग माळ्बदु ।  
पेरुयिल्लै मण्डिइनै पिडिक्कीवदे ॥ ११८ ॥

इस प्रकार संजयत धर्म के स्वरूप को अपने पिता के मुख से सुनकर इस लोक, में जैन धर्म के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है ऐसा निश्चय करके कहने लगा कि-हे पिताजी ! मैं फिर ऐसे सुख शान्ति के देने वाले पवित्र जैन धर्म को छोड़ कर अनेक दुःखों से भरे हुए संसार के कारणभूत होने वाले शरीर तथा क्षणिक राज भोगों को भोग कर नरक गली की ओर खींचने वाले ऐसे क्षणिक राज सुख को मैं क्यों ग्रहण करूँ ? मैं इसे ग्रहण नहीं करूँगा ; क्योंकि जिस प्रकार तिल को धागी में पेल कर उसका तेल निकालने के बाद केवल खल भाग रहता है उसी प्रकार अनादि काल से राजा महाराजा इस क्षणिक संसार सुख को छोड़ कर चले गये। अब ऐसे संसार के सुख को भोगने वाला क्या मूर्ख नहीं है ? अतः मैं मूर्ख नहीं हूँ। जब मोक्षरूपी राज की आप इच्छा कर रहे हैं वह सुख मुझे भी चाहिये, ऐसे क्षणिक सुख की मुझे चाह नहीं है ॥ ११८ ॥

आदला लरुळिय दुशुवि युंडन ।  
 पोदुला मुडियनान् पुगळ् दु भूमिककु ॥  
 नादनाय् संपवनेनाट्ट उट्टनन् ।  
 ट्रादुला मलगलान् ट्रानु नेर्दिलन् ॥ ११६ ॥

इसलिये हे पिताजी ! आप इस क्षणिक राज्य के परिपालन करने की आज्ञा मत दीजिए । यह राज्य संपदा मुझे भी इष्ट नहीं है । इस बात को सुनकर राजा वैजयंत मन में अति आनंदित होकर ज्येष्ठ कुमार संजयंत की महान प्रशंसा करता है और लाचार होकर उस राज्य भार को सोंपने के लिये अपने छोटे राजकुमार जयंत को बुलवाता है । कुमार जयंत ने आकर पिताजी को नमस्कार किया और कहा कि पिताजी ! क्या आज्ञा है ? राजा ने कहा कि पुत्र ! तुम इस राज्य भार को सम्हालो ॥ ११६ ॥

अरिबिनार शिरिय नीरा रांडुवर् तांगळ् सेंड ।  
 नेरिपिने पिळ्क्क पोगिन् माट्टिडे सुळल्वर नीड ॥  
 मरुबिला गुणत्ति नीर्गळ् माट्टिय वरसु मेविन् ।  
 नेरियिनार् गतिगनान्गि निड् यान् सुळल्ब नेडान् ॥ १२० ॥

कुमार जयंत ने निवेदन किया कि पिताजी ! मैं अल्प ज्ञानी हूं, मुझ में ज्ञान नहीं है । और न इस राज्य की मुझे लालसा है । इस राज वैभव को दुखदाई मान कर उससे मुक्त होकर अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए आप मुनि दीक्षा लेकर तपश्चरणा के द्वारा अखण्ड मोक्षलक्ष्मी रूपी राजपद पाने की इच्छा कर रहे हैं—और यह क्षणिक राज वैभव नरक में ले जाने वाला मुझे सौंप रहे हैं ! क्या यह बात उचित है ? नहीं । आप जिस मार्ग को स्वीकार कर रहे हैं वही मार्ग मुझको भी इष्ट है । इस प्रकार कुमार जयंत ने पिता से कहा ॥ १२० ॥

इस प्रकार वैजयंत, संजयंत और जयंत के वैराग्य भावना का विवेचन समाप्त हुआ ॥

वानत्तिन् द्रुळ्ळि एल्लाल् वरुविनु विरुंबल् सेल्ला ।  
 मानत्तैयुडय पुळ्ळिळन् मंवेर्गळ् मरुत्तु निर्प ॥  
 कारण पोरेट्टिन पारम् कंडिन् मेलिट्टेपोल् ।  
 ट्रेण्त्त मुडियै मन्नन् शिरुबन् द्रन् शिरुवर् कौडान् ॥ १२१ ॥

तदनंतर राजा वैजयंत ने अपने दोनों पुत्र संजयंत और जयंत सहित राज्य भार को त्याग कर के अपने पौत्र वैजयंत का राज्याभिषेक किया और जिन दीक्षा के लिये तीनों चल पड़े ।

जिस प्रकार चातक पक्षी भेष की बून्द द्वारा अपनी प्यास बुझाने के लिये बादल की ओर ऊपर देखता है उसी प्रकार राजा वैजयंत और उनके दोनों पुत्र मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा करके स्वयम्भू भगवान के समवसरण में जाने के लिये आतुर हुए ॥ १२१ ॥



राजा वैजयंत मय अपने दोनों पुत्र संजयंत व जयंत सहित जिन दीक्षा लेने के लिये  
रत्नाभूषण-मुकुट आदि को उतार रहे हैं ।



मन्त्रिनुकरं मे पूंडान् मन्त्रन् वैजयंत येंडे ।  
 तिनमुर शरेंद विन्ने सिरप्पोडु सेंडु पुक्कु ॥  
 पुथियय किळबन् टुन्नि पुगंदडि पण्णदु पोत्तीर् ।  
 पन्नवर् पडिमम् कौंडार् पाथिवर् कुळात्तिनोडे ॥ १२२ ॥

जिस समय राजा वैजयंत अपने पीत को राज्य भार देकर चलने लगे तो यह चर्चा सम्पूर्ण देश के राजा महाराजा तथा प्रजा में फैल गई । तत्पश्चात् वैजयंत, संजयंत और जयंत ने जिनेन्द्र भगवान की पूजा के लिये श्रष्ट द्रव्य हाथ में लेकर भक्ति सहित समवसरण में प्रवेश किया, और स्वयम्भू तीर्थंकर की तीन प्रदक्षिणा देकर उनकी स्तुति की और बड़ी विनय भक्ति के साथ भगवान की पूजा की और खड़े होकर जिनेन्द्र देव से प्रार्थना की कि हे भगवन् ! हमने भ्रमण भ्रमण मिथ्यात्व के कारण अनादि काल से इस कर्म के निमित्त से संसार में निजात्म स्वरूप की प्राप्ति न होने के कारण अथवा इसका स्वरूप न समझने के कारण आज तक संसार में परिभ्रमण किया । अब हमारी आत्मा में इस संसार से विरक्ति उत्पन्न हो गई है और संसार दुःखों से छूट कर हम मुक्त होना चाहते हैं । आप नौका के समान हैं । हमको जिनेश्वरी दीक्षा दीजिए । तब मुनिराज ने तथास्तु कहा और दिगम्बरी दीक्षा की अनुमति दे दी ॥१२२॥

मण्णि मुडि कलिंग मालं मणित्तुन रणयकुंजि ।  
 पण्णयोडु परिदुनिड्डार् पोरुमद याने योत्तार् ॥  
 गुणमण्णि यण्णदु कुंडा पण्णवर् कुळात्तीक्कु पुक्का ।  
 रिण्णइत्ता सित्ति नन्नाळ् डिळवरसि येंडु दोत्तार् ॥१२३॥

तदनन्तर उन तीनों को नव रत्न अर्द्धित मुकुट-हार तथा सर्व आभरणों का त्याग कराया अर्थात् सर्व बहिरंग परिग्रहों त्याग कराया, अर्द्धाहस मूलगुणों का पालन कराया और संक्षेप में मुनि धर्म पालने का उपदेश दिया । पांच समिति, पांच महाव्रत, एक भक्त, विविक्त शय्यासन, स्थित भोजन आदि २ क्रियाओं को समझाया । तीन गुप्ति, पांच समिति और पांच महाव्रत इन तेरह प्रकार से आरिज पालन करने तथा केवल सोच और दन्त न घोने आदि का विवेचन किया । कहा भी है:—

वद समिदिदियरोधो लोचावासयमचेलमण्हाणं ।  
 सिदिसमणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥

इस प्रकार संक्षिप्त में उनको पांच महाव्रत आदि २ का स्वरूप समझाया और तीनों ने केवली भगवान स्वयम्भू तीर्थंकर के समक्ष जिन दीक्षा धारण की । जिन दीक्षा धारण करने के पश्चात् वे तीनों मुनि ऐसे प्रतीत होने लगे जैसे भद्र से युक्त हाथी इधर उधर बिचरते हैं । जिस प्रकार हाथी का महाव्रत हाथी को खाना पीना देकर हाथी को बल में करता है उसी प्रकार यह तीनों मुनिराज अपने मदीन्मत्त मन को



वश में करके पंच महाव्रत आदि को निरतिचार पालन करते हुए अर्हंत स्वयम्भू तीर्थंकर के उपदेश से अंतरङ्ग व बहिरङ्ग तप के द्वारा पंचेन्द्रिय विषयों को जर्जरित करके अपने वश में कर लिया । अंतरङ्ग व बहिरंग तप के साथ २ दुर्द्धर तपस्या के द्वारा उत्तरोत्तर मूलगुण व उत्तर गुणों के साथ कर्म की निर्जरा करने लगे । और रत्नत्रय (सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) की वृद्धि करने लगे । छोटे राजकुमार वैजयंत को राज्य भार सोंपने के पश्चात् जैसे वह राजकुमार शनै २ राज्य की वृद्धि करता है उसी प्रकार यह वैजयंत, संजयंत और जयंत तीनों मुनि धर्म की वृद्धि करते हुए मोक्ष रूपी लक्ष्मी पद की प्राप्ति की और बढ़ने लग ॥ १२३ ॥

प्रांगवरंग पूव कादि नूलोदि यार्कु ।

तान्गुरुं कोळ्गे तांगि तामुडन् सेंडु पिन्ना ॥

लोगिय उलग मूडु मोरुवळी पडुवक लुट्टु ।

पांबिनाल् वैजयंतन् परुप्पद शिगरं सेंदान् ॥१२४॥

तदनंतर वैजयंत, संजयंत और जयंत तीनों मुनि अङ्ग निमित्त और और अंग पूर्व परमागम का पूर्ण रूप से अध्ययन करते हुए निरतिचार चारित्र का पालन करने लगे । वैजयंत मुनि अपने घोर तपश्चरणा द्वारा घातिया कर्मों की निर्जरा करके एक समय में लोक अलोक को जानने की इच्छा करने वाले होकर सर्व संघ को त्याग करके एक विशाल पर्वत पर जाकर तपश्चरणा करने लगे ॥ १२४ ॥

मळं पनिबैळ् गडांगि मलैमिसै मलयैपोल ।

बेळिल् पेरलिङ्ग पोळ् दिनेळुंद सुक्लध्यानं ॥

पळबिने मुळुदुं पारप्परंदन वरंग नान्मं ।

मुळु इडं पोळ्गिट्टेनुं विळ् विकन् मुत्तुनिकळुंडामो ॥१२५॥

कहा है कि:—

गिरि-कंदर-दुर्गेषु ये वसन्ति दिगम्बराः ।

पाणिपात्र पुटाहारास्ते यांति परमां गतिम् ॥

इस प्रकार गिरि कंदर वन दुर्ग पर्वत की चोटी पर ये वैजयंत मुनि तपस्या करते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो इस पर्वत पर एक छोटा और पर्वत ही हो । इस तरह दुर्द्धर तप करते हुए आत्म-योग में मग्न हुए । प्रथम व द्वितीय शुक्ल ध्यान से आत्मा को घात करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातिया कर्मों को जीत कर केवल ज्ञान को प्राप्त होकर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख आदि चार चतुष्टय से युक्त हुए । तब जिस प्रकार एक दीपक से सारा अन्धकार क्षण में नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अनादि काल से कर्मरूपी अंधकार से ढके हुये आत्मा को केवल ज्ञान दीप प्रकट होते ही ज्ञानावरणादि चारों घातिया कर्म नष्ट हो गये ॥ १२५ ॥

सिद्धनल्लिरदं सेड्धातु कळ् पोलधातु ।  
 वोत्तरु वगैयदागि योळि युमिदिसंगु मेनि ॥  
 चित्तिरत्ति यट्टपट्ट पडयेन देवर् सेंडार ।  
 मुत्ति पेदिद कोऊ मदन् मुरुर् विळक्कै वेत्तान् ॥१२६॥

जिस प्रकार सिद्ध रस में लोहा डुबाने से वह लोहा तत्काल स्वर्णमयी हो जाता है उसी प्रकार अर्हत भट्टारक वैजयंत मुनि के शरीर के धातु उपधातु आत्म ज्योति से प्रकट होके प्रकाशमान होने लगे । तब चतुर्णिकाय देव जैसे चित्रकार चित्र लिखता है उसी प्रकार अनेक रंगों से सुशोभित होकर अत्यन्त सुन्दर शरीर को नाना वर्णों से तथा अनेक आभरण व सुन्दर २ वस्त्रों सहित आकाश से पुष्प वृष्टि करते हुए वैजयन्त मुनि के सम्मुख वे देवगण नीचे उतर कर आ गए और केवलज्ञानी वैजयंत भगवान से आनन्दपूर्वक कहने लगे—

“अद्य मे सफलं जन्म, नेत्रे च विमले कृते ।

स्नातोऽहं धर्मतीर्थेषु जिनेन्द्र तव दशनात् ॥

हे भगवन् ! आज आपके दर्शनों से हमारा जन्म सफल हो गया, नेत्र सफल हो गये गात्र सफल हुआ इसलिए हे प्रभु ! हम आपके तीर्थ में उतर कर कर्म रूपी मल को दूर करने के लिये स्नान कर चुके हैं ॥१२६॥

तेमलर मारि सुन्नं सिदारिन् दिशंकन्मूड ।  
 धूममूमेळुदं दीप सुडरं दन मिडेंद देवर् ॥  
 तामभुं सांडु मोदिताम् पनिदेळुंडु नोड्डु ।  
 कामनं कडेंद कोमान् कळलडि पर्व लुट्टार् ॥ १२७ ॥

तत्पश्चात् केवली वैजयंत भगवान के पास आए हुए चतुर्णिकाय देवों ने स्वर्ग से जाए हुए अत्यन्त सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि की । परिमल चूर्ण की आकाश से वृष्टि की, तथा महान सुगन्धित धूप खेई । केवल ज्ञान के निमित्त रत्न दीपक जलाए और अष्ट प्रकार से भगवान की पूजा करके स्तुति करने लगे कि—

भगवन् दुर्नयध्वान्तोराकीर्णो पथि मे सति ।  
 सज्ज्ञान—दीपिका भूयात् संसारावधि—वर्धनो ॥  
 जन्म जोर्णाटवी मध्ये जनुषान्धस्य मे सति ।  
 सन्मार्गो भगवन् भक्तिर्भवतान्मुक्ति—दायिनी ॥  
 स्वान्त—शान्तिं ममैकान्तामनेकान्तैक—नायकः ।  
 शान्तिनाथो जिनः कुर्यात् संसृति वलेश—शांतये ॥  
 कर्णधार भवार्णोधिर्मध्यतो मज्जता मया ।  
 कुच्छ्रेण बोधिनीर्लब्धा भूयान्निर्वाण—पारगा ॥

अर्थ—हे भगवन् ! मेरा मार्ग दुर्नयरूपी अंधकार से व्याप्त है, मुझे आपके द्वारा प्राप्त सम्यक्ज्ञान रूपी दीपक संसार की मर्यादा को छेदने वाला हो । हे भगवन् ! जन्म-मरण रूपी इस अत्यन्त पुराने जंगल में मैं जन्म से ही अन्धा हूँ । इससे मुक्ति दिलाने वाली आपकी भक्ति सन्मार्ग में ले जाये । स्याद्वाद मत के एक नायक श्री शान्तिनाथ भगवान् संसार के दुःखों की शान्ति के लिये मेरे हृदय में सदा स्थिर रहने वाली शान्ति को करें । हे खेवटिया ! संसार रूपी समुद्र के मध्य में डूबते हुए मैंने बड़ी कठिनाई से ज्ञान रूपी नौका पाई है । यह मुझे मोक्ष रूपी पार पर पहुँचाने वाली होवे ॥ १२७ ॥

उद्यत्तल काय्दला लुट्टिह बडित्तल देळुं डोर् ।  
 कुवत्तल काय्दलु ट्टिरुन् वोंडु नोइल्लेयेर् ॥  
 सुर्गमानर गंदवर् तुन्नुब कुनडु ।  
 तर्वात्तन् ट्टन्मयो तबिनै तन्मयो बरळ्ळे ॥१२८॥

हे भगवन् ! आपको जो कोई देखता है उसको महान् आनन्द हो जाता है और जो आपको नहीं देखता उसके प्रति आप रागद्वेष नहीं करते । जो पूजा नहीं करता उससे आप अप्रसन्न नहीं होते क्योंकि आप अठारह दोषों से रहित हैं और इन दोनों से प्रसन्न अप्रसन्न की भावना का आपको कोई मतलब नहीं है । आप पर वस्तु से भिन्न हो । परन्तु एक बात है कि आपके दर्शन, पूजा व स्तुति करने करने वालों को देवगति प्राप्त होती है और जो आपसे राग द्वेष आदि करता है उसको पाप तथा नरक गति प्राप्त होती है और पाप पुण्य के अनुसार फल मिलता है—ऐसा आगम का कथन है ॥१२८॥

इरंद धातिग नान्मेयु मळिबब कनरो ।  
 निरैद नान्मे थुं बानवर् निल्लैयुडन् तळरा ॥  
 परंदु वंदु निट्टिरुवडि परवुवविडु उन् ।  
 सिरंद तन्मयो तिरुवरदि यक्कयो बरळ्ळे ॥१२९॥

मानावरणादि चार घातिया कर्मों का नाश होते ही जब चार चतुष्टय प्राप्त होते हैं तब उसी समय देवों के आसन कम्पायमान होते हैं—यह आपके तत्पचरण व बल का ही महात्म्य है, और किसी की शक्ति नहीं है । ऐसा ही आपके महान् धर्मोपदेश का फल है ॥ १२९ ॥

कुट्ट मोंडिल्लै येनिर् कुट्ट मूंडु नीपुरंताय ।  
 पट्टु नोइल्लै एन्निलु लोगमुं पट्टाय् ॥  
 सुट्टु नोइल्लै एन्निलु लोव्विरु मुम् सुट्टा ।  
 मट्टु नोइल्लाय मुनिवर् कोनायडोर् मायम् ॥१३०॥

हे भगवन् ! आपके अन्दर कोई दोष नहीं है—ऐसा कहते हैं ? यदि राग द्वेष नहीं

है तो आपने कर्मों का नाश कैसे किया? इस लोक में संसारी जीवों में रहते हुए आपको निष्परिग्रही कैसे कहते हैं? मिट्टी में से निकला हुआ सोना भट्टी के द्वारा तपाने पर भी मिट्टी रूप नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का नाश होने के बाद पुनः संसार का बंध नहीं होता, इस कारण आप अबंध हैं। कोई यह कहता है कि आप बंधु नहीं है? आपकी भावना सम्पूर्ण जीवों पर रक्षा करने की है और जगत के सारी प्राणी मात्र को बंधु की दृष्टि से देखते हैं इसलिये आप बन्धु हैं। इस प्रकार तपश्चरण करने वाले आप ही सच्चे तपस्वी हो, यह आश्चर्य की बात है ॥ १३० ॥

अरिबु नीड्लं योड्ल तेमक्कवं यनेगं ।  
 पिरबिनी इलं यान्गळो पिरबिइर् पेरियोम् ॥  
 सेरिबदोर् गति युनक्किल्लं धमक्कु नान्गि उ ट्वाल ।  
 अरियेनी येम्मं यान्दकोडं वशिइडु पेरिदे ॥ १३१ ॥

हे भगवान् ! आपको केवल ज्ञान के अतिरिक्त विकल्प को उत्पन्न करने वाला ओग कोई ज्ञान नहीं है। दूसरे जीवों के मतिज्ञान व अधिज्ञान है। परन्तु केवलज्ञान नहीं है। आप जन्म-मरण से रहित हैं, आगे आपका जन्म-मरण नहीं है, परन्तु संसारी सम्पूर्ण जीवों के जन्म मरण होता है। आप गति में रहित हैं अर्थात् अगति हैं। हमको चारों गतियों के दुःख हैं। इस कारण सभी जीव आपकी स्तुति करते हैं तथा आपका आश्रय लेते हैं ॥ १३१ ॥

येडु वानव रिरैबने मरंजु इप्पोळु दे ।  
 येडु म्बुलगात्तुळ् वयररुं बियप्प ॥  
 निडुदोर् पडिनिरुमिया वारिबेयर् सूळ ।  
 शंङ्गनन् धरण्णविरन् शिरप्पाडुं विरैदे ॥ १३२ ॥

इस प्रकार वैजयंत केवली भगवान की स्तुति पाठ करते हुए सम्पूर्ण देवों को आश्चर्य करने वाले ऐसे उपमा रहित रूप को धारण कर अपनी देवियों सहित भवन-लोक के अधिपति इन्द्र अपने हाथ में पूजा द्रव्य लेकर उन केवली भगवान की पूजा करने आए ॥ १३२ ॥

निळसुमिळ्दिसंगु मेनि निरैयवि सुरामं शंवर ।  
 कळर्साणवि लंगुम् पावंकमसंगळ् कामने मुम् ॥  
 पुळर्लाळिदिसंगु मल्लार् वडिबिनार् कुळय वांगुम् ।  
 तळसुरुं तन्मै संद तरणनन वूच्य धाने ॥ १३३ ॥

उस धरणेन्द्र के मन्मथ के समान सुशोभित शरीर का प्रकाश चारों ओर फैला हुआ था। उनका मुखकमल सम्पूर्ण कलाओं के समान प्रकाशमान था। उनका शरीर स्वर्ण के समान चमकता था। उनके धरण लाल कमल के समान तथा केज नील मणि के समान चमक रहे थे। उनके देखते ही सम्पूर्ण स्त्रियाँ चंचल हो जाती थी ॥ १३३ ॥

आंगव नुरुवंकाना वरुंदवन् शेष्यंदनदो ।  
 वीगिय तवत्तिमान् मेलिव्वरुवाग वेष्सा ॥  
 नौगिय काक्षिदाथ निदानत्तो निरेय निड्डान् ।  
 ओंगियवुलमं वेंडां दुमिकोडा ओरुव नोत्तान् ॥१३४॥

उस समय घरणेन्द्र का वैभव परिग्रह, वहाँ के देवों की सुन्दरता, स्वरूप व ऐश्वर्य आदि को देखकर उन संजयंत मुनि ने सम्यक्दर्शन से रहित होकर निदान बंध कर लिया कि मैंने इस तपश्चरणा के भार से जो तप किया है उस तप का फल अगले भव में मुझे ऐसा मिले कि इस घरणेन्द्र के समान ऐश्वर्य वैभव, तथा चन्द्रकांति वाला मैं भी हो जाऊँ । जैसे बंदर के गले में रत्नों का कंठा बांध दिया जावे तो वह मूर्ख उसका मूल्य न समझ कर तोड़कर फेंक देता है, उसी प्रकार संजयंत मुनि ने अब तक सारे वैभव को छोड़ कर अंतरंग व बहिरंग से सारे शरीर को कृश किया था, वही आज अपनी पंचइन्द्रियों के लालच में आकर तपस्या से घरणेन्द्र के समान फल की प्राप्ति की कामना करके अब तक के समस्त तपश्चरणा के फल को ससार का कारण बना लिया, मोक्ष के देने वाले मार्ग से च्युत हो गया और मोक्ष मिलने वाले सुख को छोड़कर पंचेन्द्रिय भोगों में लिप्त होकर दीर्घ संसार में फंसने का कारण बना लिया ॥ १३४ ॥

अरुतवं तागि मेरुवनं पवकॅलु मासं तुरुं बिडे तोंडु मेनुम् ।  
 तुरुं बिडे तोंडु मेनुम् लुगळिनिन् चिरियरव ॥  
 ररुंतव निवनिकंडा मासं इल्लामं येडो ।  
 पेरुंतव मावबंड्रेर् पिरवि वित्तुर्तल लंडो ॥१३५॥

श्रेष्ठ तप ऐसे चारित्र्य भार को धारण कर उसके फल को तथा महान् मेरु पर्वत के समान कीर्ति को न पाकर तिल मात्र परिग्रह के मोह से वह अल्प गुणी बना और वह संजयंत मुनि संसार रूपी कीचड़ में फंस गया । जैसे कोई किसान बीज का रक्षण करता है और उसका उपयोग नहीं करता उसी प्रकार संजयंत मुनि ने कर्म रूपी बीज को नष्ट न करके उसे संसार का कारण बना लिया ॥ १३५ ॥

कनिंदनं कवळं कैइल् वेंलुडन् कळर वारै ।  
 मुनिदिडुं कळिण कोल्वार मुत्तिये विल्लं वन्दु नीरार् ॥  
 मनन्दोळत्तु रंदिडादे वाल् कुळं तेच्चिर् कोडुं ।  
 सुनंगनं पोलु नीरार् माट्टिडे सुलुलु नीरार् ॥१३६॥

जिस प्रकार महाव्रत हाथी को अनेक प्रकार के पकवान बनाकर खिलाता है परन्तु हाथी सहज ही आकर उसको नहीं खाता है, अपितु महाव्रत उसको पुचकार २ कर खुशामद कर २ के खिलाता है किन्तु वह अपने मन से नहीं खाता है और उसी हाथी की भूँटन को

कुत्ता अपनी पूंछ को हिला हिला कर भोजन खिलाने वाले उस महावत की खुशामद करता है और तब वह भूँठन को प्रसन्नता से खा लेता है। उसी प्रकार मनपूर्वक संयम को न धारण करने वाले जीव परिग्रह को न त्याग करके पुनः उसका अंश व उसकी लालसा उत्पन्न होने से उसकी ओर चला जाता है। उस समय वह मोक्ष को उत्पन्न करने वाले श्रेष्ठ तपश्चरण मार्ग को त्याग करके जिस प्रकार खाए हुए भूँठन को फेंक देते हैं या वमन की हुई वस्तु को पुनः ग्रहण करने की जो इच्छा करता है उसी प्रकार त्यागे हुए पंचेन्द्रिय विषय की पुनः इच्छा करके संसार में भ्रमण करके अत्यन्त दुख को भोगता है ॥ १३६ ॥

नजिनं यामदमङ्गे युंडवनर्यदु पिन्ने ।

तुंजुव दंजिन्दांडु नांजय तुपित्तल् पोलुं ॥

पुंजिय पोरिइन् भोगम् मांदिडे सुळट्टु मेन्ना ।

वंजिमुन् ट्टु रदं भोग तरुंद व नाशंनाने ॥१३७॥

पंचेन्द्रिय विषयों से युक्त भोगोपभोग वस्तु तीन लोक के सम्पूर्ण जीवों को घेरने के लिये कारण होती है। इस संसार दुख के कारणों से भयभीत होकर उन विषयादि राज्य पद को छोड़कर तथा मुनि पद को धारण किए हुए संजयंत मुनि ने पुनः इस परिग्रह को धारण किया। जिस प्रकार एक मनुष्य ने विष को अमृत समझकर ग्रहण किया और उससे वह अनन्त दुख को प्राप्त होकर फिर उसका त्याग कर देता है तथा उस दुख को भूलकर फिर मूर्ख के समान उसी विष का ग्रहण करता है, ऐसी दशा उस संजयंत मुनि की हो गई ॥१३७॥

ऐंदलै येखं तन् वायें दुडन् कलंदनंजिर् ।

ट्टु बं मोर् कडिगंयेल्लर् ट्टु जिनार् ट्टोडरंदिडावा ॥

मंवरि यरवन् तन् वायू योडिनालाय लौजु ।

तुंजिना लनेग कालं तोडरदुं निड्डुन् गळ् कंडिर् ॥१३८॥

अत्यन्त जहरील पांच फण वाला विषधर सर्प अपने पांचों मुखों से मनुष्य को काटता है और वह विष मनुष्य को अनेक प्रकार के असह्य दुःख देकर उसके प्राणों को नष्ट कर देता है, उस विष से वह प्राणी एक भव में नष्ट हो जाता है, पुनः उसको दुःख उत्पन्न नहीं होता है। किन्तु यह पंचेन्द्रिय नाम के विषय विषधर मनुष्य को भव भव में दुःख देने वाले हैं। श्री आचार्य गुण पद्मस्वामी ने आत्मानुशासन में कहा है—

राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरुतपः पूज्यमत्रापि यस्मात्,

त्यक्त्वा राज्यं तपस्यन्नलघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यं ॥

राज्यात्तस्मात् प्रपूज्यं तप इति मनसाऽऽलोच्य धीमानुदग्रं,

कुर्यादार्यैः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः ॥

राज्य के हाथ से दुष्टों का निग्रह होकर शिष्टों का पालन होता है। इसलिये राज्य

करना बड़ा धर्म है। और राजा पूज्य भी होता है जिस प्रकार तपस्वी को शास्त्र का अच्छा ज्ञान होता है तो उसका तप भी पूज्य होता है। इस अपेक्षा से यदि देखा जाय तो पूज्य राज्य भी है। उससे भी पूज्य तप है। परन्तु राज्य को छोड़कर यदि कोई तप करे तो और भी पूज्य समझा जाता है। किन्तु तपस्वी होकर फिर राजा बनना चाहे या राज्यपद पर बैठ जाय तो वह पूज्य से भी अपूज्य हो जाता है। उसे वह भ्रष्ट हुवा निकृष्ट समझते हैं। तपस्वी को राजा भी शिर नभाते हैं। राज्यपद से इतना बड़ा पुण्य कर्म संचित नहीं हो पाता है; जिस से कि आगामी फिर भी राजाओं को विभूति नियम से मिल जाय। क्योंकि राज्यपद के साथ मदमत्सर आदि दोष भी लगे रहते हैं; जिससे आत्मा अति पवित्र न रहकर मलिन हो जाता है। तप में यह बात नहीं है। जिस तप में कर्मों का निर्मूल नाश करके मोक्ष पद पाने की शक्ति विद्यमान है तो राज्यपद प्राप्त होना कौनसी बड़ी बात है? तप से आत्मा परम पूज्य बन जाता है।

भावार्थ—विषय भोग तुच्छ हैं, दुःखों को पैदा करने वाले हैं। राजभोग सबसे बड़ा विषयभोग है। इसकी इच्छा भी उन्हीं को होती है जो धन दौलत को अपने प्राणों से भी बड़ा समझते हैं, कामक्रोध अंधकार के जो आधीन हो रहे हैं।

किन्तु जो जितेन्द्रिय हैं, आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं, वे उस पर लास मारते हैं। इसी प्रकार राज्य को भी आत्मकल्याण करने वालों को हेय समझना चाहिये। इस राज्य के मूल में ही विषय भोग छिपा हुआ है व परंपरा से नरकादि चारों गतियों का कारण है। सदैव पाप का संचय करने का कारण है। विषय भोग की प्राप्ति के लिये यदि राज संपदा भी मिली तो उसको छोड़कर बुद्धिमानों को तप ही करना चाहिये। तप ही सुख का कारण है। तप से साक्षात् सुख को प्राप्ति होती है। राज से सुख व शांति नहीं मिलती है। परन्तु जैसे कोई व्यक्ति हाथी पर बैठा है तो सभी उसकी प्रशंसा करते हैं, यदि बहो व्यक्ति हाथी पर से उतर कर गधे पर बैठ जाय तो लोग उसी को हीन दृष्टि से देखेंगे। उसी प्रकार पूज्य पद प्राप्त करने वाले संयम पद को प्राप्त कर तीन लोक के पूज्य बन जाते हैं, और यदि उसे त्याग कर पंचेन्द्रिय विषय में पड जायें तो लोग धृणा की दृष्टि से देखते हैं। उसी प्रकार संजयंत मुनि की दशा हो गई थी ॥ १३८ ॥

काक्षियं कलविल ज्ञान कदिपिनै पिरित्तु पुक्कान् ।

मोक्षिई सुलग मेट्टु मुळ्ळुकुत्तो पेळित्तु वय् ॥

माक्षि पेट्टवने वै मदनक्के येडिमं याक्कु ।

मोक्षित्ता निदानतन्नं मनं कोल्लार् मदिइन् पिक्कार् ॥१३९॥

सम्यक्दर्शन को नाश करके, सम्यक्ज्ञान रूरी प्रकाश को मिटा कर तथा सम्यक्-चारित्र्य को गंवा कर इस चतुर्गति में भ्रमण कराने वाले दुःख को नाश करके सिद्ध लोक में रहने वाले सिद्धों के समान सुख को प्राप्त करने वाले सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य की आराधना से संजयंत मुनि च्युत होकर निदान शल्यसे मृत्यु को प्राप्त होकर धरणीन्द्र पद को प्राप्त हुए। यह ठीक है, क्योंकि जिस जीव के जिस समय जो परिणाम होते हैं उसी

के अनुसार उस को गति मिलती है—ऐसा समझना चाहिये । इसलिये भव्य सम्यक् दृष्टि जोव यदि इस संसार दुःख से पार होना चाहता है तो भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे मार्ग में तिल मात्र भी शंका नहीं करनी चाहिये ।

सारांश यह है कि वेदनीय, नाम, आयु और गोत्र ऐसे चारों अघातिया कर्मों को नाश करके तीन लोक के भव्य जीवों के पूज्य होकर वैजयंत राजा ने सिद्ध लोक को प्राप्त किया ।

॥ १३६ ॥

इस प्रकार वैजयंत का मोक्ष प्राप्ति नाम प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ।





## ॥ द्वितीय अधिकार ॥

घोळिबं नाल् विनयुं वडिट्टु लगोरु मून्डु मेत्त ।  
 वेळुंदु सेंडु लग दुच्चि यंदनान् वैजयंत ॥  
 नळुंविद्य निवानत्तोल जयंत नौवमर नाय् कीळ् ।  
 विळंबन नोळिद औरन् चरिते यान् विळंब लुट्टेन् ॥ १४० ॥

अर्थ—वैजयंत मुनि के मोक्ष जाने के बाद उनके शरीर के पड़े हुए नख, केश, आदि को केवल नमस्कार कर पुतला बना करके अग्नि कुमार देवों ने मुकटानल से दाह संस्कार किया, और उसकी भस्मी को अपने मस्तक पर लगा करके परिनिर्वाण पूजा करके चतुर्लोक्याय देव अपने-अपने स्थान को चले गये । निर्दोष तपश्चरण करने वाले वैजयंतमुनि के निर्वाण कल्याणक के पश्चात् उस स्थान को नमस्कार करके एकल बिहारी होकर निरतिचार व्रतों को पालन करते हुए सजयंत मुनि कायोत्सर्ग पूर्वक आत्म-ध्यान करने लगे ॥ १४० ॥

पंचगति गेट्चंङ्क परमन् टून् चरम मूर्ति ।  
 कजलि शेंडु वाळ्ति शिरपयर्द मररपोनार् ।  
 बंजमिरवत्तिनान् संजयंदनु वनंगि पोगि ।  
 यंजलिल् कोळगे तांगि इरा पगल् पडियनिङ्गान् ॥ १४१ ॥

अर्थ—महातपस्वी संजयंत मुनि श्रेष्ठ गुण से युक्त थे । महातपस्वी मुनि जिस वन में तपश्चर्या करते थे उनकी तपश्चर्या के प्रभाव से उस वन के क्रूर व्याघ्र, सर्प व जंगली पशु अपने बैर भाव को छोड़ कर उन संजयंत मुनि के पास प्रेम से परस्पर खेला करते थे ॥ १४१ ॥

मानकंङ्कन् पुलिङ्कन् कंङ्क मारिये मुलये युन्नुस् ।  
 घान् कंङ्क भाणं कंङ्कस् सिगत्तिन् कंङ्कोडाडुं ॥  
 ऊंङ्कंङ्क वाळ् जाति यतोळि लोळिदं वुळ्ळं ।  
 तान् सेंडु शांति माकुं वादमान् टून्मं याले ॥ १४२ ॥

अर्थ—दोष रहित संजयंत मुनि के तप के प्रभाव से नेवला, सर्प, चूहा, माज्जिर आदि प्राणी अपने बैर विवाद को छोड़कर परस्पर प्रेम से रहने लगे । भील लोग जो शिकार के लिये इधर उधर घूमते थे उनके मन में भी दया के भाव पैदा हो गये और शिकार करने का त्याग कर दिया । वह सभी मृनि के तप का प्रभाव था । क्योंकि तपस्वी मुनि जहां २ विचरते हैं वहां २ क्रूर प्राणी भी अपनी क्रूरता को छोड़ कर विशुद्ध परिणामों को धारण करते हैं । शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं । भगवान नेमिनाथ पूर्वभद्र में भील की पर्याय

में थे । उस समय एक महामुनि दिगम्बर साधु जंगल में विराजमान थे । उस भील राजा ने उनको जंगली मृग समझकर जब बाण उठाया तब उसकी स्त्री ने उसे समझाया कि यह वन देवता हैं, इनको मारना उचित नहीं है । तब भील ने आकर देखा और नमस्कार करके पूछा कि तुम कौन हो ? उन्होंने कहा कि मैं साधु हूँ । तत्पश्चात् मुनि ने पुण्य, पाप, पुनर्जन्म, मरण, राग-द्वेष आदि के सबन्ध में भील को समझाया । मुनि का उपदेश सुनकर उस भील को धर्म पर पूर्ण श्रद्धा हो गई और उस भील ने मांस, मदिरा आदि न खाने तथा शिकार न खेलने की प्रतिज्ञा की और स्थूल रूप से पांच अणुव्रत को पालन करने का नियम लिया । उसी भील राजा ने क्रम से अपनी पर्याय से मनुष्य जन्म में आकर सोलह कारण भावना भाई और तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया और आज वही भील का जीव नेमिनाथ तीर्थंकर हमारे लिये पूज्य हो गये । साधु के उपदेश से अवश्य जीव का कल्याण हो जाता है । इसी प्रकार संजयंत मुनि के प्रभाव से जंगल में क्रूर हिंसक पशु परस्पर प्रेम से किलोले करते हुए रहने लगे ॥१४२॥

येलिशेंद्रु नागं नन्मेलिडं नागम् कीरि ।  
नलियु मेंड्रुजं लिळ्ळं मानमा बालिन् मुळ्ळं ॥  
पुलिसेंद्रु वांगुं पुल्वाय् किडंडुळि नडुंगु मेंड्रु ।  
नलिबु शेवेडर् सेल्लार् सेट्टु मिनट्टु वत्ताल् ॥१४३॥

अर्थ—एकाग्र मन से बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों को त्याग कर मन, वचन, काय ऐसे त्रिगुणित से चार प्रकार के आहार भय, मैथुन और परिग्रह को त्याग करके पंचेन्द्रिय विषयों में जाने वाले मन के उपयोग को आत्म-ध्यान में एकाग्र करके छह आवश्यक क्रियाओं में मग्न होकर पुण्य और पाप तथा अशुभ व शुभ क्रिया को त्याग कर वे मुनि शुक्ल ध्यान में मग्न हो गये ॥१४३॥

ओरु वगं पट्टु उळ्ळं तिरुवगे तुरवु तन्नान् ।  
मरुविय कुत्ति मूड्रिर् सन्नेगमाट्टि ॥  
पोरुविलंबोरि सेरित्तु पोहंवि या वास मारिन् ।  
इरुवगे सविलिसाय् रेळुवरे शेरिय वंसान् ॥१४४॥

अर्थ—आठ प्रकार की शुद्धि से युक्त संजयंत मुनि तब विषय योग के द्वारा दस प्रकार के आस्रव को रोकने के कारण ऐसे एकादशांग शास्त्र पठन पाठन में लीन होकर श्रुत ज्ञान से युक्त मन के द्वारा बारह अनुप्रेक्षाओं को भाते हुए त्रयोदश चारित्र्य को निरतिचार पूर्वक पालन करने में मग्न थे ।

आठ प्रकार की शुद्धि:—

१. परिणाम शुद्धि २. विनय शुद्धि ३. ईर्ष्यापथ शुद्धि ४. प्रतिष्ठापन शुद्धि  
५. शय्यासन शुद्धि ६. वाक्य शुद्धि ७. भिक्षा शुद्धि ८. काय शुद्धि । ऐसे आठ प्रकार की शुद्धि से काय को शुद्ध कर आत्म ध्यान में लवलीन थे ।

शुद्धि थोरेट्टिर् टू यानोन्बवायो पियोगी लूट् ।  
 पत्तयुं तडुवक वंगस् पदिनोडिर् पयिडुशानं ॥  
 सिसं पाणि रडिर सेड् सियेयं मुहभिकइट्ट् ।  
 पतु मूडारि निड् किरिये पंडिडिट्टाणे ॥१४५॥

अर्थ—मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदना, आरंभ, समारंभ आदि को त्याग कर एकादशांग पाठी (द्वादशांग में दृष्टिवाद को छोड़ कर कुल ग्यारह अंग होते हैं) पांच बहाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति इन तेरह प्रकार के चारित्र मग्न होकर संजयंत मुनि आत्म-ध्यान में लीन थे ॥१४५॥

कायमा मरणि पेत्ती कडंदापिंद मडंगळ् पोलुं ।  
 वाम मादिलंगु माड मनोगर पुश्तौशेदं ॥  
 भमिमा मराळि येत्तिर् पेरियव निड् पोळ् बिर ।  
 शाम मादिलंगु मेरिस्तानव नोरुवन् वंदान् ॥१४६॥

अर्थ—अत्यंत विकट जंगल से दूर महान् सुन्दर राजधानी थी। उससे संबंधित उसी के निकट भीमारण्य नामका एक वन था। उस वन में सिंह के समान तेजस्वी शूरवीर निःसंग वृत्ति को धारण करने वाले संजयंत मुनि ध्यान योग में मग्न थे। वहां कृष्णवर्ण धारण किये हुए एक विद्याधर रहता था ॥१४६॥

बिसु दंत नैवनन् विद्याधर वेदन् ।  
 मत्त तंदि पोल्बन् वानवडियाग ॥  
 मुत्ततंदि मुडकुळर् शामे योड शेल्वान् ।  
 सित्तात्तंदि मिड् वन् मेरुशडान् ॥१४७॥

अर्थ—उस विद्याधर का नाम विद्युहंष्ट था। वह विद्याधरों का राजा था जो महान् क्रूर था। उसके दांत तीक्ष्ण तथा लंबे होकर प्रकाशमान थे। इस कारण उसका नाम विद्युहंष्ट था। उसका शरीर अति सुन्दर तथा केश बड़े लंबे और सुशोभित थे। एक दिन उसने अपनी विद्याधरी शामदेवी के साथ विमान में बैठकर आकाश मार्ग से आते समय जिस जंगल में संजयंत मुनि ध्यान में खड़े थे, वहां उनके ऊपर से जाने लगा तो वह विमान वहीं आकाश में कीलित हो गया ॥१४७॥

मन्ने निड् मादवर् कोन्मी दोडाशार्ई ।  
 विन्नेलिड् विमानं कंडु विदपेदि ॥  
 पुष्मेल वेला रेडुडान् पोपुं गेदाट्टान् ।  
 कन्नेर् कंडान् कैवल शत्वि कणि याने ॥१४८॥





संजयंत मुनि वन में तपस्या कर रहे हैं और उनकी तपस्या के प्रभाव से उनके ऊपर विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर का आकाश में जाता हुआ विमान कीलित हो जाता है।

अर्थ—उस समय संजयंत मुनि के ऊपर जब वह विमान कीलित हो गया तो वह विद्याधर विचारता है कि यह विमान कैसे रुक गया ? आश्चर्यं चकित होकर नीचे आकर देखा तो संजयंत मुनि ध्यानारूढ बैठे हैं, उनको देखते ही जैसे किसी को भाला घुसते हो अत्यंत वेदना होती है, उसी प्रकार उस विद्याधर के हृदय में पूर्वजन्म के बैर से महा क्रोध उत्पन्न हो गया ॥१४८॥

कानानिद् वेरम् कनट् कडिदोडि ।

माणानोदि माधवर् कोणवकुड्बंदु ॥

सेना रोडुं इमान मेट्टि शेल्गेडान् ।

वेनार् वेळ्ळमले इनिवट्कीळ् परदत्ते ॥१४९॥

अर्थ—तब उस विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर ने पूर्वजन्म में किये हुए पाप कर्म के उदय से शीघ्र ही उस मुनि को जबरदस्ती से खींचकर विमान में बिठा लिया। वहां बांस का बड़ा भारी जंगल था। उस जंगल में विजयार्द्ध नाम का पर्वत था। उन संजयंत मुनि को वहां लाकर बिठा दिया। पापी दुष्ट लोग क्या २ नहीं करते हैं। अर्थात् सभी कुछ कर सकते हैं। पूर्व जन्म में जैसा २ जिसने किया वैसा २ उसको भोगना पडता है। तब उस समय वह मुनि मन में विचार करते हैं कि मैं इस समय आत्मा और शरीर को भिन्न रूप में समझ गया हूं, इस में मेरी कोई हानि नहीं है। मैंने पूर्व जन्म में इसके साथ अपकार किया था, वह कर्मरूपी ऋण है, उसका बदला चुकाना है, और उस ऋण को यह विद्याधर यहीं पूर्ण कर ले तो ठीक है। इस प्रकार वह मुनि बारह भावना आदि का चितवन करते हुए एकत्र भावना का विचार करने लगे।

अरि मित्र महल मसान कचन काच निदन थुति करन ।

अघबितारन असि—प्रहारन में सदा समता धरन ।

इसी प्रकार वह संजयंत मुनि भावना भाने लगे ।

उत्कृष्ट साधु के तप की महिमा:—

इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान् ।

गुणाः परिणामति यानसुमिरप्यय वाञ्छति ॥

पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वययायिनी ।

नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि ॥

अर्थ—घनादि काल से साथ लगे हुए तीव्र कषायादि का इस तप के धारण करने से ही नाश होता है। यह कषायें जीव को संसार के दुख भृगताने में मूल कारण है। इस कारण यह शत्रु के तुल्य हैं। इनको वश करना या इनका दमन करना तप द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि तप करने वालों को इंद्रियां वशीभूत हो जाती हैं। जिससे कि विषय-

वासना छूट जाने से क्रोधादि तथा रागद्वेषादि कषायों का बीज धीरे २ नष्ट हो जाता है । विषय वासना हटने से ज्ञानाभ्यास विषय, आकुलता हटने से शांति तथा तप रूपी श्रेष्ठ कार्य होने से पूजा सत्कार आदि मिलता है । जिन उत्तम गुणों के प्राप्त होने की अभिलाषा प्राप्त जाने पर भी मनुष्य उत्कंठा से रखता है, यह सभी गुण तपस्वो को प्राप्त होते हैं । यह सभा लाभ साक्षात् जिसको प्राप्त हुए उसके लिए देखने व सुनने में यही आता है कि कालांतर में इससे मोक्षपद की प्राप्ति भी होती है—जो जीव का सर्वोत्कृष्ट तथा अंतिम साधन हो सकता है । इस मोक्ष पद से अधिक जीव को और क्या साध्य हो सकता है, कि जहां पहुँचने से संसार संबंधी वेद, जन्म, मरण, भय, रोग आदि २ सर्व क्लेश समूल नष्ट हो जाते हैं और संसार के दुखों का हमेशा के लिये नाश हो जाता है । जहां कर्मक्षय हो जाने के कारण अज्ञान तथा मोह वश होने वाले कर्मजन्य दुःखों से छुटकारा मिलता है, फिर उस जीव को दुःख कहां से हो सकता है ? मोक्ष प्राप्त होने के बाद दुख का निर्मूल नाश हो जाता है, इसमें अधिक सुख संसार में कहीं नहीं है । दुख सब पराधीनता या विजातीय वस्तु के मेल से ही होता है । यह पराधीनता कर्म जन्य है । वह पराधीनता मोक्ष में नहीं रहती है फिर वहां दुःख किस बात का होगा ? ऐसी अत्रित्य मोक्षधाम की प्राप्ति इस तप से ही हो जाती है । बुद्धिमान् मनुष्य को चाहे प्रत्यक्ष फल न मिलने वाला हो परन्तु परिपाक में उत्तम फल मिलता दीखता हो तो ज्ञानी उसको अवश्य करता है, किन्तु अज्ञानी मनुष्य की इसकी विपरीत चाल होती है । चाहे परोक्ष में उसका फल मिलना संभव हो या न हो, परन्तु प्रत्यक्ष फल यदि मिलता हो तो मनुष्य उसे अवश्य करता है । यह तपश्चरणा ऐसी वस्तु है, कि इसका फल परोक्ष भी है और प्रत्यक्ष भी है और वह इतना उत्कृष्ट है कि जिससे सर्व प्रकार के क्लेश नष्ट होकर सर्व शाश्वत आनन्द प्राप्त हो जाता है ।

अधिक क्या कहें, जिस मनुष्य ने तप के आनन्द का भोग नहीं किया, न जिसको इसका आनन्द है वे इसका लाभ नहीं ससक्त सकते । जैसे भीलनी ने सच्चे मोतियों की कदर नहीं समझी । वह गजमोती बिखरे हुए जंगल में देखने पर भी उनकी कदर नहीं करती, न उनको छूती है । परन्तु गुंजाफल को समेट २ कर उनके अनेक आभूषण बनाती है और उन को पहनकर अपने को धन्य मानती है । जो मोतियों की कदर करता है, वह ऐसा नहीं करेगा । अर्थात् गुंजाफल को नहीं पहनेगा । इस प्रकार जो मनुष्य इस तप के आनन्द को लूट चुके हैं, देख चुके हैं वे किसी प्रकार भी इन्द्रिय सुख तथा पर वस्तु में मग्न नहीं होते । यदि तप करते हुए शरीर नष्ट भी हो जाय तो कोई परवाह नहीं करते । इस प्रकार दुर्धर तप करने वाले संजयंत मुनि सिंह के समान शूरवीर एवं पराक्रमी थे । कर्म रूपी शत्रु उनसे दूर भागते थे ॥१४६॥

बंदान् कुमदा वदी युमरीनर् सुवनं पर् ।

कंदार् कयम् बलिपिन् वैतानदिमूङ् ॥

शंदार् शंड वेगेधु मायनायत्तिन् ।

ऐंदारु सेंडोंडा तडात्तिनडुवाग ॥१५०॥

अर्थ—तपश्चात् उस दुष्ट विद्युद्दंष्ट्र ने उस संजयंत मुनि को हरिबती, स्वर्णवती,







विद्युद्दृष्ट विद्याधर मुनि को घसीट कर विमान में बिठाकर आकाश में लेजाकर ऊपर से पांच नदियों के संगम के पास नदी के किनारे पर डाल रहा है ।

गजावती श्रीर चण्डवती नाम की नदियों के पास लेजाकर विकट जंगल में पटक दिया ।

॥ १५० ॥

सिग्ने मुरुषिक विमानं शेल्लावगे नोषिक ।

अंबसाडात्ति नडुवे मुनिये यवनिट्टु ॥

मुन्सं विनया लवनं मुनिये मुरुषिकनान् ।

मुन्सि विनइन् मेले मुनियु मुरुषिकंड्रान् ॥१५१॥

अर्थ—तदनंतर वह विमान तो वहीं रह गया, श्रीर विद्युहंष्ट्र विद्याधर ने संजयंत मुनि को देखा श्रीर देखते ही मन में क्रोधाग्नि उत्पन्न हो गई तथा उपसर्ग करने के अनेक प्रकार के षड्यंत्र रचने के भाव उत्पन्न होकर उपसर्ग करना चालू कर दिया । उस समय संजयंत मुनि अपने पूर्वजन्म में किये हुए कर्म का उदय समझकर ध्यान में स्थिर रहे ॥१५१॥

मसत्तांदि वडिवाइ वीरन् मवत्तु ।

कुंसाकुरुगा मरिया ओडि कोन्माथा ॥

शसि तंडु तारे वाळ्वेल् तडियेदि ।

येत्ता वेरियाविलिया वेळिया विडवोडम् ॥१५२॥

अर्थ—उस विद्युहंष्ट्र ने अपने विद्या के बल से दो रूप को धारण कर संजयंत मुनि के वक्षस्थल में अपने तीनों दांतों से काट खाया श्रीर अनेक घाव कर दिये, श्रीर वहां से लौटकर प्रायुध दंड मुग्दल आदि शस्त्रों को लाकर उस मुनि को अनेक प्रकार के कष्ट दिये । तत्पश्चात् पुनः क्रूर व्याघ्र रूप धारण कर उनको डराने का प्रयत्न किया ॥१५२॥

वाळोई रिसंग वंकावंरव माइ वंडु तोडु ।

कोळरि येरुमागं कुक्कुट्टु कुसंगसोडु ॥

नीळे रि कोळुमुंसुट्टुं निलं पिळंबदिर वार्कं ।

तोळिनै तुनिप्पनेडुं वाळिनै सुळट्टि तोडु ॥१५३॥

अर्थ—अत्यंत तीक्ष्ण व प्रकाशमान दांतों को धारण करने वाले विद्युहंष्ट्र ने उस मुनि को डराने के लिये सिंह सर्प आदि अनेक विकराल रूप धारण किये शूल, मुग्दल, दंड आदि शस्त्रों से प्रहार किया । तुम को मार डालेंगे, वीर डालेंगे ऐसे भयंकर शब्द बोलता हुआ वह विद्याधर मुनि के समीप गया ॥१५३॥

अळलु मिळ्विलंगु वेव्वा योरिया येळंत्तु कत्तुं ।

सुळलुं वेन् कन्नवाय वेरुवै याम् सुळल ओडुं ॥

मळं यन तुरुगर पंय्या मलयडुत्ताड वंदेडु ।

मुळयवर् नडुंगुवेळ्ळा ऊनमु भोरुंगु संय्युं ॥१५४॥

अर्थ—सिंह आदि भयानक क्रूर पशुओं के रूप को धारण करता हुआ वह दुष्ट गर्जना करने लगा । जिस प्रकार बादलों से मूसलाधार मेघ वर्षता है, बिजली चमकती है उसी प्रकार मुनि पर पत्थरों की वर्षा करके उपद्रव करने लगा ॥१५४॥

इनेयन् पलवुंशंय विरेवनु भिवैयलामेन् ।  
विनइन पयगळोङ्गे वेगुंडिलन् विनेकन्मेले ॥  
निनेविने निरुत्ति निङ्गा नोचनु नोंगि योगि ।  
तनदिड कुहगि यारुं सलित्तोळुं बडियर् सोझान् ॥१५५॥

अर्थ—इस प्रकार उन ने अत्यंत घोर उपसर्ग अपने पर होते देख उस समय विचार किया कि मेरे ऊपर होने वाले जो उपसर्ग हैं यह सब पूर्व जन्म के पापों का फल है । यह अशुभ कर्म स्थिति पूरी होने पर अब उदय में आए हैं । ऐसा विचार करके विद्युद्दंष्ट्र द्वारा किए गये उपसर्गों पर कोई विचार न करके वह मुनि आत्मध्यान में मग्न हो गये ।

मेरे अकेले से यह काम नहीं बनेगा यह विचार करे वह विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर अपने नगर में गया और नगर के लोगों को डराने के लिये मायाचारी बातें कहकर उन लोगों को अपने साथ चलने को तैयार किया ॥१५५॥

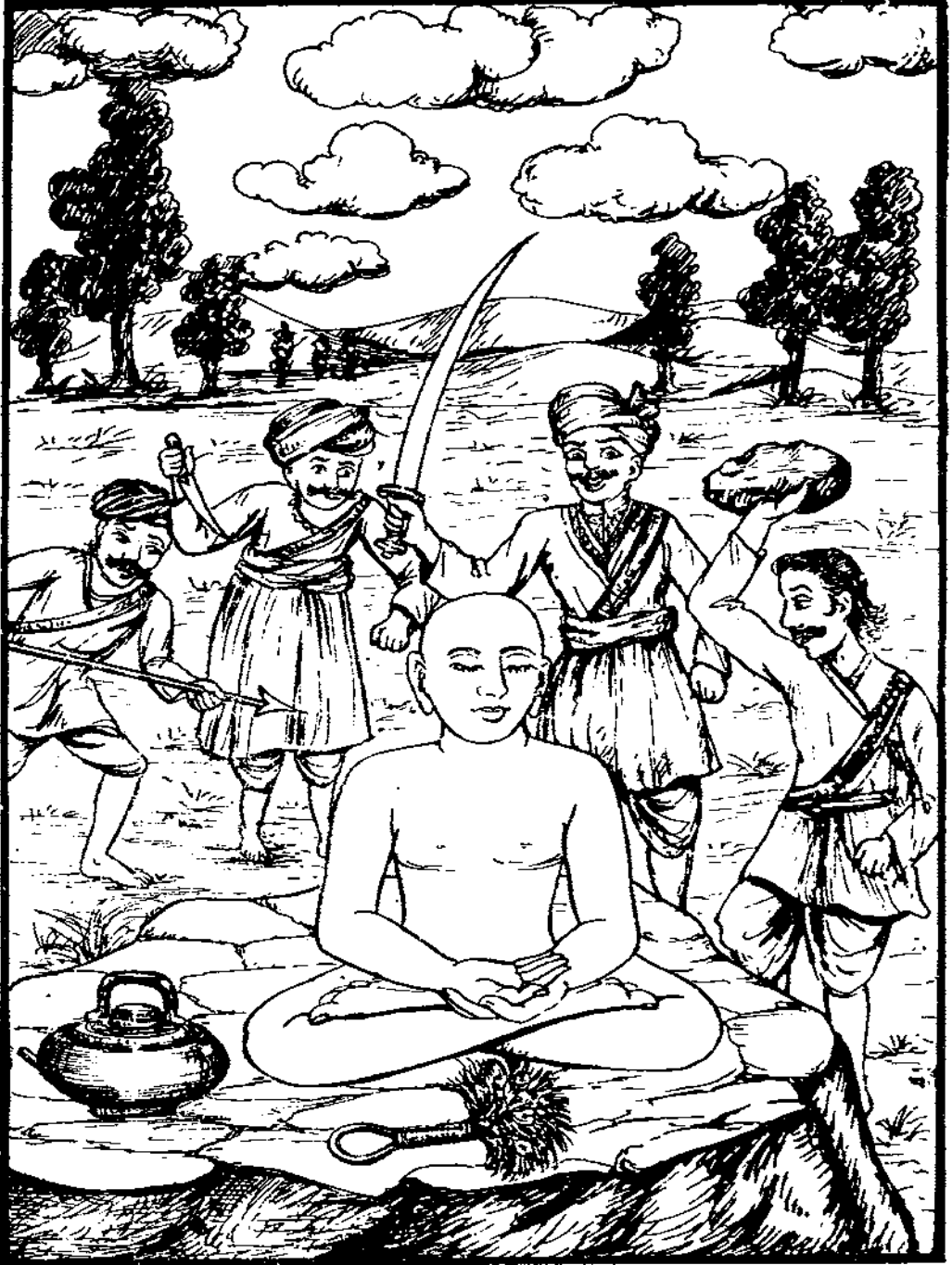
बिलमेन पेरिय वाइन् पिनयलोङ्गु न तिझान् ।  
मलेपळ विळुंगि नालुं वरोङ्गु निरेदल् सेल्लान् ॥  
पल पगल् परिङ्गु वाडि पदैपिडि येत्तापेट्टा ।  
लले पलशौदु नम्म विळुंगु वंदरक्क निङ्गान् ॥१५६॥

अर्थ—वह दुष्ट विद्याधर उन सभी लोगों से कहने लगा कि हमारे नगर के पास वाले जंगल में एक बड़ा राक्षस मनुष्याकार आया है । उसका मुख पर्वत की गुफा के समान बहुत बड़ा भयंकर है । वह राक्षस केवल मुर्दे को खाता है और कोई वस्तु नहीं खाता है । नगर के सभी मुर्दे खाने पर भी उस राक्षस का पेट नहीं भरता है । सूर्य अस्त होने पर वह राक्षस हमारे नगर में आयेगा और सब को खाजायेगा । इसमें संदेह नहीं है । ऐसा वह राक्षस हमारे नगर के पास के जंगल में है ॥१५६॥

इंङ्गिरा नम्म एल्लां पिडित्ताव नडेयत्तिळुं ।  
इंङ्गिरा वारा मुन्ने ईंङ्गुनामडय कूडि ॥  
इंङ्गिरा वण्णां शंय्या तोळिदुमे लिळुं दुं वाळ् नाळ् ।  
एंङ्गिडा वेक्कं सोझा नेरि नरगत्ता वीळ्वान् ॥१५७॥

अर्थ—वह राक्षस आज रात्रि को नगर में आकर हमको मारकर खाजायेगा इस लिये हम सब लोगों को जंगल में जाकर उसका नाश करना अत्यंत आवश्यक है । यदि उसका नाश नहीं करेंगे तो हम सभी मर जायेंगे । ऐसे तीव्र नरक के बंध होने वाले कृत्य करने





विद्युहंष्ट्र तथा उसके अन्य विद्याघर संजयत मुनि पर अनेक प्रकार के शस्त्रों से उपसर्ग कर रहे हैं ।

को उन सभी के सामने क्रोधपूर्वक विद्युद्दंष्ट्र ने कहा ॥१५७॥

एमक्कवन् शौव कुट्टमिल्लं एंङ्गिगळ वेंडाम् ।  
उयक्कु मानुरुदि सोन्ने नुरत्तकुम् पिन्नं मैयाम् ॥  
सुमक्कला मलंगळोडि शोरिव वन् ट्रन्नं कोन्मिन् ।  
एमक्क वन् शौव वेन्ना पिन्न यु मरिदु कोण्मिन् ॥१५८॥

अर्थ—वह विद्युद्दंष्ट्र पुनः उन लोगों से कहने लगा कि वह राक्षस महान दुष्ट है, उसका नाश करना है। मेरे पर विश्वास रखो। अब तुम सभी लोग मिलकर मेरे साथ चलो।

॥१५८॥

अरक्क नेंडोरेत्त माट्टं सेविप्पुर तुररु मंजा ।  
तिरेत्तडि वेळुवुं शौडु शरीववन् पेरुमैकाना ॥  
अरक्कने इवनेंडुंजा वरुत्तव मरिविलावार् ।  
वरंतिरळोवि सूळुवार् वानवर् अडुंगि इट्टार् ॥१५९॥

अर्थ—उस महान दुष्ट विद्युद्दंष्ट्र की मायाचारी बात को सत्य समझकर अज्ञानी सभी लोग विद्याधर से डर कर समुद्र की कलकलाहट के समान अत्यंत तीव्र ध्वनि करते हुए तथा महान क्रूर व्याघ्र के समान गर्जना करते हुए जहाँ महा तपस्वी संजयंत मुनि तपस्या कर रहे थे वहाँ पहुँच गये। तत्पश्चात् पर्वत के बड़े र पत्थरों को उठा कर उन संजयंत मुनि पर बरसाने लगे। उन मुनिराज पर होने वाले उपसर्ग को देखकर वन के सभी देवों ने अपनी अपनी आँखें बंद कर ली ॥१५९॥

मिन्नोडु तोडरं दु मेगं वेडिपड विडित्तु तौडि ।  
पोन्मलै तन्नं सूळुवु पुयलिनै पोळिववे पोन् ॥  
मिन्नुं वेळुळे इट्टर् मेलिवकरियवर वेडिप्पवातुं ।  
कन्मळं पोळिय वोरन् कनगमा मलैनिड्डान् ॥१६०॥

अर्थ—जिस प्रकार आकाश में बिजली होती है, मूसलाधार वर्षा होती है, उसी प्रकार अत्यंत क्रूर दांत वाले विद्याधर ने उन मुनि पर घोर उपसर्ग करना प्रारंभ कर दिया। वे संजयंत मुनि उस उपसर्ग को आया देख अपने धर्म ध्यान में तल्लीन हो गये ॥१६०॥

बंद तानवर् वरयेड तेरियवु मावल शलियवे ।  
निडु तन्मये पोरक्क लावान् शौव वेरुप्पं यावल नोक्कि ॥  
इंङ्गिवन शौवलेन्विने कळिव यावकुं मरिदागुम् ।  
येंडु सुक्किल ध्यानवाळेडुत्तिरल् विनेपगं युडे कुट्टान् ॥१६१॥

अर्थ—इस प्रकार नगर के सभी विद्याधर विद्युद्दंष्ट्र के साथ मुनिराज पर उपसर्ग करने लगे । वह उपसर्ग सहन करना मुनि के लिये घाठों कर्मों की निर्जरा का कारण बन गया और उपसर्ग को सहते हुए संजयंत मुनि अपने धर्मध्यान में लवलीन होकर चार घातिया कर्मों का शुक्ल ध्यान नाम के प्रायुष के द्वारा नाश करके कर्मों की निर्जरा करने लगे ॥१६१॥

वीरन्येर्सेलुं वेगुळि बेंतीहमन् विरेंदे ।  
मारि पोर् पल मलं येहुसोरिवन नेरिय ॥  
वीरन् मेर्सेलुं वेगुळिये विलधिक पोम्नोह ।  
वार सेंडपिम् पमात्तनं परिदेरितिट्टान् ॥१६२॥

अर्थ—वह संजयंत मुनि अपने शुक्लध्यान में मग्न रह रहे तो भी वह दुष्ट विद्याधर उनपर अनेक उपसर्ग करने लगा, किन्तु इतना होने पर भी उस मुनि पर उपसर्गों का कोई प्रभाव नहीं पडा । उन मुनि महाराज ने क्षमा रूपी खड्ग से ध्यान द्वारा कर्मों का क्षय करके यमस्त गुणस्थान को नाश करके अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त कर लिया ॥१६२॥

विन्पुद्वेक्क विन्चयर वन् पोळिबनन् विष्पोर् ।  
कन् पुद्वेस्सु मयंगिनार् मुरिवन् ॥  
पम्बु मैतवर् सन्मयु त्तलयुं पाकुं ।  
कम्पुद्वेक्कुमो रेळुवरं एक्कणगळित्तान् ॥१६३॥

अर्थ—वे दुष्ट विद्याधर लोग मूसलाधार वर्षा के समान वर्षा की वर्षा उन मुनि महाराज पर करने लगे । जिससे उस वन के सभी देवी देवताओं ने भी अपनी २ घांखें बंद करलीं । उस समय उन संजयंत मुनि ने देव, शास्त्र, गुरु पर सच्चा श्रदान रखा और श्रद्धा पूर्वक सप्त प्रकृतियों का नाश किया ॥१६३॥

कळ्वं त्तुदुं बनेरि कनस्सु कडुगिनन् कडुग ।  
वेळ्वंतिर् मुनि विनेगळं येळ्ळिप्प नेडुंभा ।  
पम्बत्तुसु त्तुरांविने पगं निलं तळरतान् ।  
पुळ्वि योडुंनिडुंनि येट्टि त्तलयुं पुनर्दान् ॥१६४॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस दुष्ट विद्युद्दंष्ट्र ने और भी अत्यंत तेजी से उन संजयंत मुनि को उपसर्ग देना प्रारंभ किया । परन्तु उन मुनि ने अपने धैर्य तथा दृढता से आत्मा के बल द्वारा सम्पूर्ण अपूर्वकरण गुणस्थान से प्राप्त होकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त किया ॥१६४॥

कारट्टमेणिया थानु कंडवर्नडुं गु वणं ।  
ओरिट्टु विसंगळ् येसुमुदमेन तौडु वीरन् ॥

आरद्रियोडु कूडा यिनै पड तलैव राय ।

बीरेट्टु, विनयर् तम्मै येडुत्तोरिविट्टु, निड्रान् ॥१६५॥

अर्थ—काले मेघ के समान शरीर वाला वह विद्युद्बिंदु चारों ओर से उनपर घोर उपसर्ग कर रहा था । बड़े २ वृक्षों को उखाड़ कर उनपर फेंक रहा था । उस समय संजयंत मुनि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अस्सी समय शेष रहने पर सोलह कर्म प्रकृति को नाश करके पृथक्त्ववितर्क वीचार नाम के प्रथम शुक्लध्यान में आरूढ हो गये ।

भावार्थ—सोलह प्रकृति इस प्रकार हैं:—

प्रकृतियों के नामः—नाम कर्म में नरकगति, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेंद्रिय, दो इंद्रिय, ते इंद्रिय, चतुरिंद्रिय, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण ऐसे यह १३ तथा दर्शनावरणीय कर्म में तीन—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृह्णि ऐसे १६ प्रकृति को नाश किया ॥१६५॥

मयक्क पोररसन् मक्कळ् वंदेन्मर्त्तम्मुळ्ळोडि ।

कयक्कर पोरवुमाय काय्दलि माय् व पिन्नै ॥

वीयक्क ओंदोरुत्ति वीळ् वार्, मेल्लियरुव रोडु ।

मुयप्पिळ्ळं वोरुवनिड्रा नोरुंबुपोर् तोडगि माय् दान् ॥१६६॥

अर्थ—तत्पश्चात् मोहनीय कर्म के संतानरूप में रहने वाले आठ कषायों को द्वितीय समय में नाश करके नपुंसक वेद तीसरे समय में नाश किया । क्रम से चौथे समय में स्रावेद, पांचवे समय में हास्यादि नोकषायों को नाश करके पुरुषवेद का छठे समय में नाश किया ।

॥१६६॥

कळ् मल्ले कवदिर् पेय्दु कनेमळ्ळं यिल्लिर् पेय्दुं ।

एळ्ळं ई लिडुंवे शंद-लिरवन्मे लुरामं नोकि ॥

पुल्लियर् पोरान्नाल्वर् पोर् मुरे मूवर वीळ् वार् ।

मेल्लिया नोरुवन् वीळ् दु केडु पिन् माय् दु पोन्नान् ॥१६७॥

अर्थ—इतना होने पर भी वह महापापी विद्युद्बिंदु असाध्य बाण तथा पत्थर आदि के द्वारा महान दुःख देने के लिए अनेक प्रकार के उपसर्ग करता ही रहा । इतना उपसर्ग करने पर भी संजयंत मुनि को एक भी उपसर्ग मालूम नहीं पडा; क्योंकि स्वपरभेद ज्ञानी लोगों को जहां शरीर और आत्मा पृथक् २ दीखते हैं, वे अपने निज स्वरूप में मग्न रहते हैं । उनको बाहर में होने वाले उपसर्गों का ज्ञान नहीं होता । जैसे किबाड बन्द करके अपने मकान में सोने वाले मनुष्य को बाहर की ओर होने वाले पत्थर शोलों को वर्षा का कुछ मालूम नहीं होता उसी प्रकार भेदज्ञान वाला मनुष्य अपने आत्मध्यान में लीन हो जाता है उसको बाहर का हाल मालूम नहीं होता । तदनुसार संजयंत मुनि ने उपसर्ग की ओर लक्ष्य न देते हुए संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे चार कषायों को क्रम पूर्वक सातवें समय में, और



घाठवें समय में संज्वलन मान का और नवें समय में माया का नाश किया, अर्थात् अनिवृत्ति गुणस्थान में कर्मों का नाश किया और सूक्ष्मसांपराय नाम के गुणस्थान के अंतिम समय में संज्वलन लोभ का भी नाश कर दिया ॥१६७॥

बिळंगु वाळ इरिलगं नक्कुरुमेन तेळिया ।

पुळंकोळ् कामुं गिलेन बिळिया पोडिचोळुं दान् ॥

तुळंगु शुक्किल ध्यान वाडुळक्कर पिडिया ।

कळंकोळ् शिंदेयन् पसले निद्दि रैगळं कांडनान् ॥१६८॥

अर्थ—अत्यंत तीक्ष्ण दांतों से बिद्युद्दंष्ट्र उपसर्ग करते समय हंसता हुआ महान क्रोध के आवेश में मेघ के समान गर्जना करते हुए उनके ऊपर और भी अधिक उपसर्ग करने से नहीं रुका । उस समय संजयंत मुनि एकत्व वितर्क वीचार नाम के दूसरे शुक्लध्यान से चलन रहित होकर आत्म बल के द्वारा क्षीण कषाय गुणस्थान के अंत में दो समय शेष रहने के बाद प्रचला, निद्रा ऐसे दो कर्मों का नाश किया ॥१६८॥

कणं कडंब पिन् कण्मिसै नाळ्वरी काना ।

पिणंगु मिल्लै युळरिबिनै शेरिचुरसौवर् ॥

इनगि बंदे वरिडै युहमचरोडु येदितार् ।

मनंदु मट्टीवीरेळुवहं कनत्तिले मडिदौर् ॥१६९॥

अर्थ—तदनंतर दूसरे समय में दर्शनावरणीय के चार, ज्ञानावरणीय के पांच, अंतराय के पांच इस प्रकार चौदह कर्मों की स्थिति में अन्त समय में और नाश किया । दर्शनावरणीय चार प्रकृति हैं—चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवल दर्शनावरणीय ऐसे चार भेद हैं । ज्ञानावरणीय के पांच भेद हैं—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यय ज्ञानावरणीय, केवलज्ञानावरणीय । अंतराय कर्म के पांच भेद हैं— लाभांतराय, दानांतराय, भोगांतराय, उपभोग अंतराय और वीर्यांतराय ॥१६९॥

घाति नालर सेळिवन वळिवलुं कंवल ओरुनान्मे ।

पोवि पादिगळ् पुणारंदन पुणदिलुं पुगंडु लकोरु मूंडुसु ॥

ज्वोति मामलर् शोरिदु बंदडैवन रडैदलुं तुयरांद ।

तीडु शैदवन् ट्रिगंतनन् ट्रिगेट्टिडा निलैत्तिडै पोइवीळ् दान् ॥१७०॥

अर्थ—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अंतराय ऐसे चार प्रकार के कर्मों का नाश होते ही केवल ज्ञान रूपी प्रकाश शीघ्र प्रकट होकर अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य से चार चतुष्टय आत्मा में प्रकट होते ही स्वर्गों के देव आकाश से पुष्प वृष्टि करते हुए संजयंत मुनि के पास आये । तत्पश्चात् वह बिद्युद्दंष्ट्र विद्याधर उन देवों के प्रभाव से दूर जाकर गिर पड़ा ॥१७०॥

पगलव नेळाच्यइर् भवनर् तोंडिनार् ।  
इगलिड तवर्गळो डिसेयुं मोंडिनार् ॥  
मुर्ग मलर् सोरिन्दु लवर् कन् मूडिनार् ।  
इगरोलुत्तवन् सेप्पिन् मनियं योत्तनन् ॥१७१॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य उदय होकर शीघ्र ही एकदम ऊपर आजाता है उसी प्रकार भवनलोक के देव अत्यंत कांतिमान शरीर वाले ऊपर आये । ध्वंस्तर ज्योतिषी देव तुरंत ही आकर आठों दिशाओं में रह गये । कल्पवासी देव पृष्प वृष्टि करते हुए आये । उस समय वह संजयंत मुनि ऐसे दीखते थे जैसे शीशे में दीपक रखने से प्रकाश होता है । उसी प्रकार मुनि का परमौदारिक शरीर प्रकाशमान होता था ॥१७१॥

ताम नांङ्गन शंदेन मेळुगिंन चरु फलत्तान् बंद ।  
धम भातंन सुडर् विळक्केरिदन सोरिवन मलर् मारी ॥  
वाय वारिइन् वाल् वळ येरिसिइन् मंगयर् नडमुन्ना ॥  
काम वेळ वैङ्गिरुंदवन् टिरुवंडि पळिदुडन् ट्टु दिशंदार् ॥१७२॥

अर्थ—वह संजयंत मुनि जिस स्थान पर विराजमान थे उस स्थान की भूमि को देवगण ऊपर से ही पुष्पों की और चंदन की वर्षा करके सींचते थे । दीप, घूप, चरु, फल आदि की थालों में भरकर मुनि के सामने ला लाकर रख रहे थे । साथ ही रत्नमयी दीपकों का प्रकाश किया । अत्यंत परिशुद्ध शालि (चावलों) से पूजन किया । सभी देवांगनाओं ने आकर नृत्य किया । इस प्रकार घातिया कर्मों के नाश करने वाले केवली भगवान् संजयंत की पूजा और स्तुति करने लगे ॥१७२॥

विदिग नान्गैयुं कडंदनै यडंदनै विकल मीलोहान्मं ।  
मदिगनान्गैयुं कडंदनै यडंदनै युलगला मदि योंडिर् ॥  
गतिनान्गैयुं कडंदनै यडंदनै यगदियं गतिइंङ्गि ।  
तुदिगनान्गैयुं कडंदनैर् तुर उडै सुगतवैपरुमाने ॥१७३॥

अर्थ—हे नाथ ! आप चार प्रकार के घातिया कर्मों का नाश करके अनंत चतुष्टय को प्राप्त हो गये हैं । आपने मति, श्रुत, अवधि ज्ञान को छोड़कर तीन लोक में चराचर वस्तु को एक समय में जा ने वाले केवल ज्ञान दीपक को प्राप्त किया है । नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति इन चारों गतियों को नाश कर पंचमगति नाम की मोक्षगति को प्राप्त करनेवाले हैं अर्हंत, सिद्ध, साधु ऐसे धर्म को छोड़ कर शुद्ध परमात्म पद को प्राप्त होने वाले हैं । स्वामी आप ही हमारे रक्षक हो, आप ही सब प्राणियों को शरण देनेवाले हैं ॥१७३॥

उलग मूँडैयु मेँबिडु माट्टलं योरुकरण दुलगत्तिन् ॥  
अलगि नीळयु मगलमु मुयलमु मनुबिन लळविकर्कं ॥

इसगु तम्मयै इयल्वि लेष्बुद्दुर्गळ् मीयद् मसुळिल् सेदु ।  
विलगि निद्रिडुं विचिस्तिर किरिये नल्बीर्यं विरल्बेदे ।१७४

अर्थ—एक समय में तीन लोक की चराचर वस्तु को आपने जान लिया तथा उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई आदि परमाणु से नाप करने वाले ज्ञान को प्राप्त कर लिया । आप स्वभाव गुणों से युक्त अनंत ज्ञान वृद्धि से समस्त जीवों के प्रति हिताहित क्रियाओं को परमानंद के द्वारा प्रातिपादन करने वाले हैं । इतना करने पर भी आप परवस्तु से भिन्न हैं । तिलमात्र भी उसका संबंध न होने से आप परिग्रही रूप नहीं हैं । उसमें राग परिणति नहीं है, उसमें रहते हुए भी आप सर्वत्र उससे भिन्न हैं । इस प्रकार जगत को आश्चर्य करने वाले केवल ज्ञान को प्राप्त किये हुए आप भगवान हो ॥१७४॥

मरंगळ् मायं दिड् बान् पोरि यंदयु माद्रिमद् बदालाम् ।  
सुरेंयु नींग मूडलगिनोड् लोगिन् मुक्कालत्ति निगळ् विल्लाम् ॥  
उरसु मेवंसु निद्रिये योगेन तोद् मंमुदलाय ।  
अरियुनिअरि अरिवदों ररिबेम तरळ् से यंपेरुयाने ॥१७५॥

अर्थ—स्वभाव गुणों में आकर चिपकनेवाले कर्मों को तथा पंचेंद्रिय विषयों को नाश करके मिश्रित होने वाले कर्माश्रव को रोकने के लिये पंचेंद्रिय विषयों को नाश कर तीन लोक और भूत, भविष्यत्, वर्तमान इस प्रकार तीनों काल में परिवर्तन करने वाले चराचर वस्तु को एक ही समय में जानने का उपमारहित ऐसा केवल ज्ञान प्राप्त हुआ है । उस केवल ज्ञान के द्वारा आप की सभा में रहने वाले सम्पूर्ण भव्य जीवों को हिताहित का आपने उपदेश दिया ॥१७५॥

पोरिगळारी लंबुलत्तिनार् गतिइन् मुक्कालत्तिरभोग ।  
तुरवि यावयु मुद्द विवत्तिनोडु नदिन् बंधनं योप्पि ॥  
वारइन् मद्रवं यनुवुमा कायसु मनय उन् पेरिब ।  
तुरेवि युन्नं नो मुन्नुळ् लो यनुभवित्तुलग उत्तामनीये ।१७६॥

अर्थ—पंचेंद्रिय विषयों में षड्-इंद्रियों में तथा चार गतियों में तीन ही कालों में भोगोपभोग वस्तुओं को अनुभव करने वाले जीवों के सुखों को अपने सुख के बराबर तुलना करके देखा जाय तो इन संसारी जीवों के सुख अणु प्रमाण भी आपके सुख के बराबर नहीं हैं । आपका अनंत सुख आकाश के समान अमयादित है । ऐसे तीन लोक में जो श्रेष्ठ सुख है ऐसे सुख को प्राप्त किये भगवान तीन लोक के नाथ आप ही हैं ।

चक्की फणी सुरेंदज सुखालयं,  
तत्तो अनंत गुणियो सिद्धाणं खणं होदि ।





राजा वैजयंत को तपश्चरण द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर, केवलज्ञान की पूजा के लिये धरमोन्द्र परिवार सहित आ रहे हैं ।

चक्रवर्ती, धरणींद्र, सुरेंद्र इनको तीनकाल में प्राप्त होने वाले सुख इंद्रिय सुख ही हैं। परंतु यह सुख सिद्ध भगवान को एक ही क्षण में हो जाता है। देवाधिदेव को अतींद्रिय सुख उत्पन्न होता है। ऐसे महान् सुख को प्राप्त करने वाले भगवान् आप ही हैं और संसारी जीवों को भी सुख प्राप्त कराने वाले आप ही हैं ॥१७६॥

शौरिब माधवन् तिरुवडि तलसिलिप्पोडि शिलतुबिसोभार् ।

येरिब धातिनेन्गुण नाइन नैय्बिन नुसगुच्चि ॥

परंदु बंदु नपळ् मर परवडुन् पन्नगर् मुदलानोर् ।

निरसुकोळ् मामलर् सौरिबन रेसिनर् बेरत्तन बिनै येह्णाम् ॥१७७॥

अर्थ—इसी प्रकार संजयंत मुनि को केवल ज्ञान होते समय सभी केवली भगवान् की स्तुति कर रहे थे। स्तुति करते समय संजयंत केवली भगवान् ने अघातिया कर्मों को नाश करके सिद्ध लोक में गमन किया। तत्पश्चात् भवनवासी, ज्योतिष्क तथा व्यंत्तर आदि देव अनेक फलों से मरे हुए जिस प्रकार वृक्ष में पक्षी इधर उधर से आकर उस झाड़ को घेर लेते हैं उसी प्रकार जहां भगवान् के कर्मों का क्षय किया था, उसी स्थान पर सभी देवों ने सुगंध वृष्टि और पुष्प वृष्टि करके स्तुति की। इस प्रकार उनकी भक्ति करने से देवों की कर्म स्थिति घट गई ॥१७७॥

अभितिनुंजु कण्ण कळ्ळिगि देंडु ड वन् पोल् ।

तिमिर माम् बिनयै नीचिक सित्तिशं तवसिर् काकुं ॥

अमरण कुरुवन् कोड मुनिवनाय् कुमरन् द्रानुम् ।

तमरण मगिळ् दु नेजिर् शालवुं पण्डु निडुवान् ॥१७८॥

अर्थ—अत्यंत विष से भरा हुआ जैसा किपाक फल देखने में सुन्दर जलमयता है, खाने में मीठा, ऐसे फल को खाते ही मनुष्य का जैसे प्राण निकल जाता है, इसी प्रकार यह संसारी मिथ्यादृष्टि जीव इस विषय कलाप के मोह से तपश्चर्या करके भुवन लोक में देव पर्याय को प्राप्त हुआ वह धरणींद्र अपने परिवार सहित वहां आया और संजयंत मुनि को अपने पूर्व भव का बंधु समझकर भक्ति सहित नत मस्तक होकर नमस्कार करके वहां सड़ा हो गया ॥१७८॥

बिल्लोडु कर्नेगळ् बेल्कोल् बिट्टैरि पिडि पालं ।

कल्लोडु मरम् बाबित्तियर्पड किडंबकाना ॥

बेन्नै संब बडियार् पात्तिवन् शयलो बीवेन्ना ।

पल्लवर् नडुंग ओडि पादसा लुदेप्प बीळवान् ॥१७९॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह धरणींद्र इधर उधर देखता है कि वहां बाण पत्थर शस्त्र आदि का ढेर लगा हुआ है तथा आयुष मुद्गल आदि अनेक प्रकार के शस्त्र पड़े हुए हैं। उस ने अपनी भवधि द्वारा यह सब देख कर जाना कि यह सभी बिषुहंष्ट्र दुष्ट का कार्य है।

ऐसा समझकर सभी विद्याधरों को भय उत्पन्न हो ऐसे उन्होंने एकदम दौड़कर विद्युद्दंष्ट्र को चोर से लात मारी । लात मारने से वह विद्याधर उसी समय नीचे गिर गया ॥१७६॥

मेघ वासत्तिर् द्रौङ् मिन्नन दंदत्तानं ।  
भोग पासत्तिन् बंधु पोरुदिय सुद्रत्तोडुं ॥  
नाग पासत्तिर् कट्टा नडु कडलिडुवनेन्न ।  
सोग पासत्तिनावा युडंदवर् तुयर मुट्टार् ॥१८०॥

अर्थ—जैसे बादल की गर्जना होते समय बिजली चमकती है, उसी समय दांतों से युक्त विद्युद्दंष्ट्र को तथा उनके बंधुओं को उस धरगोंद्र ने ललकार कहा कि मैं नाग फांस से बांध करके तुम सभी को समुद्र में फेंक दूंगा । उस समय विद्युद्दंष्ट्र के बन्धु लोग जिस प्रकार समुद्र में जाने वाले जहाजों के टूटने पर जो उनकी दशा होती है वही दशा उन विद्याधरों की हुई । वे दुखी होकर भय से अनेक प्रकार से रुदन करने लगे ॥१८०॥

दरगान द्रन् कोवन् काना दानवर् तलंबरिल्लाम् ।  
मरणभेडुं दिर् द्रोन्नमयंगिय मनत्तरागि ॥  
शरणमुन् शरणमेष्ठा शार्दनर् पलरुं सोर्द्वार् ।  
करणनंनम् पुलंगळ् कानार् कंदोळु विरंजि मावो ॥१८१॥

अर्थ—धरगोंद्र के इस प्रकार क्रोध को देखकर सभी विद्याधर पश्चात्ताप करने लगे कि हम इस नाग फांस से किसी भी हालत में नहीं बच सकते । निश्चय से हमारा मरण ही होगा । इस प्रकार भयभीत होकर विद्युद्दंष्ट्र के अनेक विद्याधर व बंधु लोग उस धरगोंद्र के चरणों में गिर गये, और गिर कर हाथ जोड़ कर कहने लगे कि हे धरगोंद्र ! हम सभी विद्याधरों पर आपको क्षमा करना चाहिये । आपके बिना अब हमारा अर्थ कोई शरण नहीं है । इस प्रकार अत्यंत रुदन करके वे प्रार्थना करने लगे ॥१८१॥

मिन्नोत्त दंबत्तिव पाबिदान् विदेहत्तिडुं ।  
मुन्नं तन् पावत्ताले मुनिवने कौंडुबंदु ॥  
कन्मोयित्त तिनि तिडोळाय् कयतिडेहट्टु नम्मं ।  
तिन्नत्तान् नरक्क बवानिडन शप्पलोडुं ॥१८२॥

अर्थ—हे प्रभु सुनो ! अत्यंत तेजमान शरीर से प्रकाशमान यह विद्युद्दंष्ट्र महापापी पूर्वजन्म में किये हुए तीव्र पाप कर्म के उदय से विमान में बैठकर इस विदहे क्षेत्र में रहनेवाले संजयंत मुनि को जंगल में तप करते समय पर्वत के शिखर पर बैठ कर तपश्चरण करते समय उन पर होकर आकाश मार्ग से जा रहा था, वह विमान उन मुनि के तप के प्रभाव से रुक गया । विमान रुकने का कारण देखने को जब नीचे उतरा तो देखता है कि संजयंत महामुनि ध्यान में बैठे हुए हैं । उनको देखते ही विद्युद्दंष्ट्र के मन में अत्यंत क्रोध



जयंत मुनि धरशेन्द्र को पर्याय को धारण करके उन उपसर्ग करने वाले  
विद्यापत्रों को नाम पाश से बांध रहे हैं ।





उत्पन्न हुआ और विचारा कि पूर्व जन्म का यह मेरा बैरी है, इसको ऐसे ही नहीं छोड़ना चाहिये । तदनंतर उनसे बदला लेने की इच्छा से जबरदस्ती से बलपूर्वक मुनि को घसीटकर विमान में बैठाकर लाया और लाकर उसने क्या किया सो अब बतलायेंगे । हे बलशाली धरणांद्र ! सुनो । पांच नदियों के किनारे पर अर्थात् गजावती, कुमुदवती, हरितवती, स्वर्णवती और चडवेग इन नदियों के किनारे पर उन को छोड़कर वह विद्युद्दंष्ट्र वापस लौटकर अपने नगर में आया और आकर वहां की प्रजा से कहा कि हमारे पट्टन के नजदीक एक भयंकर काला राक्षस आया है । वह बहुत विकराल है, मनुष्याकार है और सदैव वह मुरदे को ही खाता है और कोई दूसरी वस्तु नहीं खाता और इतना खाने पर भी उसका पेट नहीं भरता । इसलिये आज वह राक्षस हमारे नगर में आकर भक्षण करने वाला है, इस कारण हम सब लोगों को मिलकर उस राक्षस को मार डालना ही उचित है । ऐसा हम लोगों को उस विद्युद्दंष्ट्र ने कहा । पुनः यह और कहने लगा कि यह विचार मत करो कि वह हमारा क्या नहीं करेगा ? वह तो आठ दिन में हम सबको खा जावेगा - इसमें कोई शंका व सदेह नहीं है । इस प्रकार उस दुष्ट विद्युद्दंष्ट्र ने हमसे कहा ॥१८२॥

अरिविलान् शोभं मयंद्रुजिनो मडयक्कडि ।

मरुविलान् द्रवत्तिन् द्रुमै पयत्तै नामदिवक माटा ॥

शिरियर् याम संदतीमं पेरियैनी पोस्वक्कल् वेडु ।

मिरैवने येडुत्तु काटा मेडुवर पनिट्टु निट्टार् ॥१८३॥

अर्थ — उस दुष्ट विद्युद्दंष्ट्र के इन वचनों से हमारे मन में अत्यंत भय उत्पन्न हुआ । सम्पूर्ण दोषों से रहित निर्मोही निरारंभी, निस्संग, निर्दोष, सर्वसंघ परित्यागी, विषय आशा से रहित, धर्म ध्यान सहित, आत्मध्यान में लग्न, सद्गुणी ऐसे महामुनि के तपश्चरण के महत्व व गुणों को न जानकर अज्ञान से भूठ हुए हम विद्याधरों के द्वारा किये हुए अपराधों को क्षमा करना चाहिये । हमारे द्वारा किये गये घोर उपसर्ग को सहन करके संजयंत मुनि ने कर्मों का क्षय करके मोक्ष पद को प्राप्त किया । वे धन्य हैं किन्तु हम पापी लोग इस कुकृत्य से कौन सी गति में जाकर पड़ेगे, यह नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार नत मस्तक होकर सारे विद्याधर धरणांद्र से क्षमा याचना करने लगे ॥१८३॥

पुलिइने कंडु पोक द्रुंद पुल्वाय्गळ् पोल ।

मेलियव हरेक् नैजं कुळं दु पासत्तौनीकि ॥

पलरयुं पोगविट्टि पाविये सुट्टोडु ।

मोलि कडलिडुव नेन्ना उडंडुवनेळुंद पोळ्दिल् ॥१८४॥

अर्थ—जिस प्रकार व्याघ्र को देखकर हरिण आदि पशु भयभीत हो जाते हैं, कोई भी उसके सामने नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार धरणांद्र से भयभीत होकर सभी विद्याधर घबराने लगे और सभी ने मिलकर क्षमायाचना की । उसी समय धरणांद्र के मन में दया भा गई और विद्युद्दंष्ट्र के सभी बंधुओं को नाग फांस से छुड़ा दिया । किन्तु विद्युद्दंष्ट्र ब

अनेक विद्याधरों को नहीं छोड़ा और क्रोध से गर्जना करते हुए कहा कि इन सब विद्याधरों को मैं समुद्र में उठाकर फेंकूंगा ॥१८४॥

नीदि दानत्तिनालेन् विनेगळं वंडु वीरन् ।  
पावत्तामरंगळोवि परिविन्न किरिये मुट्टि ॥  
आदि दावत्तु नामत्तमर निडुवनं नोक्कि ।  
कोपतापत्तौ नोकि गुणंकोळ कूर तुट्टान् ॥१८५॥

अर्थ—देवों ने क्रम पूर्वक आठों कर्मों को नाश करने वाले उन संजयंत मुनि की स्तुति की । तदनंतर परिनिर्वाण कल्याण को पूर्ण करके आदित्य नाम के कल्पवासी देवने धरणींद्र द्वारा अत्यंत क्रोध भरे भाव से उन किए जाने वाले कृत्यों को देखकर मनमें विचार किया कि इस धरणींद्र की क्रोधाग्नि को शांत करने का उपाय करना चाहिये और इस प्रकार उसने कहना प्रारंभ किया:— ॥१८५॥

इवन् शंद कुट्टमेन् कोलेरेवे पोलिरुवं वेळं ।  
इवन्शंद पोळ् दिर् शाल वरुळ् शय वेडुमंडि ॥  
इवन् द्रुन्नं यनंयारुं डुन् कोवत्तु किडसु मल्लर् ।  
उवंविन्न मौडु केळा उरैक्किडु नुरगर् कोवे ॥१८६॥

अर्थ—हे धरणींद्र! आप मेरी बात पर लक्ष्य देकर सुनो । इन विद्याधरों अथवा विद्युदंष्ट्र द्वारा की हुई गलती की कौनसी बात है । पशु के समान रहनेवाले इन विद्याधरों ने क्या अपराध किया है, सो कहो । इस समय आपने जो इनपर क्रोध किया है यह योग्य नहीं है । आपको मैं इसका सभी हाल विस्तार पूर्वक सुनाता हूं, संतोष के साथ सुनो ॥१८६॥

आदि वेदत्तु नादन् पुरुविद उलगमेत्त ।  
नीदि सादवत्तौ तांगि निरेंद योगत्तिनिडु ॥  
पोदिनावरत्तीन् वंदार् भोगवातारत्ति नार्गळ् ।  
तीदिसा गुणात्ति नार्गळ् विनमियु नवियु येंवार् ॥१८७॥

अर्थ—प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव के दीक्षा लेने के बाद उनके साथ ही घटी हुई घटना के सम्बन्ध में थोड़ा सा विवेचन करूंगा—

श्री आदिपुराण में प्रथमानुयोग विषय में आये हुए विवेचन की सुनो । कच्छ और श्री महाकच्छ के नमि और विनमि यह दो राजकुमार थे । जहां भगवान् वृषभदेव तपस्या कर रहे थे, वहां वे दोनों राजकुमार आये और अनन्य भक्ति करते हुए उनके सम्मुख खड़े हो गये ॥१८७॥

वंदवरिरेंवन् पादम् वलंकोडु वनंगि वाळ्त्ति ।  
अंब मिनिवियु नाडु मरसरुक्कीव वल्लाळ् ॥

वदिल मडिगळिड् वंदन मन्नेमुक्कु ।

तंबपिन् नंडि पोगोयेंडु ताळ् तोत्तिनारे ॥१८८॥

अर्थ—ये राजकुमार वृषभदेव भगवान को तीन बार नमस्कार करके उनकी स्तुति करने लगे । तत्पश्चात् वे दोनों राजकुमार वृषभदेव भगवान् से जो तपश्चरणा में लीन थे अनेक देशों को मांगने लगे और मांगते २ कहने लगे कि हे प्रभु! आपने अग्य सभी राजकुमारों को देश, राज्य, ऐश्वर्य आदि बांट दिये । हम उस समय आये नहीं थे । इसलिये स्वामिन् ! हम अभी आये हैं, दया करके कुछ ऐश्वर्य, देश आदि हमको भी दीजिये । इस प्रकार योग में मग्न हुए आदिनाथ भगवान के चरण पकड कर ये दोनों राजकुमार मांग रहे थे कि देश और ऐश्वर्य हमको भी मिलना चाहिये—हम दूर से आये हैं, और जब तक आप हमें नहीं देंगे हम यहां से नहीं जायेंगे ॥१८८॥

मूड् लुगमुत्तवर मुत्तिकळवरसा ।

यांड वनुत्तरत् लंडमरं वाय नीये ॥

यांड वनुत्तरत् लंडमरं दु वंवायै ।

मूड् लुग मोत्तिय चार शौळ मुडियावै ॥१८९॥

अर्थ—इस तीन लोक के समस्त प्राणी आपकी स्तुति करते हैं और मोक्षरूपी युवराज पद को प्राप्त करने के लिए पूर्व जन्म में पंचानुत्तर नाम के अर्हमिन्न स्वर्ग में आपने जन्म लिया था । वहां के वैभव भोग आदि को भोग कर वहां से चयकर इस मध्यलोक में आकर वृषभनाथ तीर्थकर हुए । इस तीन लोक में रहने वाले सभी जीव आपकी जो स्तुति करते हैं उसके वर्णन करने में हम समर्थ नहीं हैं । वह स्तोत्र स्वर्गावतरण जन्माभिवेक के समय में किया हुआ है ॥१८९॥

अंतरमुडिवर मुत्ति किळवरसा ।

मंबरत्तिन् मांडशिरप्पमरं वाय नीये ॥

मंबरत्तिन् मांडशिरप्पमरं दु मन्नुलग ।

तंबरसै नीक्कु मरसळिसाय नीये ॥१९०॥

अर्थ—शाश्वत मोक्षपुरी के अधिपति होने वाले हे स्वामी ! आपका महामेरु पर्वत पर जन्माभिवेक देवों के द्वारा किया गया । हे स्वामी ! इस भूमि पर अवतार लेकर आप निर्विघ्नता से और दोषरहित राज्य का प्रतिपालन करने वाले हुए हैं ॥१९०॥

आदियोडंब मिला मुत्तिकळ वरसाय् ।

माववनाय मन्नन् मिशयमरं वाय नीये ॥

माववनाय मन्नन् मिशयमरं वाय् वात् पुगळे ।

योदिय मूकलगु मेसावारुंडो ॥१९१॥

अर्थ—आदि अत रहित ऐसे मोक्ष सुख को प्राप्त करने के लिए युवराज पद को प्राप्त होने वाले हे प्रभू ! आप तपश्चर्या करके घातिया कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान को प्राप्त करने वाले हैं, इसलिये तीन लोक के समस्त जीव आपकी स्तुति करते हैं ॥१६१॥

पाडिनार् पखयेल्लाम् तलइन् मेल् वीळंदमन्मे ।  
 लोडुवार् तांमळेला मुहंगु निड् वंडु केटार् ॥  
 पीडिनलिरंब नीड्रान् पिरंगुदार् निरंकोळ् शेन्नि ।  
 याडुमा नागराजनवदिया लदनै क्कंडान् ॥१६२॥

अर्थ—इस प्रकार नमि व विनमि राजकुमारों ने नम्रता व भक्तिपूर्वक संगीत के साथ अनेक प्रकार की स्तुति की । इस प्रकार भक्ति व संगीत करते समय इनके राग से मुग्ध होकर आकाश में उड़ने वाले सभी पक्षी नीचे उतर आये । रास्ते से आने जाने वाले पथिक भी इनके संगीत को सुनकर मुग्ध होकर वही स्तब्ध रह गये । उस समय श्री वृषभनाथ तीर्थंकर ध्यान में मग्न होकर खड़े थे । इन सब विषयों को धरणेंद्र ने अपने अवधिज्ञान द्वारा जान लिया ॥१६२॥

कंडवन् कलंगळेलाड् कडन्दुप शात सेड् ।  
 पंडित नोरुव नागिप्पादंबाय् कैमुगात्तार् ॥  
 पुण्डरी गत्तैवेन्ध पोल मैयै नडिप्पान पोलक् ।  
 कोण्डदोर लेडन्तन्नलिरं वनैकुरुग वंदान् ॥१६३॥

अर्थ—उस धरणेंद्र ने ऐसा वेषधारण किया कि यह महान विद्वान शास्त्री हैं, उसने गले में हार-माला आदि धारण कर जहां भगवान वृषभदेव ध्यानारूढ थे उस स्थान पर वह आ गया ॥१६३॥

वंदवन् मैन्दर् संगेभे वडिवुकण्डु वन्दुवानिर् ।  
 सुन्दर मलगं डूविडरै वनै वनंगिच्चोन्ना ॥  
 निन्दिरकिवर्क रैवन सेन्दामरं यडिक्कि संविलाद ।  
 वंदरं पलवुं सैदोररीविलीर् पोगवेंडान् ॥१६४॥

अर्थ—वह धरणेंद्र वहां आया और नमि, विनमि को भगवान आदिनाथ की स्तुति करते देखा । उस स्तुति व स्तोत्र को देखते हुए अत्यंत आनंदित व संतोषप्रद हुआ । तत्पश्चात् धरणेंद्र भी स्तुति करने लगा, पुष्प वृष्टि की, बाद में वह धरणेंद्र इन दोनों कुमारों को देखकर कहने लगा कि दे अज्ञानी बालकुमारों ! भगवान के ध्यान में इस प्रकार विघ्न डालना, यह कार्य तुम्हारा ठीक नहीं । इस स्थान को छोड़कर आप अन्य स्थान पर चले जाओ ॥१६४॥

एन्एलुड् कुभरर मुन्ना रीरैवन्ट्रन् पेरुमैयामे ।  
 योन्निमट्टरिडुनी पोमुड् करुमत्तमेले ॥

यन्निर्निर्दिष्टं लामं युंमंबन्दडंयु मेण्डार् ।

किन्डुनी रिरैवन्दन्नेयिर विकन्ने देन्फोकोलेन्नेरान् ॥१६५॥

अर्थ—इस प्रकार धरणींद्र के वचन सुनकर दोनों कुमार कहने लगे कि आप ही पंडित हो जो हमें शिक्षा देने आये हैं। हम आप से अच्छा जानते हैं, आपको हमें इस विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। आप जिस काम को आये हैं वही कार्य करो और जिस रास्ते से आये हो उसी रास्ते से चले जाओ। हमारे संबन्ध में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। यदि नहीं मानोगे तो आपका अपमान होगा। इस कारण शीघ्र यहां से चले जाओ। इस पर धरणींद्र ने कहा कि आप भगवान के चरण पकडकर क्या मांग रहे हैं?

॥१६५॥

अरसराय्चिलरं नाट्टियरुं पोरुळ्ळोदुमन्ने ।

विरमिनार कण्डं संदुवेन्दु वार्कीन्दुपोन्दा ॥

नरसरे नांगळोळिग नकवणिककु वन्दो मेन्न ।

उरंसंदपोरु ळिगुण्डो वुरुवना यिरैवमिराल् ॥१६६॥

अर्थ—इन वृषभनाथ तीर्थंकर ने सभी राज्य ऐश्वर्य आदि तो दे दिया और अब यहां तपश्चरण कर रहे हैं। हम दोनों राजकुमार वृषभनाथ भगवान् के पास राज्य मांगने के लिये आये हैं। इस प्रकार दोनों बालकुमारों ने कहा ! इस पर धरणींद्र ने उत्तर दिया कि तुम जिस राज्य संपदा की भगवान् से मांग कर रहे हो वह उनके पास नहीं है, वे कहां से दोगे ॥१६६॥

उलगमूंडु रुडय्य कोमारु कोंडु मट्टिल्लै येंडीर् ।

पलदरकुंडु तीरा पळंपित्तर् नीविरैन्न ॥

निलमेलाम् भरतनक्षि येवनुळ् सेल्लमेट्टा ।

तुलगिनुक्कुरुवि सोल्लउम्मयो विडुत्त देडार् ॥१६७॥

अर्थ—तीन लोक के नाथ होने वाले वृषभनाथ स्वामी के पास कौनसी संपत्ति नहीं है? इनके पास सारी संपत्ति व द्रव्य भरा हुआ है। इसलिये धरणींद्र तुम कुछ समझते नहीं हो पागल के समान दीख रहे हो। क्या वृषभनाथ स्वामी के पास संपत्ति की कमी है? कोई कमी नहीं है। तुमको कुछ मालुम नहीं है। किसी भी प्रकार की गडबड मत करो। तब धरणींद्र ने दोनों कुमारों से कहा कि इस समय षट्खंड का स्वामी भरत चक्रवर्ती है। जो कुछ मांगना हो उनके पास जाकर मांगो। तब राजकुमार कहने लगे कि क्या संसार में तुमही विद्वान हो? हमें तुम ज्ञान सिखलाने को आये हो। जिस तरह औरों को ज्ञान सिखाते फिरते हो वैसे ही क्या हमें भी ज्ञान सिखाने आये हो? ॥१६७॥

मरुविला गुराति नीर्गळ् वडिओडु वाक्कुंडेनु ।

मरिबिनार् शिरिईरशाळ वप्पनीरेलुम् केन्निन् ॥

पिरर्बिन वामर् शेप्पल् पेर् बुळि शेरिबल् पित्सेन् ।  
ट्टिरं वरंपिरिदिडामं एळ्ळैगळियर्कं काडिर् ॥१६८॥

अर्थ—सब धरणेंद्र नमि विनमि कुमारों को कहने लगा कि बेशक तुम सुन्दर व शक्तिशाली हो । परन्तु तुम्हारे में कुछ ज्ञान की कमी है ऐसा मुझे दीखता है । हे उच्च वंश में जन्मे हुए राजकुमारो ! इस संबंध में कुछ कहना चाहता हूँ ध्यान पूर्वक सुनो ! तुम लोग हमारे उपदेश को न समझते हुए भीख मांगते हुए निर्धन भिलारी के समान मालुम पडते हो ॥१६८॥

मावन् पानांगळोंड्र पेद्दु नेळ्ळवर्गळेत् ।  
पोवमोडुककु मीधि मूमि येंवरैगळ पेद्राल् ॥  
आवत्तार् भरतनंदि देवर् कोनळित्त वेनुं ।  
यावुनाम् बेंडल् सेट्टो मिनिउरै योळ्ळिग वेंडार् ॥१६९॥

अर्थ—दोनों राजकुमार धरणेंद्र के इस प्रकार के वचन सुनकर कहने लगे कि यह भगवान् हमको अपने हाथ से कुछ भी दे दें तो हमको समाधान है; परन्तु यदि अन्य कोई चक्रवर्ती पद भी दे दे, भरत चक्रवर्ती कितना भी हमको दे दे, हमें कोई समाधान नहीं है । इस प्रकार गर्जना करते हुए दोनों राजकुमारों ने धरणेंद्र से कहा ॥१६९॥

एंड्रलु मेन्ने मन्नर् मंवरु तं पेरुमं येन्नार् ।  
शेंड्रवन् शैलि शाबिट्टिरैवन् ट्रान् शेप्पक्केट ॥  
तौंड्रन वंबवन् पोसुरवु कौडवनि नींगि ।  
निड्रनन् मुडियुं पून्मामुं कुळयु मिन्न ॥२००॥

अर्थ—इस प्रकार नमि श्रीर विनमि की बातें सुनकर धरणेंद्र ने अपने मन में उन कामनाओं को जानकर वह भगवान् के पास गयो और कान के पास कान लगाकर खडा हो गया । यह दिखाने के लिए कि भगवान् धरणेंद्र से कुछ कह रहे हैं । धरणेंद्र से कुछ ही समय वहां ऐसा करके नमि विनमि कुमारों के पास आकर खडा हो गया ॥२००॥

मुन्नैतन्नुवुर्बं काटि मुनिवनीर्नेडिट्टिय ।  
वेन्नेइ इरळि सैवा नेळ्ळुगनी रोन्नोडेंड्रु ॥  
मिन्नुभोर विमानमेट्टि वेवंड मवरोडेंडि ।  
मनराइ नाटिइट्टान् मत्तेनिसां वरसरविकट्टाम् ॥२०१॥

अर्थ—तदनंतर वह धरणेंद्र कहने लगा कि हे राजकुमारो ! वृषभनाथ भगवान् ने मुझसे यह कहा है कि हे धरणेंद्र ! यह राजकुमार जो कुछ मांग रहे हैं उनको दे दो, सो यदि तुम मेरे साथ विमान में बैठकर चलोगे तो जो भगवान् ने कहा है वह साम्राज्य मैं तुमको दे दूंगा । इस बात को सुन कर वे दोनों राजकुमार विमान में बैठकर चलने की राजी हो गए ।

तत्पश्चात् वह धरणींद्र उन दोनों कुमारों को अपने विमान में बिठा कर विजयाद्ध पर्वत पर ले गया ॥२०१॥

मलमलि वडगिर् शेडि येरुबदु करसनाग ।  
विनमि नाट्टि पूरम् कनक पल्लवरीईंदा ॥  
ननय्यलै तेरकिर् सोडि यैवदु नमिक्कु मींदु ।  
पुराैवह शक्कवाळ् मिरदत्त पुरत्तौ वंत्तान् ॥२०२॥

अर्थ—विजयाद्ध पर्वत पर उत्तर श्रेणी में रहने वाले सात नगरों के राजाओं पर नमि कुमार को अधिपति बनाया और विनमिकुमार को कनकपुर नगर में लेजाकर दक्षिण श्रेणी के पचास नगरों का अधिपति बनाया । इस प्रकार दोनों को चक्रवर्ती बना दिया ।२०२।

विजैगळ्जुत्तूरुं शिरयन वेळुत्तूरुं ।  
तंजमा ववगंत्कींदु तानव् तम्मै येल्ला ॥  
मजिनीरिवर् गळानं केट्टु वदिरैजिरागिर् ।  
ट्टुंजिनिरैडु कोन्मिन् मलयुमोर् तुगळदाम् ॥२०३॥

अर्थ—कुमारों ने चक्रवर्ती बनने के बाद उन दोनों को धरणींद्र ने ५०० महाद्या और ७०० क्षुल्लक विद्या देकर पर्वत पर रहने वाले सभी विद्याधर राजाओं से कहा कि तुम्हारे नगर के ये दोनों कुमार अधिपति हैं । ये दोनों जैसा कहेंगे उसी प्रकार तुमको इनकी आज्ञा में रहना पड़ेगा । यदि तुम लोगों ने इनकी आज्ञा का उल्लंघन किया तो तुम्हारी संपत्ति आदि छीन ली जायेगी ॥२०३॥

एंडु वरकरसु नाटि इलंगु पन्नगर्कु नावन् ।  
सेंडु तन् भवनम् पुक्कान् सेळुमणि मुडिविद्व वीश ।  
वंडु तोट्टिडु कारु मरुंळु मिरपेट्टु वंद ।  
मिद्विगळ् तंदनंद विननि तन कुलत्ति नुळ्ळान् ॥२०४॥

अर्थ—इस प्रकार उन विद्याधरों को कहकर दोनों राजकुमारों को चक्रवर्ती पद पर राज्याभिषेक करके वह धरणींद्र अपने स्थान को चला गया और जाते समय यह और कह गया कि यहां की परंपरा से चले आये विद्याधरों में यह ही विद्युदंष्ट्र विद्याधर है ॥२०४॥

नंजुडं मरत्तैयेनुनट्टु नीरट्टियाकि ।  
विजिय वदनैत्ताये वीट्टुद लरिवि याकुं ॥  
मैववि उलगिनिडु दरिविये नीविवर् नाट ।  
विजयर् कुलत्तु मेनिवेगुळ् वदन् विदुगनेंडान् ॥२०५॥



अर्थ—आदित्य देव ने धरणींद्र से कहा कि विष्वक्ष के लगाने तथा बड़ा हो जाने के बाद उसको काटना सत्पुरुषों के लिये उचित नहीं है, ऐसा विद्वानों का कहना है। एक कवि ने कहा है:—

जल न डुबोवत काठ को कही कहां की प्रीति ।

अपनो सोचो जान के यही बड़ों की राति ॥

इस बात को भली प्रकार मनन करना चाहिये। यह सभी को मालुम है। परम्परा से विद्याधरों में ऐसा कथन चला आया है कि किसी को किसी प्रकार का भी कष्ट देना उचित नहीं है। इसका भावार्थ यह है:— धरणींद्र को आदित्य देव समझाने लगा। उस समय भगवान् के ध्यान से इन्द्र का आसन भी कंपायमान हो गया था। महापुरुषों का धर्म भी जगत के कंपन का कारण हो जाता है। इस प्रकार छे महीने में समाप्त होनेवाले प्रतिमा योग को प्राप्त हुए धर्म से शोभायमान रहने वाले भगवान् का वह लम्बा समय भी क्षणभर में व्यतीत हो गया। इसी के मध्य कच्छ महाकच्छ के पुत्र वे दोनों राजकुमार जो आये थे वे महान तरुण व सुकुमार थे। नमि और विनमि उनका नाम था, और दोनों ही भक्ति से निमल होकर भगवान् की चरणों की सेवा करना चाहत थे। वे दोनों ही भोगोपभोग विषयक तृष्णा से सहित थे। इसलिये हे भगवन् ! आप प्रसन्न होइये। इस प्रकार कहते हुए वे भगवान् को नमस्कार कर उनके चरणों से लिपट गये और उनके ध्यान में विध्न करने लगे और कहने लगे कि हे स्वामी ! आपने अपने इस साम्राज्य को पुत्र तथा पत्नी को बांट दिया है। बांटते समय हम दोनों कुमारों को भूल ही गये। इसलिए अब हमको भी भोग सामग्री दीजिए। इस प्रकार वे भगवान् से बार-बार आग्रह कर रहे थे। उन दोनों कुमारों में उचित अनुचित का कुछ भी ज्ञान नहीं था और वे दोनों उस समय जल, पुष्प तथा अर्घ से भगवान् की उपासना कर रहे थे। तदनंतर धरणींद्र नाम को धारण करनेवाले भवन-वासियों के अंतर्गत नाग कुमार देवों के इन्द्र ने अपना आसन कंपायमान होने से नमि विनमि के समस्त वृत्तांत को जान लिया। अबधिज्ञान से इस सारे वृत्तांत को जानकर वह धरणींद्र बड़े ही समारंभ ठाठ के साथ उठा और भगवान् के समीप आया। वह उसी समय पूजा की सामग्री लेते हुए पृथ्वी का छेदन करते हुए भगवान् के पास पहुँचा और दूर से ही मेरु पर्वत के समान खड़े हुए मुनिराज वृषभदेव को देखा। उस समय भगवान् ध्यान में लवलीन थे और उनका देदीप्यमान शरीर तप के कारण प्रकाशमान हो रहा था। इसलिए वे ऐसे मालुम होते थे मानों वायुरहित प्रदेश में दीपक ही हो, अथवा वे भगवान् किसी उत्तम यज्ञ करने वाले के समान शोभायमान हो रहे थे, क्योंकि जिस प्रकार यज्ञ करने वाले अग्नि में आहुति करने में तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार भगवान् भी महान ध्यान रूपी अग्नि में कर्मरूपी आहुति जलाने के लिए उद्यत थे, और जिस प्रकार यज्ञ करने वाला अपनी पत्नि सहित यज्ञ करता है उसी प्रकार भगवान् भी कभी नहीं छोड़नेवाले दया रूपी पत्नि के सहित थे। अथवा वे मुनिराज एक कुंजर अथवा हाथी के समान मालुम होते थे क्योंकि जिस प्रकार हाथी महोदय अर्थात् भाग्यशाली होता है उसी प्रकार भगवान् भी महान् भाग्यशाली व महोदय थे। जिस प्रकार हाथी का शरीर ऊँचा होता है उसी प्रकार भगवान् का शरीर भी ऊँचा था। हाथी जिस प्रकार सुग्रंश अथवा पीठ की उत्तम रीढ़ सहित होता है, उसी प्रकार वे भी सुग्रंश तथा उच्च कुल में सुशोभित थे। हाथी जिस प्रकार रस्से के द्वारा खंभे के बंधा रहता

है। उसी प्रकार भगवान् भी उत्तम व्रत रूपी रस्सियों द्वारा तपरूपी बड़े भारी खन्ने से बंधे हुए थे। वे भगवान् सुमेरु पर्वत के समान उत्तम शरीर धारण किए हुए थे। क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत अकंपायमान रूप से खड़ा है उसी प्रकार उनका शरीर भी अकंपायमान रूप से खड़ा था। सुमेरु पर्वत जिस प्रकार ऊंचा होता है उसी प्रकार उनका शरीर भी ऊंचा था। सिंह, व्याघ्र आदि बड़े-बड़े क्रूर जीव जिस प्रकार सुमेरु पर्वत की उपासना करते हैं अर्थात् वे वहां रहते हैं उसी प्रकार बड़े-बड़े क्रूर जीव भी शांत होकर भगवान् की उपासना करते थे अर्थात् उनके समीप में रहते थे। जिस प्रकार सुमेरु पर्वत इंद्र तथा महापुरुषों से उपासित होता है उसी प्रकार भगवान् का शरीर भी इंद्र आदि महान् सत्त्वों से उपासित था। सुमेरु पर्वत जिस प्रकार क्षमा रूपी पृथ्वी के भार को धारण करने में समर्थ होता है उसी प्रकार भगवान् का शरीर भी क्षमा धारण करने में समर्थ था। उस समय भगवान् ने अपने अंतःकरण को ध्यान में निश्चल कर लिया था तथा उनकी चेष्टा अत्यंत गंभीर थी इसलिए वे वायु के न चलने से निश्चल हुए समुद्र की गंभीरता को भी तिरस्कृत कर रहे थे अथवा भगवान् किसी अनोखे समुद्र के समान जान पड़ते थे। क्योंकि उपलब्ध समुद्र तो वायु से क्षुभित हो जाता है परन्तु भगवान् परिग्रह रूपी महान् वायु से कभी क्षुभित नहीं होते थे। उपलब्ध समुद्र तो जलाशय तथा जल है, तथा महान् जंतुओं आदि से भरा रहता है परन्तु भगवान् तो दोष रूपी जल जंतुओं से छुए भी नहीं गये थे। इस प्रकार वृषभदेव भगवान् के समीप धरणी बड़े आदर से पहुँचा और अतिशय तपरूपी लक्ष्मी से अलंकृत उनके शरीर को देखता हुआ आश्चर्य करने लगा और प्रणाम किया। उनकी स्तुति की और फिर अपना तेज छुपा कर दोनों कुमारों से इस प्रकार सयुक्तिक वचन कहने लगा। हे तरुण पुरुषो ! ये हथियार धारण किये तुम दोनों मुझे विकृत आकार वाले दिखाई दे रहे हो। कहां तो यह शांत तपोवन और कहां यह भयंकर आकार वाले तुम दोनों ? प्रकाश और अंधकार के समान तुम्हारा समागम क्या अनुचित नहीं है ? अहो ये भोग बड़े ही निन्दनीय हैं। जहां याचना नहीं करना चाहिये वहां भी याचना कराते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि याचना करने वालों को योग्य और अयोग्य का विचार ही तहां रहता है। यह भगवान् तो भोगों से निस्पृह हैं और तुम दोनों उनसे भोगों की इच्छा कर रहे हो सो यह तुम्हारी शिलातल से कमल की इच्छा आज हम लोगों को आश्चर्ययुक्त कर रही है। जो मनुष्य स्वयं भोगों की इच्छा सहित होता है वह दूसरों को भी वैसा ही मानता है। अरे ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अंत में संताप देने वाले भोगों की इच्छा करता हो ? प्रारम्भ मात्र में ही मनोहर दिखाई देनेवाले भोगों के वश हुआ पुरुष चाहे जितना बड़ा होने पर भी लघु हो जाता है। यदि तुम दोनों इन संसारिक भोगों को चाहते हो तो भरत के समीप जाओ क्योंकि इस समय वे ही साम्राज्य का भार धारण करने वाले हैं। वे ही श्रेष्ठ राजा हैं। भगवान् तो अंतरंग व बहिरंग परिग्रह का त्याग करके अपने शरीर से निस्पृह हो रहे हैं। अब यह भोगों की इच्छा करने वाले तुम दोनों को भोग कैसे दे सकते हैं ? इसलिये जो केवल मोक्ष जाने के लिए उद्योग कर रहा है ऐसे इन भगवान् के पास धरणा देना व्यर्थ है। तुम दोनों भोगों के इच्छुक हो। इसलिये भरत की उपासना करने के लिए उनके पास जाओ। इस प्रकार जब धरणी बड़े चुका तब वे दोनों नमि विनमि कुमार उसे इस प्रकार उत्तर देने लगे कि दूसरे के कार्यों में आप की यह क्या प्रास्था है ? आप महा बुद्धिमान हैं अतः आप यहां से चुपचाप चले जाइये। क्योंकि इस सम्बंध में जो योग्य अथवा अयोग्य है

उन दोनों को हम लोग जानते हैं, परन्तु आप इस विषय में अनभिज्ञ हैं इसलिए जहां भी आप को जाना है जाईये। यह वृद्ध है यह तरुण है यह मात्र अवस्था का ही विचार है। वृद्धावस्था में न तो ज्ञान की वृद्धि होती है और न तरुण अवस्था में बुद्धि का ह्रास ही होता है बल्कि ऐसा देखा जाता है कि अवस्था के पक जाने से वृद्धावस्था में प्रायः बुद्धि की मंदता हो जाती है। और, प्रथम अवस्था में प्रायः बुद्धिमानों की बुद्धि बढ़ती रहती है। न तो नवीन अवस्था दोष उत्पन्न करने वाली है और न वृद्धावस्था गुण उत्पन्न करने वाली है। क्योंकि चंद्रमा नवीन होनेपर भी मनुष्यों को आत्हाद करता है और अग्नि जीरां होने पर भी जलाती है। हम दोनों ही इस प्रकार के कार्य आप से पूछना नहीं चाहते फिर आप व्यर्थ ही बीच में क्यों बोलते हो ? आप जैसे निष्ठ आचारण वाले दुष्ट पुरुष बिना पूछे कार्यों का निर्देश कर तथा अत्यंत असत्य व चापलूसी के वचन कह कर लोगों को टगा करते हैं। बुद्धिमान पुरुषों की बाणी कभी स्वप्न में भी असत्य भाषण नहीं करती। उनकी चेष्टा कभी दूसरों की बुराई करने को नहीं चाहती, न दूसरों के लिये कठोर वाणी होती है। जिन्होंने जानने योग्य सम्पूर्ण तत्वों को जान लिया है ऐसे आप सरीखे बुद्धिमान पुरुषों के लिये हम बालकों के द्वारा न्याय मार्ग का उपदेश देना योग्य नहीं है। क्योंकि जो सज्जन पुरुष होते हैं वे न्यायपूर्वक जीविका से प्रसन्न रहते हैं।

वे कुमार आगे कहने लगे कि आयु के अनुकूल धारण किया हुआ यह आपका वैश्व बहुत ही शांत है, आपकी आकृति भी सौम्य है और आपके वचन भी प्रसाद गुण सहित तथा तेजस्वी हैं, और आपकी बुद्धि इतनी विलक्षण है जो अन्य साधारण पुरुषों में नहीं पाई जाती। ऐसा यह आपका भीतर छिपा हुआ अनिर्वचनीय तेज तथा अद्भुत शरीर आपकी महानुभावना को कह रहा है। इस प्रकार आपका विशिष्ट विवेक भी आयु की विशेषता को प्रकट कर रहा है। ऐसे पुरुष महान भद्र होते हैं फिर भी आप हमारे कार्यों में मोह उत्पन्न कर रहे हैं, इसका क्या कारण है, यह हम नहीं जानते। भगवान् वृषभदेव को प्रसन्न करना सब के प्रशंसा करने योग्य है। यही हम दोनों का इच्छित फल है अर्थात् हम लोग भगवान् को ही प्रसन्न करना चाहते हैं। परन्तु आप उस में विघ्न डाल रहे हो इसलिए जान पड़ता है कि दूसरों के कार्य करने में आप उद्योगशील नहीं हैं। आप दूसरों का भला नहीं होना देना चाहते। दूसरों की वृद्धि देख कर दुर्जन मनुष्य ईर्ष्या करते हैं। आप जैसे सज्जन और महापुरुषों को दूसरों की वृद्धि से ही प्रसन्न होना चाहिये। भगवान् के वन में निवास करने से क्या उनका प्रभुत्व नष्ट हो गया है ? देखो भगवान् के चरण कमलों में यह चराचर विश्व विद्यमान है। आप जो हम लोगों को भरत के पास जाने की सलाह दे रहे हो, यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो बड़े २ फलों की इच्छा करनेवाला पुरुष कल्पवृक्ष को छोड़कर अन्य पेड़ों की सेवा करेगा, अथवा रत्नों की इच्छा करने वाला पुरुष महासुद्र को छोड़कर शिवाल (कीचड) में होने वाले समुद्र की सेवा करेगा अथवा धान की इच्छा करने वाला पुत्राल (भूसों) की इच्छा करेगा? भगवान् वृषभदेव और भरत में क्या बड़ा भारी अंतर नहीं है ? क्या मोक्ष पद की समुद्र के साथ बराबरी हो सकती है ? क्या लोक में स्वच्छ जल से भरे हुए जलाशय नहीं हैं जो चातक पक्षी हमेशा मेघ से ही जल की याचना करता है ? क्या उसको अनिर्वचनीय हठ नहीं है ? अभिमानी पुरुष उदार हृदय वाले का आश्रय लेकर बड़े भारी फल की वांछा करते हैं। सो आप इसको उन्नति का ही आचार समझो।

इस प्रकार उन नमि विनमि कुमार के अभिमान भरे वचन सुन कर वह धरणेंद्र मन में बहुत संतुष्ट हुआ। सो ठीक ही है, क्योंकि अभिमानी पुरुषों का धैर्य प्रशंसा करने योग्य होता है। वह धरणेंद्र मन ही मन विचार करने लगा कि अहा! इन दोनों तरुण कुमारों की इच्छा कितनी बड़ी है, इनकी गंभीरता भी आश्चर्य-कारक है। भगवान् धादिनाथ में इनकी श्रेष्ठ भक्ति भी आश्चर्य जनक है। इनकी निस्पृहता भी प्रशंसा करने योग्य है। इस प्रकार वह धरणेंद्र अपना दिव्य रूप प्रकट करता हुआ, उनसे प्रीतिरूपी लता के समान बचन कहने लगा कि तुम दोनों तरुण होने पर भी वृद्ध के समान हो, मैं तुम दोनों को घोर वीर चेष्टाओं से बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ, मेरा नाम धरणेंद्र है। मैं नागकुमार षातियों के देवों का इंद्र हूँ। मुझे आप वाताल व स्वर्ग में रहने वाले देवों का किकर समझो तथा मैं आप की यहां की भोगोपभोग सामग्री को जुटाने आया हूँ। “ये दोनों कुमार महान भक्त हैं। इन दोनों की इच्छा भोगों से पूर्ण करो” इस प्रकार भगवान् ने मुझे आज्ञा दी है और इसी कारण मैं शीघ्र यहां आया हूँ। विश्व की रक्षा करने वाले भगवान् से पूछ कर आज मैं तुम दोनों की बताई हुई भोग सामग्री दूंगा। इस प्रकार धरणेंद्र के वचनों से वे दोनों राजकुमार अत्यंत प्रसन्न हुए और कहने लगे कि सचमुच ही गुरुदेव हमपर प्रसन्न हुए हैं और हमको मनवांछित फल देना चाहते हैं। इस विषय में जो सच्चा मत हो वह हम से कहिये; क्योंकि भगवान् की सम्मति बिना भोगोपभोग सामग्री इष्ट नहीं है।

तब उन दोनों कुमारों की बात सुनकर युक्ति पूर्वक विश्वास दिलाकर धरणेंद्र भगवान् को नमस्कार करके उन दोनों कुमारों को अपने साथ ले गया। महान् ऐश्वर्य युक्त वह धरणेंद्र दोनों कुमारों के साथ विमान में बैठकर आकाश में जाता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो ताप और प्रकाश के समान उदित हुआ सूर्य ही है। अथवा जिस प्रकार विनय और प्रशम गुणों से युक्त कोई योगीराज सुशोभित होता है। इसी प्रकार नागकुमार के समान वह धरणेंद्र भी अत्यंत सुशोभित हो रहा था। वह दोनों राजकुमारों को बिठाकर तथा आकाश मार्ग का उल्लंघन कर शीघ्र ही विजयाब्द पर्वत पर आ पहुँचा। उस समय वह पर्वत पृथ्वी रूपी देवी के हास का उपमा दे रहा था।

यह विजयाब्द पर्वत अपनी पूर्व और पश्चिम की चोटियों से लवण समुद्र में प्रवेश कर रहा था और भरत क्षेत्र के बीच में इस प्रकार स्थित था कि मानो उसके नापने का वह ढंड ही हो। वह पर्वत ऊँचे-ऊँचे रत्नों से नाना प्रकार से विचित्रताओं के लिए हुए था और अपनी इच्छानुसार आकाश गंगा को घेरे हुए अपने शिखरों से ऐसा जान पड़ता था मानो मुकटों से ही शोभायमान हो रहा हो। पड़ते हुए झरनों के शब्दों से उसकी गुफाओं के मुख आपूरित हो रहे थे और ऐसा मालुम होता था कि मानो अतिशय विश्राम करनेवालों के लिये देव देवियों को बुला ही रहा हो। उसकी मेखला अर्थात् बीच का किनारा पर्वत के समान ऊँचा जहाँ नहीं चलते हुए तथा गम्भीर गर्जना करते हुए बड़े-बड़े मेघों द्वारा चारों ओर से ढका हुआ था। देदीप्यमान स्वर्णों से युक्त और सूर्य की किरणों से सुशोभित अपनी किरणों के द्वारा वह पर्वत देव और विद्याधरों का जलते हुए दावानल की संका कर रहा था। उन पर्वत के शिखरों के समीप लंबी धारा वाले जो बड़े-बड़े झरने पड़ते थे, उनसे मेघ वर्धित हो जाते थे, और उनसे उस पर्वत के समान ही बड़े-बड़े झरने बनकर निकल रहे रहे थे। उस पर्वत के बनों में अनेक लताएं फैली हुई थीं और उन पर भ्रमर बैठे हुए थे।

उनसे वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानों सुगन्ध के लोम से वह उन वनलताओं को चारों ओर से काले वस्त्रों के द्वारा ढक ही रहा हो। वह पर्वत अपनी उपत्यका अर्थात् समीप की भूमि में देवियों तथा देवों को धारण करता था। जो परस्पर प्रेम से युक्त थे और संभोग करने के अनंतर वीणा आदि बाजों को बजाकर विनोद किया करते थे। उस पर्वत के उत्तर और दक्षिण की ओर दो श्रेणियाँ थीं जो दो पंखों के समान बहुत ही लंबी थी और उन श्रेणियों में विद्याधरों के शिखरों पर जो झरने बह रहे थे उनसे वे शिखर ऐसे जान पड़ते थे मानों ऊपरी भाग पर पताकाएं फहरा रही हों। ऐसे ऊँचे-ऊँचे शिखरों से वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानों आकाश के अग्रभाग का उल्लंघन ही कर रहा हो। ऐसे वह धरखेंद्र उस विजयाद्व पर्वत की प्रथम मेखला पर उतरा और वहाँ उसने दोनों राजकुमारों को वहाँ के विद्याधरों के लोक दिखाए।

इन्हीं दक्षिण और उत्तर श्रेणियों में क्रम से पञ्जास और साठ नगर सुशोभित हैं। नगर अपनी शोभा से स्वर्ग के नगरों की भी मात करते हैं। इस प्रकार धरखेंद्र ने उन नगरों का परिचय राजकुमारों को करा दिया और कहा कि तुमही इन विद्याधरों के नगरों के राजा बनकर इनकी रक्षा करो। इस प्रकार युक्ति सहित धरखेंद्र के वचन सुनकर राजकुमारों ने विजयाद्व पर्वत की प्रशंसा की और फिर उस धरखेंद्र के साथ-साथ नीचे उतर कर अतिशय श्रेष्ठ और ऊँची-ऊँची ध्वजाओं से सुशोभित रत्नपुर चक्रवाल नाम के नगर में प्रवेश किया। धरखेंद्र ने दोनों कुमारों को सिंहासन पर बिठाकर सब विद्याधरों के हाथों से उठाये हुए स्वर्णों के बड़े-बड़े कलशों से राजकुमारों का राज्याभिषेक कराया और विद्याधरों से कहा कि जिस प्रकार इंद्र स्वर्ग का अधिपति है उसी प्रकार ये नमि विनमि राजकुमार उत्तर व दक्षिण श्रेणियों के अधिपति हैं। अनेक सावधान विद्याधरों के द्वारा नमस्कार किये गये ये दोनों राजकुमार चिरकाल तक अधिपति रहेंगे। कर्मभूमि रूपी जगत को उत्पन्न करने वाले भगवान् वृषभदेव ने अपनी सम्मति से इन दोनों को यहाँ भेजा है। इसलिये सब विद्याधर राजा लोग प्रेम से मस्तक झुकाकर इनकी आज्ञा शिरोधार्य करें।" प्रादित्य देव धरखेंद्र से कहता है कि कुल परंपरा से चले हुए यह विद्युद्दंष्ट्र हैं ॥२०५॥

विनेयर वैरिद्वीरन् विदेगत् शीत शोगम् ।

तनेपुडे वैजयंदन् द्रुन्मगनिन् मुन्द्रन्मै ॥

किनैयव नेवकुं मेद मनत्तिनु निनेत्तिडावान् ।

दुनेहवै शेवान् वाधनाइनु तडिबन् कंडाय् ॥२०६॥

अर्थ—जिसने कर्मों का नाश कर दिया ऐसे वह संजयंत मुनि थे। विदेह क्षेत्र के संबंधित हुए वीतशोक नाम के नगर के अधिपति राजा वैजयंत थे। उस राजा का वह ज्येष्ठ पुत्र है, और मैं पूर्व जन्मका उनका छोटा भाई हूँ। यह संजयंत मुनि सम्पूर्ण जीवों के हित करनेवाले तपश्चरणा का भार ग्रहण करने वाले हैं और विद्युद्दंष्ट्र ने इनपर शेर उपसर्ग किया। इसलिए मैं विद्युद्दंष्ट्र से बदला लिये बिना नहीं छोड़ूंगा। इस प्रकार धरखेंद्र ने प्रादित्य देव से कहा ॥२०६॥

उनक्किकन् द्रमयनाय पिरप्पु नीयरिद दोंडे ।  
 उनक्कु मुनिवनु माय पिरप्पेन्नि लुरेक्कलाट्टा ॥  
 विनेक्कु विसिट्टेवेंडा वेगुळिवं पर्ये पेरुक्कि मं मं ।  
 निनेत्तिडेर सुट्टमांडि निड्वरिळ्ळं कंडाय् ॥२०७॥

अर्थ—इस प्रकार सुनकर आदित्य देव कहने लगा कि हे घरणेंद्र यह संबन्धत मुनि एक ही मयका मेरा भाई है। तुम जानते हो, परन्तु यह पूत्र में कितने भव धारण करते हुए यहां आया है, यह कहना असाध्य है। इस प्रकार बिना समझे विद्युद्घट्ट पर क्रोध करना उचित नहीं। आप शांति रखें और क्रोध भाव को शमन करें। वास्तविक दृष्टि से विचार करके देखा जाय तो संसार में सभी अपने बंधु हैं, सभी मित्र हैं, शत्रु कोई नहीं है। दुख दायक यह विषय भोग हैं। अतः विचार व भावना से किसी को कष्ट नहीं देना चाहिये ॥२०७॥

वरु तिरं मनलिनं वळिई नाट्टिरन् ।  
 सरुगिलं पोलवुं शायं पोलवुं ॥  
 मरुवियविने वसं वरुवदल्लदिड् ।  
 कोरुवर् कनुर ओरुनाळु मिल्लये ॥२०८॥

अर्थ—जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती बैठती हैं और जोर से तूफान माने पर वृक्ष पर से पत्ते उड़ जाते हैं, अर्थात् पतझड़ हो जाता है, तथा आंधी से सारे सूखे पत्ते उड़कर इकट्ठे हो जाते हैं, उसी प्रकार अपनी छाया भी अपने को छोड़ कर दूसरी ओर नहीं जाती अपने साथ ही आगे पीछे चलती है और इसी प्रकार कर्म भी अपने साथ ही रहेंगे। एक दूसरे के साथ नहीं रहेंगे। अपने द्वारा उपाजित शुभाशुभ कर्मों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले सुख स्थिर नहीं रहते सभी अस्थिर रहते हैं ॥२०८॥

मिन्निनु मिगं ननि तोंड्री बदिलिन ।  
 मन्निथ उयिवं मिन् मरुविलादन ॥  
 मुन्नं मूबुलगिनु लिळ्ळं यायिनु ।  
 पिन्निथ उरविडु पेरिडु मिल्लये ॥२०९॥

अर्थ—आकाश में बिजली की चमक के समान समस्त जीव जन्म मरण करते आते हैं। इस तीन लोक में सर्वजीव परस्पर बंधु के रूप में भी हैं, नाती तथा मित्र भी हैं। परन्तु वे कभी भी स्थिर होकर अपने साथ नहीं रहते, सबेव उनका संयोग वियोग होता ही रहता है ॥२०९॥

उट्टवरे मुरुपगैळ रागुवर् ।  
 सेट्टवरे शिरंदाव मागुवर् ॥

मद्रवरे मरित्तिरंडु मागुवर् ।

अद्रव रोहर्वरिमारु मिल्लये ॥२१०॥

अर्थ—इस जन्म में अपने बंधु के रूप में रहने वाले जीव परभव में अपने बंधु रूप में होकर जन्मते हैं । इस जन्म में रहने वाले विरोधी जीव अगले जन्म में विरोधी होकर जन्मते हैं । इस प्रकार प्रत्येक भव में जन्मते आए हैं । अर्थात् कई भव भवांतरों में मित्र होकर जन्म लेता है, कई भवों में शत्रु होकर जन्म लेता है । अतः इस प्रकार शत्रु व मित्र इस जन्म में एक भी जीव नहीं है ॥२१०॥

अरसगळे यरुनरग नागुवर् ।

नरकगळे नलवरस लागुवर् ॥

सुररवरे तोळु पुलैय रागुवर् ।

नररवरे कर नायु रागुवर् । २११॥

अर्थ—बड़े-बड़े चक्रवर्ती जितने सुखी देखने में आते हैं, वे प्रायः अत्यंत दुख देने वाले नरक में जाते हैं । संसारी जीव इस मनुष्य जन्म में चक्रवर्ती राजा होकर जन्मते हैं । स्वर्ग के देव भी वहां अपनी-अपनी आयु की समाप्ति पर अथवा व्याधि आदि कष्टों को पाकर भी जन्म लेते हैं और मनुष्य पाप के उदय से कहीं काले कुत्ते भी होकर जन्म लेते हैं ॥२११॥

मंगयरे वाळ रागुवर् ।

तंगयरे मरुत्तायु मागुपर् ॥

अंगवरे येडियारु मागुवर् ।

इंगिदु पिरविय दियल्विन् वण्णामे ॥२१२॥

अर्थ—कभी स्त्री पुरुष पर्याय में जन्म लेती है, कभी भगिनी माता होती है । माता भगिनी होती है, पुत्र माता के रूप में, माता पुत्र के रूप में जन्म लेता है । इसी प्रकार पिता, पुत्र होता है, पुत्र पिता होता है । ये सब पूर्व भव में किए गये पाप पुण्य का फल समझना चाहिये ॥२१२॥

सुद्रम वगयुमेडि रंडु मेल्लया ।

मद्रिब वळविकनान् मदिइन् मांदर्गळ् ॥

पेद्रिये पाकोडा पेद्र वोडिले ।

सेद्रमु मावंमुं शेंडु निपरे ॥२१३॥

अर्थ—बंधु मित्र शत्रु विरोधी यह कभी भी शाश्वत रूप में नहीं होते । इस विषय को अपनी प्रकार से जाने हुए ज्ञानी लोग अनंत सुख को प्राप्त करने के लिये सुख और दुःख को समान भाव से सहन करते हैं । जैसा कि:—

सुखे दुःखे वैरिणि वधु वर्गे,  
योगे वियोगे भुवने वने वा ।  
निराकृताशेष-ममत्व बुद्धेः,  
समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥

सुख व दुःख में वैरी व बंधुओं में योग में वियोग में महल में व वन में इस प्रकार समस्त ममत्व बुद्धि रहित होकर मेरा मन समस्त वस्तुओं में सम भावनासमान होकर रहे ऐसी भावना योगी लोग सदा भाते हैं ॥२१३॥

अनंतमासु पिरत्रियु लहंदव लुने ।  
पुनरं दधुं पगैवना अनं बं पोलुमा ॥  
सनं बमे इवनुर बागि वदवुं ।  
निनंत पिन् निडु मगं युरवि नीमये ॥२१४॥

अर्थ—अनंत भव मवांतर में इस संजयंत मुनि के तुम अनेक समय में शत्रु और मित्ररूप से विरोधी होते आये हो । यह संजयंत मुनि तथा विद्युद्दंष्ट्र अनेक जन्मों में शत्रु और मित्र के रूप में संबंध करते आये हैं । सर्व विषयों पर विचार करके देखा जाय तो यह संसार शत्रु और मित्रों से अनादि काल से परिवर्तनशील होकर चला आ रहा है । इस कारण वह दोनों ही क्षायत नहीं हैं ॥२१४॥

येप्पिरप्पिनुं पगं पुनक्किव नलन् मुनियु मोरुरवल्लन् ।  
एप्पि रप्पिनुं पगं युवर् कंडुमट्टु र धुन किवनल्लन् ॥  
इप्पि रप्पिळ्ळिप्पगं युर वुक्कु नीइप्पडि येळुवायेर् ।  
शेप्पिरंदुळि पगं युरवुक्कु नीशंवदेन् निरु चाळा ॥२१५॥

अर्थ—अनेक जन्म को धारण करने वाला यह विद्युद्दंष्ट्र शत्रु के रूप में तुम्हारे लिए नहीं आया और संजयंत मुनि के लिए मित्रता का रूप भी धारण करके नहीं आया । इस संजयंत मुनि को और विद्युद्दंष्ट्र को पूर्व जन्म में किए हुए कर्म से यह उपसर्ग उत्पन्न हुआ है । इसी जन्म में किया हुआ यह उपसर्ग हो, ऐसा समझकर उस द्वेष से उनपर तुम्हारे द्वारा क्रोध करने से संजयंत मुनि ने पिछले जन्म में तुम्हारे पर उपसर्ग किया हो ऐसा समझना उचित नहीं । इसलिए अब आगे तुम क्या करोगे इस सम्बन्ध में विचार करके कहो । इसलिए हे धरर्षोद्भ इन पर क्रोध तथा उपसर्ग करना मूर्खता है, अतः उपसर्ग न करके शांति धारण करो ॥२१५॥

ऐवरि वट्टुने येगसिल् चाळ्ळियिर् ।  
कैयस सोळ्ळि इडि वने भी विडु ॥



मुद्रिवन् द्रुनक्कीड् मुनिक्कनायवो ।

रेनुबुरु वेरत्तालिवकीं वायदे ॥२१६॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पांच प्रकार के परिवर्तनों का वरान कितना भी किया जावे परन्तु पूरा नहीं हो सकता। यह सब शुभाशुभ कर्मों के निमित्त से होता है, इसलिए हे धरर्षेन्द्र ! तुम इस विद्युद्दंष्ट्र को छोड़ दो। क्योंकि संजयंत मुनि व विद्युद्दंष्ट्र के पूर्वजन्म में किए हुए द्वेष या उपसर्ग के कारण इन दोनों के बीच उपसर्ग किया गया है। इसलिए तुम इस चर्चा को छोड़ कर शांतभाव धारण करो ॥२१६॥

घादलाल् बेगुळिये पगं नमक्केलाम् ।

तीर लाम् । वननार्, ट्रीगति पंयुम् ॥

कावलार्, तन्मयु मोरु कनुत्तुळे ।

येदिलाराकुमी विगळतक्कवे ॥२१७॥

अर्थ—क्रोध करना शत्रु के समान है। क्रोध करने से अनेक प्रकार के दुख उत्पन्न होते हैं, बंधु व मित्र सब साथ छोड़ देते हैं, क्रोध से सदैव विरोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अनेक प्रकार की हानि होती है। आत्मा की दुर्गति भी इसी क्रोध से होती है। सभी मित्र बांधव माता, पिता अलग हो जाते हैं, कोई साथ नहीं देता है। यह आत्मा के लिये अहित करने वाला है। क्रोध नरक का कारण है। इसलिए हे धरर्षेन्द्र इस क्रोध को त्यागना ही श्रेष्ठ है; क्योंकि क्रोधी लोगों का कोई विश्वास नहीं करता न कोई उनके समीप रहना चाहता है। इसलिए तुम क्रोध को मूल से छोड़ दो। किसी कवि ने कहा भी है :—

क्रोध तं मरे और मारे ताहि फांसो होय,

किचित् हू मारे तो जाय जेलखाने में ।

जो कछु निबल भये, हाथ पैर दूट गये,

और २ पट्टो बंधी, पडे शफाखाने में ।

पीछे तं कुटुम्बी जन हाय हाय करत फिरें,

जाय २ पांव पडे तहसील और थाने में ।

किचित् हू किए तं क्रोध ऐते दुख होत भ्रात,

होते हैं अनेक गुण एक राम खाने में ॥ ॥२१७॥

मद्रिवन् शंद तीमं केकुमा मुनिवने मुन् ।

कोट्टुब नागि संद कोडुमे शंकोपत्तियाल् ॥

बेद्रिवेलुंड नीर्, पोर्लिङ्ग वेरत्तिन् वीडि ।

इद्रुविपिरप्पिन् वेरत्तिवनिबं शंदवेंड्रान् ॥२१८॥

अर्थ—उन संजयत मुनि पर उपसर्ग होने का कारण स्वयं संजयंत मुनि ही हैं। इस महामुनि के पूर्वजन्म में ये सिंहासेन राजा थे। इस सिंहासेन राजा को दुख उत्पन्न करनेवाले, क्रोधाग्नि से जिस प्रकार गर्म लोहे के ऊपर पानी डालने से वह सभा पानी को सुखा लेता है, उसी प्रकार इस विद्युद्दंष्ट ने अपने अंदर उस द्वेष को रख लिया था। उस द्वेष के कारण अनेक नीच गतियों में भ्रमण करते हुए अर्वांतर तक संजयत मुनि को पूर्वजन्म के बैर भाव का स्मरण होने से इस मुनि को उन्होंने उपसर्ग किया। इस प्रकार आदित्य देव ने धरणींद्र से कहा ॥ २१८ ॥

इदं मुन् पोन ननगु पिरप्पि लिन्विरन् शंगे ।  
मदित्तवन् पिरवि दोरुम् वरत्ताल् वानत्तु इत्तान् ॥  
अदरकेलाम् शंबदेन् कोलरु दवन् ट्टिरिदु धारा ।  
कदिकनिन् ट्टानिवन् ट्टन ट्टीमयार् कडवुंडो ॥२१९॥

अर्थ—यह संजयत मुनि इस जन्म से पहले चौथे भव में विद्युद्दंष्ट नाम का जीव द्वारा किये हुए उपसर्ग को अत्यंत क्षमा-भाव से सहन कर देवगति को प्राप्त हुआ था। उस भव में उपसर्ग करते समय तुमने क्या किया? इस समय दीक्षा धारण करके घोर तपस्या द्वारा संजयत मुनि ने विद्युद्दंष्ट द्वारा किया गया घोर उपसर्ग सहन करके मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार मेरे द्वारा कहे गए विषय को भली प्रकार समझना होगा ॥२१९॥

इं डिबन् शंदवेला मुरुदिये इरेवर् कंडु ।  
निंदिडुं पुगळै वित्ति नेंडु पळि विल्लैत्तु कौंड न् ॥  
अंदिद्यु मिबन् शैतुंबम् पोरुत्तर्वा लगदि पुक्कान् ।  
अंदिडि इन्विरडिन् मिक्क दौंडु डो उरगर् कोवे ॥२२०॥

अर्थ—हे धरणींद्र! विद्युद्दंष्ट द्वारा किए गये उपसर्ग में संजयंत मुनि ने शाश्वत मोक्ष को प्राप्त किया। उनकी कीर्ति तीन लोक में फैलकर शाश्वत रह गई। घोर इस संजयंत मुनि पर उपसर्ग किये गये निमित्त से विद्युद्दंष्ट काल के निमित्त से अपकीर्ति को प्राप्त हुआ अर्थात् सदैव अपकीर्ति रह गई। इसलिये अच्छे कार्य करने से अच्छा व बुरे कार्य करने से बुरा फल होता है। यह भली प्रकार समझ लो। इससे अधिक और मैं क्या कहूँ ॥२२०॥

येंडुलु मुरग राज निरंद नाळ् पिरविदोरु ।  
शंदिबन् शंदवेलाम् शेप्पण देवराजन् ॥  
निंदि नित्तेगुळि शेप्पं करुणोया ललित्त्तु निंडु ।  
चेंडुवर् पण्डु वा नाविनाडिय वुरेप्प नंडान् ॥२२१॥

अर्थ—इस प्रकार आदित्य देव के बचन सुनकर धरणींद्र ने कहा कि पूर्वजन्म में इस विद्युद्दंष्ट ने कौन-कौन से उपसर्ग किये सो मुझसे कहो। तब सातव कल्प में रहने वाला

आदित्य नाम का देव कहने लगा कि हे धरणेंद्र ! मैं आदि से अत तक इस विषय को कहूंगा । आप ध्यान पूर्वक सुनो । इसको सुनकर आप क्रोधित मत होना । इस आपके अग्निमय क्रोध को क्षमा रूपी जल से भली प्रकार से धोकर संजयंत मुनि को नमस्कार करो और मेरे पास स्थिरता के साथ आकर बैठ जाओ । तब मैं अपने उक्तविषय को आपसे आद्योपांत कहूंगा ।

॥२२१॥

एंड्रुनिड् कोपत्तोरि मळे इडरुट्टाल पोल् ।

अंड्रवन् सोम्विन् सोन् भारिया लविदतान् कन् ॥

शेड्रुतेळिषु शिदै जिनवरन् शरण मूळगि ।

निड्रनन् कमलमावि तापने पट्ट दोत्ते ॥२२२॥

अर्थ—वह धरणेंद्र आदित्य देव के वचनानुसार से मनको शांत करके भगवान् को नमस्कार करके एकाग्रचित्त से सुनने को इच्छुक हो और जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश होतेही कमल प्रफुल्लित होते हैं उसी प्रकार धरणेंद्र अपने हृदय कमल को प्रफुल्लित करके आदित्य देव के पास खड़ा हो गया ॥२२२॥

निड्रवन् तन्नं नोकि मुनिवनु नीनु नानु ।

मिड्रिगळ् दंतनोडुं विरुंबिय मनत्तारागि ॥

शेड्रव पिरवि तोट्टु वंदन मिड्रु कारुं ।

वंडुं मेंजामं केण युरविकंडुं नुरगरु कोवे ॥२२३॥

अर्थ—उस धरणेंद्र को आदित्य देव देखकर कहने लगा कि यह संजयंत मुनि, मैं, आप और विद्युद्दंष्ट्र हम सब लोग पूर्वजन्म में उस भव से इस भव तक क्रम से सिहमेत आदि राजा हुए थे । विशेषतया उनका चरित्र मैं आप से कहूंगा, आप ध्यानपूर्वक सुनो ॥२२३॥

इति संजयंत की मोक्ष प्राप्ति का विवेचन करने वाला द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ ।



## ॥ तृतीय अधिकार ॥

मंदर नडुवदाग कुल मलेयारिन्खंड ।  
 अदरत्तोळु नाडा मारु मोरेळुदागि ॥  
 सुंदर राडंगळारिर् सूल्लंदवे तिगत्तु मागि ।  
 नदिय मदिइ निडु नावलं तीचिनुळ्ळाल् ॥२२४॥

अर्थ—आदित्य देव ने उस धरणेंद्र से कहा कि इस मुमेरु पर्वत के चारों ओर छह कुलगिरी पर्वत होने के कारण भरत क्षेत्रादि सात देश हैं और चौदह नदियाँ तथा छह सरोवर हैं । इस महान लवण समुद्र से घिरा हुआ जम्बूद्वीप है । यह जम्बूद्वीप वृत्ताकार है, अर्थात् गोल है ॥२२४॥

पाग तंडत्तौ पोलुं भरत खंडत्तु शंबोन ।  
 नागतुंडत्तौ योक्कुं धर्मं खंडत्तु नल्ल ॥  
 भोग तुंडत्तौपोलुं शीयमा पुरत्तौ सूल्लंदु ।  
 मेग तुंडंगळ् मेयुं सोले नाडुडु तिगळ् ॥२२५॥

अर्थ—इस जम्बूद्वीप क्षेत्र के दो विभाग हैं, एक भरत दूसरा ऐरावत । भरत क्षेत्र में देवलोक के समान सुशोभित-इस धम खंड में उत्तम भूमि के समान अत्यंत सुन्दर और शोभायमान सिंहपुर नाम का नगर है । उस नगर के चारों ओर अत्यंत शोभायमान अनेक ग्राम हैं ॥२२५॥

शियमाणारत्तिन् द्रुम्भं सेण्ण शिरिदु केन्मो ।  
 काय माराग शेल्बोर् कंडपिन् कंडुडु पोगार् ॥  
 तूय वान तलंशे कुंडुं शोले कन् मांड तम्मार ।  
 शेइळै मडनल्लार पोल शित्तानु किनिय वोंडे ॥२२६॥

अर्थ—वह सिंहपुर नगर किस प्रकार है उस विषय को मैं प्रतिपादन करूंगा । आप ध्यान पूर्वक सुनो । उस सिंहपुर नगर में जाने वाले विद्याधर देवों की भावना उस पट्टन को झाड़कर जाने को नहीं होती, वह ऐसा ही सुन्दर नगर है । वहाँ की भूमि अत्यंत निर्मल कुश्रिम पर्वत तथा राजमहल आदि के देखने से, जिस प्रकार सुन्दर स्त्री वस्त्राभरण से अलंकार सहित अलंकृत होकर खड़े होने से देखकर मन आकर्षित होता है, अथवा काम विकार उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सिंहपुर नगर को देखकर देवी तथा विद्याधरों का मन मोहित होता है ॥२२६॥

शेषिय नगकुं नवन् शीय माशेन् नैवान् ।  
 शेष्य निडुराद वेलान् बेंदरं बेंडु पेद्रि ॥  
 कोप्पुमं इडिं निडुानुद बिकर्, पगत्तौ योप्पान् ।  
 तुप्पुरळ् तौडंबायार्, ताळ् वेळ् कामन् कंडाय् ॥२२७॥

अर्थ—पीछे कहा हुआ वह सिंहसेन महाराज, उसी सिंहपुर नगर के राजा थे । जिन्होंने सम्पूर्ण शत्रु राजाओं को जीत लिया था जिससे चारों ओर उनकी कीर्ति फैल गई थी । वे उपमा रहित अपने राज्य का परिपालन करते थे । कल्पवृक्ष के समान सम्पूर्ण जीवों पर करुणा भाव रखते थे । अनेक प्रकार धन धान्य दान आदि से प्रजा की सहायता करते थे । सभी स्त्रियों को मुग्ध करने वाले मन्मथ के समान थे । इस प्रकार आदित्य देव धरणेन्द्र को कह रहे हैं ॥२२७॥

शुण् मिळ्दिलंगु वं वेल् मन्नव नुळ्ळत्तुळ्ळाळ् ।  
 तेनुमिळ्दिलंगु मैं पार द्रविया निरामाय दत्तौ ॥  
 वानुमिळ्, दिलंगु मिन् पोलवरुम् नुन्निडयाळ्, वारि ।  
 तानुमिळ्, तमिळ्दु पैव कलसं पोट्टनत्ति नाळे ॥२२८॥

अर्थ—अत्यंत प्रकाश से युक्त हाथ में आयुध को धारण करने वाला सिंहसेन राजा था । मेघ के रंग के समान उनके शिर के केश थे जो बिजली के समान चमकते थे । उनकी पटरानी अत्यंत सुन्दर शरीरवाली तथा वस्त्राभरण से प्रकाशमान थी । जिस प्रकार क्षीर समुद्र के रस को सोने के कलशों में भरकर रखा हो उसी प्रकार उनके स्तन भरपूर थे । ऐसी सुन्दर उन सिंहसेन महाराज के रामदत्ता नाम की पटरानी थी ॥२२८॥

वेव नान्गगं माहं पुराणमुं विरिक्कुं सल्लिर् ।  
 द्वीदिला सत्तियगोडनामं श्री भूतियेबान् ॥  
 पोदुला मुडिनानुं कर्मचनय् पुनरं दु पिन्नि ।  
 तीदिला मगट्टि वयं शोडिपार्, काकुनाळाल् ॥२२९॥

अर्थ—चार वेद, छह पुराण, द्वादशांगी शास्त्र, अठारह पुराण और उपपुराण को कंठगत करके निर्दोष वचन से सभी को उपदेश करने की सामर्थ्य से युक्त सत्यघोष नाम का ब्राह्मण उनका मंत्री था । उनका अपर नाम शिवभूति था । वह सिंहसेन राजा, मंत्री सहित प्रजा का परिपालन करता था । ॥२२९॥

पन्नशंख निधिविकड मायदु ।  
 पन्नघंड मेनप्पगर्मा नगर ॥  
 मट्ट तन् कन् वनिगंरवन् नुळन् ।  
 सोर्, कडव कोडक्क सुवत्तने ॥२३०॥

अर्थ—उस सिंहपुरा नगरी में पञ्चशस्र नाम का एक छोटा नगर था । जिसमें पञ्च-निधि, शंखनिधि आदि नव प्रकार की निधि सहित कल्पवृक्ष के समान दान में धूर सुवस्त्र नाम का एक वेश्य रहता था ॥२३०॥

मद्रुबन् द्रुन मनंबकु बिळषक नाळ् ।  
सुद्र नम्मे नामम् सुमित्तिरे ॥  
बिर्कुण्णिण पुवं तोळिर् वेकंनाळ् ।  
कपलंदं श्रीर् कामश् बल्लिये ॥२३१॥

अर्थ—उस सुदक्ष वेश्य के घर में दीपक के समान प्रकाशमान, धनुष के समान भृकुटी वाली, लता के समान नेत्र, फूल के समान अत्यंत कोमल शरीर वाली सुमित्रा नाम की उसकी स्त्री थी । वह स्त्री महान चतुर गुणवान थी । कहा भी है:—

उत्तम कुलीन स्त्रियों के लक्षणः—

साध्वी, शीलवती दया, वसुमति दाक्षिण्य लज्जावती ।  
तन्वी पापपराङ्मुखी स्थिरमतिर्मुग्धा प्रियालापिनी ।  
देवे सद्गुरु-शास्त्र-बन्धु-सज्जनरता यस्यास्ति भार्या गृहे ।  
तस्यार्थगमं काम-मोक्ष-फलदाः कुर्वन्ति पृथ्याप्रियाः ॥

साध्वी, शीलवती, दयावती, वसुमती, चतुर, लज्जावती, तन्वी, पाप से पराङ्मुख मुग्धा, कम बोलने वाली, देव, शास्त्र, गुरु में भक्ति रखने वाली, बन्धु बांधवों से मित्रता रखने वाली ऐसी स्त्री जिसके घर में होती है उसको चारों पुरुषार्थ सहज ही में प्राप्त हो जाते हैं और सभी मंगलमय करने वाली होती है । ऐसी सुयोग्य वह सुमित्रा नाम की स्त्री उस वेश्य की थी ॥२३१॥

अंधियुं मगल् बानु मुन्नाळिनाल् ।  
इंदुवं पयंबान्गौ विरुवरुन् ॥  
मैवमे पयंबार् मविपोल वळर् ।  
वंत मिष्टुवमे किड मागिनान् ॥२३२॥

सुरेन्दकार मुगिल पोल सुवत्तनेन् ।  
ट्रिव वकिडल् तीर वळित्तावन् ॥  
परंदुलाम् पेयर् भद्रमित्रने ।  
मरदै तीर्थ लिनानेन श्रोदिनान् ॥२३३॥

अर्थ—जिस प्रकार पूर्णामात्री के चंद्रमा का प्रकाश सदेव शांति को देता है उसी प्रकार जगत में प्रकाश करने वाले उन दोनों दम्पति के एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। वह पुत्र पूर्णामा के चंद्रमा के समान शनैः २ बुद्धि का प्राप्त हुआ। वह महान तेजस्वी तथा बड़ा आशुकारि, माता-पिता को अत्यंत सनुष्ट करने वाला था। उस पुत्र का नाम भद्रमित्र रखा गया। तदनन्तर नाम कर्म संस्कार के निमित्त से उन्होंने अनेक याजक जनों को दान देकर उनकी कामनाएं पूर्ण की ॥ २३२ ॥ - ३३ ॥

कलंरनिबं कामरु कन्नियर् ।  
मलंघि निवमु सुत्तंजु मामणि ॥  
विलइनिबमं वेंडिनर् कौमंदंबुम् ।  
तलै इंबमं तानव नेदिनान् ॥२३४॥

अर्थ—तदनन्तर उस वच्चे को विद्याध्ययन हेतु एक ज्ञानी प्रोहित-ब्राह्मण के पास भेजा और अनेक प्रकार की विद्या व कला, व्याकरण निघंटु, न्याय, आप्त-आगम आदि शास्त्रों का अध्ययन कराके ज्ञानी पंडित बनाया। तत्पश्चात् पूर्णतया विद्या सीखकर वह लडका अपने घर आता है। सयाना होने पर एक योग्य धर्मिणी की सुशील कन्या के साथ उस पुत्र का विवाह कर दिया। विवाह के पश्चात् थोड़े दिनों में संसारी भोगों को तथा विषय सुखों का अनुभव करता हुआ वह भद्रमित्र अनेक प्रकार के रत्न मोती माणक आदि के ज्ञान में भली-प्रकार निपुण हो गया; और एक महान् श्रेष्ठी, व्यापारी हो गया। अनुकूल सम्पत्ति ऐश्वर्य आदि इस जीव को प्राप्त होना तथा उत्तम सत्पात्र उच्च कुल आदि मिलना पूर्व जन्म में उपाजित पुण्य के फल से प्राप्त होता है, ऐसा गमभ्रता चाहिये। इसी पुण्यफल से उसको यह सम्पत्ति और संतति प्राप्त हुई थी ॥२३४॥

पडंकडंदिनि तंगिव वलगुलुम् ।  
कुडंगे ये यळवळ्ळ कौळुगर्नं ॥  
वडंसुभंबळ् कौंगयु मंगयर् ।  
नुडंगु नुभिडे युन्नुगर् वेदिनान् ॥२३५॥

अर्थ—वह भद्रदत्त स्त्रियों के अनुकूल जो भी आभूषण जेवर आदि चाहिये था वह सभी घर में तिजोरी में भरा हुआ रखता था। अर्थात् रत्नादि आभूषणों से घर भरा पूरा था और वे दम्पति संसार सुख को पुण्य के अभाव से भोगते थे। लक्ष्मी उनके चरनों में लौटती थी ॥२३५॥

वळं सुर्गिडिन् मानिधिपुं पलो ।  
रळं दु कौडुण्ण लांपडि तानेळ ॥  
ळुलं शंबूदिप मुळ् पोरुळ् कौडु षोय् ।  
बिळंगु मा मणि तीवदु नेदिनान् ॥२३६॥

अर्थ—वह भद्रमित्र मन में बैठे २ विचार करता है कि व्यापार करके धन की वृद्धि करना चाहिये । न्याय पूर्वक यदि धन नहीं कमाया जावेगा तो पेट कैसे भरेगा, तथा बन्धु बांधव से प्रेम भाव कैसे रहेगा ? उनका भोजन सत्कार कैसे करेंगे ? यदि न्यायपूर्वक धनो-पार्जन दान न करेंगे तो परपरा से चना आया गृहस्थ धर्म व मुनि धर्म कैसे चलेगा ? और प्रागे चलकर बड़ा कष्ट सहन करना पड़ेगा । इस प्रकार वह वणिक् पुत्र व्यापार संबंधी अनेक सामग्री द्रव्य आदि लेकर रत्न नामक द्वीप में गया ॥ २३६ ॥

शंडु शातोड तोषिने शंद वन् ।  
 बंडु वाणिवत्तार् पेट्टु रुवियस् ॥  
 मंडु मावधरु कंयिट्ट वल्सि याल् ।  
 निडु भोग निलं पेट्टु दोक्कुमे ॥२३७॥

अर्थ—जिस प्रकार एक सद् गृहस्थ महातपस्वी मुनि के आहार दान के फल से उत्तम भोग भूमि में जाकर उत्तम भोग भोगता है उसी प्रकार उक्त भद्रमित्र ने खूब व्यापार करके दान धर्म के द्वारा अधिक संपत्ति को प्राप्त किया ॥२३७॥

पुण्णियं मुदयंशंद जोळ् वि निल् ।  
 एण्णिलाव पोरुक्कुबे धाययुं ॥  
 नन्नु मेंडुरुळ् माव नुरंइनु ।  
 कण्णले येडुत्तिडुवु वाइनान् ॥२३८॥

अर्थ—बिना पुण्य के संपत्ति नहीं मिल सकती । अर्हंत भगवान की यह वाणी है कि जो जीव आहार, औषध, शास्त्र और अभय ये चार प्रकार के दान उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को देता है, वह क्रम से उत्तम गति को प्राप्त होता है । यदि दूसरे भव में अपने मन के अनुकूल सर्व प्रकार की भोग सामग्री पाता है । इस उदाहरण के लिए भद्रमित्र सेठ ही है । क्योंकि इन्होंने पूर्व भव में उदार चित्त से चार प्रकार के दान को विधि पूर्वक सत्पात्रों को देकर उनकी सेवा की थी, जिससे ऐसी निधि मात्र इनको प्राप्त हुई है । ऐसे अन्य कई उदा-हरण मिलते हैं । आहार दान से श्रीसेन राजा तीर्थंकर पद को प्राप्त हुआ है । शास्त्र दान से ग्वाला का जीव कुंदकुंदाचार्य का पद प्राप्त कर श्रुत-केवली हुआ है । अभयदान में शूकर का जीव मुनि को अभयदान देकर देव पद प्राप्त करके वहां स चयकर भगवान कृष्ण की पट-रानी रविमणी का जीव आया है । और औषधदान से रोग की चिकित्सा करके श्रीकृष्ण का जीव तीर्थंकर पद को प्राप्त हुआ है । यह सब पूर्व जन्म के पुण्य का फल है ॥२३८॥

मणियुमुत्तां वैरमं शैवन ।  
 तुनियु नल्लगिलुं तुगिरुं पिरु ॥  
 मणियुं त्तरियुं कोडु वरुवमं ।  
 इनेयिस् शीय पुरमदं येदिनान् ॥२३९॥



अर्थ—बहु भद्रमित्र श्रेष्ठी रत्न, मोती, अमूल्य द्रव्य तथा चंदन आदि अनेक सुगंधित वस्तुओं का संपादन करके रत्नद्वीप से जहाज में भरकर रवाना हुआ और अपने पट्टन में वापस आते समय रास्ते में सिंहपुर नगर में गया ॥२३६॥

मिषक लाभस्तिन् मेविन् सिदयान् ।  
शक्कर वान मेनत्ति ाळ् मोणियान् ॥  
द्विकनेत्तां तिगळ् द बोर् देशिनार् ।  
पुककनन् पुरं वंदेदिर् कोळ्ळवे ॥२४०॥

अर्थ—उस नगर में रहने वाले व्यापारी लोग उन भद्रमित्र को देखकर विचार करने लगे कि यह तो हमसे भी बड़ा व्यापारी है, और उसका भली प्रकार सम्मान पूर्वक स्वागत करके नगर में ले गये ॥२४०॥

अन्नगरिनळ्गुं पेरुमंयुं ।  
मन्नन् मंयुं वाणित्ता ताकमुं ॥  
सोन्न वंतिर लामयुष् सोरर्दा ।  
मिन्मयुं कंडिरिक्कयु मेविनन् ॥२४१॥

अर्थ—उन भद्रमित्र ने उस नगर में प्रवेश करने के बाद चारों ओर नगर में जाकर देखा कि वहाँ बड़ी २ हवेलियां हैं, लंबी गलियां और रास्ते हैं, उनको देखता हुआ उस नगर में राज करने वाले राजा का गुणानुवाद करते हुए मन में यह विचार करता है कि यह नगर व्यापार के लिये बड़ा योग्य है, और नगर की प्रजा राजा की आज्ञा के अनुसार चलती है। इस प्रकार उसने राजा व प्रजा की प्रशंसा की। इस नगर में कोई दृष्ट चोर डाकू लुटेरा, परस्त्री लंपटी, व्यसनी व दुराचारी लोग नहीं हैं। ऐसी मन में भावना करके अत्यंत आनंदित होकर व्यापार करने के लिए इसी नगर में रहकर अपना व्यवहार बढ़ाना चाहिये। ऐसा मन में निश्चित किया ॥२४१॥

मट्टिम् मानग रत्तिलिक्क वान पोरुळ् ।  
अट्टभाग नल्लार् कैयिल् वैत्पणि ॥  
पन्नशंडम् यदंदियोर पागिले ।  
सुट्टमुं मळ्त्तेन्वळि तोक्क पिन् ॥२४२॥  
पोडिनार् पेयर्दिगु वदोगिय ।  
माडमानगरत्तिडे वाळ्कैमेल् ॥  
ओडुमुळ्ळत्तानोन् पोरुळ् वैपिडम् ।  
तेडुवान् शिरिभूतियं नन्निनान् ॥२४३॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह भद्रमित्र वरिष्क विचारता है कि सिंहपुर नगर में अपने द्वारा संपादन करके लाये हुए अनेक प्रकार के रत्न मोती, माणक आदि को वहां के किसी सत्पुरुष के पास रखकर के अपने जन्म क्षेत्र पद्म शंख नाम के नगर में जाकर अपने बंधु बांधवों को वहां से लाकर एक सुन्दर विशाल भवन बनाकर रहूंगा। यह सोचकर वह अनमोल मोती, माणक, रत्न को रखने के लिए वहां के राजा के सद्गुणी शिवभूति अपरनाम सत्यघोष नाम के मंत्री के पास गया ॥२४२॥२४३॥

मिक्क शीति यन् वेदियन् वेदकुं ।  
तक्क मंदिरि शक्तिय कोडनेन् ॥  
ट्टेक्कदे पुराणं सुरादि पोरुळ् ।  
वक्कनिप्पवन् मानव नल्लने ॥२४४॥

अर्थ—वह भद्रमित्र उस मंत्री को देखकर विचार करता है कि यह जाति से उत्तम ब्राह्मण है और सिंहसेन राजा का मुख्य मंत्री है। सदैव सत्य बोलता है। धर्म शास्त्र का भली प्रकार मनुन किया है और संपूर्ण धर्म शास्त्र को सुना है—शास्त्री है। यदि इनकी ओर देखा जावे तो यह मनुष्य नहीं है, बल्कि इन्द्र के समान देवता है ॥२४४॥

तक्क दोड्डिवन् के पोरुळ् वैत्तलेन् ।  
ट्टेक्कनत्तोरे पाउडमोद पिन् ॥  
मिक्कन मासनम् वीद दोळ् पोळ्दिनिर् ।  
ट्टोक्कल् तन् करुमम् सोल मट्ट वन् ॥२४५॥

अर्थ—इस प्रकार मन में विचार करके भद्रमित्र ने अपने पास के संपूर्ण रत्नों के भरे हुए सद्रुक में से एक रत्न मंत्री को भेंट करके नमस्कार किया। तत्पश्चात् मंत्री की सभा के रहने वाले सभी लोगों के उठकर चले जाने के बाद अपनी चरचा के बारे में प्रार्थना की। सत्यघोष ने वरिष्क की बात सुनकर विचारा कि बिना मांगे ऐसा मनोज्ञ सुन्दर एक रत्न मुझको मिल गया बड़े भाग्य की बात है। और रत्न पाकर वह मंत्री अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

॥२४५॥

वैत्तल् कोडल् वळ्गिडन् माय्त्तिडल् ।  
तुड्दत्तल् माट्ट लिरुंद विडसोलल् ॥  
इत्तिरत्तु पिरन् पोरुळ् मेर् सेल ।  
सित्तं वैत्तलुं तीव्विन केदुवे ॥२४६॥

अर्थ—वह मंत्री सभी बातों को सुनकर कहने लगा कि हे भद्रमित्र ! दूसरे की संपत्ति को अपहरण करना, रखी हुई संपत्ति को वापस देने से इनकार करना, अन्य की अमानता संपत्ति को स्वतः उपयोग में लेना, रुपया लेकर मांगने पर मना आदि २ ये सब पाप के कारण हैं। यह समझ लो ॥२४६॥

येङ्गलुं परिणदानुक्कियं यावरुं ।  
 निङ्गडा पोळ्देन् कैई नीटेन ॥  
 अङ्ग वन् कैयरुम् पोरोळ् वंत्तपिन् ।  
 मुंदंगूर पुग मोङ्गबनो मोर्व नाम् ॥२४७॥

अर्थ—इस प्रकार मंत्री की बात सुनकर उस भद्रमित्र ने मंत्री को नमस्कार किया । पुनः वह मंत्री भद्रमित्र से कहने लगा कि हे वरिष्ठ यदि तुम अपने रत्न आभूषण आदि मेरे पास रखना चाहते हो तो ऐसे समय में लाकर रखना, जिस समय में मैं एकांत में रहूँ, और कोई भी देखता न हो । तब उस भद्रमित्र ने मंत्री की बात मानकर अपने पास जितने भी रत्न, आभूषण वगैरह थे वे सब सत्यघोष मंत्री को दे दिए । और कहने लगा कि अब मैं अपनी जन्मभूमि पद्मशंख नगर में जाकर अपने बंधुओं को लेकर आता हूँ ॥२४७॥

वेङ्गळ् वेदु वेडित्तिडु मोसैयुं ।  
 पाय कळिळ परर् पोडि योशैयुं ॥  
 आयतन् कुळलोसेयु माले गळ् ।  
 पायु मोसेयु पाय्विरि योसैयुं ॥२४८॥

अर्थ—वहाँ से प्रयाण करके जब वह पद्मशंख नगर की ओर गया तो रास्ते में अनेक प्रकार के भयानक जंगल आदि मिले । उन जंगलों में बांस के वृक्ष थे । आपस में उन बांसों के टकराने से भयानक अग्नि प्रज्वलित हो रही थी । अनेक गडरिये उस हरे भरे वन में बकरियाँ चराते थे । अनेक प्रकार की बांसुरियाँ बज रही थीं जो कानों को मधुर लग रही थीं । गडरिये किलोलें करते थे । जिस प्रकार गध्ने को मशीन में डालकर पेरा जाता है और उसकी ध्वनि निकलती है वैसे ही आवाजें हो रही थी । इस प्रकार उन वन के अनेक दृश्यों को देखता हुआ वह भद्रमित्र आगे बढ़ता जा रहा था ॥२४८॥

इक्ष ओसै इयंब निलंदोरुं ।  
 पन्नरुं पन्नखंड मदेदि नान् ॥  
 मन्नम् सुट्टमे लामर कौडु पोय् ।  
 तुन्नानान् शियपुरमदु तौङ्गले ॥२४९॥

अर्थ—इस प्रकार वह भद्रमित्र सेठ अनेक प्रकार के मधुर शब्द जंगल में सुनता हुआ शीघ्र ही थोड़े समय में अपनी पद्मशंख नगरी में जा पहुँचा, और वहाँ से अपने बंधु बांधवों को साथ लेकर वापस लौट कर सिंहपुरी नगरी में आ गया ॥२४९॥

वळि वरुत्त मोळित्तवन् वान्किल्ले ।  
 कळिविलाद विवत्तै येळित्तिरिदित् ॥

तोळुद कं शेंद्रु मंच्चानं तुम्निन् ।

ट्रेळिल्पर शिल विन् मोळि कूरिनान् ॥२५०॥

अर्थ—उस भद्रमित्र ने सिंहपुरी नगरी में आकर एक महल में अपने बंधुओं को ठहरा दिया और कुछ दिन आराम करके अपने रत्नों को वापस लेने को उस सद्गुणी शिव-भूति मंत्री के पास जाता है और जाकर वहां अनेक प्रकार की स्तुति करता है ॥२५०॥

शेप्पमुं पुगंळु मरिचुं सिदंत ।

दोप्पिलाद पिरप्पं युडेत्तिडा ॥

ओप्पिनन् मरिण मेन् मनं शिवकुना ।

वोप्पिलान उरैप्पदर् कूकिनान् ॥२५१॥

मायं शेंद मरच्चप्पैने यवन् ।

मायमिल्लवन् ट्रन्मरिण शेप्पिनै ॥

मायं शेंदु कोळक्कु मनात्तिना ।

मायनेशल वार्तैयु सेप्पिनान् ॥२५२॥

अर्थ—तब वह शिवभूति मंत्री भद्रमित्र से पहले के समान मृदुवचन न बोलकर दुष्परिणाम से बोलने लगा । उसके मन में कूटिलता की भावना जागृत हो गई और अनेक २ प्रकार से असभ्य वार्तालाप करना प्रारंभ कर दिया कि मायाचार व कपट करने वाला मनुष्य मायाचारी दुराचारी होता है ॥ २५१ ॥ २५२ ॥

एंगुनी युळं यावनी मट्टुनी ।

एंगु पोवदेन सोलवेंदलुं ॥

वगमीदु वंदड्रु मरिण चेप्पु ।

तकं तंदु पौम् वारिणनानेड्रान् ॥२५३॥

अर्थ—पुनः वह मंत्री कहता है कि मैं तुझे नहीं जानता, तू कौन है, कहां से आया है, किस ग्राम में रहता है, कहां को जाना है ? तब आश्चर्य चकित होकर वह भद्रमित्र कहने लगा कि हे मंत्री ! मैं कई दिनों के बाद आया हूं । रत्नों की पेटों आपके पास रखकर मैं अपने पञ्चशंख नगर बंधु बांधवों को लेने चला गया था । आप पर मेरा पूर्ण विश्वास है और मेरा नाम भद्रमित्र है ॥२५३॥

सेप्पन सेप्पिडट्टु देन् सेप्पन ।

ओप्पिलाद मरिण चेप्पु वेंसदु ॥

तप्पित्तीर् भरंदिह् बोदानेन् ।  
येप्पडि पित्तनो वेंडु रत्तनन् ॥२५४॥

अर्थ—तदनंतर भद्रमित्र की बात सुनकर मंत्री कहने लगा कि हे वशिष्क ! क्या मेरे पास तुमने रत्नों की पेटी रखी थी ? भद्रमित्र ने उत्तर दिया हां ! तब मंत्री ने कहा तुमने मेरे पास पेटी कब रखी थी ? भद्रमित्र ने कहा कि मैंने आप ही के पास तो पेटी रखी थी क्या आप भूल गये ? तब मंत्री ने कहा कि तुम भूर्ख और पागल तो नहीं हो । मेरे पास रत्नों की पेटी कब रखी थी । सचमुच तुम बावले तो नहीं हो ? मेरे को तुम्हारा परिचय ही नहीं है, फिर तुम एकदम आकर यह कहते हो कि मैं रत्नों की पेटी रखकर गया था । तुम असत्य बोलते हो ॥२५४॥

येंडु नानुने कंडरि येनिनि ।  
मंडु वेन् के मरिण चेप्पु वत्तनाळ् ॥  
निडु शांडुळ बागि नीकाटिनाल् ।  
वंडु मंडि मट्टुन् नोडे पोगुमे ॥२५५॥

अर्थ—शिवभूति मंत्री फिर पूछता है कि भद्रमित्र ! यदि तुमने मेरे पास रत्नों की पेटी रखी है तो बताओ किसके सामने रखी थी । कौन साक्षी है ? जिनके सामने तुमने पेटी रखी हो उनको मेरे सामने लाओ, तो मैं मान लूंगा, वरना फौरन तुम यहां से चले जाओ । ऐसा डांट-डपट कर उसको भगाने लगा ॥२५५॥

नंडु शालवु नंबि निन् पेरिनु ।  
कोडु वे युरे ताह सोप्पु वत्तनाळ् ॥  
अंडु मिडु मलवुळ नाळि नाल् ।  
येंडु मेन्न नी कंडवु मिश्रये ॥२५६॥

अर्थ—इस बात को सुनकर भद्रमित्र कहने लगा कि हे मंत्री ! तुम सब मंत्रियों में श्रेष्ठ हो, तुम्हारा नाम सत्यघोष है । जिस समय यह पेटी मैं रखकर गया था उस समय तुम और मैं दोनों ही थे, और कोई नहीं था । जिस समय मैं पेटी रखने आया था उस समय आपने यह कहा था कि जब कोई नहीं हो उस समय रत्नों को लाना । सो मेरी रत्नों की पेटी आप के ही पास है । पेटी रखने के बाद आज ही मैं वापस लेने आया हूँ ॥२५६॥

सांडु वेंडिनु सत्तिय कोडराम् ।  
आंडुनीरांडि इल्ले येंडि यावकु ॥  
तोंडिडा मे तरवेंडु सोन्न नाळ् ।  
शांडु वेंडु जडत्ते परिदिलेन् ॥२५७॥

अर्थ—हे शिवभूति मंत्री ! आप यदि मुझसे साक्षी चाहते हो तो आप ही मेरे साक्षी हो । दूसरी यह बात है कि आपने यह कहा था कि यदि तुम्हें रत्न देना हो तो एकांत में लाकर देना । इस कारण मैंने एकांत में लाकर पेटी आपको दी थी । ऐसी हालत में तुम्हीं साक्षी हो और कोई साक्षी नहीं । तुम्हारी बुद्धि में कोई फेरफार दीखता है । काच और कंचन रत्न आदि यह सभी समय पर मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट कर देते हैं । पाप का बाप लोभ ही है । इस काच और कंचन के लोभ के कारण ही बड़े २ जीव नरक में जाते हैं । संसार में सबसे बलवान धन और रत्न हैं । आपकी बुद्धि पर भी रत्नों की पेटी आने पर कुछ फर्क पड़ गया है । ऐसा दीखता है ॥२५७॥

कनमदोद्भिले कन् पुदंतिट्टळ ।

पिनमदागु मिष्वाळकयै पेनुवान् ॥

अनिगळामरी उस् पुगुळं केड ।

मशिए कन्मेन् मनस् वंत्तदोर् मायमे ॥२५८॥

अर्थ—एक ही क्षण में यह आत्मा इस शरीर को छोड़कर जाने वाली होने पर भी इस मोह के कारण बंधु, मित्र, बांधव आदि की रक्षा करने के लिये आत्मा के अच्छे आभूषण अथवा जेवर के रूप में सम्यक्दर्शनादि गुण तथा लौकिक गुणों का नाश करके रत्नों का इस प्रकार अपहरण करना यह भारी अज्ञानता है, विचार करें । आप सद्गुणी व श्रेष्ठ हैं । इस प्रकार की भावना रखना आपके लिए उचित नहीं हैं ॥२५८॥

शंद नंडि शिदंत्तर तेरिनार् ।

कंद वंजनं शंदु पिरर् मनं ॥

मंय लान् मगिळ्वार् किंद मन्मिशं ।

येदिडा पळिइन्मै यरिइरो ॥२५९॥

पिरर् पोसुळ् वंत्तल् कोडल् पिरर् तमक्कीदन् माट्टन् ।

मरमेन वंड् सोन्ने वाय् मोळि मरंदिट्टिरो ॥

तिरमल दुरंक्क वंडाम् सेप्पु कौडिरुप्प देडि ।

मुरं मुरं पित्तनाकि मुडिद नीर् मोगत्ताले ॥२६०॥

अर्थ—हे शिवभूति मंत्री ! किसी वस्तु को लेकर गुप्त रूप से अपने पास रखना, अपहरण करना, दूसरों की वस्तु को लेकर वापस न करना ये सभी पाप के कारण हैं । ऐसा उपदेश आपने ही तो दिया था जिस दिन कि मैंने रत्नों की पेटी आप के पाप रखी थी । क्या आप अपने उस उपदेश को भूल गये हो ? रत्नों के मोह से आप मुझे ही उल्टा पागल बना रहे हो, क्योंकि आस्त्रों में यह भी कहा है कि—

“मिथ्योपदेश-रहोभ्यारव्यान-कूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः । स्तेन-प्रयोगतदाहतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोभ्यमानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥

अर्थात्-भूँठा उपदेश देना, स्त्री पुरुष की एकांत की बात की बात को प्रकट करना भूँठे दस्तावेज आदि लिखना, किसी का धन अपहरण करना, हाथ चलाने आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर उसे प्रकट कर देना, चोरी करना, चोरी के लिए प्रेरणा करना, चोरी की वस्तु खरीदना, राजा की आज्ञा के विरुद्ध चलना, टैक्स वगैरह नहीं देना, देने लेने के बांट तराजू को कमती बढ़ती रखना, बहुमूल्य वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर असली भाव से बेचना । इस प्रकार का जो उपदेश आपने दिया था कि यह सभी पाप के कारण हैं क्या तुम यह सब भूल गये ? यह सब योग्य है या अयोग्य है, तुम विचार करो । इस प्रकार मिथ्या बात करना ठीक नहीं है । ऐसा भद्रमित्र ने कहा ॥ १५६ ॥ २६० ॥

येंड्लु मेळुवं कोवलेरि यरि येन्न ओडि ।  
 पोंडु मा रडित्तु निडार् पुरप्पड तळळ पोंविट् ॥  
 उंड्व नडित्तु शेप्पु कोंडवर् कवल मुट्टु ।  
 शेंडु वन् ट्रेरुवदोरु शिल पगल् पूशलिट्टान् ॥२६१॥

अर्थ— इस प्रकार भद्रमित्र की बात सुनकर वह शिवभूति मंत्री अत्यंत क्रोधित होकर कहने लगा कि अरे धूर्त ! अपना मुँह बंद कर, व्यर्थ क्यों बक रहा है । क्षण भर में तुझको प्राण दंड दे दूंगा । ऐसा कहकर अपने कर्मचारी को बुलाकर आज्ञा दी कि तुम इस दुष्ट को शीघ्र यहां से निकाल दो । तब कर्मचारियों ने मंत्री की आज्ञानुसार उस भद्रमित्र को मारपीट कर बाहर निकाल दिया । वह बेचारा भद्रमित्र दुखी होकर इधर उधर गलियों में घूमता फिरता कह रहा था कि ॥२६१॥

शक्तिय कोड नेन्नु जातियाल् वेदि यडान् ।  
 वित्तार पेरियन् दूयनेडियान् मिगधुं तेरी ॥  
 वेंत्त वेन्मणिये कोंडु तरुगिलन् मन्न केन्मो ।  
 पित्तानु मातु मेन्नं पेरुं योरुळ्ळडक्कु वाने ॥२६२॥

अर्थ— मैं रत्नद्वीप में जाकर महान प्रयास के साथ व्यापार करके बहुत से रत्नों को इकट्ठा करके इस सिंहपुर नगर में आया तब यहां के व्यापारियों ने मेरा बहुत सत्कार किया था । इस नगर के वणिक् लोगों का विनय सद्गुण देखकर मैं अत्यंत प्रसन्न हुआ और यहां के राजा का बड़ा गुणगान किया, और ऐसी भावना हुई कि इसी सिंहपुर नगर में रहकर मुझे पुनः व्यापार करना चाहिये, और यह सुना कि यहां के राजा का सत्यघोष नाम का मंत्री महान पंडित अनेक पुराणों का ज्ञाता है, प्रजाजनों का विश्वसनीय है, सद्गुणी है ! तो मैंने यह विचार किया कि जो संपत्ति मैं कमाकर लाया हूँ वह इनके पास रख दूँ । और पश्-

शंख नगर जाकर अपने भाई बंधुओं को यहां ले आऊं। और यहीं व्यापार करूं। ऐसा सोचकर यहां के मंत्री सत्यघोष को मैं रत्नों की पेटी देकर अपने नगर चला गया, और वहां से वापस लौटकर मेरे कुटुम्ब आदि को यहां ले आया। और बाद में जब मंत्री के पास रखे हुए रत्नों की पेटी मांगने गया कि मुझे मेरी पेटी वापस दे दो, मैं मेरे भाई बंधु कुटुम्ब परिवार को ले आया हूं तो इस पर मंत्री ने कहा कि तुम कौन हो ? कहां से आये हो ? मुझे तो तुमने कोई रत्नों की पेटी कभी दी नहीं ! तुम भूठे हो पागल हो ? इस प्रकार नुरा भला कहकर मेरे रत्नों को उन्होंने अपहरण किया और अपने कर्मचारियों द्वारा घिटवाकर मुझे भगा दिया है। इसलिये हे इस नगर के अधिपति सिंहसेन महाराज ! आपके शिवभूति मंत्री के पास मैंने मेरे रत्नों की पेटी रखी थी, वह पेटी को वापस नहीं देता है सो आप मुझे मेरे रत्नों की पेटी दिलवा दीजिये। इस प्रकार कहते हुए गली २ के कौने में जोर २ से पुकारता हुआ आगे पीछे की सारी बातें बोलता हुआ रात दिन इधर उधर भ्रमण करने लगा ॥२६२॥

तन्वळी कुट्टन् काना कन्नेनतान् शंकुद्र ।  
मुन्निडादवनं कोवित्तूर वयोर कडिप लुट्ट ॥  
मिन्नन करक्कुं कळळर् तगळं विट्टान् ।  
लुनुवर करिय वाय पोरुळेल्ला मोरुदुं कौंडार् ॥२६३॥

अर्थ—वह शिवभूति ब्राह्मण मंत्री अपना कपट व मायाचार प्रजाजनों को प्रगट न हो—इस कारण उसने नगर के निवासियों तथा अपने कर्मचारियों को आदेश दिया कि यह भद्रमित्र वणिक महान् दुष्ट और पापी है, इसके घर जाओ और इसका सारा माल लूट कर ले आओ। इस आदेश पर कर्मचारी आदि उस भद्रमित्र के मकान पर गये और सारा माल बहुमूल्य सामान वस्त्र आभूषण आदि सब लूट कर ले आये ॥२६३॥

पणमणिकिरंदु नागम् पणत्तयु मिळदंवे पोर ।  
ट्टुण किरंगु नाय्कन् ट्रोडु पोरुळ् मुळुदुं पोग ॥  
गुणमणिल्लाव कोडन् कळ् वनिन् पुरुळ् कौंडानिन् ।  
ट्टुण नगरिलंग वाट्ट पूशलिट्ट वलमुट्टान् ॥२६४॥

अर्थ—इस बात को देखकर भद्रमित्र को और भी महान् दुःख हुआ। जिस प्रकार नाग फण में रत्न रखता है और वह रत्न उस सर्प को मारपीट कर कोई ले जावे तो उसको कितना दुःख होता है उसी प्रकार वह भद्रमित्र वणिक अत्यंत दुखी हुआ। क्योंकि भद्रमित्र के बहुमूल्य आभूषण, वस्त्र व रत्न चले गये तो वह रात दिन गली २ में रुदन करने लगा, पुकारने लगा ॥२६४॥

मध्व मदनं केटु मंदिरि तन्नं कूषि ।  
येस्त्रिव नुरंत्ता वेस्त्र विरंवे केळिवनोर पित्तान् ॥  
ट्टुन्नेयानरींद विळ्ळं तरुगवेन् मणिल्लेप्पन्ना ।  
पिन्नं पो येन्नं कळ् वनेडिट्टान् पेरिय पूसल् ॥२६५॥



अर्थ—उस सिंहसेन राजा ने बणिक् के द्वारा सारी चरबा को भली भाँति समझकर सत्यचोप मंत्री से पूछा कि यह बणिक् जो कह रहा है यह क्या बात है, सच २ कहो । तब मंत्री यह कहता है कि राजन् यह बणिक् न मालूम कहाँ से आया है, मैंने इसको पहले कभी देखा नहीं । एक दिन यह मेरे पास आया और कहने लगा कि मुझे मेरे रत्नों की पेट्टी वापस दो तो मैंने उत्तर दिया कि मेरे पास रत्नों की पेट्टी तुमने कब रखी थी ? यह पागल है और मंत्री को और २ कहता हुआ भली २ में चिस्साता रहता है ॥२६५॥

कस्ममे इरेव केळाम् कळबिडन् चिळबं योदुम् ।

अर्थ नूलुरेक्कुनाने ताविकळ्हा कळबु शेम्प्यन् ॥

बोरुवरु मुलगिर् कळ्ळरल्ल बरिळ्ळं येष्सा ।

पेरियदोन् शबदं शैव नरसनुं पिररुं तेर ॥२६६॥

अर्थ—वह शिवभूति मंत्री कहता है कि हे महाराज ! मैंने चोरी करना हमेशा पाप समझा है और ऐसी मैं सब को शिक्षा देता हूँ । क्या मैं उसकी चोरी करता था? क्या मैं ऐसा काम कर सकता हूँ ? चोरी करने से इस जगत् में अनेक दुख भोगने पडते हैं । यदि मैं ही ऐसा कार्य करूँ तो सारी प्रजा मेरे समान अनुकरण करेगी । इस प्रकार मंत्री के कहने से राजा तथा प्रजा को मंत्री का पूर्ण विश्वास हो गया, और राजा व प्रजा सब उस बणिक् को पणल समझकर आगे के लिये उन रत्नों की कोई खोज व तलाश बगैरह नहीं की ॥२६६॥

परं येनिकळ् वन् दृन्ने पार्तिव नेन्ने पोल ।

मरंय्यव नैड् कुंडान् शबदत्तल् वंजि पुंडु ॥

पिररिवन् शं गै मोरा रेन्नये पित्तानेन्न ।

कुरं उंडो बेंड् पिन्नु कूपिट्टा नीवि योवि ॥२६७॥

अर्थ—तदनंतर वह भद्रमित्र श्रेष्ठी कहने लगा कि हे नगरवासियों ! इस मंत्री की चाँदास के वचन के समान बातें सुनकर लोग इसके वचनों पर श्रद्धा करते हो । मैं रत्नों की पेट्टी इनके हाथ-में देकर फंस गया हूँ और पागल के समान हो गया हूँ । यहाँ के राजा ने भी उस मंत्री की मीठी मीठी बातों व ताकिक शब्दों को सुनकर उसकी बातों पर विश्वास कर लिया । कभी ये भी फंस जायेगा । इस सिंहपुरी नगरी के सभी लोग मुझे पागल बना कर सभी मेरी हंसी करते हैं । इस प्रकार अविरोध बातें बोलता हुआ वह भद्रमित्र गली गली में घूम रहा है ॥२६७॥

शिरगमं परवै पेर्य नुडंबोलं सेडिडन् मोडि ।

परवैयं शिमिळ् पिन् वांगुं पाविये पोल नीयुं ॥

मरं यव नरिव नेन्नुं मायत्तु मरेंदु निड्नेन् ।

पेर लरुं मणियं कोडां येंड्वन् पोसक्केळा ॥२६८॥

अर्थ—जिस प्रकार एक शिकारी बहेलिया पक्षी को पकड़ने के लिये जाल बिछाकर अपने शरीर को सूखे पत्तों से ढककर बैठ जाता है और जब पक्षी आ जाता है तो उसको शीघ्र पकड़ लेता है उसी प्रकार यह शिवभूति ब्राह्मण लोगों को धोखा देकर उनको फंसाने के लिये विश्वास दिलाता है और जनता का विश्वास पात्र हो जाता है इसी प्रकार मैंने भी मंत्री को विश्वासी समझकर रत्न संभलाये थे । अब वह मंत्री मुझे वापस लौटाता नहीं है ।

॥२६८॥

पडुमव याने विट्टुं पासत्ति नायै विट्टुं ।

कोडि नगरु पेयन् ट्रुनै कडिग वैडुमै चन्कूर ॥

कडियवर् पडियिर् कंडु शैववर् कंजि काले ।

नेडियवोर् मरत्ति नेरि नित्तमा यळै तिट्टाने ॥२६९॥

अर्थ—वह शिवभूति मंत्री विचारता है कि इस भद्रमित्र वरिष्क को हिंसक पशुओं कुत्ते आदि से मरवा डालना चाहिये । ऐसी आज्ञा मंत्री ने अपने कर्मचारी को दे दी । इस बात से महान् भयभीत होकर भद्रमित्र राजमहल के पास एक बड़ा वृक्ष था उस वृक्ष पर वह चढ़ गया वहाँ वही चर्चा करने लगा ॥२६९॥

तूयनल्वेद नाण्णुम् सोल्लिय जाति यादि ।

मेयनल्लमच्च नेडुं विरुडु मेयुरत्त लेडुम् ॥

तीइनर् ट्रोळिल नेडुम् तेरियान् वैत्त सेण्पे ।

माय नी शैडु कोंडाल् वरुं पळि पाव मंड्रो ॥२७०॥

वह भद्रमित्र वृक्ष पर बैठा बैठा कहने लगा कि हे सत्यघोष कपटी ब्राह्मण ! चारों वेद, ऋह शास्त्र, अठारह पुराण आदि सभी को पढ़कर अपने आप को ज्ञानी पंडित तथा चार वर्णों में उत्तम ब्राह्मण कहलाता है । ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है, राजा का मंत्री पद पाया है, विश्वसनीय बातें बनाता है इसी कारण इसका यश चारों ओर फैला हुआ है । हवन आदि क्रिया को करने वाला है, वैदिक लोगों का गुरु कहलाता है । ऐसा समझकर मैंने मेरे बहुमूल्य रत्नों की पेट्टी इनको सम्हालाई थी । मेरे दिये हुए रत्नों को हड़प करने से आगे चलकर इस अपकीर्ति और अपमान होगा । इसने इस कार्य से पाप बंध बांध लिया है । ऐसा संत्य समझें ।

॥२७०॥

कोट्ट वेन् कुडयुं शीय वनयुं चामर युनीत्ताल् ।

वेट्टिवेल् वैवनेन्न नीयेन्न वेरि लादय् ॥

कुट्टमैड्रिडु मेन्न कुरईलेन् सेण्पे कोंडाय् ।

मट्टिवो पूदिमाय मागुमिर्व्वत्तय्या ॥२७१॥

अर्थ—वह वरिष्क कहता था कि राजा सिंहसेन यदि राज्य शासन के प्रति कोई लक्ष्य नहीं देगा तो यह राज्यशासन भी कुछ समय में नष्ट हो जायेगा, ऐसी संभावना है । क्योंकि न राजा पृथक है न मंत्री पृथक है । यह मंत्री पर द्रव्य को अपहरण करता है इस

कारण यह पापी और दुर्गति का पात्र है। हे मंत्री ! तुम्हारे पास धन की क्या कमी है, उसके पूर्ण करने में मेरे समान तुमने अन्य कितने लोगों के साथ विश्वासघात किया होगा? यह समझ में नहीं आता। मेरे साथ किया हुआ कपट व मायाचार तुम्हें कभी भी सुख नहीं दे सकता।

॥२७१॥

मरं पळि शिरुमं सिदै निदै वंदैव मनियं वोळ्विन् ।

अरं पुगळ्, पेरुमं शीति येरि ओडु शेरविलाकुं ॥

मरवुदैत्तूरु दोट्टु वंप्पिने वव्वुवारं ।

तुरंदिडुं तिरुवेनडोदुं सुरुदिइं विरुध्दमाय्तो ॥२७२॥

अर्थ—पाप और निंदा से उत्पन्न होने वाला मन अर्थात् पाप और निंदा को उत्पन्न करने वाले इस मन से तुने मेरे रत्नों का हरण कर लिया है, इससे धर्मकीर्ति यश आदि सब तेरे नष्ट होने वाले हैं। तुम यह समझते होंगे कि सबसे सुखी हूँ। तुमको वास्तव में पाप और पुण्य की कदर नहीं है। यह लक्ष्मी-कीर्ति आदि आदि एक दिन सब तेरा साथ छोड़ देंगी, यह सत्य समझो। और यह समझो कि यह सब तेरे लिए दुर्गति का कारण होगा। कहा भी है कि “अन्यायोपाजितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।” इस प्रकार यह नीति है। मायाचार पूर्वक संपादन की हुई मनुष्य की संपत्ति दशवर्ष के पश्चात् छोड़कर चली जाती है। यह नीति के वाक्य हैं; किंतु तुम क्या इस नीति के वाक्यों से परिचित नहीं हो ? ॥२७२॥

वडि तूनें पंगळि तूरुं मण्णरं मायं शंदिट् ।

तडुमद यानं वोव्व लमच्चरुक्काय वंजम् ॥

वोडु विलार् तेरि तंगं पोरुळिने वत्तु वंदु ।

प्रडि मिसं पुरंगुम् पोळ्दिर् वंजिपा नमच्च नामो ॥२७३॥

अर्थ—इस मंत्री द्वारा अन्य अन्य राजाओं का नाश करके तथा हिंसा करके महा कपट से उनके वाहन भंडार आदि आदि को लेना यह सब कपट रूप ही है। मैं सत्यवादी हूँ सत्यपने से मेरा नाम सत्यघोष पड़ा हुआ है, मैं जाति से ब्राह्मण है, मुझ पर विश्वास रखना चाहिये, ऐसा इनके बताने पर मैंने रत्नों की पेट्टी इनको दे दी। परन्तु मैंने जब लौट कर आने के बाद रत्न मांगे तो उत्तर मिला कि तुम कौन हो? मुझे रत्नों का कुछ मालूम नहीं। मैं तुमको नहीं जानता, मुझे कोई रत्न नहीं दिए—इस प्रकार का मंत्री का मायाचारी जवाब मिलना क्या उचित है ? ॥२७३॥

मंदिरं पडंङ्कु शाल वल्लुवर् तमक्कु पेय्गळ ।

मंदिरं पूदि तन्ना लंङ्कि मट्टोडिर् द्वीरा ॥

वैतुयर् नरगत्तुड्दक्कुं वेगत्तु मोगप्पेयं ।

मंदिरि मूतिनीयेन् द्वीतिडा वारि येंडान् ॥२७४॥

अर्थ—जैसे यंत्र मंत्र करने में समर्थ हुए मनुष्य के द्वारा भूत पिशाच आदि उसके

मंत्र के बल से निकल जाते हैं उसी प्रकार महान् दुख को उत्पन्न करने वाले नरक में खँच कर ले जाने वाले मोह रूपी पिशाच से गृहीत हुआ शिवभूति मंत्रो ने अपने अंदर से मायाचार व कपट को क्यों नहीं निकाला ? इस प्रकार भद्रमित्र वरिष्क वृक्ष पर बैठा हुआ बार बार कहता है ।।१७४।।

नीर्मयुं गुणमु नीड् जातियु निरमुं कल्बि ।  
शोर्मयुं सारुबाग वरिंदु नी शय्यु मायं ।  
नेमै शंदरसन् केठ नाळिन् कनीं गु मुं डन् ।  
कूमयुं गुणमु मेलां कादुवन् कोडवेंडान् ॥२७५॥

अर्थ—हे सत्यघोष ! आप श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले हो, उत्तम ब्राह्मण जाति में जन्म लिया है—आपका रूप सुन्दर है, सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता हो आपकी कीर्ति चारों ओर फैली हुई है । ऐसा आपने भी मन में समझ रखा है, परन्तु राजा ने जब आपकी श्रीर मुझको बुलाकर पूछा तो तुम्हारे अन्दर जो कपट है उसको मैंने भली भाँति जान लिया है । तुम्हारे जब पाप का उदय आयेगा तब शीघ्र तुम्हें उसका फल मिलेगा ॥२७५॥

शोरिमव कळिट्टु वेंदन् शेवियुर नाळुं वंविइप्प ।  
परिशिनालळैप्पा केदुं परुवरलिडि विट्टान् ॥  
सुर कुळल् करुंगट् चेव्वाय् तुडिइडै परवै यल्गुर् ।  
ट्टेरिवं मादि रामदत्तौ चित्त तोंडैळुं व दंडे ॥२७६॥

अर्थ—इस प्रकार वह भद्रमित्र रात और दिन सदैव एक ही बात को राजमहल के बगल वाले वृक्ष पर बैठा बैठा कहता था । इतना होने पर भी राजा सिंहसेन ने इस और कोई लक्ष्य ही नहीं दिया । एक दिन उस सिंहसेन राजा की रामदत्ता नाम की पटरानी ने भद्रमित्र की बात सुनी और सुनकर उसको एक शंका उत्पन्न हुई ॥२७६॥

मुं बु पिन् वोंडु तम्मिस् मलंबिला मूतिनूल् पोर् ।  
पिबु मुन् पोंडु वेंडु मुरैक्किन्डान् टन्नै पित्त ॥  
नेंबवोंडुन् ट्टेडिप्पि यवनंतता नळैत्तु रामे ।  
मुं बु निडु वकेट्टु पोयिन्न मुरैइ उंडाळ् ॥२७७॥

अर्थ—वह रानी विचार करने लगी कि यह भद्रमित्र वरिष्क वृक्ष पर बैठा बैठा एक ही बात को दोहराता है यह क्या बात है ? और अन्य अन्य लोग इसको पागल कहते हैं वास्तव में यह पागल नहीं है । यदि पागल होता तो एक ही बात को बार बार में दोहराना नहीं । ऐसा विचार कर रानी ने अपने नौकर को भेजकर भद्रमित्र को बुलाया । तत्पश्चात् रानी ने भद्रमित्र को पूछा कि हे वरिष्क ! तुम रोज रोज सदा एक ही बात को बार बार दोहराते हो, यह क्या बात है जो भी विषय कहना हो वह आद्योपान्त मुझे बर्णन करो । इस प्रकार रानी के वचन सुनकर वह वरिष्क रानी को नमस्कार करके कहने लगा कि मैं रत्नद्वीप

जाकर व्यापार करके अनेक प्रकार के रत्न संपादन करके लाया और आपके मंत्री पर विश्वास करके उन रत्नों को उनके पास रख दिये। जब वह रत्न में वापस मांगने गया तो उसने जवाब दिया कि मुझे कोई रत्न ही नहीं दिए न मैं तुमको जानता हूँ और बुरा भला कहकर अपने महल से मारपीट कर निकाल दिया। तब रानी ने कहा कि हे वशिष् ! यह सारी बातें तुमको राजा के सामने कहनी पड़ेंगी ॥२७७॥

वाळार्, तडंतोन् मन्नर मन्नरत्तं शैर्ग वन् पोर् ।  
तोळाळ् विलक्किक् मुरै केट्टुरं पोट्टु लागिर् ॥  
ट्राळाळ नल्ला विन् ट्रानिडुन् पूस नाळ् ।  
केळावोळिवा निदु वेन्नरु लेंडु केट्टाळ् ॥२७८॥

अर्थ—इस प्रकार कहकर महारानी रामदत्ता ने भद्रमित्र को बिदा किया और अपने पति सिंहसेन महाराज से जाकर विनम्रता से कहने लगी कि राजा का यह लक्षण है कि अपने राज्य के प्रजाजनों को सुख शांति है या नहीं-धर्म की स्थिति में कोई बिगाड तो नहीं है, कोई अन्याय तो नहीं करता है, दुष्टजन कोई विबाद तो नहीं करता, आदि आदि प्रजा की भलाई के लिए सारी बात देखना। यह राजा का कर्तव्य है कि प्रजा में सुख शांति रहे, अधर्मी नास्तिक लोगों का उच्चाटन करे तथा शत्रुओं को कोई स्थान न देना, शिष्टाचार का पालन करना—सदैव प्रजा के हित का ख्याल रखना। यह सब राजनीति तथा राजा का लक्षण है। हमेशा इस प्रकार की परिपाटी राजाओं की चली आ रही है। धर्मनीति व राजनीति को भूलना नहीं चाहिए। मुझे यह बातें कहना तो नहीं चाहिए, लेकिन जो बात मुझे समझ में आई, मैंने कहदी। राजन् ! आपके समान प्रजा पालक—शूरवीर राजा के राज्य में एक दुःखी वशिष् द्वारा अति दुःख से कहने वाली बात को आपने आज तक लक्ष्य देकर क्यों नहीं सुना ? ऐसा रानी ने राजा से प्रश्न किया। राजनीति में कहा है कि “राजानः प्राणिनां प्राणाः राजा प्रत्यक्ष देवता” इस उक्ति के अनुसार राजा संपूर्ण प्राणियों की रक्षा करने वाला प्रत्यक्ष देवता के समान होता है। राजा संपूर्ण जीवों का प्राण है ऐसा नीतिकारों का कहना है। एक मनुष्य कदाचित् यदि कोई अपराध करे तो देवता उस अपराधी को ही दंडित करता है तो राजा एक मनुष्य द्वारा अपराध किए जाने पर कई व्यक्तियों को दंड देता है। इस प्रकार आप न्यायवान राजा हो। विचार करें ॥२७८॥

मत्ताकळिट्टा नळेंप्पान् मत्तानेन्न मंगे ।  
निसं वंबम् मरत्त पोळुदु तेरि नीदि ॥  
वैसावगया सुरेंप्पान् मत्तानल्ल नेन्न ।  
मुत्तन्न पल्लाय् मुरै नोडु केळ् मो वंडान् ॥२७९॥

अर्थ—सिंहसेन राजा अपनी पटरानी रामदत्ता की बात सुनकर कहने लगे कि यह वशिष् पागल है। प्रतिदिन ऐसा ही कहता है। तब रानी कहने लगी कि यदि पागल होता तो वह अनेक-अनेक बातें बोलता, किन्तु वह तो वृक्ष पर चढ़ कर रोजाना एक ही बात को

कहता है और कोई बात नहीं कहता, ऐसी दशा में वह पागल नहीं है। तब राजा ने सारी बातें सुनकर कहा कि हे देवी ! इस संबंध में तुम ही विचार करो ॥२७६॥

नीद्विये पंडितान् पोल बळं किंकडान् वळक्कु निड् ।  
वेदियन् शयल मेळाम् विळक्कु पोल् काट्ट वळ्ळन् ॥  
सूबि यान् बूबि योडु पोरुद पिन्नेन्न सोन्नाळ् ।  
यावनि बेंडिट्टला मिशंदन नेंडु सोन्नान् ॥२८०॥

अर्थ—राजा की बात को सुनकर वह रानी कहने लगी कि शास्त्र को मनन किया हुआ पंडित के समान, अविरुद्ध बात अर्थात् न्याय की बात कहने वाले के समान उस वैदिक की बातों को मैंने सुनी है। शिवभूति हमारा मन्त्री है। इन दोनों वैदिक की और मन्त्री की बातों को सुनने के लिए मुझको अवकाश मिलना चाहिए। मैं आपकी आज्ञा चाहती हूँ क्योंकि यदि अन्धेरे में दीपक जलाकर रखा जाय तो अन्धेरा दूर हो जाता है। अतः आप मुझको उस मन्त्री के साथ जुग्रा खेलने की स्वीकृति दें। तब राजा ने कहा कि हे प्रिये ! तू यदि इस बात का निर्णय ही करना चाहती हो तो अवश्य इस कार्य को करो ॥२८०॥

अरसन दरुळि नाले मंदिरि यवनैकूबि ।  
पेरिडुपो देशदि याडि पिन्ने योडु तोडंगा ॥  
उरै शंदाळ् सूदिलेन्नोडप्प वरिलै येंड्रे ।  
अरसुनु मंदिरि ये नोकवगो पेरिदळगि बेंड्रान् ॥२८१॥

तदनंतर रामदत्ता देवी ने अपने कर्मचारी को भेजकर शिवभूति मन्त्री को राजा के पास बुलाया और रानी ने राजा तथा मन्त्री को नमस्कार किया। तत्पश्चात् रानी ने चतुर होने के कारण दोनों के सामने राजनीति कूटनीति की बातों को तथा कुछ समय हास्य विनोद की चर्चा की और कहने लगी कि हे नाथ ! यह सत्यघोष शिवभूति मन्त्री जुग्रा खेलने में बड़ा चतुर व सामर्थ्यवान है ! इससे कहदो कि यह मेरे साथ जुग्रा खेलकर भस्मे जीतने का प्रयास करे, परन्तु मेरे से जुग्रा जीतने की सामर्थ्य इनमें नहीं है। तब राजा ने हंसते हुए मन्त्री की ओर देखा और कहने लगा कि रानी ने जो बात कही वह सत्य है। मन्त्री वास्तव में इतना चतुर व सामर्थ्यवान नहीं है। अच्छा मन्त्री के साथ जुग्रा खेलकर तुमको अपनी चतुरता दिखानी चाहिए ॥२८१॥

बरेयन सेरिद माबं मंदिरि तन्नैबल्ले ।  
उरै योडु मुडियु मेळ्ळै उडैप्प निप्पोरि लेन्न ॥  
तिरै सेरि कडलंतानं बेंदयान् ट्रेबि तन्नै ।  
पोरबेंडु पूडुस पोळ्ळे वेल्बनि पोरि लेंड्रान् ॥२८२॥

अर्थ—वह रामदत्ता महारानी कहने लगी कि हे पर्वत के समान निविड़ हृदय को

धारण करने वाले नाथ ! इस मन्त्री को द्यूत युद्ध में एक ही क्षण में जीत सकती हैं—इस प्रकार की बात रानी की सुनकर मन्त्री ने कहा कि राजन् ! मैं इन रानी को शीघ्र जुग्मा में हरा दूंगा—इसमें एक क्षण भी नहीं लगेगा ॥२८२॥

मुरं मुरं सवदं शय्य अरसनु मुगिळ्, मुगिळ्तु ।  
 पिरं तूदर, पेदं तन्पा लिरुंदनन् ट्रेवि पिन्नं ॥  
 मरंय वन् मारिवित्तु नाममोदिर मु मीरा ।  
 मुरं मुरं वेंडु, कौंडाल्, मूर्चिया वंतुयितान् ॥२८३॥

अर्थ—इस प्रकार परस्पर विवाद के पश्चात् मन्त्री कहने लगा कि मैं मेरा सामर्थ्य प्रकट करूंगा । तब राजा भ्रम में पड़कर रानी के बगल में बैठ गया । तदनंतर रानी व मन्त्री के बीच में द्यूत क्रीडा प्रारम्भ हो गई । जुग्मा के खेल के प्रारम्भ होते ही रामदत्ता देवी ने अपनी द्यूत क्रीडा के सामर्थ्य से मन्त्री की वज्रकी बनी हुई यज्ञोपवीत जीतली और दूसरी बाजी में मन्त्री की मुद्रिका को जीत ली । तब मन्त्री इन दोनों के जीत लेने के बाद दीर्घ श्वास लेने लगा ॥२८३॥

मईलोडु पोरुदु तोट्ट वाळरिपोल माळ्गि इप् ।  
 पुयलन मेनिवेषुं पोडिप्पव निरुंद पोळ्दिर, ॥  
 कुइन् मुळि वेंडु, कौंड काटि सेप्पवन्नं वांगुम् ।  
 शयलेलाम् सेविलिताय्कु सेप्पिधिट्टिणि दिन् मेंडाळ् ॥२८४॥

अर्थ—जिस प्रकार मादी मोरनी युद्ध करके मोर को जीत लेती है उसी प्रकार वह मन्त्री रामदत्ता देवी के साथ द्यूत क्रीडा में अपयश को प्राप्त हुआ । रानी ने जुग्मा में जीती हुई यज्ञोपवीत व मुद्रिका को लेकर भीतर गई और अपनी निपुणमति नाम की दासी को बुलाकर कहा कि यह यज्ञोपवीत व मुद्रिका को लेकर मन्त्री के महलों में जाओ और यह दोनों वस्तुएँ मन्त्री के भंडारी को बतलाना और यह कहना कि मन्त्रीजी ने यह कहा है कि यह दोनों चीजें तुम अपने भंडार में रखलो और इनकी एवज में जो रत्न तुम्हारे भंडार में रखे हैं वह तुम दे दो ॥ २८४ ॥

करुं वं मेंडुनैय तीन् सोकविलन् ट्रेवितायां ।  
 नेरुं गि निड्रेळुंद कौंगे निपुन मा मर्दियि पोगि ॥  
 सुरंबिरुं तुरंगुम् तौंग लम्चचन्ट्रन्, माडन् तुन्नि ।  
 विरुंबि वंदडेंद तंडकारिक्कु बेर सोन्नाळ् ॥२८५॥

अर्थ—तत्पश्चात् सभी बातों में चतुर वह निपुणमति दासी उस मुद्रिका व यज्ञोपवीत को लेकर मन्त्री के महल में पहुँची और उसके भंडारी को बुलाकर जितनी बातें महारानी ने समझाई थी, उनसे भी अधिक चतुराई से बातें बताकर भंडारी को विश्वास दिलाकर अत्यंत मार्मिक बातें कहने लगी ॥२८५॥

चित्तिर मोत्त रामवत्तैयुं सिध्यसेनुं ।  
सत्तियं वंत्ता नामन् द्रुनै मुन्नाणो इट्टु ॥  
भाद्दिर मित्रन् सेप्पुंडेनिरु कोडुक्क पारु मेल् ।  
नित्तलु मिट्टु पूशल् नेडुं पळि विडक्कु मेन् ॥२८६॥

अर्थ—वह दासी कहने लगी—देखो भंडारीजो यह एक मामिक बात है, किसी को प्रकट नहीं होना चाहिए। शिवभूति मंत्री इस समय बड़े कष्ट में हैं, जुआ में रामदत्ता महारानी के साथ हार कर उनसे सब चीजों को खो दिया है और वह रत्ने हुए रत्न दिए बिना छुटकारा पा नहीं सकते। मंत्री ने यह मुद्रिका व यज्ञोपवीत जिस पर मंत्री का नाम है दी है। इनको तुम भंडार में रखलो और इनके बदले भद्रमित्र के रत्न मुझे देदो, ताकि वह दुःख से निकले। यदि नहीं दोगे तो मंत्री की अपकीर्ति होगी और रोजाना जो वृक्ष पर चढ़ कर वह चिल्लाता है आपका यह कहना बंद कर देगा ॥२८६॥

मत्तग मोत्ततिडोन् मंदिरि सोन्न वार्ते ।  
वित्तग रुत्त मकुं वरुम् पळि विलक्क लगा ॥  
भद्दिर वागुवळ्ळि वरदक्कुं पळि योडाय ।  
तित्तलत्तोडुं निडुं दिदि रो पेंदिरकुं ॥२८७॥

अर्थ—उस दासी ने भंडारी से यह भी कहा कि मंत्री ने इस संबंध में और और भी बातें कही हैं कि सत्पुरुषों पर आए हुए अपराधों को कोई रोक नहीं सकता। भरत और बाहुबली के मध्य में होने वाले संघर्ष तथा इन्द्र और उपेन्द्र इन दोनों राजकुमारों में होने वाले दोषों का कथन सब जगह प्रसिद्ध है। उन्हीं के समान मेरा दोष भी इस कलिकाल तक न रहे तथा मेरी अपकीर्ति भी न हो। वास्तव में यह बात सत्य है कि उस भद्रमित्र वणिक ने मुझे रत्नों की पेट्टी दी, मुझे स्मरण नहीं रहा मैं भूल गया था और मैंने उस वणिक से यह कह दिया था कि मैंने तुम्हारे रत्न नहीं लिये ॥२८७॥

आदलालेन् कर्णिण्डुं मुळैत्ता विप्पळियुं पोमि ।  
ओद नोरु वोट्टु मेळ्ळाम् तडईडुं पडव्व दोंडाय ॥  
तीदिला गुणत्तु वेंदे शप्पवन् वंजतु पोडुर् ।  
ट्रियाडु नानिनैदि वाडे इल्लं सेप्पेडुं सोन्नेन् ॥२८८॥

अर्थ—पुनः दासी ने कहा कि मंत्री ने यह बात राजा से कही है कि मेरे हाथों से रत्नों का भद्रमित्र को वापिस दे दूंगा—यदि नहीं दूंगा तो मेरे सत्यघोष नाम पर कलंक लग जावेगा। सो आज ही विचार करके निर्णय करो। तब सिंहसेन महाराज ने मंत्री की बात सुनकर कहा कि सभा के बीच आने वाली अपकीर्ति को रोकने को कोई समर्थ नहीं है तुम भद्रमित्र से यह प्रार्थना करो कि हे वणिक यह रत्नों की पेट्टी आप वापस लो और अब



यह कहते रहो कि इस संबंध में मंत्री का कोई दोष नहीं है। मैं तो वैसे ही पागलपन में मंत्री का नाम ले ले कर वृक्ष पर बैठा बैठा पुकारता था कि मंत्री मुझे रत्नों की पेटी नहीं देता और गली गली में चिल्लाता था सो वास्तव में मैं पागल था और यह भी कहना पड़ेगा कि एक दिगम्बर मुनि के संसर्ग से मेरा पागलपन दूर हो गया। ऐसा करने से कलंक भी नहीं लगेगा और राजा भी इस बात को स्वीकार कर लेगा। इस प्रकार निपुणमति दासी ने भंडारी को समझाया ॥२८८॥

निर्नत्ता पित् शक्तिय कोड नेंवुदु नींगु मेंड्रेन् ।  
 विनेपयन् पेरुमं याले कोडुत्तिलन् वेंड वंडि ॥  
 सिनकळिट्टुळव मट्टन् टिरुवुळ्ळ मिरुक्क वेय्यत् ।  
 देनक्कोण्डु मरिय दिल्ले इनिसेव दुरेक्क वेंडिन् ॥२८९॥  
 मन्नव नदनै केटु वरुंपळि विलक्कोनावे ।  
 पेन्नुनाकिगु वंद पळियोण्डु मिल्ले ईंडम् ॥  
 मिन्मणि सेप्पे ईंदौ वनिगनै वेंडि कोळ्वेन् ।  
 मुन्ने यन् पित्तु तीर्तान् मुनिव नेंडु रक्के वेंडे ॥२९०॥

अर्थ—उस चतुर दासी ने मंत्री के गले में रहने वाली यज्ञोपवीत तथा मंत्री के नाम वाली मुद्रिका उस भंडारी को दिखाकर कहा कि रत्नों की पेटी मुझे शीघ्र देदो। इस कार्य में क्लिम्ब मत करो। साथ में यह भी कहा है कि यह भेद किसी को मालूम न हो। उस भंडारी को दासी की बातों पर पूरा पूरा विश्वास हो गया कि मुद्रिका व यज्ञोपवीत मंत्री की ही है। तब वह भंडारी दोनों को ले लेता है और तिजोरी में रखी हुई रत्नों की पेटी उस निपुणमति दासी को दे देता है ॥२८९-२९०॥

मंदिरि नंडि देडु वरं पुरं मावित्तुलुं ।  
 तन् पल रंगित्तिट्टु वाळियुं तंडु सेप्पुक् ॥  
 कुण् कणिन् डेन्ने विट्टानोरुवरु मरियावन्न ।  
 मेन् कंयिर् सेत्पेत्ता वेंडोरेत्तु कोण्डिनिदिन् मेंडाळ् ॥२९१॥  
 मंदित्त नोकत्ता लिम्मन्नेलाम् वणक्क वल्लाळ् ।  
 सिदित्तेंडु रेंत्तु सेयिर् ट्रेवरुं पिळैक् माटार् ॥  
 वंदिकाराकु मूत्तान् वंश सेप्पदनै वांगि ।  
 तदिट्टाळ् मुगत्तौ नोका तामरं किळैत्ति यन्नाळ् ॥२९२॥

अर्थ—इस जगत में सभी लोगों को अपने अधीन रखने की सामर्थ्य को रखनेवाली निपुणमति दासी इस सभा में रहने वाले कपटी मन्त्री द्वारा अपने कपट से भद्रमित्र वरिष्क

के अपहरण किए गए रत्नों को वह अपनी बुद्धिमत्ता से भंडारी के पास से लेकर आई और महारानी रामदत्ता देवी को सम्हलाये तब रामदत्ता ने उस निपुणमति की बुद्धि की प्रशंसा करते हुए उसका मुख देखने लगी और आश्चर्य में पड़ गई कि मैंने इस दासी को थोड़ी सी बात कही थी, इसने अपनी चतुरता से इतना बड़ा काम करके दिखलाया है ॥२६१॥२६२॥

मुद्रिकविक्रम मेघा मुखवलित्तवळोडुं पोड ।  
पडंकिडंदलगुर् पावाई पट्टु पवर्ग वेन्न ॥  
नुडंगु नुमिडे ईनाय्, नीनु वलिय निनित्तु, पोगि ।  
मडंगल् पोलिहंद विदं मंदिरि माडं पुक्केन् ॥२६३॥

अर्थ—तत्पश्चात् रामदत्ता देवी उस दासी को एकांत में ले जाकर पूछने लगी कि हे मेरी प्रिय सहेली निपुणमति ! तुमने क्या षडयंत्र रचा और किस उपाय से इन रत्नों को तुम निकालकर लाई, किस युक्ति से भंडारी से रत्न निकलवाये ? वह आश्चर्य जनक होकर पूछने लगी कि उस भंडारी ने तुमको दिया ही कैसे ? क्या तुमने जादू मंत्र किया था ? इसके उत्तर में निपुणमति दासी ने कहा कि हे माता ! आपकी आज्ञा होते ही आपका स्मरण करते हुए मैं मंत्रों के मन्त्रान पर पहुँची ॥२६३॥

पुक्क पिन् बांडगारी कुलियोप्पान् मेलियुं वष्ण ।  
मोक्कनीयुरैत्त वेळ्ळा मुरैत्तडे याळं सोळ्ळि ॥  
मिक्कवन् वेगुळि माविन्नु लु मोदिरमं काट्टि ।  
तक्कवोडुं रैत्तपिन्ने तंवशेप्पिवु वेंड्रिट्टाळ् ॥२६४॥

अर्थ—तदनंतर वहाँ जाकर बड़े प्रेम से मंत्री के भंडारी को बुलाया और आपके कहे अनुसार उनसे वार्तालाप की । चतुराई के साथ बात करके उनको आपके द्वारा दी गई यज्ञोपवीत व मुद्रिका दे दी । तब उस भंडारी को इन यज्ञोपवीत व मुद्रिका को देखकर पूर्ण विश्वास हो गया और उसने मुझे यज्ञोपवीत व मुद्रिका ले ली और रत्नों की पिटारी मुझे दे दी । ऐसा निपुणमति दासी ने रामदत्ता से कहा ॥२६४॥

करंद पालु मुलै पुगुनी करुदि नेडु, पेरिय वर्ग ।  
निरंद मदि पोन् मुगत्तार्यै नीपुन पाति येडु, रैत्तार्ग ॥  
त्तरिदोर् सोडुं पुय्यामो वरिप कालन् पालुइरपो ।  
लिरंद पोळ्ळै कोडुवंदाय् केन्नान् सैवदन उरत्ताळ् ॥२६५॥

अर्थ—तदनंतर रामदत्ता महारानी दासी के प्रति कहने लगी कि हे निपुणमति ! तेरे अंदर सारे गुण हैं, इसलिए तेरा नाम भी सभी कलाओं में निपुण होने से निपुणमति रखा गया है, यह ठीक है । तुम्हारे समान सामर्थ्यवान् चतुर स्त्रियों में शिरोमणि, सब कला-सम्पन्न संसार में महान् दुर्लभ है । तेरे पास जो यह कला है वह दूसरे के पास नहीं हो सकती । इसी

कारण तेरा नाम निपुणमति रखा गया है। यह नाम इसलिए आपका सार्थक नाम है। आज के दिन जो तूने यह काम किया है यह साधारण बात नहीं है। तूने यह महान कार्य किया है। जिस प्रकार किसी जीव को यमराज पकड़ कर ले जाता है और कठिनता से वापस देता है उसी प्रकार चतुराई से तूने यह काम किया है। तू बड़ी विलक्षण बुद्धिवाली है जोशिवभूति मंत्री के भंडारी से बुद्धिपूर्वक चतुराई से रत्नों की पेट्टी लाई है, यह अतीव महत्व की बात है। इस कार्य के संबंध में मैं तुझ से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अब यह पूछती हूँ कि इस कार्य के बदले में तुमको क्या पारितोषिक दूँ, यह बतलावो। ऐसा रामदत्ता ने उस दासी से कहा ॥२६५॥

मंदारत्तौ वंदनयुं वल्लि पोल मन्नवनै ।

शंदार् नुलयाळ् वंदनगि तन्कं होप्पु कादु दलुं ॥

कंदार् कळिट्ट् वंदन् कन् कय्ये मरिया कारिग्ये ।

चित्ता मरिणयो नी येडान् शिरं वंदेळुंद मुडियाने ॥२६६॥

अर्थ—इस प्रकार आश्चर्यकारक वार्तालाप होने के पश्चात् वह रामदत्ता रानी अपने पति सिंहसेन राजा के पास गई और निवेदन किया कि मंत्री के घर पर निपुणमति दासी को भेजकर जो रत्न मंगवाये हैं वह मैं दिखाने लाई हूँ। तब वह राजा उन रत्नों को देखकर महान आश्चर्य में पड़ गए और कहने लगे कि हे देवी! तुम तो महान काम धेनु के समान हो। मैंने जैसा विचार कल्पना की वह सकुशल पूर्ण हो गई। वह राजा बड़ा संतुष्ट हुआ ॥२६६॥

मन्नवन् शेप्पे काना मट्टिव नमेच्चनाग ।

मुन्नमेन्नरसु चेड् पडियिदु वेड् नकान् ॥

कन्नमेन्नडे इनाळे मंदि रित्ताग वेन्न ।

सोन्न वोव्वनिगन् टन्नै सोदित्तर कुळळं वंत्तान् ॥२६७॥

अर्थ—वह सिंहसेन राजा इन रत्नों को देखकर विचार करता है कि इस शिवभूति मंत्री ने इसी प्रकार अबतक कई प्रजाजनों को फंसाया होगा, मेरे राज्य में प्रजा को कितनी आपत्ति हुई होगी, कितनी संपत्ति का अपहरण किया होगा! तदनंतर यह राजा एवं रानी दोनों ने मिलकर विचार किया कि उस भद्रमित्र वरिणक के रत्नों का अपहरण मंत्री ने किया सो ठीक है, वह वरिणक इतने रोज तक वृक्ष पर बैठा बैठा तथा गलियों में पुकारता था। वह बिल्कुल सत्य था। हमने मंत्री के कथनानुसार उसको पागल समझा। उसको कितना दुख हुआ होगा? हमने उसके साथ महान अन्याय किया। और दोनों ने यह विचार किया कि यह रत्न भद्रमित्र को वापस दे देना चाहिए; किन्तु रत्न वापस देने के पहले उस वरिणक की भी परीक्षा करनी चाहिए ॥२६७॥

मरिण चेप्पु नल्ल वल्ले तरुगणवंद वट्टिर् ।

कुसिण पट्ट मरिण्ये वांगिवरिणगण ट्टण् मरिणइर् कूटि ॥

परिणत्तानन् वरिणगन् टन्नै येळेक्कन् परिणदु निड्डा ।

निनेत्ता नावळत्तु सोरं पन्नगर किरिव वेड्डान् ॥२६८॥

अर्थ—इस प्रकार उस सिंहसेन राजा ने अपने भंडारी को बुलाया और आज्ञा दी कि राजकीय भंडार में जितने रत्न रखे हैं वे सब यहाँ लेकर आओ। आज्ञा पाते ही वह भंडारी खजाने में से अमूल्य अमूल्य रत्न लेकर थाली में भरकर लाया और राजा के सम्मुख रख दिये। तदनंतर उस राजा ने उसी समय निपुणमति दासी द्वारा लाए गए रत्नों को भी रत्नों में मिला दिए। राजा सिंहसेन ने उस भद्रमित्र वरिष्क को अपने कर्मचारी को भेजकर बुलवाया। भद्रमित्र ने आकर अत्यंत विनय से राजा को नमस्कार किया और मंत्री के माथ अब तक जो जो बातें गुजरीं वह सब बतलाऊंगा, ऐसी वरिष्क ने प्रार्थना की और सारे हालात वरिष्क ने बतलाये ॥२६॥

कच्चट्ट मुलइनाळुं वेंवनुं वरिष्क कंड ।

विच्वेप्पि लुन् सेप्पुंडे लीयेंबुनी येन्नलोडु ॥

मै वैप्पु मुळिइ नानुं वेंवनें वरिष्क पारा ।

विच्वप्पेन् वरिष्कैप्पेण्डा नेरिम्मणि कडग केयान् ॥२६॥

अर्थ—लक्ष्मी के समान रूप को धारण करने वाली रामदत्ता देवी तथा सिंहसेन दोनों उस वरिष्क से कहने लगे कि हैं भद्रमित्र श्रेष्ठी! हमारे यहाँ जो थाली में रखे हुए रत्नों का ढेर है इसमें जो तुम्हारा रत्न ही वो छांटकर बतलाओ और कहो कि ये मेरा रत्न है। तब उस वरिष्क ने खड़े होकर राजा को नमस्कार किया और उस थाली में रखे हुए रत्नों के ढेर में से अपने रत्नों को पहचान कर निकाल लिया और राजा से कहा कि यह रत्न तो मेरे हैं और यह मेरे नहीं हैं ॥२६॥

उरैत्तायन् द्रुन्नें पारां मन्नन् मुन्नि वनें योरुं ।

पिरत्ताय सिद्धिं किडारु पित्तनेन्ना ॥

उरैत्ता वेन्नरसु सेण्डुं मिसल्लवरोट्टु तुं वण्डुं ।

मरफुलत्तावकुं नाय कन् वारिइन् मंडिअं देण्डाज् ॥३०॥

अर्थ—सब वह राजा मन में विचार करने लगा कि यह रत्न मेरे हैं और अन्य रत्न मेरे नहीं हैं, इसकी पहचान करके इस वरिष्क ने अपने ही रत्न लिये। इस कारण यह वरिष्क महा विद्वान् व सद्गुणी है व सच्चा है। मैंने इसके गुणों को न देख कर पागल कहकर इसका तिरस्कार किया, यह मेरी महान् भूल है। आज तक मंत्री द्वारा कितने लोग दुखी हुए होंगे कितनों को धोखा दिया गया होगा, कुछ नहीं कहा जा सकता। जैसे समुद्र के मध्य में जहाज के चलते समय भूचाल आ जाये तो बैठे हुए लोगों को कितना दुःख होता है। उसी प्रकार इस भद्रमित्र को दुःख हुआ होगा। प्रजा का रक्षक मंत्री होता है। यदि रक्षक ही भक्षक हो जाये तो इससे और बुरी बात क्या हो सकती है? ऐसा मन में विचार किया।

राजा राक्षसरूपेण, मंत्री व्याघ्ररूपेण, प्रजाश्वानरूपेण—यथा राजा तथा प्रजा ।

अर्थ—इस कहावत के अनुसार यदि राजा राक्षस रूप धारण करेगा, मंत्री व्याघ्र रूप धारण करेगा, तो प्रजा अवश्य श्वान रूप धारण करेगी और जैसा राजा होगा वैसी प्रजा

होगी। राजा और मंत्री यदि धार्मिक रूप धारण करेंगे तो प्रजा भी उनका वैसा ही अनुसरण करेगी। 'यथा राजा तथा प्रजा'। राजा या मंत्री यदि अन्यायी या अधर्मी होंगे तो प्रजाजनों को दुःखी करेंगे। कहा भी है कि:—

प्रभुविवेकी प्रमदा सुशीला, तुरंगमाशस्त्रनिपात धीरा ॥

विद्वान् विरागी धनिकश्च दाता, भूमंडलस्याभरणानि पंच ॥

अर्थ—राजा के पास पांच रत्न रहते हैं। राजा विवेकी, सुशील स्त्री, घोड़े, अस्त्र विद्या धीर, वैरागी विद्वान धनवान होने पर दातार। यह पांचों मनुष्य के लिए आभरण है। राजा कैसा होना चाहिए—

अहमेवमतोमहिपति, इति सर्वप्रकृतिसान्विता ।

उदधिरेवनीय सुन्दरी, यःस्वभावांन् नस्य विमाणमक्षयत् ॥

अर्थ—राजा लोगों को संपूर्ण प्राणियों की रक्षा करने की सदैव चिन्ता होनी चाहिए। प्रजा के दुःख को दूर करने में दक्ष होना चाहिए। जैसे समुद्र संपूर्ण नदियों को अपने अंदर समावेश करके गंभीर रहता है और उपमा देने का कारण बन जाता है उसी प्रकार राजा को रहना चाहिए। आपत्ति आने पर भी प्रजा की हर प्रकार की रक्षा करना राजा का कर्तव्य हो जाता है।

यौवनं धनसम्पत्ति प्रभुस्वमविवेकता ।

एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

अर्थ—यौवन का मद, सम्पत्ति का मद, राज मद, अविवेक मद यह एक से एक बढ़कर है। यदि इन चारों मदों से एक भी मद हो जावे तो कितना अनर्थ करता है और यदि चारों मद मिल जावे तो उनकी गति क्या होगी ?

मंत्री का गुण—

मेघावो प्रतिभाषतो गुणपरो श्रीमान् शीलं पटः ।

भावज्ञो गुणदोषेनिपुणता संगीत वाद्यादिषु ॥

मध्यस्थो मृदुवाक्यधीर—हृदयाः तत्पंडितो सात्विका ।

भाषा भेद सुलक्षणाः सुकाविभिः प्रोक्ताश्रुते मंत्रिणा ।

अर्थ—जो मंत्री विद्वान होना चाहिए, कलावंत तथा समस्त भाषा का जानकार होना चाहिए। गुणवान 'ऐश्वर्यवान व कीर्तिमान होना चाहिए। मृदुवाची तथा प्रजा के भावों को समझने वाला होना चाहिए, कवि भी होना चाहिए। प्रजा के कष्ट को दूर करके हित चिन्तन वाला होना चाहिए। यदि इनसे विपरीत हो जावे तो मंत्री घनेक प्रकार के पाप्य मार्ग में रत होकर सन्मार्ग पर कुठाराघात करके से धर्मार्थ से पुरुषार्थ जो मोक्ष मार्ग के साधक है वह नष्ट हो जायेंगे और धर्म को क्षति हो जाएगी। नीतिकारों ने भी कहा है कि:—

पत्नी प्रेमवती सुताः सविनयकां भ्राता गुणालंकृत,  
स्नेही बंधुजनः सकांति चतुरा नित्य प्रसन्नः प्रभुः ।  
निर्दोषी चरपरार्थी सपना प्राप्तव्यं भोग घन,  
पुण्याणां उदयेण संचित फलं कस्यामि संपद्यते ।

अर्थ—सद्गुण वाली स्त्री सुबुद्धि, सुलक्षणपुत्र, स्नेही, बंधु परस्पर स्नेह करने वाले भाई, प्रौढ, मित्र, प्रजा को प्रिय राजा कपट रहित रखी द्रव्य को देकर याचकों की इच्छा पूरी करने वाले भाई, प्रौढ मित्र को भोगने वाला घनी यह सभी को प्राप्त हो जाना पूर्व जन्म का फल है । पूर्व जन्म के पुण्य बिना यह प्राप्त नहीं होता । इस कारण उस मंत्री ने दूसरों के धन का अपहरण करके स्वयं धनवान बनकर तथा उसका सुख भोगने की इच्छा से भद्रमित्र वरिष्क के रत्नों का अपहरण करके अपने को सत्यघोष की पदवी को प्राप्त करके बतलाने वाला प्रजा पर विश्वास दिलाने वाला ६ शास्त्र १८ पुराण आदि का उत्तम पंडित उत्तम कुल में जन्म लिया और मैं ब्राह्मण हूँ ऐसा बतलाता है कभी इस प्रकार का पापाचार नहीं किया-ऐसा कहने वाला उस सत्यघोष मंत्री ने उस वरिष्क के रत्नों का अपहरण करके कितनी अपकीर्ति प्राप्त की है ? मंत्री को ऐसा करना उचित है क्या ? और भी कहा है कि कैसा राजा होना चाहिए—

शिथिल मूल दूढ करे फूल चूटे जल सींचे,  
उरघ डरि नबाय भूमिगत ऊरघ खींचे ।  
जो मलिन मुरभाय देखकर तिनही सुघारे,  
कूडा कंटक गलित पत्र बाहर चुन डारे ।  
लघु वृद्धि करे, भेदे जुगल, बाढ़ सवारे फल भखे,  
माली समान जो नृप चतुर सो संपत्ति बिलसे अखै ।

॥३००॥

भद्विर भित्तिराबुन् चित्तिर मणि सेण्पिट्ट ।  
मुत्तिरै युन्नदागिल् वैत्तिडल् कोंडु पोग ॥  
वत्तिर मुट्टि याने मत्ताग यहक्कु मन्न ।  
मुत्तिरै येन्न वेड्डु वित्तग रिट्टेड्डान् ॥३०१॥

अर्थ— राजा सिंहसेन ने उस भद्रमित्र से फिर कहा कि इन रत्नों में जिन २ रत्नों पर तुम्हारी म्होर (सील) लगी हुई है । उनको चुन लो । इस बात को सुनकर वह भद्रमित्र राजा को नमस्कार करके बोला कि इन रत्नों पर जो म्होरें (सील) लगी हुई है वह मेरी म्होर नहीं है, किसी अन्य की म्होर है ॥३०१॥

तिरचेन तिरंदु पारत्तिट्ट ।  
टिरचेमट्टेन्न वल्ला ॥

वरिवरु विलेय कर्, कन् ।  
निरंयवं किडंड वेंडान् ॥३०२॥

अर्थ—इस बात को सुनकर राजा सिंहसेन ने रत्नों ने ढेर में अन्य रत्न व मुद्रिका आदि मिलाकर पुनः भद्रमित्र से कहा कि तुम मुद्रिका आदि इन में से चुन लो तब भद्रमित्र कहने लगा कि कि राजन् मेरे रत्न भी इन रत्नों में बहुत मिले हुए है ॥३०२॥

मण्णान्, मिक विम्मणिये निन्, मण्णि योडु कलक्कुं ।  
मण्णं तानुळनो वरियादु नीयुरंत्ताय् ॥  
येन्निला विलं विम्मणि तन्मये पाकुं ।  
कण्णु मोडिन्, कानेन कावल नुरंतान् ॥३०३॥

अर्थ—इस जगत में आपके अमूल्य रत्नों के साथ मेरे कम मूल्य के रत्नों को मिलाने वालों के समान और अज्ञानी कौन होगा ? कोई नहीं है, इसलिए उन अमूल्य रत्नों में मेरे अल्पमूल्य रत्नों का रखना अज्ञानीपन है । राजा कहने लगा कि हे भद्रमित्र तुम्हारी आंखों में कुछ भ्रम है, यह रत्न तुम्हारे ही हैं गौर करके देखो, घबरावो मत, एक बार और देख लो ॥३०३॥

मत्तनल्लवन् करुमत्तिन्, वरुं पयन्, टेरिडु ।  
सित्त वंत्तलार्, संवदोर्, सोळित् वय्यत्तिळ् ॥  
वैत्ता वेन्मणि मरंडु वंगलु मळत्तेनेर् ।  
पित्तनेडुने येळत्तवर पिळत्तवेन्, पेरियोय् ॥३०४॥

अर्थ—इस बात को सुनकर वह बगिक हाथ जोड़कर कहने लगा कि हे राजन्! आप ज्ञानी हैं, भली प्रकार जाने बिना आप कोई कार्य नहीं करते हैं । ज्ञानी प्रत्येक कार्य को सोच समझकर करता है । यदि मैं अपने रत्नों को भूल जाऊं तो लोगों द्वारा मृच्छे पागल कहना ठीक है । मैं अपने रत्नों को पहचान भूल नहीं सकता ॥३०४॥

इप्परि सुरंत्तु, सेप्पिलिट्टमा माणिये एल्लाम् ।  
सेप्परुं परिसु नीकि सेळ्मणि कैडर्, कोंडान् ॥  
मं परी शरिडु तन्मै कंकोडु पिरिडु विट्टु ।  
ओप्पिर मत्तनाय मुनियं पोल् बाणम निडान् ॥३०५॥

अर्थ—इस प्रकार कहकर उस रत्नराशि में मिले हुए अपने रत्नों को पहचान कर भद्रमित्र ने ले लिए और अन्य रत्नों को छोड़ दिये । जिस प्रकार एक प्रमत्तगुणस्वानवर्ती तपस्वी अपने सत्यतत्त्व को समझने के बाद अपने सत्स्वरूप आत्म-स्वरूप को अर्थात् स्वपर के ज्ञान को समझकर जैसे जडतत्व को भिन्न जानता है, अपने निज स्वरूप में लीन रहता है उसी प्रकार भद्रमित्र श्रेष्ठी ने अन्य रत्नों को छोड़ दिया और अपने रत्न ले लिये ॥३०५॥

मणिह्रस्वै शिरिदु भूतिवैत्तन वागुमुन्ने ।  
 कुणिह्रस्वान् शैव कुट्टम् तीर नी कौंडिडेत्त ॥  
 वणिह्रस्वा मगळिर् पोल पिरन् पोरुळ् कौंडु वाळ् ।  
 पणिह्रस्वे नरस लेंड्रान् परुमणि वंरतोळान् ॥३०६॥

अर्थ—तब वह सिंहसेन राजा वणिक से कहने लगा कि, आपके यह रत्न इन रत्नों के ढेर में शिवभूति मंत्री ने रखे होंगे। आपको दुख देकर वह मंत्री महान अपराधी बन गया है, इसलिये उसी अपराध के बदले तुम अन्य २ रत्नों को भी ले लो। तब राजा की बात सुन कर वणिक कहने लगा कि अपने धर्म को छोड़कर दूसरे की वस्तु को लेकर वस्तु का अपहरण करने वाला मैं नहीं हूँ ॥३०६॥

वणिग्य सुसामेळान् पोरुळिनं वलिदिन् वांगि ।  
 इमिल वरप्पि निड् म निडिडुम् पळियु मेय्वि ॥  
 मिमिनु कडिदु वीयुं याकैयुं किल्यु मोंबल् ।  
 मन्नव पेरिय वौड् मक्कळि पिरवि केंड्रान् ॥३०७॥

अर्थ—जिस मनुष्य का मन सदैव परिशुद्ध नहीं रहता है—उस मनुष्य की वस्तु को अपहरण करने से इस जगत में उसके जीवन में अनेक प्रकार के संकट सहन करने पड़ते हैं। क्योंकि यह संपत्ति आकाश में बिजली की चमक के समान क्षणिक है। राजा महाराजा के पास संपत्ति होते हुए भी वे क्षणिक संपत्ति के मोह से ही चक्रवर्ती होते हुए भी नरक में गए हैं। यह सब मोह की लीला है। संपत्ति एक स्थान पर स्थिर नहीं रहती। यह संपत्ति वेश्या के समान है जो कभी इसकी बगल में कभी उसकी बगल में जाती है। यह सब पाप पुण्य का फल है। इस कारण किसी को सुख शांति नहीं मिलती एक दिन सब को छोड़कर जाना पडेगा। मोहवश मैं अन्य की संपत्ति को स्वीकार करूँ, यह मेरे योग्य नहीं है ॥३०७॥

तानसिर् कुरुत्तु मंड् तन् किल्ले कोडिर् शाल ।  
 वीनत्तुळ् पुक्कु तिकुं मेच्चत्ते इळक्क पण्णु ॥  
 मानत्ते येळिक्कुं तुडक्किल् मट्टवर् कडिये पाक्कु ।  
 मूनत्तु नरगत्तु इक्कुं पिरन् पोरुळ्ळक्किल् ववे ॥३०८॥

हे राजन् ! दूसरे की संपत्ति यदि मोहवश मैं लेकर जाऊंगा तो वह संपत्ति उत्पादन के लिए योग्य नहीं होती। वह संपत्ति अपने बंधु बांधव का स्वयं का नाश करती है। यहां तक कि अन्यायवश अन्य की संपत्ति लेने से स्वयं की पहले की संपत्ति भी नष्ट हो जाती है, और नरक में जाना पडता है ॥३०८॥

पेरिळ विव तुंबं पिनिपगं पिरप्पि वट्टिन् ।  
 आरुदान मुंबु शैव विनय वळि वरुव वल्लाल् ॥



वेरोंडा लाव दुंडो विनयेंबा निड् दोंडाल् ।

मारिडाय् निड् दल्लान् मट्टिवन् शंब दुंडो ॥३०६॥

अर्थ—इस जन्म में लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, व्याधि, आधि यह छहों अनादि काल से शत्रु के समान लगे हुए हैं। पूर्व कर्मानुसार वे साथ चले आ रहे हैं। मैंने पूर्व जन्म में उपा-  
र्जन किए हुए पाप के उदय से वे पाप जब उदय में आने पर मंत्री के साथ विरोध उत्पन्न  
किया। और पाप कर्म का उपशम होते ही पुनः मुझको मेरी वस्तु मिल गई है। यह सब  
शुभाशुभ कर्मेन्द्रिय से सारी वस्तुएं प्राणी को मिलती हैं। ऐसा उस भद्रमित्र ने राजा से कहा।

॥३०६॥

नीदि नोदुवान् पोनिड् नंड् सोन्न ।

तीविला मोळि यै केळा दिंडिरर शीय सेनन् ॥

वेद ब्राह्मिणणे नीदि नूल् कंड वेवनोइक् ।

कोविला गुणत्ति नानेड् वंदन निरुंडु सोन्नान् ॥३१०॥

अर्थ—राजा विचार करने लगा कि जिस प्रकार एक विद्वान पंडित बातें करता है  
उसी प्रकार यह भद्रमित्र निर्दोष वचन बोलता है। यह ब्राह्मिक न पंडित है, न सिद्धांत शास्त्री  
है, फिर भी यह सभी शास्त्रों में पारंगत होने के समान वार्तालाप करता है। उच्चकुल में इसने  
जन्म लिया है। इस प्रकार उसके गुणों का वर्णन किया। तब भद्रमित्र कहने लगा कि मैं  
प्रशंसा योग्य नहीं हूँ। आप सभी शास्त्रों में पारंगत, निपुण, प्रजापालक, धर्म के प्रति अस्था  
रखने वाले, प्रजा को धर्म की ओर उत्तेजित करने वाले, धर्म में कटिबद्ध हैं, ऐसा राजा पृथ्वी  
पर होना कठिन है। इस प्रकार राजा के गुणानुवाद गाये ॥३१०॥

वैयगं पेरिनुं पोया वाकिनन् मरणं वंदा ।

लुय्यला मरुदेडालुं पिरन् पोरुळ् कुळ्ळं वैयान् ॥

तय्यलाय् धरुम नीदि शमनिलै दया बोळ्ळक्कं ।

वैयगाम् तन्निलिवं ब्राह्मिण नाय् वंद वेडान् ॥३११॥

राजा मन में विचार करने लगा कि देखो मैंने कितनी वार उलट पलट करके ब्राह्मिक  
से पूछा फिर भी वह अपने धर्म पर अडिग रहा। यदि मैं राज्य भी दे दूँ तो भी वह प्रलोभन  
में नहीं आयेगा। यदि और भी कुछ दूँ तथा इतनी संपत्ति होने पर भी यह ब्राह्मिक यह विचा-  
रता है कि यह मेरी नहीं है इनसे मोह करना व्यर्थ है। ऐसा विचार कर अपनी रानी से  
राजा कहने लगा कि हे देवी! धर्म नीति, दयाभाव और सम्यक्चारित्र यह सारी बातें  
ब्राह्मिक में कूट कर भरि हुई है। यह सज्जन व सत्पुरुष है। पागल व पापी नहीं है।  
धर्मात्मा, श्रेष्ठिक ब्राह्मिक है। न्यायोपाजित धन पैदा करने वाला है। निर्दोष है ॥३११॥

एंड्लुं वेविवेड् वावितन् पक्कत्तार् पोल् ।

डिन् लुवर्गं नेजि निगेंदन लागनीदि ॥

कौंड्व बूदितन् पाल् कोन् सेट्टि पट्टम् तन्म ।  
मंडुलम् तोंगल् वैवन् वनिग नुकींदु सोघान् ॥३१२॥

अर्थ—वह रामदत्ता पटरानी अपने पति राजा सिंहसेन की बातों को सुनकर जिस प्रकार वादी अपना मुकदमा स्वयं के अनुकूल फैसला होने से प्रसन्न होता है, उसी प्रकार भद्रमित्र बरिणक के रत्नों को मंत्री द्वारा चोरी किये हुए को निपुणमति दासी के द्वारा प्राप्त हुए थे इस बात को सुनकर महारानी बड़ी प्रसन्न हुई और सिंहसेन राजा ने शिवभूति मंत्री द्वारा इस अपराध को करने पर मंत्री पद से च्युत कर दिया और उस भद्रमित्र बरिणक को मंत्री पद दे दिया ॥३१२॥

मरिणगळुं पोन्नुं मुत्तुं वैरं पिरक्कुं भूमि ।  
मरिणगळुं पोन्नुं मुमुत्तुं वैरमु मडक्कु माडम् ॥  
मरिणगळुं पोण्णं मुत्तुं वैरयुम् वडित्तु सैव ।  
वरिणगळुं तुगिलुं सेंदु मज्जवम् कंकोळ्ळैडान् ॥३१३॥

अर्थ—स्वर्ण रत्न आदि उत्पन्न होने वाली भूमि को, मोती वज्र आदि से भरा हुआ भंडार तथा अमूल्य आभरण वस्त्र आदि सभी भद्रमित्र को दे दिये । तत्पश्चात् अपने कर्मचारी को आज्ञा दी कि शिवभूति ने आज तक अन्य लोगों की कितनी संपत्ति व धन आदि को लूटा है, पता नहीं । फिर भी इसके धन में जितने भी आभूषण रत्न आदि हों वे सब लूटकर ले आओ और भद्रमित्र मंत्री को दे दो ॥३१३॥

इडं पेरिदुडय्यवर पळिइल् कार्यं ।  
तोडंगिय मुडित्तलाल विडार्गळें बट्टु ॥  
मडंगळ् पोर्निडिंद वरिणगन् मंबिरि ।  
रडन् जलं कडंदिदु मुडिंद वैडन् ॥३१४॥

अर्थ—मनःपूर्वक सत्पुरुष लोग किसी भी कार्य को करने की प्रतिज्ञा करते हैं तो उस कार्य को किसी भी प्रकार की आपत्ति आने पर भी पूर्ण करके ही छोड़ते हैं, अधूरा नहीं छोड़ते हैं । इसी प्रकार सिंह के समान शूरवीर उस भद्रमित्र ने शिवभूति द्वारा अनेक दुख देने पर भी अपनी सत्यता को नहीं छोड़ा । इसी कारण भद्रमित्र की गई हुई संपदा मिल गई और मंत्री पद मिल गया । यह सब पूर्वजन्म के पुण्य का तथा इनके सच्चरित्र का फल है । ऐसी चर्चा परस्पर में सभी लोग करते थे ॥३१४॥

मत्तमाल् कळिरु पोगुं वळिइने कुळित्तु मान् ।  
पोइसारे शंदु वोळ्त्तु पिडित्तु पुलयन् पोल ॥  
सत्तिय कोडनेन्नु जडित्तिनार् ट्रन्ने तेट्टि ।  
वैत्तिद वैयत्तोडुं वंजित्ता निन्ने येन्ना ॥३१५॥

अर्थ—वह सिंहासेन राजा का मंत्री जिस प्रकार एक मदमस्त हाथी रास्ते में जाता है, उसको पकड़ने के लिए खड़ा खोदकर घास बिछाकर उसमें बनावटी हथनी को खड़ा कर देते हैं और वह हाथी मस्त होकर उस हथनी के पास जाते ही खड़े में गिर जाता है, उसी प्रकार वह शिवभूति मंत्री अपने अहंकार द्वारा सत्यघोष पद को घोषित करते हुए मायाचार कपट के द्वारा स्वयं ही पापों के खड़े में गिर जाता है। इसलिए मायाचार तथा कपटाचार अधिक समय तक टिक नहीं सकता। शीघ्र ही प्रकट हो जाता है। जैसे तूम्बी के कीचड़ का लेप कर उसको पानी में डुबो दिया जावे तो वह पानी में डूबी रहती है, कीचड़ के हटते ही वह तूम्बी ऊपर आ जाती है, उसी प्रकार सत्यघोष मंत्री की, सारी बातें पाप कर्म के उदय से जनता के सामने प्रकट हो गई। यह मायाचार प्राणी को भव २ में दुख देता है। मायाचारी व कपट करना उचित नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वास्वामी ने कहा है कि:—

“माया तैर्यग्योनस्य”— मायाचार तिर्यंच गति के लिए कारण है, इसलिए मनुष्य गति से सुगति प्राप्त करना चाहते हो तो मिथ्या माया निदान इन तीनों शल्यों को त्याग करना चाहिये। व्रत भी मायाचारी को नहीं होता है। निःशल्योव्रती-शल्य रहित मनुष्य को व्रती कहते हैं। यदि शल्य सहित होगा तो उसका कभी संसार से उद्धार नहीं हो सकता।

॥३१५॥

कोबिया वस्सु नीवि कुरं पडा वगेईनान्मा ।

पाबिया मिवने तूलिन् पडिनार् कडिगवेन्न ॥

नाभिकालत्ति निप्पा नडकिड तूलिन् ।

ट्रोधिगा मणत्ति नगिल् शैवडु तेरिडु सोणार् ॥३१६॥

मडित्वाय् कडित्तु मल्लर् मुप्पडु सवट्टं तिडो ।

केडुत्तिरा वडित्तेरुत्तिन् शान मुत्तालं तीट्ठि ॥

पडंतमा उनेत्तुं कोडिट्ठि डिप्पदि निड्डुं सु पोग ।

वडित्तलां वंडु मेड्डा ररसनप्पडि शंगेड्डान् ॥३१७॥

अर्थ—उस समय सिंहासेन राजा अत्यन्त क्रोधित होकर उस पापी सत्यघोष को उसके द्वारा किये हुए अपराध का राजनीति विधान के अनुसार दण्ड देना चाहिये, ऐसा विचार करके राजनीति में भली प्रकार जानने वाले न्यायाधीश आदि से पूछताछ की कि महाराजा नाभि के समय में जो दण्ड विधान था वह अलहदा था, अब इस समय हुंडाव-सपिणी काल है, और कर्मभूमि में परिवर्तन कर रहा है, अतः इनको कौनसे शासनानुसार दण्ड चाहिये, ऐसा राजा ने आमंत्रित न्यायाधीशों से पूछा। तब सभी ने मिलकर यह विधान बनाया कि बड़े पहलवानों द्वारा गदा डंडों आदि से शिवभूति को बत्तीस बार घूँसा मात्र लगानी चाहिये या एक टोकरी भर बैल का गोबर खिलाना चाहिये और आज तक जितनी संपत्ति आदि की कमाई की है वह सब छीन ली जाय और इस नगर से उसको निकाल दिया जाय। ऐसा सभा में सभी नीतिकारों ने विधान बनाया। तब राजा सिंहासेन ने अपने कर्मचारियों को बुलाकर आज्ञा दी कि विधानानुसार शिवभूति को दंड दिया जावे। तब मन्मथ

सिंह के समान बड़े पराक्रमी पहलवान आदि राजा के वचन सुनकर, गदा, आयुध लेकर शिवभूति के घर पर गये और उनका घरबार सब जाकर लूट लिया ॥३१६॥३१७॥

कुरिण शिलं कडवुळ् पोलुं कोट्टवन् कुरिप्पे नोका ।  
 पणइन् वेजिलै कळ्ळैदि पाडिकापार्गळ् सूळ्दार् ॥  
 निनैवर्हं पेरिय शेल्बं निनिप्पदन मुन्नं नीराय् ।  
 पण्णियिन् मुन्मलर्ब्ब सेंदामरित्तडं पोंड्र वंड्रं ॥३१८॥  
 मल्लं मिशं शिग वेट्टै वरुत्तुमान् कड् पुल ।  
 तल्लै मिशै शवट्टे इट्टु शानगं तीट्टि इट्टार् ॥  
 पुलयर् शंड्रवनै सूळ्दुं पोगेन उरैप्प सुट्ट ।  
 मल्लं कडर् कलिळ नावा यवरुट्ट वुट्ट वंड्रं ॥३१९॥

अर्थ—लोभ के वशीभूत होकर जीव क्या २ काम नहीं करता ? वह कार्य अकार्य का कभी भी विचार नहीं करता है । गुण भद्राचार्य ने अपने आत्मानुशासन में कहा है कि:—

विषधारी सर्प के तुल्य, अनेक भव पर्यंत दुःख देने वाले भोगों को सेवने की अत्यंत उत्सुकता धारण करके मैंने आगे के लिए दुर्गति का बंध किया, अतएव अपने उत्तर भवों को नष्ट कर दिया । और अनादिकाल से लेकर अभी तक मरण के दुख भोगे, तो भी तू उन दुःखों से डरता नहीं है । निर्भय हो रहा है । जिस २ कार्य को श्रेष्ठ जनों ने बुरा कहा उसी २ को तूने अधिकतर चाहा और किया । इससे जान पड़ता है कि तेरी बुद्धि नष्ट हो गई है और तुझे आगामी सुखी होने की इच्छा नहीं है । इसीलिये तू निन्दित कार्य करके अपने सर्ग सुख वृथा नष्ट करना चाहता है । ठीक ही है —काम क्रोध रूप बड़े भारी पिशाच का जिसके मन में प्रवेश हो जाता है वह क्या नहीं करता है ? उसको हिताहित का विवेक कहां से रह सकता है ?

तत्पश्चात् सभा में रहने वाले सभी लोगों ने मिलकर जैसे पर्वत की चोटी पर बलवान सिंह रहता है उसको क्षुद्र जंतु भी मारकर नोचकर खा जाते हैं, उसी प्रकार सभी लोगों ने उस शिवभूति को खूब मारा पीटा, गोबर खिलाया और पहलवानों के द्वारा गदाओं तथा मुक्का आदि से उसको मरवाया । और मार पीटकर नगर के बाहर निकाल दिया । तब शिवभूति उस नगर को छोड़कर अन्य स्थान पर चला गया । उस शिवभूति के सभी कुटुम्बी जिस प्रकार माल से भरा हुआ जहाज समुद्र में डूब जाता है और संबंधित व्यापारी दुखी होते हैं उसी प्रकार दुखी होकर शिवभूति पर आपत्ति आने पर वे सब दुख समुद्र में डूब गये ॥३१८॥३१९॥

मुन्पगर् देवनेड्रु मोय् तुडन् पुगळ पट्टान् ।  
 पिर्पगल् पेयनेड्रु पित्तसेला विगळ पट्टान् ॥  
 अंबुरु मिळमै मूपिलरिवयर् कोरुव नुत्तान् ।  
 मुन्बुतान् शंडु वंद विधि मुरे उदयत्ताले ॥३२०॥

अर्थ—उस मंत्री के पूर्व जन्म में किए गये पुण्य का जब तक बल था और जब वह राज्य सभा में जाता तब उस समय रास्ते में लोग उसको नमस्कार करते थे। उसकी स्तुति करते थे वही लोग आज उनके अपराध के प्रति इसको अपशब्द कहते हुए, इसके साथ मारपीट करते हैं, तथा घोर निंदा कर रहे हैं। जिस प्रकार मनुष्य यौवन अवस्था में तरुण स्त्रियों के साथ प्रेम करते हैं, वे ही मनुष्य वृद्धावस्था में उसका तिरस्कार करते हैं। वही दशा शिव-भूति की हुई। इसका सारांश यह है कि तीव्र पंचेन्द्रिय में लालसा रखने वाले की क्या दशा होती है। इसके संबंध में आचार्य कहते हैं:—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणुपम् ।

कस्यकिं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥

अर्थ—प्रत्येक जीव का आशा रूपी खड्डा इतना विस्तीर्ण है कि जिसमें संपूर्ण संसार यदि भरा जाय तो भी वह संसार उसमें अणुमात्र के तुल्य दीखेगा। अर्थात् सभी संसार उस खड्डे में डाल देने पर भी वह खड्डा पूरा नहीं हो सकता किंतु वह पडा हुआ सारा संसार एक अणु मात्र जगह में ही आ सकता है। परन्तु तो भी ऐसी विशाल आशा रखने मात्र में क्या किसी जीव को कुछ भी मिल जाता है? इसलिये ऐसी आशा रखना सर्वथा वृथा है। यदि आशा रखने से कुछ मिले भी तो किसको? आशा तो सभी संसारी जीवों को एक सी लग रही है। और प्रत्येक आशावान यही चाहता है कि सर्व संसार की संपदा मुझे मिल जाय। अब कहो, वह एक ही संपदा किस किस को मिले? इधर यदि प्रत्येक प्राणी की आशा का प्रमाण देखा जाय तो इतना बड़ा है कि एक जगत् तो क्या ऐसे अनंत जगत् की संपत्ति उस आशा गर्त में गर्क हो जाय, तो भी वह गर्त पूरा नहीं हो पावेगा। पर आता जाता क्या है? केवल मनोराज्य की सी दशा है। केवल बड़ी २ आशा करके बैठना प्रथम श्रेणी के मूर्ख का लक्षण है। आशा करने वाला केवल अपने धुन में ही सारा समय निकालता है। करता धरता कुछ नहीं। उसकी बुद्धि धर्म में भी नहीं लगती है और कर्म में भी नहीं लगती है। इसलिये धर्म कर्म बिना वह सुखी कहां से हो? उसकी दशा एक शेखचिल्ली की सी हो जाती है कि जो सराय के द्वार पर बैठा हुआ भीतर आये हुए घोड़े, हाथी, घन, दौलत वगैरह को देखकर अपनाता हुआ खुशी होता था, और रात बसेरा कर, जाते हुए दिलगीर होता था। क्या उसको ऐसी केवल आशा धर के निष्क्रिय बैठने से कुछ मिल जाता था? कुछ नहीं। यही दशा केवल आशाग्रस्त सभी संसारी जीवों की है। इसलिए आशा छोड़कर निश्चय व्यवहार रूप धर्म में लगना सभी को उचित है ॥३२०॥

मायत्तालु सेप्यं वोढिव मंदिरि वनिगणं दृन्ने ।

पेयोत् सुळप्पन्नि पेहंतुयर् मुन्नं सैदान् ॥

मायत्तार् सेप्पुत्तन् कं पांगवुस् पट्टु पिन्ने ।

पेयोत्तु सुळंङ्गु सालप्पेरुंतुयर् तानु मुट्टान् ॥३२१॥

अर्थ—उस मंत्री ने भद्रमित्र के रत्नों को मायाचारी से ठग कर लेकर के उस भद्र-मित्र को गली २ में अमण कराया। तदनन्तर रामदत्ता महारानी ने युक्ति पूर्वक उनके साथ

जुआ खेलकर यज्ञोपवीत व मुद्रिका जीत लिया। और निपुणमति दासी ने अपनी चतुराई व निपुणता से मंत्री के भंडारी से उस मुद्रिका आदि को देकर उसके बदले में रत्नों की पेट्टी लाकर महारानी को दी और इस कार्य से शिवभूति मंत्री की अपकीर्ति हुई और राजा द्वारा वह दंड का पात्र हुआ। कारणः—लोभ कषाय अत्यंत निदनीय है। इस निमित्त से संसार में अपकीर्ति और कलंक का कारण होकर जगत में एक इतिहास बना बन कर रह गया।

॥३२१॥

मण्डिनाल्, वणिगनुक्कुं मंदिरि तनक्कुं वंद ।

तनिबिला तुयरं पट्टिन् द्रुमयंशाट्ट कंडुम् ॥

पनिबिला तुयर माक्कुं पट्टिनें परियुं नल्ल ।

तुनिबिलावगिळ्ळे तुयरंगट्ट किरैव रावर् ॥३२२॥

अर्थ—उन रत्नों से भद्रमित्र और मंत्री दोनों को महान दुख उत्पन्न हुआ। इस राग से उत्पन्न होने वाले दुख का सम्यक् दृष्टि रहित अज्ञानी जीवों को अनुभव करना पड़ता है। जब तक सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता तब तक बाह्य वस्तु को अपना कर यह जीव मोह के द्वारा इस संसार में यत्र तत्र भ्रमण कर दुख ही दुख भोगता है। उनको तिल मात्र भी सुख नहीं मिलता है। यह जीव मोह कषाय के निमित्त क्या अनर्थ नहीं करता अर्थात् सब ही करता है। कहा भी हैः—

वनचरभयाद्वावन् दैवाल्लताकुलबालधिः,

किल जडतया लोलो बालवज्जेऽविचलं स्थितः ।

वत्त सच्चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः,

परिणततृषां प्रायेणैव विधा हि विपत्तयः ।

चमरी नाम की गाय जंगली गाय होती है। उसकी पूंछ के बाल बहुत ही सुन्दर व कोमल होते हैं। उसे अपनी पूंछ पर बड़ा ही प्यार होता है। यह एक प्रकार का लोभ है। इस प्रेम या लोभ के वश होकर वह अपने प्राण गंवाती है। शिकारी या सिंहादिक हिंसक प्राणी जब उसे पकड़ने के लिये पीछा करते हैं तब वह भागकर अपने प्राण बचाना चाहती है। वह उन सभी से भागने में तेज होती है। इसलिए चाहे तो वह भागकर अपने को बचा सकती है। परन्तु भागते २ जहां कहीं उसकी पूंछ के बाल किसी झाड़ी, आदि में उलझ गये कि वह मूर्ख वही खड़ी रह जाती है। एक पैर भी कहीं आगे नहीं धरती। कहीं पूंछ के मेरे बाल टूट न जाय, इस विचार में प्रेमवश वह अपनी सुधबुध बिसर जाती है। बालों का प्रेम उसके पीछे आने वाले यम दंड को उससे बिसरा देता है। बस पीछे से वह आकर उसे धर लेता है और उसे मार डालता है। इसी प्रकार जिनकी किसी भी वस्तु में आसक्ति बढ जाती है वह उसको परिपाक में प्राणांत करने तक दुख देने वाला होता है अतः किसी भी वस्तु की आसक्ति को भला मत समझो, सभी आसक्तियों के दुख इसी प्रकार के होते हैं। जिनकी विषय तृष्णा बुझी नहीं है उनको प्रायः ऐसे ही दुःख सहने पड़ते हैं ॥३२२॥

पट्टिनं पट्टिनाले पट्टण पट्टिनारै ।

पट्टुता निडुंबं नीरुट् परिघट्टं तन्नं याकुं ॥

पट्टिनं पट्टिलामं पट्टन पट्टि नारै ।

पट्टु विट्टिडुंबं नीरुट् परिघट्ट मुळिक्कु कंडिर ॥३२३॥

अर्थ—राग को मन, वचन, काय द्वारा वश में करने वाले द्रव्य क्षेत्र काल, भाव व भव ऐसे पांच प्रकार के संसारी जीवों को परिभ्रमण करना पड़ता है और रागद्वेष से भिन्न भेरा अग्रम स्वभाव है ऐसा विचार करने वाला सम्यक्दृष्टि शानी पंचपरावर्तन का नाश करके आत्म शक्ति नाम के मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। ऐसा सम्यक्दृष्टि जीव मरण होने के बाद तिर्यक् गति में और ज्योतिष्कदेव, स्त्री पर्याय में, अल्प आयु वाला, दरिद्री, नपुंसक, निश्चकुल में विकृत शरीर आदि को प्राप्त नहीं होता। यह सम्यक् दर्शन की महिमा है। मिथ्यादृष्टि जीव अपने से भिन्न पर वस्तु में अहंकार ममकार करके संसार परिभ्रमण करता हुआ अनेक दुख उठाता है, ऐसे जीव को मोक्ष की प्राप्ति होना दुर्लभ है ॥३२३॥

मोगमे पिरविक्कु नल्वित्तदु ।

मोगमे विनंतन्नं तन्नं मुडिप्पदु ॥

मोगमे मुडिबं केडत्तिपंदु ।

मोगमे पगं मुन्नं उयिर, कलाम् ॥३२४॥

अर्थ—जन्म मरण रूप संसार के लिये मुख्य मूल कारण परिग्रह ही है। जिससे अज्ञानी जीव पाप कर्म उपाजैन करता है। अज्ञानी जीवों के पाप रूपी बीजभूत को उत्पन्न करने के लिये तथा मोक्ष द्वार को रोकने के लिये परिग्रह ही मूल कारण है। तथा तपश्चर्या के मूल कारण को रोकने में अनन्त सुख देने वाले मोक्ष सुख को रोकने में भी परिग्रह ही मूल कारण है। यही अनादि काल से शत्रु के समान आत्मा के साथ रहकर बंधन का कारण है। मायाचार की निंदा करते हुए आचार्य कहते हैं कि:—

यशोमारीचीयं कनक मृगमाया मलिनिनं,

हतोऽश्वत्थामोक्त्या, प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः ॥

सकृष्णः कृष्णोऽभूत् कपट बहु वेषेण नितरा,

मपिच्छद्दालापं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः ॥

मारीच ने स्वर्ण के मृग का रूप रामचन्द्र की छलने के लिए बनाया। इसलिए उसकी निंदा सारे जगत में फैल गई। संग्राम के समय धर्मराज ने एक बार यह घोषणा कर दी कि अश्वत्थामा मारा गया, बस इतने ही कपट के कारण धर्मसुत के प्रेमी जन उन्हें क्षुद्र दृष्टि से देखने लगे। कृष्ण ने बाल्यावस्था में बहुत से कपट वेश धरे थे, इतने ही पर से कृष्ण का पक्ष काला हो गया। थोड़ा सा भी विष बहुत से दूध में डाल देने से वह सारा दूध बिगड़

जाता है। इसी प्रकार थोड़ा सा भी कपट बड़े बड़ों के यश को मलिन कर देता है  
अतएव:—

भेयं माया महागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात् ।

यस्मिन् लीना न लक्ष्यंते क्रोधादिविषमाहयः ॥

माया मानो गहरा एक खड्डा है। इसके भीतर सघन मिथ्यादर्शनरूप बहुत अंधकार भरा हुआ है। इसी सघन अंधकार के कारण इस खड्डे में निवास करने वाले क्रोधादिक सर्प तथा अजगर दीख नहीं पाते हैं। जो जीव इस मायागर्त के भीतर अफसता है उसे ये क्रोधादि भुजंग ऐसा डसते हैं कि फिर वह जीव अनन्तकाल पर्यंत भी सचेत नहीं होता। इसलिये भाई, इस माया से डरो; और भी कहा है कि:—

प्रछन्नकर्म मम कोपि न वेत्ति धीमान्,

ध्वंसं गुणस्य महतोपि हि मेति मंस्थाः।

कामं गिलन् धवलदीधिति धीतदाहो,

गूढोप्यबोधि न विधुः सविधुन्तुदः कैः ॥

अर्थ—मैं अमुक एक दुष्कर्म करता हूँ, परन्तु छिपकर करता हूँ इसलिए इसे कोई भी समझ नहीं सकेगा। इस दुष्कर्म के कारण यद्यपि मुझे बड़ा भारी पाप लगेगा और अमूल्य व पवित्र मेरे बड़े भारी आत्मा गुण का विघात हो जायगा। परन्तु दूसरा कोई समझ नहीं सकता। अरे भाई! तू ऐसा कभी विचार मत कर। देख, चन्द्रमा में इतना बड़ा गुण है कि अपनी शीतल किरणों से जगत का अन्धकार दूर करता है तथा सूर्य की किरणों से दिन में संतापित हुए जनों के संताप को दूर करता है। ऐसे चंद्र को राहु चाहे जितना छिपाता है परन्तु वह चन्द्र छिप नहीं पाता। छिपाने की हालत में वह यद्यपि दब जाता है परन्तु उस दबे हुए चन्द्र को तथा छिपाने वाले राहु को इन दोनों को ही लोग देखते हैं। ऐसा कौन मनुष्य होगा कि जो ग्रहण के समय उन दोनों के गुप्त कर्म को देख न लेता हो। बस इसी प्रकार चाहे जितना छिपाकर कोई पाप करे परन्तु जाहिर हुए बिना रहता नहीं है। किसी दुष्कर्म को छिपाना इसी का नाम माया या कपट है। जब यह कपट जाहिर हो जाता है मायाचारी के बड़े फजीते होते हैं। इसलिये माया रखना बुरा है ॥३२४॥

मोगमे तिरिघविक डेयुयिप्पदु ।

मोगमे नरगत्तिल् विळुप्पदु ॥

मोगमे मरमाउदु मुद्रम् ।

मोगमे भरमासुर निर्पवुम् ॥३२५॥

अर्थ—इस परिग्रह रूप पिशाच से गृहस्थ जीव निन्दनीय होकर तिर्यच गति को प्राप्त होता है और वह नकं कुण्ड में जा पडता है। पाप बध के लिए मूल कारण परिग्रह है। इसको नाश करने के लिए भगवान वीतराग देव द्वारा कहा हुआ अहिंसामयी धर्म तथा मोक्ष



मार्ग ही कारण है। कौरव पांडवों पर कलंक के लगने में मूल कारण परिग्रह ही है। भाई बंधु इष्टमित्र आदि से क्लेश रखाने वाला यही परिग्रह है। भाई भाई, मां-बाप विरोध तथा आपस में शत्रुता भी यह परिग्रह ही कराता है। इसके रहते हुए आज तक किसी ने सुख नहीं पाया ॥३२५॥

मोगमे निरंया निर यायदु ।

मोगमे मू द्युलगिन् वलियदु ॥

मोगमे मुनिमै किडं पूरदु ।

मोगमिल्लवर्, नल्लमुनिवरे ॥३२६॥

अर्थ—यह परिग्रह महान पिशाच के समान है। इसको शांत करने के लिए कोई शोध नहीं है। तीन लोक की वस्तुएं भी एकत्रित कर ली जायं तो भी शांति नहीं होती। यह सब प्राणियों को दुःख दायक है। यह परिग्रह महान तपश्चर्या का नाश करने वाला है। इस कारण महान तपस्वी ही इसको नाश करने को समर्थ हैं। जिस प्रकार अग्नि में लकड़ी डालने से अग्नि प्रज्वलित होती है उसी प्रकार यह परिग्रह पिशाच के समान है। तपस्वी लोग ही इसका शमन कर सकते हैं, और कोई नहीं ॥३२६॥

मेग विन्नोडु वीवदु पोलवे ।

भोकमुं किल्लयुं पोरळुं केड ॥

सोगमुं तुयदं तुनं यागधन् ।

नेए निड्व रिन्न वियेवि नार् ॥३२७॥

अर्थ—जिस प्रकार विद्युत आकाश में उत्पन्न होकर तत्काल उसी क्षण में नष्ट हो जाती है उसी प्रकार राजभोग संपत्ति, वैभव बंधु, बांधव, हित्मित्र, पिता माता, यह सभी जब ऐश्वर्य क्षीण हो जाते हैं फिर कोई भी साथ नहीं देता है। किन्तु मोही जीव शरीर संबंधी सभी दाम्प्य भांडंबर को छोड़कर मोह ममता से युक्त होकर अन्तमें सभी परिग्रह को तथा मित्र, बंधु, बांधव को छोड़कर जाते समय आर्तध्यान रौद्र ध्यान से नीच गति को प्राप्त होता है और महान दुःखी होता है। इस प्रकार की चर्चा सभा में बैठने वाले लोग करने लगे ।

॥३२७॥

अंगु निड्व नेगसु मायिडं ।

संगे तन्मुरेयेंडु तळ वसु ॥

मेगुम् वंदिळ्ळाय तिडर् कड ।

तुगि नानोडियुं नेडिय वायवे ॥३२८॥

अर्थ—तदनंतर उस शिवभूति मंत्री ने अपने द्वारा किये हुए कपट तथा मायाचार से अत्यन्त दुःखी होकर तीव्र पाप को उपार्जन कर लिया, जिसके द्वारा अनेक प्रकार के महान दुःख सागर में मग्न हो गया और उनको यह क्षणिक दुःख एक वर्ष के दुःख के समान प्रतीत होने लगा ॥३२८॥

मदलै माडमुं मोन्निय शेल्वमुं ।  
कुबलै मेन्मोळि धारयुं नीत्तवन् ॥  
धिवलै कोंडु बिलुंव नन् वेवन् मेल् ।  
मुदलवागिय वेरं मुळैत्तवे ॥३२६॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर महल में रहने वाला, रत्न संपत्ति, अत्यन्त सुन्दर स्त्रियों एवं अपने खजाने को यह शिवभूति मंत्री त्याग करके जाते समय जिस प्रकार रत्नों से भरा हुआ जहाज समुद्र में चलते समय बीच में किसी टक्कर आदि के लगने से डूब जाका है; उसी प्रकार सभी कुछ छोड़कर जाते समय वह मंत्री थरथर कांपते हुए नीचे मूर्छा खाकर घबराकर भूमि पर गिर जाता है। उस समय उस मंत्री को सिंहसेन राजा के प्रति महान क्रोध उत्पन्न हुआ और उस क्रोध के निमित्त से आत्मा में द्रव्य कर्म, भाव कर्म सहित निदान बंध कर लिया ॥३२६॥

येडु तानिधै येदुववेडुळा ।  
निडु वरु तति नीडिय वांयुळुं ॥  
कुंडु वंदु विलगिनु लायुग ।  
मंडु कट्टिय वायुयु मट्टवे ॥३३०॥

अर्थ—इस प्रकार निदान बन्ध करने के बाद वह मंत्री पुनः अपने मन में विचार करता है कि यह पुत्र, सुन्दर स्त्रियां, संपत्ति आदि २ से तथा अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ, सुन्दर हाथी घोड़े आदि अब मुझे कहां से मिलेंगे? अब सब को छोड़कर कैसे जाऊं; इस प्रकार मन में अत्यन्त दुखी होकर शोक करने लगा और इस प्रकार आर्तध्यान से तिर्यंच गति का उसने बंध कर लिया और अग्य पूर्णकर तिर्यंच हुवा ॥३३०॥

मिक्कु निडेरि बिलक्कु वींदुळि ।  
अक्कनसिह लडयु मारु पोल् ॥  
मक्कळायुगं मायं व होळ्दिने ।  
तिक्क वायुगं सेंडु वित्तवे ॥३३१॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रकाश देने वाला दीपक नष्ट होते ही अंधकार फैल जाता है उसी प्रकार शिवभूति मंत्री ने मरकर अंधकार मय तिर्यंच गति में जाकर पर्याय धारण की। भावार्थ—श्रेष्ठ आर्य भूमि, उत्तम कुल, उत्तम वंश, जैन धर्म यह मिलना ही इस जीव को अत्यंत दुर्लभ होता है। ऐसी दुर्लभ मनुष्य पर्याय मिलने पर भी यह जीव पंचेन्द्रिय विषयों में चालाकित होकर अनेक प्रकार के कपट मायाचार करके धन संग्रह करता है। इतना करने पर भी इस जीव की तृप्ति नहीं होती। जैसे पशु पर्याय है वैसे ही मनुष्य पर्याय में खा पीकर पशु पर्याय के समान महानिन्द्यगति में जाकर जन्म लेता है। कितने आश्चर्य की बात है? हिताहित का ज्ञान मनुष्य पर्याय में ही होता है। पशुओं में हेय उपादेय का बोध नहीं होता

है, किन्तु यह अज्ञानी मानव प्राणी जिस प्रकार किसी भील के हाथ में अमूल्य माणक या हीरा दे दें तो वह उसे काच समझ कर कौन्वे उड़ाने के उपयोग में लेता है, उसी प्रकार मानव रत्न प्राप्त करके उसका उपयोग न करने के कारण पंचेन्द्रिय चिडिया उड़ाने में वह मोती अगाध समुद्र में जाकर पड़ जाता है और फिर उस रत्न का मिलना अत्यंत दुर्लभ होता है। इसी प्रकार वह मंत्री मनुष्य पर्याय की सारी सामग्री प्राप्त करने पर भी पंचेन्द्रिय विषय भोगों में मग्न होकर अपने पूर्वजन्म में पुण्य के द्वारा सञ्चय किए हुए मानव रत्न को लोभ कषाय की पूर्ति के लिये उसका उपयोग कर अन्त में महान निन्द्य गति को प्राप्त हुआ ॥३२१॥

आयुस् गति यंबोरि पुन्वि ।  
नीच गोतिरम् निड्दित्तिड ॥  
पोयमन्नवन् पोन्नरैयर् ।  
वायिनन् पयरगंद नागुमें ॥३३२॥

अर्थ—तिर्यंच आयु, तिर्यंच गति, पंचेन्द्रिय-जाति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी नाम, नीच गोत्र आदिये उस शिवभूति मंत्री के उदय में आने से उस शिवभूति के जीव ने सिंहसेन राजा के कोषागार में आगंध नाम की सर्प योनि में जन्म लिया ॥३३२॥

अरसन्मेर् करुविर् पोरुळासे इन् ।  
मरियिथ मायत्तिन् मर्दिरि मर्द्वि ॥  
तिर्यक्कायि नन् ट्रियविच्चैंगैयै ।  
मरुवु वारुळ रोमदि मांवरे ॥३३३॥

अर्थ—उस राजा सिंहसेन पर किया हुआ बंध (निदान बंध) से तथा संपत्ति आदि वस्तुओं पर मोहित होने से उस मंत्री ने अपने मन में निदान बंध कर लिया था। इस निदान बंध के कारण तिर्यंच गति में जन्म लिया। परन्तु इस प्रकार स्व-पर पदार्थ के ज्ञानी लोगों के इतनी संपत्ति होने पर रागद्वेष मोह न करने से जो कर्म का बंध होता है, उससे ऐसी निन्द्य गति नहीं होती, ज्ञानी लोग ऐसा बंध नहीं बांधते। अज्ञानी लोग ही संसार परिभ्रमण करके निन्द्य गति का बंध बांधते हैं ॥३३३॥

अळविला निधिर्षे विट्टु पिरन् पोरुळदनं मेवल् ।  
कळवुदा निरंडु कूरामियल्बु कारणं कडम्मा ॥  
लळविला पोरुळुंडा युम् पिरन् पोरुट् किवरळादि ।  
कळवुदान् कडय दागं कंपोरुळट्टु वक्कै ॥३३४॥

अर्थ—तीन लोक की संपत्ति अपने पास रहने पर भी मूर्ख अज्ञानी लोगों की तृष्णा की पूर्ति नहीं होती है। वे मूर्ख लोग इतना होने पर भी दूसरे की संपत्ति का अपहरण करने की भावना रखते हैं। सामान्य रीति से विचार किया जाय तो यह भी एक चोरी है। चोरी

वी प्रकार की होती है। कार्य चोरी व कारण चोरी। अपने पास कितनी ही संपत्ति रहने पर भी दूसरे का द्रव्य लेना, मायाचार से अन्य का धन लेना, दरिद्रता आने से चोरी करना यह सभी कारण चोरी है। ३३४॥

ईयल्बि नाड् कळवि नार् कट् किनिय वान् शैगं योंड् ।  
 मुयलुरु मनत्तरागि वांगु व निरैय्य वांगि ॥  
 कुयलराय् कोडुप्प वेळ्ळाम् कुरैयवे कोडुत्तलागु ।  
 मुयलुरा रिवै शैयावे योरु पगलोळिय मेलुं ॥३३५॥

अर्थ—कार्य चोरः—इसका यह अर्थ है कि कार्य चोरी करने वाले मायाचार से दूसरे के माल को लेते समय अधिक लेना, देते समय कम देना, हमेशा अन्याय द्वारा धन सम्पन्न करना, अन्य का माल चोर लेना आदि यह कार्य चोरी कहलाती है ॥३३५॥

मीन् शंड्रु नेरिये पोलुमं विरुविनार् वेळ्ळैयादि ।  
 तान् चंद्रमनत्तु मळ्ळर् तास् पोळ्ळदनुक्काग ॥  
 कान् चंद्रनेरि पिन् मंड्रिर् सुरंगेडर् कळवु तूलिन् ।  
 कून् कोडु कोळ्ळं कोळ्ळल् कारण कळवुदाने ॥३३६॥

अर्थ—तीव्र परिग्रह की लालसा करने वाले मनुष्य तृष्णा के द्वारा संपत्ति का उपा-  
 र्जन करने के लिए जिस प्रकार मछली पानी में जाती है उसके जाने के रास्ते का पता नहीं  
 चलता, उसी प्रकार चोर शास्त्र में चोर प्रयोग की विवेचना किए हुए के अनुसार अतिश्रमो-  
 जनम् निद्रोत्पादनम्, तालोद्धाटनम् ऐसे चोर शास्त्र के विज्ञान के आयुध के प्रयोग से दूसरे की  
 संपत्ति को अपहरण करना, ताला तोड़ना, उसको मूर्च्छित कर देना, एंडा लगाना आदि २ के  
 प्रयोग द्वारा चोरी करना, यह सब कारण चोर प्रयोग कहलाते हैं ॥३३६॥

कोरुळिनै पोलुं शीति तन्नोडुं पुगळं पोकुं ।  
 अरुळिनै पोकुं सुद्रम् तन्नोडु वायु पोकुं ॥  
 पेरुमैयं पोकुं पेरुत्तन्नोडु पिरप्पं पोकुं ।  
 तिरुविनै पोकुं तेद्रन् तन्नोडु शिरप्पं पोकुं ॥३३७॥

अर्थ—“तीरोट्टु उडमइ उरुही पंडु पोगुम” इस नीति के अनुसार चोरी के द्वारा  
 आई हुई संपत्ति थोड़े समय में ही नष्ट हो जाती है, चोर प्रयोग करने से उसको यज्ञ कीर्ति  
 का नाश होता है और भगवंत जिनेश का कहा हुआ धर्म का भी इस कार्य करने से नाश होता  
 है। आगे के लिए दुर्गति का बंध कर लेता है। धैर्य, ऐश्वर्य आदि सभी कीर्ति चली जाती है।  
 इस चोरी के प्रभाव से सुमति का नाश हो जाता है ॥३३७॥

अंगुली कळंबु बीळ्फु मरुङ् शिरे पिणियं याकुं ।  
 बैकयस्तर्दियं बीळ्फुं वेष्णुने कळबिनेट्टि ॥  
 तोंगुवुस्तोळियुं तूंडिर् द्रोसिनं युस्किक् पन्नुं ।  
 कोंगयं कुरेक् मंगं कल्लिनं कुडयप्पन्नुं ॥३३८॥

अर्थ—चोर प्रयोग से दूसरे की संपत्ति को हरण करने वाले का शरीर आंगोपांग खेदा जाता है । उनको हाथी के पांवीं द्वारा मरवा दिया जाता है । झूली पर चढ़ाया जाता है, जिस प्रकार मछली मांस के टुकड़े के लालच से कांटे में अपना गला फंसाकर प्राण छो देती है उसी प्रकार चोर प्रयोग से चोरी के व्यसनों से चोर प्रयोग करने वाले जीव के आंगोपांग आदि अवयवों को काट देते हैं । इस प्रकार तीव्र वेदना उत्पन्न करने वाले दुःख उत्पन्न करने के लिए चोर प्रयोग ही कारण है ॥३३८॥

बिळंबेळु नरगतु इक्कुं वेरुवरु विलक्कि लाकुं ।  
 मळिवत्ती कुलत्ति लुइक्कु मट्टु ना वगतुळाकुं ॥  
 मिळिवत्तं सुट्टत्ताकुं पिच्चयु मिडामर काकुं ।  
 कौळिक् नोयुडंबै याकुं तायरु कडिय पष्णं ॥३३९॥

अर्थ—चोरी करने वाले जीव चोरी करके अनेक प्रकार के नरक में जा पड़ते हैं । अथवा अत्यंत भयंकर दुःख उत्पन्न करने वाले नरक में जन्म लेते हैं तथा महापाप करने से नीच कुल में जन्म लेते हैं अथवा समय पर खाने को भी न मिले ऐसे निच पर्याय में जन्म लेते हैं या सभी प्रकार के रोग कुष्ठ जलोदर आदि से पीड़ित होते हैं । चोरी करने से अगले भव में माता पिता से विरोध करने वाले होते हैं और माता पिता पुत्र के लिए विरोधी होते हैं ।

॥३३९॥

आक्सलार् कळववागा विदनेक्कु मोरुमैयोक्क ।  
 तीवला माकु मेण्डु तेरु नल्लरत्तौ सेप्पुं ॥  
 भूति तानागियाय कळबिने पोर्द्वि पोन्ना ।  
 नोदियाल् अमच्चु नीगा रात्त्वमं किळ्यु नीत्तान् ॥३४०॥

अर्थ—इस कारण चोरी करना, चोरी कराना अत्यंत निन्दनीय है । यह चोरी इस व परभव में दुखदाता है । ऐसे चोरी का निच काम करने से शिवभूति अपने मायाचार के कारण मन्त्री पद से अयुक्त हो गया, बंधु बांधवों की दृष्टि से गिर गया, उसकी अपकीर्ति हो गई । अतः ज्ञानी लोग इस कार्य को निच समझकर त्याग देते हैं ।

मंदिरि वडिबै येड्दां मन्नवद् मस्सिवाए ।  
 शिदियाचियंदु नोक्का तेरुव वरंवेण ॥

अंदनन् द्रुमिलन् द्रुन्नं यवन् पद दमच्छनाकि ।  
मंदिरं पोल निड् मण्डिणनं तांगु मसो ॥३४१॥

अर्थ—तदनंतर वह राजा शिवभूति मंत्री को कपटाचार मायाधार से चोरी करते हुए बुरे कार्य करने से मंत्री पद से हटा कर दूसरे को मंत्री पद देने का विचार करके एक बणिक पुत्र को मंत्री पद दे दिया और अपना राज्य शासन सुख से करने लगा ॥३४१॥

तिरैशेरिदिलंगु माळि पडिमसन् द्रुवियोडु ।  
मुरै शेरिदिलंगुस् कीति युवगं नोड शंवन् ॥  
वरै शेरिदिलंगुस् तिडोळ् धनिगन् मद्रोरु नाळ् वाडा ।  
विरै शेरिदिलंग वनं सेंडु विरगिर् पुष्कान् ॥३४२॥

अर्थ—तदनंतर वह सिंहपुर नगर के राजा सिंहसेन अपनी रामदत्ता देवी नाम की पटरानी सहित अत्यंत सुख से समय व्यतीत कर रहे थे । उस समय महा मेरु पर्वत के समान गंभीर धैर्यशाली भद्रमित्र बणिक एक दिन सुख पूर्वक भ्रमण करने के लिए अत्यंत सुगंधित पुष्पों से युक्त अतिग नाम के वन में पहुँचा ॥३४२॥

विमाम गंदार मेन्नुं बिलंगलै इलंगवेरि ।  
यमलमाइलंगुस् सिंदै येरुत्तवन् वरदन् माविन् ॥  
कमल माइलंगुं पांब कैतोळुदिरैजि वाळ्ति ।  
तिमिरमां विनैगडीर तिरुवर मरुळ्ग वेंडुान् ॥३४३॥

अर्थ—उस सघन वन में रहने वाले विमल गंधर्ब नाम के पर्वत की चोटी पर चढकर इधर उधर देखते समय वहाँ वरधर्म नाम के एक महान तपस्वी मुनी को उस पर्वत पर तपस्या करते देखा । उनको देखकर उनके पास जाकर भद्रमित्र ने साष्टांग नमस्कार करके उनकी स्तुति की, और सामने बैठकर अज्ञान वश मेरे द्वारा किए गए कर्मों का नाश हो जाने हेतु कुछ गुरु मुख से उपदेश सुनने का विचार करके अत्यंत निर्मलतपस्वी वरधर्म नाम के मुनि महाराज से प्रार्थना की:—भगवन् मैं अज्ञानी हूँ—सच्चा धर्म के मर्म को मैं नहीं जानता । मुझे जैन धर्म का मर्म बतलाइये, ऐसे प्रार्थना की ॥३४३॥

परिवु नर्काकि कांति शांति नल्लडक्क मंडु ।  
पोरिगळिर् शेरिवु गुत्ति समितियुं पोरुंदि यासै ॥  
वरुविय मनत्तु दंडम् कारवं शन्नै वीद ।  
उरुतव नुरेक् लुट्टानुवंद वन् केळ्क लुट्टान् ॥३४४॥

अर्थ—इस प्रकार वह मुनिराज इस भद्रमित्र की प्रार्थना को सुनकर कहने लगे कि हे भव्य प्राणी ! सुनो—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के प्रति समान परिणाम रखना

चाहिए । इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम यह दो प्रकार के संयम हैं । पंचेन्द्रिय विषय में राग-द्वेष आदि रहित होना इन्द्रिय संयम है । त्रिगुप्ति, पंच समिति, स्थावर और अस्र जीवों पर दया करने को प्राणि संयम कहते हैं । तीन गुण्णत् पांच समिति आदि क्रिया को पालन करने वाले तपस्वी और मनदण्ड और काय दण्ड और वचन दण्ड से युक्त रहने वाले ऋद्धिगारव रसगारव तपगारव से रहित ऐसे वर धर्म भूतिराज ने भद्रमित्र को धर्म का उपदेश देना प्रारम्भ किया । और वह भद्रमित्र शांतचित्त होकर बैठकर उपदेश सुनने लगा ॥३४४॥

करुण्यु मरिव् मुंडियुरैयुळु मीदल् काम ।

मरुळिला विरैवन् पादं शिरप्पोडु वनंगन् मैय ॥

लिरुळरतेळिदल् वेंडो किरैव नगरत्तौ शोल ।

मरुवि निड्रौळुगल् माट्टिसुळट्टि पीर् मरुदि वेंडान् ॥३४५॥

अर्थ—मुनि महाराज ने कहा है कि हे भव्य शिरोमणि भद्रमित्र ! तुम आने की धर्म चर्चा को ध्यान पूर्वक सुनो । गृहस्थाश्रम में रहने वाले भव्य जीवों के लिए संसार रूपी सागर को शनैः शनैः पार करने के लिए प्रथम सम्यक्दर्शन उत्पन्न करने के लिए चार प्रकार का दान मुख्य है । सम्यक्ज्ञान की उत्पत्ति के लिए भव्य साधुजनों को शास्त्रदान सत्पात्रों को भोजनादि आहार दान तथा भव्य जीवों के रहने के लिए स्थान तथा घबराये हुए को तसल्ली देना अभयदान है और रोग से ग्रसित दुखी प्राणी को औषध देना यह औषध दान कहलाता है । इस प्रकार सदैव चारों प्रकार के दान देना, भगवान की पूजा करना, जिनेन्द्र भगवान द्वारा कही हुई जिनवाणी का शास्त्र स्वाध्याय करना, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत चार शिक्षा व्रत—ऐसे १२ व्रतों का पालन करना यह सब गृहस्थ के कर्तव्य हैं । इनका पालन करना संसार दुःख रूप व्याधि को नष्ट करने के लिए औषधि के समान है ॥३४५॥

वदंगळ पन्निरंडु मेरिवय्यग दुइर्काट् केडल्ला ।

मिदं शैय्दु वरुदिल् वेंतिडु वेन्नै पोडुरगि ॥

सिदैत्तिन्ना दन शैदाकु मिनियवे शैय्दु शिदै ।

कंद कडिदोळुग नल्लोर् करुण्यै कोडुत्तलामे ॥३४६॥

अर्थ—सम्यक् रूपी रत्न को प्राप्त किया हुआ जीव वारह प्रकार के व्रतों का निर्दोष रूप में सभी जीव को हित करने वाले दयामय धर्म का पालन करना अर्थात् जीव दया पालना, कोई जीव दुखी होने से उसके दुख को देख कर मन में करुणा भाव उत्पन्न होना, किसी पर दुख आता देख कर उसकी दया करना, किसी के साथ बदला लेने की भावना न रखना, देव मूढता, शास्त्र मूढता, लोक मूढता तीनों मूढता से रहित होना, चौदह अंगों का पाठी भिन्न-भिन्न रूप से उपदेश देना, संयमी लोगों को शास्त्र देना, सभी शास्त्रदान हैं ॥३४६॥

डंगियर् मूडमेन्नु मिरुळिनं तुरंदु कोंडु ।

वेंगदिर् पोल ताँडि मैमेयं विळैविक निकु ॥

मंगपूवादि नूलि नरिविनं सेरिय शैदन् ।

मंगल तोळिलि नाकुं मदियनं कोडुत्तलामे ॥३४७॥

अर्थ—इस श्लोक में ग्रंथकार ने चार प्रकार के दानों का वर्णन किया है—शास्त्र दान, औषध दान, आहारदान और अभयदान । स्व-पर कल्याण तथा साधु के संयम की वृद्धि एवं शरीर की साधना के लिए सम्यक्दृष्टि श्रावक जो दान देता है उसे आहारदान कहते हैं । यह आहार दान उत्तम मध्यम जघन्य इस तरह तीन प्रकार के पात्रों को दिया जाता है । पात्र का अर्थ ये है कि हिंसा भ्रूँठ चोरी कुशील परिग्रह इन पापों से तथा सप्त व्यसनों से रहित, जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए वचनों में तथा मार्ग में श्रद्धा रखने वाले गृहस्थ अर्थात् धर्म में आस्था तथा श्रद्धान रखने वाले को दान देना यह जघन्य दान कहलाता है । पांच अयुव्रत चार शिक्षाव्रत, ३ गुण व्रत—इस प्रकार इन बारह प्रकार के व्रतों का पालन करने वाले पहली प्रतिमा से ग्यारह प्रतिमाधारी जो उत्कृष्ट श्रावक हैं इनको दान देना—मध्यम पात्र दान कहलाता है । और दिगम्बर मुनि को जो दान दिया जाता है वह उत्तम पात्र कहलाता है । लूले, लंगड़े, दीन, दरिद्री आदि जो जीव हैं उनका दुःख देखकर करुणा भाव सहित दान देना यह करुणा दान है । इनमें कीर्तिदान, समदान आदि आदि दान के कई भेद हैं । केवल प्रशंसा के लिए धर्मशाला, औषधशाला, स्कूल, कामेज आदि खुलाकर अपने नाम के लिए यों कीर्ति फैले यह दान शुभदान नहीं है बल्कि अपनी कीर्ति के लिए है । जो अपने बराबर कोई धर्मात्मा हो उनसे कन्या दान देना लेना धार्मिक भावना रखना—यह समदान है, इसमें भी यह जो दान कहे हैं यह दान जगत में श्रेष्ठ हैं । सत्पात्र दान की महिमा यह है कि सम्यक्दृष्टि ज्ञानी पुरुष धन संपत्ति वैभव को सत्पात्रों को दान देकर चक्रवर्ती इन्द्र, तीर्थंकर, नागेश्वर के पद को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं और इसी प्रकार ज्ञानी विषय कषायों से मुक्त होकर चारित्र्य पालन करता हुआ उसी भव से मोक्ष जाता है । सबसे पहले भूमि, महल, स्वर्ण, विभूति स्त्री आदि पदार्थों के लोभ रूपी सर्प विष के निवारण के लिए सम्यक् दर्शन सहित तथा वैराग्य रूपी अमोघ मंत्र ही फल प्रद है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है । इस प्रकार जो सम्यक्त्व सहित चार प्रकार के दान देता है ऐसा सम्यक्दृष्टि इस लोक व परलोक में अपनी कीर्ति से अज्ञानी जीवों का भी कल्याण करता है और स्वयं का भी कल्याण करता है ऐसा विचारना चाहिए ॥३४७॥

उडंयुनर् वोळुक्कं काक्षियुक्वये नल्लि बंबानाळ् ।

विडंगोळि वीरं वीडु मैत्तवं दरयंशील ॥

मडंगलु मीदानुंडि ईदव नदनाल् वय्यत् ।

तुंडुवु कोडवर् गट् कुंडि पोल्ववो रुदबिइंडु ॥३४८॥

अर्थ—निर्दोष आहार उत्तम पात्र मुनि को देने वाले भव्य जीवों का शरीर ज्ञान चारित्र्य, सम्यक्दर्शन, संतोष सुख, नीरोग तथा तगस्वी शरीर दीर्घ आयु पराक्रम मोक्ष प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ तप शील सच्चारित्र्य वाला होता है । इस कारण सत्पात्र दान ही समर्थ है । इन चारों दान से आहार दान श्रेष्ठ है ॥३४८॥



ऊनोडु तेनं कळळु मोडि नंडाय उंडि ।  
 तानु बंदेबकु यबिल दानमाम् तानमां तानुमूंडा ॥  
 मूनुनं कोडुमे याकुं मुडन् पट्टु मूनु नाकुं ।  
 मान मादबकुं मदिल् बर्षयार् पोरुगु मूंड ॥३४६॥

अर्थ—मद्य, मांस, मधु इन तीनों मकारों को त्याग करके निर्दोष आहार देने वाले वातार के द्वारा संतोष पूर्वक देने वाले दान को ही दान कहते हैं। ऊपर कहे अनुसार उत्तम जघन्य, जघन्य इस प्रकार तीन पात्र है। श्रावक को दान देना यह जघन्य दान है। पात्र को चार प्रकार दान देना कहा है। सत्पात्रों को दान देना उत्तम दान है ॥३४६॥

पुमे सुंबालुंड उंडी बलियिना सुहरं पोदिन् ।  
 मलेइनुं पेरिष उंडि बलिइनासुहरं शाल ॥  
 नलियु मेल् नरगसाळंबु नडलेगळ् पडुमेंडालि ।  
 कुसं सुंबारा कुंडि इव नंडु मामे ॥३५०॥

अर्थ—मांस भक्षण करने वाले जीवों को तथा चोरी करने वाले जीवों को आहार दान देने से कुफल मिलता है, वे भोग भूमि में जाकर जन्म लेते हैं नरक में पडते हैं इसलिए सप्त व्यसन वाले जीव तथा मांस भक्षण करने वाले जीव को कभी भी आहार दान नहीं देना चाहिए ॥३५०॥

अग्निग सरत्ति निडा ररुं पिमियाळर् मूत्तार ।  
 कुगतिगळ् कुरुडर् मूगर् कोसंतोळिल मनस् मिन्नार् ॥  
 अगस् कनेंबि नोरुक्कळिन् सौब बुडि ।  
 मगरिने मलिब पूणोय् सहिम दानमामे ॥३५१॥

अर्थ—दरिद्री मनुष्य व्रताचरण करने वाले भव्य जीव को अथवा व्याधि पीडित, रोष अशित वृद्ध पुरुष, अंगहीन, अंधे, लूले, लंगड़े, व्रतों को पालन करने वालों को अर्थात् एक देहकृती श्रावक आदि जघन्य पात्र को दान देना जघन्य दान कहनाता है ॥३५१॥

उरबियं पेरिदुमोंबि ओळुक्कत्तै निरुत्ति युळ्ळं ।  
 पेरि बळि पडाक्क नोकि पिररक्कं नंडाट्टि पोतीर् ॥  
 नेरिबिने तांगि नौगा बीटिबं बिलंबल् सेय्यु ।  
 मुदत्तयर् कौब एन्ना उत्तम दान मामे ॥३५२॥

अर्थ—ग्रहिता महाव्रत को धारण करके एकेंद्रिय आदि पंचेंद्रिय जीव पर्यंत अर्थात् संपूर्ण जीवों की रक्षा करने वाले, धात्म-साधन में लीन रहने वाले अथवा सामायिक आदि बट् आचरणक क्रिया में सदैव तल्लीन रहने वाले, पंचेंद्रिय विषयों को रोककर हमेशा आत्म-

ध्यान में रत रहने वाले, अपने पर कोई दुष्ट पुरुष द्वारा उपसर्ग करने पर भी दया भाव रखने वाले, सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य ऐसे अनंत गुणों से युक्त, मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनि को दान देना यही सत्पात्र दान है। यह दान इहलोक और परलोक को सुख देने वाला तथा मोक्ष का देने वाला है। ऐसा समझना चाहिए ॥३५२॥

ऊनुदु तेनुंकळळु मुवंदबैप्पिरवु मोवर् ।  
 दानमेन्द् रैस्तु तम्मै कोन्हुयि कूने ईवार् ॥  
 दानमुं बयावु मेळ्ळाम् तांकळ्ळवारु काणा ।  
 बीनमेन्दासुं केळारियल्लु-वेरुल्लगस्तारे ॥३५३॥

अर्थ—मधु, मांस, मद्य आदि अनेक जीव उत्पन्न होने वाले पदार्थ तथा अनन्त काय उत्पन्न होने वाली वस्तु को देना यह दान नहीं है। ऐसा दान देना तथा अपने शरीर का मांस काट कर या दूसरे का मांस काट कर देना यह दान नहीं है। मिथ्या शास्त्र को पढ़कर दान देने वाले, मिथ्यामतियों के कहे अनुसार चलना, उनको दान देना यह सब मिथ्यात्व है। और इस प्रकार के दान देने वाले मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिए ज्ञानी स्वपरं का कल्याण करने वाले संसारी जीवों को सच्चा मार्ग का हित बताने वाले महान साधुओं को दान देना उत्तम दान है ॥३५३॥

अनघमायनन्तमाय गुणं पुणं वाचं भादि ।  
 तनयित्वा द्वियत्वि निन्दान् दृभ्मे तन्कन्बैत्तु ॥  
 निनेतेलं केदु नल्लु सिरप्पदु विनये नोकुं ।  
 कनलिसेर कनयं तनयं तनकन् काळरौ कळट्टु मारे ॥३५४॥

अर्थ—निर्दोष, अंतर्हित ज्ञान गुण से सहित राग द्वेष से रहित ऐसे सर्वज्ञ अर्हंत देव का स्मरण करना, उनके वचनों पर विश्वास रखना, सम्यक्त्व सहित उनकी भक्ति, पूजा करना, स्तोत्र पढ़ना इसे भक्ति कहते हैं। जिस प्रकार मलिन धातुओं से मिला हुआ सोना अग्नि की तपत से शुद्ध होता है उसी प्रकार अनादि काल से आत्मा के साथ मलिन कर्म रूपी कालिमा इनकी ध्यान पूजा व भक्ति से नष्ट होती है ॥३५४॥

इरेवनु मुनियु नोलु मियादु मोकुंद्दु मिळ्ळा ।  
 नेरियिनें लेळ्ळिवल् काक्षियामद निरुत्तु सु विट्टि ॥  
 निरुगु मेन्मययुं भूडमारु तीविनय मिळ्ळि ।  
 नेरिविळ कुदन्नसादि यट्टंम निरेवं वेन्डान् ॥३५५॥

अर्थ—परमात्म स्वरूप भगवंत को अंतरात्मा में रखकर उनका ध्यान रखने वाले निर्ग्रन्थ गुरुओं को तथा सभी वस्तुओं का परिज्ञान करा देने वाले परमात्म को अर्थात् शास्त्र (जिनवाणी) को संशय रहित होकर उसका ज्ञान कर लेना, संशय रहित श्रद्धा करना यह

सम्यक्दर्शन है। यह सम्यक्दर्शन ही मोक्ष को देने वाला है। सम्यक्दर्शन आठ मद, तीन मूढता, छह अनायतन इनसे रहित तथा शंकादि आठ दोषों से रहित होकर अर्हत भगवान द्वारा कहे हुए मार्ग पर श्रद्धान करना—चलना आदि व्यवहार सम्यक्दर्शन है ॥३५५॥

पेरिय कोलं पोयिकळवु विरमंनयि न्नेरुवल् ।

पोरुळ् वरंदल् मत्त मधु पुलंसुनळि नीङ्गल् ॥

पेरियदिसं दण्डमिरु भोग वरं दाडल् ।

मरीयिय सिक्कं नान्गुमिवं मनयत्तार् शीलं ॥३५६॥

अर्थ—अस जीवों की हिंसा; असत्य बचन, चोरी, परस्त्री और परिग्रह—कांक्षा इन पांचों पापों को एक देश त्याग करना इसका नाम पांच अणुव्रत है। और मद्य, मांस मधु को नहीं खाना, दिग्ब्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत, इन तीन गुणव्रतों को और सामायिक, प्रोषधी-पवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग यह चारों शिक्षा व्रतों को मिलाकर श्रावक के १२ व्रत होते हैं। इस प्रकार गृहस्थ के द्वारा आचरण करने को शीलाचार (श्रावकाचार) व्रत कहते हैं। और पंच व्रतों को पूर्ण रूप से पालन करने को मुनिव्रत कहते हैं। इस प्रकार उन वरधर्म मुनिराज ने भद्रमित्र मंत्री को उपदेश दिया ॥३५६॥

इस प्रकार भद्रमित्र मुनिराज द्वारा उपदेश देने वाला तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।



## ॥ चतुर्थ अधिकार ॥

पूर्णचंद्र का राज्य परिपालन \*

अमिदं करणोळिन् मुनिघर उरं शेंडोरिप्प ।  
तिमिर मेन निड्रविने तीर्थळुंद मदिइर् ॥  
कुमुदमेन मलंदुवद माट्टुवन कोंडे ।  
यमलनडि मनक्कमला तरुक्कित्त् वैत्तोळुंदान् ॥३५७॥

अर्थ—इस प्रकार वरधर्म मुनिराज का कहा हुआ यह उपदेश जिस प्रकार कुमुदिनी विकसित होती है उसी तरह भद्रमित्र को आत्मा में अनादिकाल से चला आया सात प्रकार का उपशम होते ही आत्मा में उपशम भाव उत्पन्न हुए और वह अपनी शक्ति के अनुसार व्रत को धारण कर सर्वज्ञ अर्हत भगवान की स्तुति करके मुनिराज के सम्मुख खड़ा हो गया ।

॥३५७॥

येळुंदु मुनि इरुकमल पादं तोळुदोत्ति ।  
शेळुंककग भाडमिशै शीय पुरं पोक्कु ॥  
मुळंगि येळु मुगिल्िर् पोरुन् मुळुदुं वरियोक्कु ।  
वळंग मनत्तळुंगि युरैत्ताळवन् ट्रन्मादा ॥३५८॥

अर्थ—तदनंतर वह भद्रमित्र वरधर्म मुनि को नमस्कार करके वहां से चलकर सिंहपुर में जाकर अत्यंत सुन्दर महल में प्रवेश किया । तत्पश्चात् जिस प्रकार आकाश में बिजली चमकती है और मूसलाधार वर्षा होती है उसी प्रकार भद्रमित्र ने अपनी संपत्ति को दान, अनाथ, याचक जनों को बुला कर दान देना प्रारंभ कर दिया । उस भद्रमित्र की माता को इस प्रकार अपने पुत्र का दान देना सहन नहीं हुआ और माता कहने लगी ॥३५८॥

कुलं पेरिथ गुणमरिवु वाडिवु कुडि पिरप्पु ।  
पोलंके युडय वर् कलदु पुगळ्चि इनितडया ॥  
इलंगु मनं याळुं पोरुळिल्ल विडत्ति गळु ।  
मलंगल् वरै पुरुळागसिनि येळियेल् ॥३५९॥

अर्थ—हे भद्रमित्र ! तुम अत्यंत प्रेमी व सद्गुणी, श्रेष्ठी, ज्ञानवान, सुन्दर रूप धारण करने वाले, कुलवान, जगत में कीर्ति के पात्र हो । यह सभी संपत्ति और अनुकूल सामग्री जो मिली हुई है इसका तुमको सदुपयोग करना चाहिये । इस प्रकार की सामग्री पुण्योदय से मिलती है । इसका नाश नहीं करना चाहिये । यदि कदाचित् आगे चलकर गरीबी आ जावे तो बड़ी कठिनाईयां भुगतनी पड़ेगी । अतः तुम दान मत देवो । घर में संपत्ति रहने से पुत्र,

बंधु, बांधव, मित्र आदि सभी प्रेम सत्कार करते हैं। यदि संपत्ति न हो तो कोई प्रेम नहीं करता, अतः संपत्ति का नाश नहीं करना चाहिये। ऐसा माता ने भद्रमित्र से कहा ॥३५६॥

कावन् भिगुवाय् मोळिहिला तरभोर्झिङ्गि ।  
पोदरवेनाटु पोरुन् मुळुबु मबनीय ॥  
कोदमेरि पोंड्वने कोळ्ळं पोंडि सूळ्वु ।  
तीवुतनक्काकि मनं शिव दोळुगुं वळिनाळ् । ३६०॥

अर्थ—उस भद्रमित्र ने माता के वचनों को सुना किन्तु माता के कहने को माना नहीं और दीन, दुखी, याचक जनों को बराबर दान देता रहा। दान देते समय उसकी माता ने अग्नि के समान आंखें लाल करके उसको मारने की भावना करके प्रशुभ कर्म का बंध कर लिया। और आर्तध्यान से अपना जीवन बिताने लगी ॥३६०॥

आंगवन् द्रन् सोन्मरुत्त वळ्ळिहनुं पोरुळ्ग ।  
नींग वेळु मतिस्तिनु मौबुडंबु नीत्तु ॥  
पूंगोळ्ळि योंगिय वदिग वनं पुक्कु ।  
वेन्गे मगवाय् मगन् कन् वेरत्तोडु पिरंदाळ् ॥३६१॥

अर्थ—उस भद्रमित्र ने अपनी माता के वचनों पर कोई ध्यान नहीं दिया और उसकी माता सुमित्रा सदैव आर्तध्यान में लगी रही और मरकर अतींग नाम के वन में व्याघ्री उत्पन्न हुई ॥३६१॥

अरुळिनालुइर्कट् कीव ओपोरु निमिस्त माग ।  
वेरळि नान् मयगि वाळुम् बिर्त्तमि लिब्बेळं तोट्टु ॥  
मिरुळिस्ता वेवर् कोयल् किट्टु वोर् विळ्ळिकन् मेले ।  
मरुळिनाल् विट्टुर् पार्यकु मरिस्तावे पोल्ब नोंडु ॥३६२॥

अर्थ—दूसरे को दान देने में धन का नाश होता है। ऐसा विचार व आर्तध्यान करने से उस सुमित्रा ने निश्चगति में जन्म लिया। जिस प्रकार पतंग दीपक के प्रकाश को देखकर उसमें मोहित होकर अपने प्राण गंवा देता है उसी प्रकार सुमित्रा ने आर्तध्यान से धन में मोहित होकर अपने प्राण छोड़ दिये ॥३६२॥

अप्पुक्कवकान माय कोपलोभस्तिमाले ।  
शप्पट्टु पिरबि याळी वनत्तिडे तिरियुनाळ्ळु ॥  
केपट्टु पोरुळ्ळं येळ्ळाम् करुणो यालियुमंब ।  
मैपट्टु पुगळिनाली वनत्तिडे बिरगिर पुक्कान् ॥३६३॥

अर्थ—अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण उस जंगल में वह सुमित्रा का जीव व्याघ्री पर्याय को धारण किये हुए हमेशा उस जंगल में घूमती रहती थी। इधर वह भद्रमित्र श्रेष्ठी अनेक दिन दुखियों, याचक जनों को नित्य दान दिया करता था। एक दिन वह भद्रमित्र अपनी स्त्री के साथ घूमने के लिये उसी वन में गया ॥३६३॥

कारणं तानोड्डिड्ढि करुमस्तिन् करुमयाले ।  
वारणिवि लंगुस् कोंगे मंगस् रोडो वळ्ळल् ॥  
तारणि सोल्ले कुड्डुस् तन्नुळ्ळे किरियुं पोळ्ळिन् ।  
वेरनिड्डिलंगुं सिदे वेगे निड्डेनै कंडान् ॥३६४॥

अर्थ—उस सघन वन में घूमते र अनेक प्रकार के वृक्ष पर्वत आदि को देखा और आते समय उस व्याघ्री को भी वन में देखा। जब मनुष्य की आयु कर्म की समाप्ति का समय आ जाता है उस समय कोई निमित्त अवश्य मिल जाता है। विधि का ऐसा ही लेख है। उस समय को कोई टाल नहीं सकता। उनकी आयु की समाप्ति का समय आ ही गया हो ऐसा समझ कर उनको वह व्याघ्री देख पड़ी ॥३६४॥

कंडवन् पेयरुमेळ्ळे कडियबोर् पसिनालुं ।  
येडिसै पवरु निरपे वेळुंब वेरस् मोडि ॥  
विडरि विळक्किन्मेले मिट्टिल् पायं बिट्टेवे पोल् ।  
तडिवर् मोळिनान् मेर् द्राय पुलि पायं ब बड्डे ॥३६५॥

अर्थ—उस व्याघ्री को देखकर वह भद्रमित्र अत्यंत भयभीत हो गया और इधर उधर भागने लगा तो पूर्वभव का वैर उस व्याघ्री को स्मरण हो आया। और वह व्याघ्री जो कई दिनों से भूखी थी। भूख से व्याकुल होकर अति शीघ्र ही जिस प्रकार दीपक पर पतंग उड़कर पड़ता है, उसी प्रकार वह व्याघ्री अपने पूर्व भव के पुत्र भद्रमित्र पर जा झपटी और उसको मारकर खा डाला। ३६५॥

वेबिया पसिइन् वाडि चिळु मुईर् क्किपकंडु ।  
कोबिया बंज नेजिर करुणै योड्डिड्ढि सेस् ॥  
तीबिया पिरंदु निड्डु मगनयुं तिड्डु विद ।  
पाविये पोल् किल्लार् करुणैये पंडल्गी मंडे ॥३६६॥

अर्थ—भूख से व्याकुल हुई वह व्याघ्री जो पूर्वभव का अपने पेट का भद्रमित्र नाम का जो पुत्र था और उसने पूर्वजन्म के पुण्योदय से सभी कमाई की थी, उस कमाई में से वह दान माता को सहन न हो सका और वह माता सुमित्रा आतड्यान द्वारा मरकर व्याघ्री हुई और अपने पुत्र भद्रमित्र को ही भक्षण कर गई। इस कारण अगे के लिये उसने निवृत्तगति

प्राप्त की। इसलिये प्राचार्य कहते हैं कि सदैव करुणादान देना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

॥३६६॥

पिरविगळनंतं तम्मिर्, पेद्रताय् सुद्रमल्लाल् ।

उरविग वंड्, मिळ्ळं पूनिर्नं युंडु वाळ्वार् ॥

मर्मलि मलंतराइतम् मक्कळ्ळं तिगिन् रारेन् ।

रिरैवने ईवळुरैत्ता लिड्, तन्मगने तिड्वाळ् ॥३६७॥

अर्थ—यह जीव अनादि काल से आज तक अनेक बार जन्म मरण धारण करते हुए आया है। इसकी संख्या को मेरे द्वारा कहना अशक्य है। यदि सारासार विचार करके देखा जावे तो प्रत्येक भव में एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक हम भाई २, स्त्री का पति, पिता, पुत्र आदि २ अनेक बार होते आए हैं। बंधु, बांधव, पुत्र, पिता, मामा मामी, चाचा चाची, काका ताई जो भी संबंधी हैं सभी शुभाशुभ कर्म के प्रभाव से शत्रु मित्र के रूप में हमसे संबंध रखते आए हैं। यही हाल भद्रमित्र की माता कहलाने वाली व्याघ्री का समझना चाहिए। जिस प्रकार मानव अपनी जिह्वा के लोभ से जीव हिंसा करके अपनी लालसा की पूर्ति कर लेते हैं उसी प्रकार इस संसार में जीव इन्द्रिय-लोलुपता के कारण भक्ष्य अभक्ष्य का विचार न करके उनका सेवन करते हुए पेट को कब्र बनाते हैं। यह सभी पूर्व जन्म का किया हुआ पाप कर्म का उदय समझना चाहिये। इसलिए सर्वज्ञ भगवान के द्वारा प्रतिपादन किया हुआ शास्त्रों के प्रमाण से प्राणी में हिंसा का भाव पूर्व जन्म के संस्कार से निर्माण होता है। ऐसा भद्रमित्र की माता का हाल एक इतिहास के रूप में बन गया है ॥३६७॥

करुविनार्, करुविट्टिल्लाम् करुणयाळीयुं कपत् ।

तरुविन् मे लुरुमु वीळ साय्, ददु पोलभाय्, दु ॥

परुमव पाने वेदन् द्रैविमेर् पद्, लळत्तार् ।

ट्टिरुमगळ नैय्य रामदत्ते नन् शिरुव नानान् ॥३६८॥

अर्थ—वह भद्रमित्र उस व्याघ्रणी के उपसर्ग से मरकर पूर्वजन्म के किये हुए पुण्य के द्वारा दान के प्रभाव से तथा शुभ भावों से मरकर सिंहपुर के राजा सिंहसेन महाराज की पटरानी रामदत्ता देवी के गर्भ में आया। वह रामदत्ता रानी कौन थी? उस रामदत्ता ने उस भद्रमित्र पर कौनसा उपकार किया था? इसका समाधान है कि उस भद्रमित्र वणिक के रत्नों को युक्ति पूर्वक निपुणमति दासी द्वारा शिवभूति मंत्री के भंडारी से चतुराई से मंगाकर रामदत्ता रानी को दिया था। इसी कारण अंत समय में उनके प्रेम से निदान बंध करके रामदत्ता रानी के गर्भ में वह भद्रमित्र का जीव आया। इस संबंध में प्राचार्य कहते हैं:—

कोधात् व्याघ्रो भवति मनुजो मानतो रासभो स्यात् ।

मायायाः स्त्रोधनसुखरहितो लोभतः सर्वयोनिः ॥

कामात् पारापतिरिति भवेदत्र संबंधभावात् ।

मोहांध मोही परिजन सुता स्त्री सुता बांधवेषु ॥

क्रोध से मरकर वह सुमित्रा व्याघ्रणी हुई। जयंत मुनि घोर तपश्चरण कर के धरणेंद्र के वैभव को देखकर निदान बंध करके धरणेंद्र हुआ। मोह से भद्रमित्र का जीव रामदत्ता रानी के गर्भ में आया। इस प्रकार संसार में अति मोह करने वाला जीव अगले भव में बंधु भाई पति पुत्र आदि होकर दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता है ॥३६८॥

कस्त्रिडे वेळुत्तामाम् पोय् मुगत्तिडे परकक्काना ।  
नुस्त्रिडे तोंड् विम्मा कस्त्रिगिल् करत्तु नोकि ॥  
पस्त्रिडे किडंद नीन्सोल् पवळ वाय् पांडु वाग ।  
मस्त्रिडे तोंड् मेवर् मदिपेट्ट दिशयै योत्तान् ॥३६९॥

अर्थ—महारानी रामदत्ता देवी के गर्भ रहने के कारण उसका मुख कृश हो गया। पेट मोटा हो गया। स्तन काले हो गये। अत्यन्त मृदुभाषिणी हो गई। उनकी दंत पंक्ति दाडिम के दानों के समान तथा होठ लाल माणक के समान प्रकाशमान प्रतीत होने लगे। क्रमशः आनंद पूर्वक नव मास पूर्ण हो गये। तत्पश्चात् नौ महिने बाद उसने पुत्ररत्न को जन्म दिया। राजा सिंहसेन अपने पुत्र का चंद्रमा के समान मुख देखकर अत्यन्त संतुष्ट व प्रसन्न हुए। और उनका मुख अत्यंत प्रफुल्लित हो गया। “पुत्र रत्न महारत्न”। इस कहावत के अनुसार राजा को महान आनंद हुआ ॥३६९॥

वेयन तिरंड मेंड्रोन् मेल्लिय सोडुम् वेद ।  
नाइरक्किरनन् शेंड्रिदिशे योडु वानै योत्तु ॥  
पाइरुं परवै जालं पैबोना लाति नायं ।  
शायि चंबिरुनेन् ट्रोणै विसे वोरुं पं किनाने ॥३७०॥

अर्थ—पुत्र के जन्म होते ही राजा तथा रामदत्ता देवी दोनों ही को अत्यन्त आनन्द हुआ। और पुत्रजन्म की खुशी में दीन, गरीब, दुखी याचकों को ऐच्छिक दान दिया। और शुभ मुहूर्त में विधि पूर्वक नाम संस्कार करके उस बालक का नाम सिंहचन्द्र रखा। अपने नगर में उसके नाम की घोषणा करा दी। ॥३७०॥

मलविला तडत्तु निड् मळिनं पोल् वळरंदु नन्नार् ।  
कुलमेला मेलिय वांगुं कोडुजिले पयंड् कुंडा ॥  
कलयला कडवु कामं कनिदन कमल मोट्टिन् ।  
मुलै नल्लार् सेत्तिनार्गळ् मुरुगुण्णां वंडे वत्तान् ॥३७१॥

अर्थ—हमेशा जल से भरे तालाब में जिस प्रकार कमल खिले हुए हैं उसी प्रकार वह सिंहचन्द्र राजकुमार पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान प्रफुल्लित हो रहा था। उस समय राजा ने विचार किया कि यह बालक वृद्धि को प्राप्त कर रहा है अतः इसके विद्याध्ययन का प्रबंध करना चाहिये। तत्पश्चात् उस कुमार को एक प्रोहित पंडित के पास शुभ मुहूर्त में



गुरुकुल में भरती कराया । तब वहां के अध्यापक ने अनेक प्रकार के शास्त्र, न्याय, तर्क, व्याकरण व शस्त्र कला आदि २ में उसको निपुण कर दिया । संसार में सबसे श्रेष्ठ एक विद्या ही महान धन है और कोई नहीं है । इस कारण विद्या वाले के पास सभी गुण आ जाते हैं । कहा भी है:—

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रता ।  
पात्रत्वात् धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखं ॥

अर्थ—विद्या से विनय आता है, विनय से पात्रता आती है और पात्रता आने से धन संचय होता है । और धन से धर्म की प्राप्ति होती है और धर्म के द्वारा इस लोक और परलोक का साधन है ।

विद्याधीत्यापि भवंति मूर्खाः ।  
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ॥

अर्थ—कदाचित् विद्या सीखने पर यदि उसको अभिमान उत्पन्न हो जाय तो उसको मूर्ख के समान समझना चाहिये । विद्या पढ़ने के बाद जिनमें समता नहीं है वह विद्या किस काम की ? विद्या पढ़ने के पश्चात् जो सत्क्रियावान् होता है तो वह विद्या उसको सदैव के लिये सुख देने वाली है ।

सुखार्थिनः कुतः विद्या, विद्यार्थिनः कुतः सुखम् ।

तथाच

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्ते ।

कांतेव चाभिरमयत्यनीय खेदं ।

लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं ।

किम् किम् न साधयति कल्यलतेव विद्या ।

इस प्रकार राजा ने विचार करके अपने पुत्र को सम्पूर्ण विद्याओं में निपुण करा दिया । वह कुमार विद्याओं को प्राप्त करता २ यौवनावस्था को प्राप्त हुआ । राजा ने विचार किया कि कुमार यौवनावस्था को प्राप्त हो गया है इसका अब लग्न करना चाहिये । सत्पश्चात् शुभ मुहूर्त में उसका लग्न कर दिया । वह सिंहचन्द्र अत्यन्त सुगन्धित पुष्प में जैसे भीरा मग्न होकर उसका रस लेता है तथा जैसे नदी का मध्य भाग कृश हो गया है, ऐसी नदी के किसी गहरे कुंड में लोग क्रीडा करते हैं, उसी प्रकार वह राजकुमार अपनी स्त्री के साथ काम भोग में रत रहने लगा ॥३७१॥

शिलमरल् शूळ सिघ पोदगत्तौ पोल ।

कलं पइलल्गु लारुं कूमरनुं कळमु नालुळ् ॥

कोलं पइल् कळिनल् यानं कोट्टवन् ट्रेवि नन्पान ।

मलं मिशै मवियं पोल मंदव् मट्टोरुवन् वंदान् ॥३७२॥

अर्थ—वह राजा सिंहसेन व महारानी रामदत्ता दोनों सुख से समय व्यतीत करते थे। आनंद के साथ दोनों दम्पति का समय व्यतीत हो रहा था। इसी समय में रामदत्ता रानी ने पूर्णिमा के चंद्रमा के समान दूसरे पुत्र रत्न को जन्म दिया ॥३७२॥

इरवलरेंडु मुञ्जि रिडर् केड वेळुंब बंब ।  
 पुर्वल कुमार नामं पूर चंदिर नेंडागळ् ॥  
 करयोरु कडलंतानं कावल कुमारु वान ।  
 विरविद्यु मविद्यु पोल् विरुनिल विचळु नाळाल् ॥३७३॥

अर्थ—दूसरे पुत्ररत्न का जन्म होने के बाद सिंहसेन राजा ने उसको देखा और पुत्र जन्मोत्सव की खुशी में प्रजाजन व यांचकों को ऐच्छिक दान दिया और विधिपूर्वक नामकरण संस्कार करके उसका नाम पूर्णचंद्र रखा। वह सिंहचन्द्र और पूर्णचंद्र दोनों राजकुमार जिस प्रकार आकाश में सूर्य और चंद्रमा हैं उसी प्रकार वह राजा दोनों कुमारों के साथ आनंद पूर्वक समय व्यतीत करता था ॥३७३॥

वारि सूळ् वलयन् तुयरेंविडिर् ।  
 रारि यामवु तानुडनेविडुं ॥  
 एरनिवुल गित् पुर्न निवुरुं ।  
 मारि पोर् कोडे बंगे यम्मसने ॥३७४॥

अर्थ—इस प्रकार राजा सिंहसेन अपना समय सुख पूर्वक व्यतीत कर रहा था। समुद्र से चारों ओर घिरे हुए उनके राज्य में प्रजा को यदि थोड़ा सा भी दुख हो जाता था तो राजा को बड़ा भारी दुख होता था। तथा जिस प्रकार मेघ वर्षा करके सारी दुनिया को प्रसन्न करता है उसी प्रकार वह सारी प्रजा को हर प्रकार से प्रसन्न और तृप्त रखता था। प्रजा के दुःख को दूर करने वाला तथा प्रजा के लिए वह हितकारक राजा था ॥३७४॥

पोन्नु नन्मणियुं पुनै पून्गळुं ।  
 मण्णु पुण्णरै मट्टोरु नाळ्पुग ॥  
 पन्नगं मुन्न माभवन् पातिडा ।  
 मिमिन् वेरत्तिर् बीळ् देई रुंङ्गिनान् ॥३७५॥

अर्थ—राजा सिंहसेन एक दिन अपने स्वर्ग, रत्न, मोती, माणक तथा अमूल्य आभूषण, वस्त्र आदि से भरे हुए भंडार के तोषाखाने में सहज ही चला जाता है तो पूर्व जन्म में शिवभूति मंत्री का जीव जो मरकर आर्तध्यान से सर्प हो गया था वह वहां बैठा हुआ था। उस सर्प ने राजा को देखा और देखते ही पूर्व भव का बैर का स्मरण हो गया और तत्काल राजा को काट खाया। सर्प को काटते ही राजा को विष चढ़ गया ॥३७५॥

पेयर् चिन् विडसोडु पार्, मिशो ।  
 मंगलुत्तु वेळुंदनन् मघवन् ॥  
 वेय्यवनर वत्तोडु मेदिनि ।  
 वेय्य नेय्य विळुंददु पोलवे ॥३७६॥

अर्थ—वह राजा उस सर्प के विष से ग्रसित होकर जैसे अंधकार फैल जाता है, उसी प्रकार राजा का शरीर विष से अंधकार के समान काला पड़े गया। वह विष इतना भयंकर था कि सारे तोषाखाने में अंधकार सा छा गया। वह राजा विष से मूर्च्छित होकर गिर गया ॥३७६॥

कल्लन् नोसं कडलुडंदिट्टन् ।  
 वेळुडंदि येळुंद दिया वरुन् ॥  
 सोडुमेय्यु मरं व नर्, सोरं व नर् ।  
 मल्लियेल्गु पुयत्तिरन् मंदरं ॥३७७॥

अर्थ—उस सिंहसेन के मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर जाने के बाद जिस प्रकार तालाब का बांध टूट जाने पर पानी इधर उधर फैलकर बेकार हो जाता है उसी प्रकार राजा को सर्प के काटने के समाचार सब जगह फैल गये। और कुटुम्बी जनों में हाहाकार मच गया। कर्म की गति बड़ी विचित्र होती है। मोहो जोव इस मोह के कारण कौन से अनर्थ नहीं करता है? अर्थात् सभी करता है! क्योंकि उस शिवभूति मंत्री ने माया, छल, कपट, लोभ के द्वारा भद्रमित्र बरिणक के रत्नों का अपहरण करके गुप्त रीति से अपने खजाने में रखे थे। परन्तु यह मायाचार कितने दिन रह सकता था। उन रत्नों को अपने निजी पुरुषार्थ से उसने नहीं कमाया था। दूसरे के रत्न होने से उन रत्नों का न्यायपूर्वक राजा ने निर्णय करके भद्रमित्र बरिणक को दिलवा दिये थे। फिर भी उन रत्नों के मोह से वह मंत्री आर्तध्यान से मरकर सर्प होकर उस सिंहसेन राजा के खजाने में बैठा था। उसने यह निदान बंध कर लिया था कि किसी भव में मैं इससे बदला लूंगा। इस निदान बंध से खजाने में बैठ कर सर्प होकर उसको काट खाया। यह परिग्रह रूपी पिशाच बड़े २ चक्रवर्ती त्यागी गणों को भी नहीं छोड़ता है ॥३७७॥

रामदत्तोयु मिश्रोइ रंडिनाल् ।  
 विराम मुट्टदोर्, मंगइन् वीळुंद नल् ॥  
 करामरी कडल् सूळ्, पडि क्कावल ।  
 निरामे मार पगलुं मिरवायते ॥३७८॥

अर्थ—राजा सिंहसेन की यह दशा देखकर उस रामदत्ता देवी का राजा के प्रति अधिक प्रेम होने के कारण वह रानी मूर्च्छित हो गई और दुख से व्याकुल होकर गिर पड़ी। सिंहपुर नगर के अधिपति राजा सिंहसेन के मूर्च्छित होने के कारण राजमहल व सारे नगर में दिन भी रात्रि के समान प्रतीत होने लगा ॥३७८॥

गरुड नायवन् कालिली कट्केलाम् ।

गरुड दंड नैवान् नक्कनत्तिले ॥

मरुवि मंदिर मोदवु मन्ननुक् ।

किरुळ् परंदुई रेगिय देगलुं ॥३७६॥

अर्थ—पांव रहित सर्पों को गरुड के समान रखने वाला एक गारुडी (कालबेल्या) राजमहल में आ गया। और उसने गरुड मंत्र का जाप्य करना प्रारम्भ किया। तब जितने सर्प थे वे सब सामने आकर इकट्ठे हो गये। परन्तु वह भयंकर काटने वाला सर्प वहाँ नहीं आया। इनमें में राजा सिंहसेन का मरण हो गया ॥३७६॥

मैयलुट्टवन् मंदिर मोंडिनाल् ।

नेय्योळिक्कि नेरुप्पं येरित्तिडा ॥

पंयन पननाग मेला मळत् ।

तुय्यवु नुयक्कोड् रं शिंगिड्नेन ॥३८०॥

अर्थ—सिंहसेन राजा की मृत्यु होते ही उस गारुडी ने घृत की आहूति से एक यज्ञ प्रारंभ किया। और मंत्र के द्वारा आहूति के प्रभाव से सारे सर्पों को बुलाया। तब सारे सर्प इकट्ठे हो गये। उन सभी सर्पों को देखकर वह गारुडी कहने लगा कि हे सर्पों ! यदि तुम सुख से जीना चाहते हो तो जो बात मैं आपको कहूँ उसको स्वीकार करना पड़ेगा ॥३८०॥

कुट्ट मिल्लवर् मट्टिन् निरुप्पिनै ।

युट्ट पोळ्दिदुं नोरिनै योट्टिडं ॥

कुट्ट मिल्लवर् पोन्डुवन् ड्रेनि ।

लिट्ट तुम्नुईर् येन् कैयीलेंड्नेन् ॥३८१॥

अर्थ—उस गारुडी ने उन सर्पों से कहा कि यदि तुमने इस राजा को नहीं काटा है और निर्दोष हो तो तुम इस हवन कुण्ड में कूद जाओ। यह सब पानी २ हो जायेगा। सर्पों ने गारुडी की यह बात सुनी और गारुडी ने यह बात और कही कि यदि तुमने मेरी बात सुनकर उसे न मानी तो मेरे हाथ से तुम्हारा मरण होगा ॥३८१॥

अंजि मट्टव नानै इरैदिडा ।

नंजु तारिग नन्निन तीयिनै ॥

पुंजु पूम् पौगं पुक्कन पोलवे ।

मुंजु पोडन वंडोळियामये ॥३८२॥

अर्थ—गारुडी की बात को सुनकर वे सभी सर्प अत्यन्त भयभीत होकर उसके कहने

को मान लिया और जिस प्रकार पानी से भरे हुए तालाब में मछली कूद पड़ती है, उसी प्रकार सारे सर्प उस हवन कुण्ड में कूद पड़े और निर्दोष होने के कारण उस हवन कुण्ड में पानी र हो गया और सारे सर्प पानी से निकल कर बाहर आ गये । और तत्पश्चात् आज्ञा लेकर अपने २ स्थान को चले गये ॥३८२॥

बंद कवचन् मट्टन् नेरिप्पिनै ।  
निङ्ग पुक्किड नीरदु वायदु ॥  
शेंडु काळ वलत्तिलती मय्या ।  
लंङ्ग लोब शमरम वाइनाय् ॥३८३॥

अर्थ—उस राजा सिंहसेन को काटने वाले अंगद नाम के सर्प को भी गारुडी ने मंत्र विद्या द्वारा बुलवाया और सर्पों के अनुसार उसने भी हवन कुण्ड में प्रवेश किया । कुण्ड में प्रवेश करते ही जिस प्रकार अग्नि में समिध अर्थात् लकड़ी डालते ही वह लकड़ी जल जाती है उसी प्रकार वह सर्प तत्काल ही जलकर भस्म हो गया । तदनन्तर अंगद नाम का सर्प जो शिवभूति का जीव था वह आर्तध्यान से मरकर तीव्र पाप कर्म का बंधन करके काल नाम के वन में अतिलोभ से वह चमरी नाम का मृग हो गया ॥३८३॥

आयु किळयुं मरसु मेळाम ।  
माय मेंबवन् पोल मरिस्तिडा ॥  
शीय सेननुं तीविनें वन्मया ।  
लाईनन् सल्लकी वनत्तानये ॥३८४॥

अर्थ—उस सुशील सिंहसेन राजा ने इस लोक में पूर्व जन्म में किये हुए पुण्य के उदय से प्राप्त स्त्री, मंडार, शयन, वाहन, रथ, पैदल आदि २ सर्व साम्राज्य को अनित्य समझ कर तथा जगत को अनित्य बताते हुए उसको ऐसे त्याग दिया जैसे कोई शरीर में से प्राण छोड़ना है । उसी प्रकार वह इस शरीर को छोड़ देता है । सर्प के काटते ही उसके तीव्र विष द्वारा मरकर उस राजा के जीव ने सल्लकी नाम के वन में जाकर हाथी की पर्याय धारण की ।

। ३८४॥

असनी कोड मेनुं पेय रायवन् ।  
कसनि सेंदु कडातयल् यानयै ॥  
विसनी यापिडी सूळविलंगन् मे ।  
लसन मिगुव दाग वमरं वनन् ॥३८५॥

अर्थ—इस प्रकार हाथी की पर्याय धारण किया हुआ सिंहसेन राजा का जीव 'असनी खोड' नाम से प्रसिद्ध होकर वह हाथी उस सल्लकी नाम के जंगल में जितने हाथी थे उन सब हाथियों में प्रधान होकर सुख पूर्वक काल व्यतीत करता था ।

भावार्थ—आचार्य नृहृद् सामयिक पाठ में श्लोक ५१ में कहते हैं कि परिग्रह ही इस जीव के पतन का कारण है। अनादि काल से इस ही के कारण जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

“लक्ष्मी कीर्ति कलाकलाप—ललना—सौभाग्य—भाग्योदया—  
स्त्यज्यंये स्फुट मात्मनेह सकला एते सतामर्जितैः ।  
जन्मांभोधिनिमज्जिकर्मजनकैः किं साध्यते कांक्षितं,  
यत्कृत्वा परिमुच्चते न मुधियस्तत्रादरं कुर्वते ॥

लक्ष्मी, धन, पुत्र राजपाट, सांसारिक यश, कला, चतुराई, स्त्री आदि सर्व पदार्थ मात्र इस देह के साथ हैं। आत्मा का और इनका साथ कभी नहीं हो सकता है। एक दिन आत्मा को छोड़ना ही पड़ता है। फिर इनके पैदा करने में, इकट्ठा करने में, प्रबंध करने में बहुत रागद्वेष, मोह व बहुत पाप का संचय करना पड़ता है। उस पाप से इस आत्मा को संसार समुद्र में डूबना पड़ता है, दुर्गति के अनेक कष्टों को सहना पड़ता है, तथा जो बुद्धिमानों के लिये इष्ट है अर्थात् मोक्ष व स्वाध्याय आत्मिक सुख है वह और दूर होता चला जाता है। इन स्त्री पुत्र, धनादि के भीतर मोह करने से आत्म-ध्यान व बेराग्य नहीं प्राप्त होता जो मोक्ष का साधक है।

प्रयोजन यह है कि धनादि पदार्थों का मोह करना वृथा है। इनका संचय करना भी वृथा है, क्योंकि एक तो ये कभी आत्मा के साथ जाते नहीं, स्वयं छूट जाते हैं। दूसरे इनके मोह में आत्मा का उद्धार नहीं होता है। आत्मा पवित्र नहीं हो सकती है। इसलिये ज्ञानी को इनमें राग ही नहीं करना चाहिये। इनको उत्पन्न करने का भी मोह छोड़ देना चाहिये। और आत्म-कार्य में लग जाना चाहिये। जिस वस्तु को बड़े परिश्रम से कष्ट सह करके एकत्र किया जावे और फिर उसे छोड़ना ही पड़े उस वस्तु की प्राप्ति के लिये बुद्धिमान लोग कभी भी चाह नहीं करते हैं। अतः धनादिकी चाह छोड़कर स्वहित करना ही हमारा कर्तव्य है ॥३८५॥

नाथि नारुं कुळलगळ् विरिदिडा ।

अथि पोण कलावि किडंदन ॥

देविये तेरुंदा रेडुत्तुत्तुय ।

रोवुं वण्ण नुरेतुड नोविनारु ॥३८६॥

अर्थ—पिछले श्लोक में कहे अनुसार राजमहल में सिंहसेन महाराज के मरण हो जाने के बाद अत्यन्त सुन्दर काले बालों से युक्त राजा की रामदत्ता पटरानी जैसे मोर अपने पंखों को फैला कर नीचे गिरा देता है उसी प्रकार वह अपने पति (राजा सिंहसेन) के मोह से मूर्च्छित होकर नीचे गिर गई। सब महल की दासियों ने अनेक प्रकार से उपचार करके उसको सचेत किया और उठाकर बैठा किया। पति वियोग से शोकाकूल होकर वह रानी दुख से विलाप कर रही है। उस दुख को शांत करने के लिये अनेक स्त्रियां और दासियां कई प्रकार की धार्मिक बातें कह करके उनको समझाना प्रारंभ किया ॥३८६॥

तोंड्रि नन्निलं यादुडनेकेड ।  
 लींङ्ग तायरु मीदु वेंत्तेगलु ॥  
 मांङ्ग वरळि वेदलुं वेंयगम् ।  
 तोंड्रि नङ्गु तोडंगिन वल्लवों ॥३८७॥

अर्थ—वे इस प्रकार समझाने लगीं कि प्रजा को पुत्रवत् पालन करने वाली हे राजमाता ! इस संसार में जितनी वस्तुएं हैं वे सब की सब अस्थिर हैं। उनमें एक भी स्थिर नहीं है। हमको जन्म देने वाले माता, पिता, भाई, बहन इत्यादि जितने भी प्रेमी संगी संगती हैं वे सब एक दिन छोड़कर चले जाने वाले हैं, ऐसा अनादि काल से होता आया है। यह कोई नवीन बात नहीं है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय रूप से परिमाण करना है।

भावार्थ—यह संसार एक महान भयानक जंगल के समान है। आत्मा अपने स्वरूप को भूल कर पर स्वरूप में तन्मय होने तथा उसी मोह के कारण परिवर्तनशील संसार में परिभ्रमण कर रहा है। परवस्तु के मोह के कारण हिताहित का विचार इस जीव को कभी नहीं हुआ ? उसी को अपना मानकर अनादि काल से जन्म मरण करता आया है। यह जीव अनादिकाल से मोह के वशीभूत होकर चौरासीलाख योनियों में जन्म करते हुए छोड़ता आया है।

जिस पर्याय को धारण किया, उस पर्याय को अपना मानकर छोड़ते समय दुख करता है। इसलिये यह जीव पंच परावर्तन रूप संसार में अनादि काल से चक्कर लगाता आ रहा है। एक क्षण के लिये भी विश्रान्ति नहीं लेता है। यह सब राग और मोह की महिमा है।

इस संबंध में अमितगति आचार्य ने तत्त्व भावना में कहा है—

चित्रव्याघातवृक्षे विषय सुखनृणास्वादानासक्त—चित्ताः ।  
 निस्त्रिशैरारमंतो जन हरिणागणाः सर्वतः संचरद्भिः ॥  
 खाद्यंते यत्र सद्यो भवमरणजराश्वापदेर्भीमरूपैः ।  
 तत्रावस्थां क्व कुर्मो भवगहनवने दुःखदावाग्नितप्ते ॥३२॥

अर्थ—जैसे कोई एक सघन जंगल हो जहां बड़े २ टेढ़े २ वृक्षों का समूह हो, दावाग्नि लगी हुई हो। चारों तरफ से सिंह आदि हिंसक प्राणी घूमते हो और जहां नृणा को चरने वाले हरिण निरन्तर हिंसक प्राणियों के द्वारा खाए जाते हों ऐसे वन में कोई रहना चाहें तो कैसे रह सकता है ? जो रहे वही आपत्ति में फसे। इसी प्रकार यह संसार भयानक है। जहां करोड़ों आपत्तियां भरी हुई हैं जहां निरन्तर दुःखों की आग जला करती है जहाँ प्राणी नित्य जन्मते हैं, वृद्ध होते हैं, मरण को प्राप्त होते हैं। यह प्राणी इन्द्रिय सुख में मग्न होकर बेखबर रहते हैं। ऐसे जीव शीघ्र ही काल के ग्रास होते हैं, इस प्रकार जगत में सुख शांति कैसे मिल सकती है ? बुद्धिमान प्राणी को तो इससे निकलना ही ठीक है। आचार्य गुणभद्र ने भी

आत्मानुष्ठान में कहा है:—

“असामवायिकं मृत्योरे—कमालोक्य कञ्चन ।

देशं कालं विधिं हेतुं निश्चिताः संतु जंतवः॥७६॥

अर्थ—इस संसार रूपी भयंकर राक्षस से बचने के लिये तुम कहीं भी जाओ, एक देश को छोड़कर दूसरे देश में जाओ । एकान्त में भी ऐसे स्थान पर जाओ जहां मृत्यु से संबंध न हो । ऐसा कोई एक काल देखो जिसमें मृत्यु न आ सकती हो । कोई ऐसा ढंग सोचो कि जिस प्रकार चलने फिरने से मृत्यु घपना आक्रमण न कर सके । कोई एक ऐसा कारण मिलाओ कि जिससे मृत्यु की दाढ़ न लग सकती हो । यह सब जब तुम करलो तब तो तुमको निश्चित होना चाहिये कि यहां तो काल नहीं आएगा । परन्तु यह याद रखो जब तक तुमने इस शरीर से संबंध नहीं छोड़ा है तब तक ऐसा देश काल हेतु कभी नहीं मिलने वाला है । ऐसे देशादिक तो तभी मिलेंगे जब कि तुम शरीर से स्नेह हटाकर वीतरागता धारण कर अध्यात्म चिंतवन करने लगोगे क्योंकि ऐसा संबंध तो संसार में कहीं भी नहीं है । एक मात्र संसार छूटकर होने वाली चिदानंद दशा को प्राप्त होने पर है । इसलिये शरीर रक्षा के प्रयत्न में लगे रहने से मृत्यु से छूटना असंभव है । इसलिए इस मोह को छोड़ना चाहिये । संसार में आज तक कोई बन्धु स्थिर नहीं है । माता, पिता, कुटुम्ब, कबीला सब अनेक २ आयु कर्म के अनुसार मर्यादा छोड़कर चले जाते हैं । यह संसार असार है । इसलिये आप शांति धारण करें ऐसा धर्मोपदेश राजमाता को दिया ॥३८७॥

शैत्वमं शिलनाळिडये केडु ।

मल्लळेंडु मुराबवरुम् मिलं ॥

मल्लं वेडु पुयत्तेळिन् मन्नव ।

रेल्ले इल्ले इम्मण्णिण लिरंबवर ॥३८८॥

अर्थ—पुनः कहने लगीं कि हे राजमाता ! संपत्ति, धन, दौलत आदि की तथा सब की मर्यादा पूर्ण होते ही इनका नाश हो जाता है । इस जगत में दुःख को प्राप्त न हुआ हो ऐसा प्राणी आज तक देखने में नहीं आया । संसार में शत्रुओं को जीत कर अपनी कीर्ति फैलाने वाले राजा महाराजाओं को भी इस पृथ्वी को छोड़कर जाना पडा और अनादि काल से अब तक कितने चले गये हैं, इसकी कोई गिनती नहीं है ॥३८८॥

इरंबवरु किरणि नामु मुळुदुमे लिडु कारु ।

पिरंबनं पिरवि बोहं पेद्रु सुट्टुत्तै येसि ॥

ळिरंबनाळत्तण याट्टा देवरुक्कोडुळु दुमेअ ।

तिरंतेरिवु नरंडु वेवि शिरिवु पोय् तेरिनाळे ॥३८९॥

अर्थ—हे माता ! हमारे राजा सिंहसेन मरण को प्राप्त हुए हैं इस विरह के दुःख



करने से आपको कोई लाभ नहीं होगा। मेरा पति मर गया। इसका विचार करने से कोई फायदा नहीं है, क्योंकि इसी प्रकार भव भवांतरों में कई र कई बार राजा हुए होंगे और संयोग वियोग अब तक होता चला आ रहा है। यदि उन सब का दुःख करोगे तो कितना महान असह्य दुःख होगा, इसका विचार करो। परम्परा से सत्पुरुषों द्वारा कही हुई बातों की याद करो। आप स्वयं ज्ञानी हो सब जानती हो। अब व्यर्थ ही आपको शोक करना उचित नहीं। आप शोक करना छोड़ दो इस प्रकार उपचार की बातों को कहकर रामदत्ता रानी को शांत किया ॥३८६॥

तेरिनाळ् मयंदर तम्ने तरुगेन चप्प नोंद ।

वेरु पोनडंडु वंदागिरींज निडुवरं नोकि ॥

पेरिलेनुं मैचूटि यरसनं पिरिंदे नेस्र ।

वारिळि वरयें पोल वोळु वडि तोळुडु वीळं दार ॥३६०॥

अर्थ—तदनंतर उस रामदत्ता रानी ने अपने दोनों पुत्र सिंहचंद्र व पूर्णचंद्र को दानी द्वारा बुलवाया। उन दोनों ने आते ही माता के चरणों में नमस्कार किया। रामदत्ता देवी अपने दोनों पुत्रों से कहने लगी कि पुत्रों! हमने पूर्व भव में अच्छे पुण्यों का संपादन नहीं किया इसलिये आपके पिता के हाथ से तुम्हारा राज्याभिषेक न हो सका और वे राज्याभिषेक किये बिना ही संसार से बिदा हो गये। इस बात को सुनकर दोनों पुत्र शोकाकुल होकर चरणों में गिर पड़े ॥३६०॥

तिरुवनमाळवरं तेट्टि शीय चंदिरने नोकि ।

मरुगुला मगडं सूटि मन्मुळुदाळ्ग वेडु ॥

पोरुविला लदनिर् पिन्ने पूर चंदिर नैनोकि ।

यरशिळंड कुमर नाय्नी यमरं दिनि रिक् वेड्राइळ् ॥३६१॥

अर्थ—तत्पश्चात् रामदत्ता देवी अपने सिंहचंद्र और पूर्णचंद्र दोनों कुमारों को धैर्य देते हुए कहने लगी कि हे कुमारो! तुम दोनों को अपने राज्य की जिस प्रकार तुम्हारे पिता राज्य का शासन करते थे उसी प्रकार अब सम्हाल करना चाहिये। ऐसा आशीर्वाद देती हुई आज्ञा दो कि सिंहचंद्र का राज्याभिषेक करो और पूर्णचंद्र को युवराज पद देओ ॥३६१॥

इंदिर विभवं तन्ने इरु वगियिर् संदु मयिद ।

रंदरं पिरिदोंड्रेडि इंबत्तु लळुंदु नाळुळ् ॥

शिशुर् कळित्तु शीय शेनन् ट्रन् वार्ते केदु ।

वंदनर् शांतिरन्य मदियेंबा तुरंद मादर ॥३६२॥

अर्थ—राजमाता की आज्ञा के अनुसार सिंहचंद्र का राज्याभिषेक करके राज्यपद

दिया और पूर्णचन्द्र को युवराज पदवी दी। राजा सिंहचन्द्र सुखपूर्वक राजशासन करने लगा। राजा सिंहसेन के मरण का हाल सुनकर उस नगर में विराजमान शान्तिमति व हिरण्यमति यह दोनों आयिकाएँ माता रामदत्ता के पास आईं ॥३६२॥

अंग तूल पपिडु बल्ला ररवमिर्ब लिक्कुं सोल्लार ।  
सिगं नरपायलादि मोत्तु बोडु शरिडु निड्डान् ॥  
संगिय कुरुणं नेजिर् ट्टरिमा रमिर् गट्टु केल्लं ।  
सिंगळ् वेन कुडंनान्नुन् ट्टेचियं कंडु सोल्लार ॥३६३॥

अर्थ—वे आयिकाएँ कौसी थीं ? सम्पूर्ण जीवों पर दया करने वाली, भव्य जीवों को अमृत रूपी धर्मोपदेश का पात्र कराने की शक्तिवाली, व्रत में अपने शरीर को शुष्क करने वाली, त्रसस्थावर आदि सभी जीवों पर दया भाव तथा हित करने में कटिबद्ध थीं। ऐसी वे दोनों श्रेष्ठ आयिकाएँ चन्द्रमा के समान श्वेत वस्त्र धारण किये रामदत्तामाता से कहने लगी कि हे राजमाता ! ॥३६३॥

अंगर बल्गु त्तारि लरुंददि येनेय नंगं ।  
मगल मिळंद तेमनोगंडं पायं वाडि ॥  
शंगय वनय कंगळ् सिदरी नो अळुद पोळवुं ।  
वेंकळि यानं वेदन् वेळिप्पडा नोळ्ळिग वेंडान् ॥३६४॥

अर्थ—आपने अपने पति के मरण होने पर अपने शरीर में रहने वाले श्मशान मारणक मोती रत्न आदि आभरणों को उतार कर त्याग दिया। यह पूर्व में किये हुए पाप कर्म का उदय ही है। ऐसा समझो ! क्योंकि परम्परा से ऐसा ही चला आ रहा है कि जहाँ जहाँ जन्म है वहाँ मरण है। यदि तुम पति के वियोग से दुख करोगी तो वे कभी वापस लौटकर नहीं आ सकते। इस कारण शोक करना भूल जाओ। दुख करना संसार बंध का कारण है। क्योंकि आप ज्ञानवान हो। इस विषय को भली प्रकार समझती हो। फिर भी हम तो निमित्त कारण हैं। आपको सात्वता देना हमारा मुख्य कर्तव्य है ॥३६४॥

आरुवत्ति नरत्ति सिदं यातंमा यदनिर् पिन्नं ।  
वंदत्तौ उडिय आय विलंगिडं पिरंडु तीमं ॥  
भारत्तौ यडंडु सेंडु नरगति पवंपर् कंडाय् ।  
नेरोत्त मनसौयागि यनिसमे निनेक्के वेंडार् ॥३६५॥

अर्थ—वे माताएँ पुनः कहने लगीं कि हे माता दुख करने से आर्तध्यान होता है और आर्तध्यान से महान निद्यगति में जन्म लेना पड़ता है और वहाँ अनेक प्रकार के नरक के यातायात के दुखों को सहन करना पड़ता है। इस कारण इस जगत में उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रिय विषय सुख अनित्य हैं, क्षणिक हैं, कभी भी शाश्वत किसी को रहते नहीं। सब पुण्य पाप

का फल है। पुण्य की समाप्ति पर सुख क्षण भर भी नहीं ठहरता। यह वेश्या के समान है जिस प्रकार वेश्या धनिक लोगों की बगल में कभी इसके पास कभी उसके पास रहती है, उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी चंचल है। इसलिए पुनः समझो और आर्तध्यान व शोक को शांत करो। ऐसा आर्यिका माताजी ने कहा ॥३६५॥

अळुंदि गीसोगन् तन्निरु विप्परवि यालाम् ।  
 शेळुम् पयनिळत्तिडादे तिरुवंर शेहंदु सिंदे ॥  
 येळुदं नल्विशोदि तन्नालिडर् कडल् कडंदु पट्टि ।  
 लळुंदिय विनयै विल्लु मरत्तुवि तमेक्क वेडार् ॥३६६॥

अर्थ—हे देवी ! शोकरूपी समुद्र में निमग्न न होकर इस मनुष्य जन्म में अगले भव के लिए शांत और सुख के मार्ग का साधन करना यही तुमको श्रेयस्कर है। क्योंकि मनुष्य गति महान कठिनता से प्राप्त होती है। इस पर्याय से जैन धर्म को भली भांति समझ लो। और धर्म को समझ कर आशा रूपी समुद्र में न डूबते हुए कर्मों के उपशम करने के लिये शक्ति के अनुसार व्रत नियम ग्रहण करो। उत्तम स्त्री पर्याय को पाकर उससे धर्म का साधन कर लेना यही श्रेष्ठ है। क्योंकि यह स्त्री पर्याय अत्यन्त निष्ठ है। पूर्व भव में किए हुए मायाचार के कारण, यह निष्ठ पर्याय प्राप्त हुई है। इसलिए हे देवी ! इस शरीर को व्रत और तप के साधन में लगाकर इसका उपयोग करो। यह आत्मा अनादि काल से पंचेन्द्रिय विषयों में रत होकर संसार में परिभ्रमण करता आया है। भोगों को ही सुख मानकर जैसे चक्षुरिन्द्रिय के आधीन होकर पतंग आग में गिर पड़ता है उसी प्रकार यह प्राणी एक २ इन्द्रियों के वश में होकर संसार सागर में डूबकर महान दुख को भोग रहा है। अतः हे देवी ! आप इस शरीर से भविष्य के लिये व्रत वगैरह का पालन करते हुए नियम से साधन करो, इसी में भलाई है। एक कवि ने कहा है:—

तनुवं संघद सेवेयोल् मनमनात्म ध्यानदभ्यास दोल् ।  
 धनमं दानसु त्जेयोल् दिनमनहृद्धर्म कार्यं प्रवर्तने ।  
 योल्पवंतोल्दु नोपि मलोलिदी युष्यमं मोक्षचि-  
 तने योल्तिचुं व सदगृहस्थननघं रत्नाकरा धीश्वरा ! ॥

अर्थ—शरीर का उपयोग मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका की सेवा करना मन को आत्मध्यान के अभ्यास में लगाना, धन का उपयोग दान व पूजा में लगाना, दिवस को अर्हंत भगवान की पूजा आदि में व व्रत विधान में लगाना तथा अपने शेष समय को मोक्ष चिंतन में व्यतीत करने वाला ही सदगृहस्थ कहलाता है, और वही पाप रूपी बीज को नष्ट कर अंत में मोक्ष रूपी सामग्री को प्राप्त कर संसार में मनुष्य जन्म को सफल बनाता है। यही मनुष्य जन्म का सार है। अतः हे रामदत्ता देवी ! इस पर्याय को धर्म साधन में लगाए रखना ही श्रेष्ठ है। अब आगे के लिए शुभ गति का बंध करो ऐसा दोनों आर्यिकाओं ने धर्मोपदेश दिया

तुवर् पशं नान्गिर् द्वीय विलच्यं मूङ्गाणि नाळं ।  
 यवत्तमे पोकिजादे येम्मं मुम्माट्टर् केट्ट ॥  
 तवत्तोडु विरवं शीलं तक्क न तांगि सिदं ।  
 युवर्पोडु वेरुप्पि नोडि युशुदिकक नुळक्क वेंडार् ॥३६७॥

अर्थ—हे देवो ! क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकार के कषायों से उत्पन्न होने वाले कृष्ण, नील और कापोत इन तीन लेश्याओं के दुष्परिणामों को व्रत विधान के द्वारा क्षय करना, पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रत ऐसे बारह व्रतों को ग्रहण कर शक्ति के अनुमार तपश्चरणा करना ही दुखों का नाश करने वाला मुक्ति का मार्ग है। अतः समस्त सांसारिक भोग सामग्री आदि का त्याग करके संतोष पूर्वक धर्म ध्यान के मार्ग को स्वीकार करना चाहिये। ऐसा आर्यिकाओं ने उपदेश दिया ॥३६७॥

अरुन्तवतागळ् सोल्लि केटलु निरामइ सित्तं ।  
 निरुंलिय तवत्तवागि बेदन मगनंकूवि ॥  
 पोहंदिय सेत्वं सुट्टं पोपुं दं पोल मायुं ।  
 पिरुंविम गुणत्तिनाय नो तिरुवरम् भरव वेंडार् ॥३६८॥

अर्थ—इस प्रकार दोनों आर्यिकाओं ने रामदत्ता देवी को उपदेश देकर उनके दुःख को शांत किया। धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् उस रामदत्ता माता की इच्छा आर्यिका के धर्मोपदेश के अनुमार व्रत पालन करने की हुई। तदनन्तर वह अपने ज्येष्ठ पुत्र सिंहचन्द्र को बुलाकर कहने लगी कि हे सद्गुण शिरोमणि कुमार सिंहचन्द्र यह संपत्ति माल, खजाना, हाथी, घोड़े सेना आदि सब क्षणिक हैं। इसमें रत होकर जिनेंद्र भगवान द्वारा कहे हुए सद्ब्रह्म मार्ग को कभी भूलना नहीं चाहिये। अब मेरे मन में संयम धारण करने की भावना जागृत हुई है। ॥३६८॥

एंडलु मजि नेज्ज तिळन् सिगनडप्पदे पोर् ।  
 सेड् वन् परिळदेळ्ळुं सेप्पिय देन्कोलेन्न ॥  
 मिडिगळ् पूनि नाळ् मेल् विळत्तवं तोडंगि नोट्टर् ।  
 कोडिय वुळ्ळ मेन्न उसमुट्ट नाग मोत्तान् ॥३६९॥

अर्थ—इस प्रकार माता के वचनों को सुनकर वह सिंहचन्द्र मन में अत्यन्त भयभीत होकर माता के चरणों में नमस्कार करके खड़ा होकर पूछने लगा कि हे माता ! आपने जो बात कही वह मेरे समझ में नहीं आई। आप क्या कह रही हैं? इसलिए आप मूर्खे अन्धी तरह से पुनः कहो। ऐसी प्रार्थना की तब वह रामदत्ता देवी सुनकर कहने लगी कि हे पुत्र ! संसार असार है, सर्व वस्तु क्षण भंगुर हैं मेरे मन में संयम भाव ग्रहण करने की इच्छा हुई है। माता के ऐसे वचन सुनकर सिंहचन्द्र कुमार अत्यन्त शोकाकुल होकर मूर्च्छित होकर नीचे गिर गया ॥३६९॥

कडगमु मुडियुं सिद कर्पगं पोन वेळ् दु ।  
 पडिविशे किडंद वीरन् परिजन तेट् तेरि ॥  
 अडियनेन् पिळ्त्त देन्कोलडि कनिर् तुरत्तर् केश ।  
 नेडिदु नी हरैय्य नीगळ् पिळत्तदोडिड्दं एंडाळ् ॥४००॥

अर्थ—कुमार सिंहचन्द्र के मूर्च्छित होने से शिर के आभरण मुकुट हार आदि इधर उधर बिखर गये और वह मूर्च्छित पड़ा रहा । उस समय वहाँ की दासियों आदि ने शीतोपचार से कुमार को जागृत किया । तब वह सिंहचन्द्र माता से प्रार्थना करने लगा कि हे माता ! आप इस राजमहल को छोड़कर जाने की इच्छा कर रही है, सो मेरे द्वारा ऐसा कौनसा अपराध हो गया है ? तब माता कहने लगी कि हे पुत्र आपने कोई अपराध, भूल व गलती नहीं की है । किंतु मेरे मन में आत्म—कल्याण करने, की तथा इस पर्याय से आगे की पर्याय का तपश्चरण के द्वारा सुधार करने की भावना उत्पन्न हुई है, और कोई दूसरी बात नहीं है ॥४००॥

मरं पुरिदिलंगु वैवेल् मल्लवन् ट्रेवि युळ् ।  
 तिरपुरिदेळुंद अण्ण मरिद पिन् सीय चंदन् ॥  
 हरंग पुरिदडिगळ्दु तोळुदोडन् पडलु नील ।  
 निरंपुरिदेळुंद वंबा नेरि मई नीकितारे ॥४०१॥

अर्थ—रामदत्ता नाम की पटरानी के इस प्रकार तपश्चरण करने के विचारों को सुनकर कुमार ने कहा कि आप घर में ही रह कर पडोस के मंदिर में विराजकर धर्म साधन करो ताकि हमको भी आपकी सेवा का और वर्षोपदेश सुनने का अवसर मिले । हम अज्ञानी कुमारों को एकदम छोड़कर आपका जाना ठीक नहीं । इस प्रार्थना को सुनकर माता कहने लगी कि बेटा तुम ज्ञान के भंडार हो । प्रजा वत्सल ज्ञानी, दान व धर्म में सीन हो राज्य कार्य में चतुर व निपुण हो । मुझे शीघ्र स्वीकृति दो । इस प्रकार अपने पुत्र को कहकर संतोषित किया । सिंहचन्द्र ने अपने मन में विचार किया कि मेरी माता ने तप करने का दृढ विचार कर लिया और यह रुकने वाली नहीं है । ऐसा समझकर माता को दीक्षा लेने की स्वीकृति दे दी । वह माता अपने छोटे पुत्र पूर्णचन्द्र से पूछकर वन की ओर चली गई और वहाँ विराजने वाली आर्यिका माता से दीक्षा लेने की प्रार्थना की ॥४०१॥

अनिचत्तं पोदु कोड्वार् पोसनी मयिरं वांगि ।  
 पण्णिचप्यं येनय कोंगं पारिण मिर पडत्तिन् वीकि ॥  
 तनि चित्तं वैस्त नंगे तामरं पूवि मल्लं ।  
 पनि सुत्तन् सुट्टवेळ् बिडंद वीर् पडि इरंवाळ् ॥ ४०२॥

अर्थ—तब आर्यिका ने रामदत्ता देवी के मन में तीव्र वैराग्य की भावना को देखकर उसको तथाऽस्तु कहकर दीक्षा की अनुमति दी । उसी समय आर्यिका माता की अनुमति लेकर रामदत्ता ने अपने शरीर के वस्त्र आभरण आदि को उतार दिया, और उन्हें त्याग करके

बारह भावना का चितवन करते हुए मन से एकाग्रचित्त होकर शुद्ध श्वेत वस्त्र धारण कर प्रायिका दीक्षा ग्रहण की ॥४०२॥

अरसिर कुमरन् पं पोन्नळ विडि ईंदु पिन्ने ।  
पिरस निड् राद पिडि पिरान् ट्रिह सिरप्पि यट्टि ॥  
मरं इरुववळं सीलु मिरामं तन् नुरवं कंडु ।  
विरं मलर् सोरिदु बाळत्ति मींडु तन्नगरं पुवकान् ॥४०३॥

अर्थ—उस समय पूर्णचन्द्र अपनी रामदत्ता माता को दीक्षा दिलवाकर उनके चरणों में भक्ति पूर्वक माता के वियोग में अश्रु गिराते हुए उनको नमस्कार किया । दीक्षा उत्सव पर याचक व भिक्षुओं को इच्छित दान दिया और वीतराग भगवान का पंचामृतभिषेक किया तथा पूजा स्तुति करके विसर्जन किया और लौटकर वापस घर आया ॥४०३॥

मत्तमालु कळिह वान्कं इळवदु पोंडि राम ।  
तत्तयं पिरिदु शोय चंदिरन् शालवाडि ॥  
मुत्तानि मुलैनातं मुरुवलुं शिरिय नोक्कुम् ।  
पित्तान् वाव पट्ट नल्ल पिरसं पोट्टि रिद वंडे ॥४०४॥

अर्थ—जिस प्रकार हाथी अपनी सूंड में जरा सा घाव हो जाने पर महान व्याकुल हो जाता है और सूंड को ऊंची ही रखता है उसी प्रकार सिंहचन्द्र राजा को माता के वियोग से महान दुख हुआ । उन्होंने अपनी स्त्री के साथ मोह छोड़ दिया और जो हास्य विनोद आदि करते थे—उनमें वैसे पहले के समान भाव नहीं रहे । जिस प्रकार पित्त का रोगी मीठी वस्तु को खाते ही थूंक देता है उसी प्रकार राजा को भी भोगोपभोग विषय भोग आदि में अरुचि होने लगी और ज्ञानः २ संसार भोगों से उसको विरक्तता हो गई ॥४०४॥

इंडुदा येवं वडि इरंदनाळ् शिरंद वन् बिर् ।  
ट्रोंडिना नावलानुं पिरिविन् मातुमा मुट्टा ॥  
नांडु वरु काय नंडि यनुवु मामेरु वागि ।  
तोंडु मेळ् पिरवि तोरुं तोडंडु वीडंडु कारुं ॥४०५॥

अर्थ—यह सिंहचन्द्र इसी जन्म की रामदत्ता देवी की कूख से पैदा हुआ अर्थात् इसी रामदत्ता देवी ने भद्रमित्र वरिष्क के रत्नों को दासी के द्वारा देने के कारण से उनपर स्नेह होने के कारण रामदत्ता देवी के गर्भ में आकर जन्म लिया था । सत्य है सत्पुरुष के द्वारा थोड़ा सा भी उपकार हो जावे तो उसका आगे बढ़कर बहुत उपकार हो जाता है । उस समय अल्प किया हुआ उपकार भी मेरु के समान सात भव तक उपकार के लिये निमित्त बन जाता है ।

॥४०५॥

पगै वरुतं ननुवु पोल येंदोडि पवळ वायार् ।  
 मुगं मुलं कण्णं तोळु मुरु वलुं शेरिय वंद ॥  
 उवगै नोडु नाळि लुरुतव नुरुवन् वंदान् ।  
 पुगरिला नेरिविळक्कुं पूर चंदिर नेंबाने ॥४०६॥

अर्थ—शूनैः २ सिंहचन्द्र के भावों में तीव्र वैराग्य की भावना होने के कारण अपनी स्त्रियों के साथ, हास्य विनोद व सांसारिक बातें न करना, विषय भोग आदि के वातावरण में मौन रहना । विरोध की चर्चा तथा स्नेह पूर्वक बात न करना । किसी प्रकार का भी व्यवसाय न करना माध्यस्थ भाव से रहना । किसी पर भी स्नेह न करना इस प्रकार रहते हुए संसार भोग के कारण है ऐसा विचार कर वह सब चीजों की ओर से उदासीन भाव होकर समय व्यतीत करता था । एक दिन महाव्रतधारी पूर्णचन्द्र नाम के महामुनि चर्या के लिये बिहार करते हुए राजमहल के बाहर से जा रहे थे ॥४०६॥

वंद मादवन् ट्रुं सेंदा मरै यडि वनंगि पूतु ।  
 एदं मिलुवगै यैय्दि यें पोन् मंगलगं ठेंदि ॥  
 इंदु वानुदलि नारो डेदिरु कोंडु पण्णिदु पुक्कु ।  
 सुंदर तलत्ति नेट्टि तुगळ्ळि तुगिलि नीकि ॥४०७॥

अर्थ—उस समय सिंहचन्द्र ने अपनी स्त्री सहित मुनि महाराज को देखा और दोनों दम्पतियों ने नवधा भक्ति सहित पडगाह कर अपने घर पर लाये और उच्चासन पर बिठा दिया । तदनंतर भक्ति सहित मुनिराज का पादप्रक्षाल किया और चरणों का गंधोदक मस्तक पर लगाकर अष्ट द्रव्य से उनको पूजा की । अपने घर में स्वयं के लिये जो शुद्ध आहार बनाया था उसी में से थाल में परोसकर नवधा भक्ति तथा मन वचन, काय से शुद्धि पूर्वक उन पूर्णचन्द्र मुनिराज को आहार दिया । वे मुनिराज निरंतराय आहार लेकर बैठ गये । और अपनी नित्य क्रिया आहार में लगे हुए दोषों के परिमार्जन हेतु मंत्र का जाप्य व सिद्ध भगवान का ध्यान किया । तदनंतर दोनों दम्पतियों ने मुनि महाराज को हाथ जोड़कर नमस्कार किया ॥४०७॥

मणि मलर् कळस नीरान् मासर कळुवि वासम् ।  
 तनिविळा पालं शादं सरुखिनलरुच्चि ताट्टि ॥  
 इने इत्ता मुनिषन् पांव पनिदु नालमिदं मीदान् ।  
 कनिइ नाळ् पण्णियुं पोळ्ळि लमरुं शिरप्पुच्चेंदार् ॥४०८॥

अर्थ—तदनंतर उन मुनि महाराज को बाहर लाकर उच्चासन पर बिठाया । आहार दान के प्रभाव से देवों ने महाराज सिंहचन्द्र के घर पर पुष्प वृष्टि, स्वर्ण वृष्टि, रत्न वृष्टि दातार की स्तुति, दिव्यनाद इस प्रकार पंचवृष्टि की । मुनि के आहार तथा तप के प्रभाव को देखकर अन्य लोगों के मन में जैन धर्म व जैन मुनि के प्रति ऐसी भावना उत्पन्न हुई कि अहा!

दिगम्बर मुनि को आहार देने के प्रभाव से इन लोगों के घर पर देवों ने रत्नादि की वृष्टि की ॥ ४०८ ॥

बंदव नियम मुट्टि इरुंब माबंदवनं वाळ्ति ।  
अंदमुं पिरवि कोंडु विल्लयो वरुळ् गेळ ॥  
अंद मुंडागुं पान्गै यनिय बर्करुंद बतान् ।  
मंद मट्टुवं इलाकुं माट्टुंडं सुळ्चिये याम् ॥४०९॥

अर्थ—सिंहचन्द्र ने मुनि महाराज से हाथ जोड़कर नतमस्तक होकर प्रार्थना की कि हे प्रभो ! सांसारिक जीवों के लिये संसार का अंत है या नहीं ? इस विषय में मुझे धर्मोपदेश देकर मेरी शंका दूर कीजिये । तब मुनिराज ने सिंहचन्द्र को उपदेश दिया कि जीव दो प्रकार के हैं । एक भव्य दूसरा अभव्य । भव्य जीव के संसार का अंत होता है, अभव्य का अंत नहीं होता । उसको चारों गतियों में हमेशा भ्रमण करना पड़ता है ॥४०९॥

पान्मंडन् परिशेन् नेन्निरु पळुत्तलु काट्टल् पिदि ।  
ईनमाय् पेरिगिवद तिलइडे कनियु मिग्वा ॥  
ट्रू न मोंडि लाद पान्मै उई रिडे कनियुं वीटे ।  
तानं पन्न रंडिन् मेय् मै तवत्तिले यडुत्तपोळ् दे ॥४१०॥

अर्थ—संसारी भव्य जीव कर्मों की निर्जरा करके तपश्चरणा द्वारा मोक्ष जा सकता है । जिस प्रकार एक आम के कच्चे फल (कैरी) को तोड़कर घास में पकाते हैं, उसी प्रकार वह भव्य संसारी जीव कर्मों को परिपक्व करके संसार से मुक्त हो जाता है ॥४१०॥

मेय्तवत्तन्मै तानुं वेंडुवर् पडिमं तांन ।  
सित्तरं मोळिकन् मोंडि लिळु तोडर् पाटि नौगि ॥  
पत्तरं पन्न रंडाम् तवत्तोडु पइं ड्रु तन् कन् ।  
इत्तम काक्षि ज्ञान ओळ्कत्तै येळुत्तल् कंडाय् ॥४११॥

अर्थ—सिंहचन्द्र ने पुनः पूछा कि हे महाराज वास्तविक तपश्चरणा का क्या लक्षण है ? मुनि महाराज ने बतलाया कि भव्य जीव को अर्हत भगवान के रूप को धारण करने के लिए रुचि व श्रद्धान पूर्वक अंतरंग परिग्रह का त्याग करना परमावश्यक है । आत्मा से संबंधित सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य को अंतरंग में पूर्णतया मनन करना चाहिये इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है । रत्नत्रय के दो भेद हैं । एक व्यवहार, दूसरा निश्चय रत्नत्रय । भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए वचनों पर श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है और उस पर पूर्ण ज्ञान द्वारा लक्ष्य देना—सम्यक्ज्ञान व उसके अनुसार आचरण करना सम्यक्चारित्र्य है । यह तो व्यवहार धर्म है । और अपने अंदर भेद विज्ञान के द्वारा स्वपर को जानकर पर से भिन्न अपने आत्मा में लीन होना यह निश्चय चारित्र्य है । हे गुरुदेव ! सच्चे गुरु का लक्षण



क्या है ? मुनि महाराज उपदेश करते हैं कि:—

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः ।

ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

धर्म—जो रसना इन्द्रिय के लंपट हो, अनेक प्रकार के रसों के स्वादी हो, आशा व कर्णन्द्रिय के बन्धीभूत हो, अपने यज्ञ व प्रशंसा सुनने की अभिलाषा रखने वाले, अभिमानी, चक्षु इन्द्रिय के बन्धीभूत, आभरण वस्त्रादि देखने के इच्छुक, कोमल शय्या सुगन्ध वस्तु, विषयों में लंगटता आदि वासनाएं जिनमें हैं ऐसे साधु बीतराग मार्ग में नहीं हैं। ऐसा समझना चाहिये। ऐसे साधु सराग धर्म में लीन होकर संसार समुद्र में डूबने वाले हैं। जो विषय व आशा के आधीन न हो वह साधु नमस्कार के योग्य है। जिनका विषय में अनुशासक है वह आत्मा रहित बहिरात्मा है। फिर गुरु कैसा होना चाहिये:—जो बस, स्थावर जीव के घातक न हो, पाप न करते हों वे गुरु कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त २४ प्रकार के अन्तरंग व बहिरंग परिग्रहों से विरक्त हो। स्वजन धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, घर, दास, दासी, माणक, रत्न, सोना, रुपया, शय्या, वस्त्र रूप जाति, कुल, अपयश, यज्ञ मान्यता, अमान्यता, ऊंचपना, नीचपना, निर्धनपना, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ब्रूह आदि वर्ग इत्यादि प्रकार के सभी बाह्य परिग्रह हैं। मिथ्यात्व, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति शोक भय जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, यह १४ प्रकार के अन्तरंग परिग्रह हैं। मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीवों के तत्त्वार्थ का अज्ञान न होना। अतत्त्व को तत्त्व समझना, कुगुरु में गुरुबुद्धि करना, कुभागम को भागम मानना, कुधर्म को धर्म समझना, देह के रूप जाति कुल को ही आत्मा जानना आदि सब मिथ्यात्व है। जिस कर्म के उदय से निश्चलपना, उदारपना होकर स्त्रियों के साथ रमने की इच्छा रूप परिणाम करना पुरुषवेद है। भार्दव का अभाव, भायाचारादिक की अधिकता, काम का प्रवेश, नेत्र विभ्रमादि करके सुख के लिए पुरुष से रमने की इच्छा करना स्त्रीवेद कहाता है। काम की अधिकता, भंडशीलता, स्त्रीपुरुष दोनों के साथ रमने की इच्छा, जिसकी कामाग्नि ईंटों के भट्टे के समान प्रज्वलित रहती है वह नपुंसक वेद है। हंसी का परिणाम रखना हास्य परिग्रह है। देहादिकों में उत्सुकता तथा अपने अन्दर राग उत्पन्न करने वाले पदार्थों को जो अनिष्ट लगे उसमें अपने परिणाम करना अरति परिग्रह है। इष्ट का वियोग होते समय बन्धे परिणाम होने का नाम शोक परिग्रह है। अपना मरण होने से विरह का भय रखना भय परिग्रह है। घृणित वस्तु को देखकर उसका स्पर्श करना, देखना, स्तानि करना, दूसरे के कुल शीलादिकों में दोष प्रकट करना, तिरस्कार करना अथवा पर के असहाय रोगों को देखना, जुगुप्सा परिग्रह है। अपने व दूसरों के घात कर डालने के परिणाम तथा पर के उपकार करने का अभाव परिणामों में क्रूरता रखना क्रोध है। रूप, लावण्य, उच्च जाति कुल ऐश्वर्य, विद्या, रूप आदि का मान करना, दूसरे पर कठोर दृष्टि रखना मान परिग्रह है। मन में कपट भाव होकर बक्र परिणाम होना, दूसरों को ठगने के परिणाम से परिणामों में कुटिलता होना माया परिग्रह है। पर द्रव्य में चाह रूप होना, अपने उपकार के लिये सांसारिक वस्तुएं प्राप्त करने की अभिलाषा रखना लाम परिग्रह है। यह मूल आत्मा का घात करने वाले १४ प्रकार के अन्तरंग परिग्रह हैं। इस प्रकार अन्तरंग व बहिरंग परिग्रहों का जिनके त्याग हो उन्हीं को सच्चा गुरु समझना चाहिये ॥४११॥

तानेन पञ्च वेद्वि विनेविद्वि तन्मै तंग ।  
 तूनमे लनंत नान् मे इरुमयु मुरम याकी ॥  
 यानेन वेस्र नीगुं विनयेंद्रि याकै सुदं ।  
 यानेन वेस्र नीगा वेस्रिने तोडर मेड्रान् ॥४१२॥

अर्थ—देह मैं, मैं ही देह हूँ इस प्रकार कहने से मिथ्यात्व कर्म का बंध होता है । मैं ऐसे भाव को उत्पन्न करने वाले अहंकार भाव से संसार-बंधन नहीं छूटता है । इस कारण सारी वस्तुओं को पर समझ कर मेरी आत्मा एक ही है, अनन्त चतुष्टय रूप है, ज्ञान दर्शन चारित्र्यमयी है, ऐसा निश्चय करके एकांत में अपने अन्दर भावना करने से कर्मों की निर्जरा होकर वह आत्मा परमात्मा हो जाती है । ऐसा उन पूर्णचन्द्र मुनि ने राजा सिंहचन्द्र को धर्म का स्वरूप बतलाया ॥४१२॥

एंङ्गु मेनंबु यानु मिवैय्यन मयंगि कीळ्ना ।  
 निद्रि यान् गविगनांगिर् सुळङ्गन नेरियरिद ॥  
 विड् नानिवद्रि नीगा वौळ् वने लेन्ग लींगा ।  
 तौङ्गि नालोङ्ग निल्लादोळि कवित्तोड्दि येंड्रान् ॥४१३॥

अर्थ—इस प्रकार मुनिराज का धर्मोपदेश सुनकर वह राजा प्रार्थना करता है कि हे प्रभु ! यह सब मित्र, इष्ट बन्धु, स्त्री, पुत्र, बांधव, कुटुम्ब, परिवार सब मेरा ही है—ऐसी बुद्धि करके मैंने मेरे सच्चे आत्म-स्वरूप की पहचान नहीं की । और उसको भूलकर पहचान न होने के कारण संसार रूपी समुद्र में मग्न होकर अनेक प्रकार के दुःख भोगे । अब आपके धर्मोपदेश के प्रभाव से संसार बंधन को नष्ट करने के लिए संयम भार को ग्रहण करने की इच्छा हुई है ।

भावार्थ—अंधकार ने इस श्लोक में छोटे राजकुमार पूर्णचन्द्र की वैराग्य की भावना दर्शाई है । मुनिराज के आहार होने के पश्चात् राजकुमार पूर्णचन्द्र ने भी प्रश्न किया कि संसार का अन्त होता है या नहीं ? तो मुनिराज ने कहा हे भव्य प्राणी सुनो—

संसारी जीव दो प्रकार के हैं । एक भव्य दूसरा अभव्य । भव्य जीव तपश्चरणा के द्वारा कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है और अभव्य जीव तपस्या करने पर भी संसार से मोक्ष नहीं पा सकता है । जिस प्रकार ठोरडू मूंग को कितना ही सिझोया जावे तो भी वह कठोर ही रहता है, उसी प्रकार अभव्य मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता । ममकार होने से कर्म बंध होता है । संसार में सब पदार्थ नश्वर हैं । आत्मा से विनश्वर पदार्थों का संबंध नहीं है । आत्मा में शुद्ध भावना रखने तथा ध्यान करने से क्रम से वह प्राणी कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।

तत्त्व भावना में अमितगति आचार्य ने कहा है कि—

‘ चित्रव्याघातवृक्षे विषयसुख-तृणास्वादनासक्तचित्ताः ।  
 निस्त्रिंशैरारमन्तो जनहरिणगणाः सर्वतः संचरद्भिः ॥

खाद्यं ते यत्र सद्यो भव मरणं जराश्रापदैर्भीमरूपैः ।  
तत्रावस्थां कुर्मो भवगहनवने दुःख-दावाग्नि-तप्ते ॥

अर्थ—जैसे ऐसा कोई सघन जंगल हो जहां बड़े टेढ़े २ वृक्षों के समूह हों व दावाग्नि लगी हुई हो और चारों तरफ सिंह व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी घूमते हों और जहां तिनके को चरने वाले हरिण निरन्तर हिंसक प्राणियों के द्वारा खाये जाते हों ऐसे वन में कोई रहना चाहे तो कैसे रह सकता है ? जो रहे वही आपत्ति में फंसे । इसी तरह यह संसार भयानक है । जहां करोड़ों आपत्तियां भरी हुई हैं तथा जहां निरन्तर दुखों की आग जला करती है । व जहां प्राणी नित्य जन्मते हैं बूढ़े होते हैं तथा मर जाते हैं, बेखबर रहते हैं, बस शीघ्र ही काल के गाल में दबाए जाते हैं, ऐसे संसार वन में सुख शांति कैसे मिल सकती है ? बुद्धिमान प्राणी को तो इससे निकलना ही ठीक है ॥४१३॥

नेरुप्पिडे किडंद सेंबिर् पट्ट नोर तुळ्ळि पोलुं ।  
विरुप्पिडे किडंद उळ्ळत्तेळुंद वे कत्ति निन्ब ॥  
तिरुत्तिये सेय्यु मेंडु पुलत्तिने तेरिय निट्टल् ।  
नेरुप्पे ने तेळित विप्पा नेळुंदव निनेप्प नौंडे ॥४१४॥

अर्थ—राजा सिंहचन्द्र मुनि महाराज का उपदेश सुनकर प्रार्थना करने लगा कि हे प्रभु ! मैं संसार भंवर में रहता २ असह्य दुखों को प्राप्त हुआ हूं । जिस प्रकार तपे हुए तवे पर पानी डालने से वह पानी शीघ्र ही जल जाता है, उसी प्रकार पूर्व जन्म में किया हुआ कर्म रूपी समूह को इस भव में शांत करने के बजाय उलटा पंचेन्द्रिय विषयों को बढ़ाने का उपाय किया है । जैसे अग्नि को शांत करने के लिए घी की आहुति उसमें डाल दी जावे तो वह कभी भी शांत नहीं हो सकती बल्कि अधिक भभकती है, इसी प्रकार मैंने उसके ठीक उपाय न समझकर पंचेन्द्रिय विषय के द्वारा उसको बुझाने का प्रयत्न किया परन्तु वह बढ़ता ही गया । दुख अधिकाधिक होता गया ॥४१४॥

भूमियेदरत्तु बंदु पोहंदिय पुलत्ति नास्सेमे ।  
यो विलंदुयित्तुं वेरारे सुवै इन्मे युनरदु मीट्टुम् ॥  
मेयुदरु केळुदल् मेंडु विट्टुदे मेंडु लंडिल् ।  
कूवल मंडुगं पोलुं गुणत्तमे निनेक्कि नेडान् ॥४१५॥

अर्थ—इस लोक और परलोक में अनेक बार जन्म लेकर अनेक प्रकार के इन्द्रिय सुखों का अनुभव करने पर भी नवीन सुख का अनुभव नहीं हुआ । दुख ही दुख का अनुभव हुआ । इस कारण मेरे सच्चे असली आत्म-सुख को प्राप्त करने की इच्छा हुई है । इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति गन्ना खाकर उसके छिलके फेंकने के बाद दूसरा मनुष्य उसको खाकर स्वाद की इच्छा करता है, उसी प्रकार मैं भी अनादि काल से जिस प्रकार अनेक राजा महाराजा इस पृथ्वी के सार को लेकर अन्त में निःसार समझकर फेंके

हुए मन्त्र के छिलके के समान सार रहित संपत्ति को सारभूत समझकर आत्म कल्याण नहीं कर पाते । उसी प्रकार मेरा आत्मा भी बिगड़ गया है । इस कारण मुझको तिलमात्र भी सुख का लेश नहीं आया ।

दूसरी बात यह है कि एक छोटे कुए में रहने वाले मैदक अर्थात् कूप मंडूक के समान अल्प विषय सुख का ग्रहंकार करके संसार में मैंने भ्रमण किया । और इस परवस्तु के मायाचार से नरक गति तिर्यंच गति मनुष्य गति आदिर निच पर्यायों में भ्रमण किया ॥४१५॥

पेरर् कर्हं पिरवि काक्षि पेरंतवन् तिरुंदु माट्टुसु ।  
सिरप्पुडै कुल नल् याकं सेरिवित्त सेळुं तवत्तौ ॥  
मरप्प नेल् माट्टैयाकु मिवैयुं वंदनुगा वेंडु ।  
तिरत्तुळि तेरिदु तिग नामर्कुं तेरिय चोछान् ॥४१६॥

अर्थ—सिंहचन्द्र कहता है कि हे भगवन् ! सभी पर्यायों में श्रेष्ठ मनुष्य पर्याय प्राप्तकर संयमी होकर मन, वचन, काय के द्वारा सच्चिपूर्ण तप करने से सम्यक्दशन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है । तप से ही उच्च कुल, आर्य भूमि, सर्व लक्षण से युक्त सुन्दर शरीर, संसार के सभी वैभव प्राप्त होते हैं । परन्तु मैंने शरीर से पंचेन्द्रिय विषय रूप संसार का नाश करने के लिए तप नहीं किया, और तप न करने से पंचेन्द्रिय विषयों की लालसा करके संसार में भ्रमण किया । इस प्रकार उस सिंहचन्द्र ने विचार करके अपने लघु भ्राता पूर्णचन्द्र को बुलाया और उसे निश्चय तथा व्यवहार धर्म का सच्चा स्वरूप समझाया ।

॥४१६॥

मुन्नं सै तवत्तिन् वंदु मुडिद नर्वयत्तौ कंडार् ।  
पिन्नु मत्तवत्तौ शैदु पेरुं पयनुगरं दि डावे ॥  
मिन्नंजु नुगं विनार्वं वेट्टकं इन् वेळुंदु पोगुं ।  
वन्नैजर किल्लं कंडाय् माट्टिट्टु सुगमु मेंडान् ॥४१७॥

अर्थ—हे भाई पूर्णचन्द्र ! पूर्व जन्म में उपाजैन किए हुए शुभ फल से मिली हुई संपत्ति पंचेन्द्रिय के विषय सुख के संबंध में विचार करके देखा जाय तो यह सब पूर्व जन्म में किये गये तपश्चरण द्वारा ही हमको मिले हैं । हम मनुष्य पर्याय से संयम धारण करके तपश्चरण करें तो इसमें भी महान् मोक्ष फल की प्राप्ति हो सकती है । यदि मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके भी तपस्या आदि न करें तो पंचेन्द्रिय विषय भोगों से अगले भव में अत्यन्त महान् मोक्ष सुख को प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥४१७॥

अरुंतव दानं शील मरिवनर् सिरप्पि वट्टार् ।  
ट्टिरुंदिय मनसि नारै तिरुवेंडु पिरिवल् सेल्लाक् ॥  
पोरुंदिये निकं भूमि पुगलौंडु कीर्ति योगि ।  
परुवेंडु मवर्ग नीगा पगै वरुं पनिवर् कंडाय् ॥४१८॥

अर्थ—इसलिए चार प्रकार के दान देना, बारह प्रकार के अन्तरंग बहिरंग तप करना, भगवान की पूजा अभिवेक करना यह शुभ परिणाम को देने वाले हैं। और पुण्य से ही चक्रवर्तीपद प्राप्त होता है। यह पुण्य क्षणिक है और संसार के लिये कारण है। जब तक यह पुण्य रूपी लक्ष्मी है, तब तक प्राणी आनन्द मनाता है। पुण्य की समाप्ति पर जितना वैभव सुख शांति मिली हुई है, उनका नाश हो जाता है। जब तक पुण्य है, तब तक मित्र बांधव सब अपने हैं। पुण्य के समाप्त होते ही मित्र भी शत्रु बन जाते हैं। यह सब पुण्य का प्रभाव है ॥४१८॥

वेळ्कैयुं वेगुळि तानुं वेचलु मन् सोसार् मेर् ।

ट्राक्षियु मुबल मभ्रत्तिरुविने तवदशायुं ॥

सूक्षियुं पेरुमै तानु मुय्यच्चियु ममच्चुमादि ।

माक्षियं सैदु मभ्रर् सेत्वत्तौ वळ्कं मेडान् ॥४१९॥

अर्थ—अधिक आशा करना, अति लोभ करना, कठोर शब्द बोलना, अति क्रोध करना, अपनी स्त्री पर अधिक स्नेह करना आदि करने से राजा की संपत्ति नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार सत्यंघर राजा ने अपनी स्त्री विजया रानी से अधिक मोह करने से अपने राज्य को नष्ट कर दिया। क्षत्र चूडामणि में लिखा है :—

पुनरेच्छदयं दातुं, काष्ठाङ्गाराय काश्यपीम् ।

अविचारितरम्यं हि, रागांधानां विचेष्टितम् ॥१३॥

विषयों में मोहित बन कर्तव्याकर्तव्य का विचार किये बिना ही स्वकृत कार्य को अच्छा मानते हैं। अतएव सत्यंघर ने विषयासक्त हो पूर्वापर विशेष विचार किये बिना ही काष्ठाङ्गार को राज्य देने का दृढ निश्चय किया। और भी कहा है—

परस्पराविरोधेन, त्रिवर्गो यदि सेव्यते ।

अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१९॥

जो मनुष्य धर्म, अर्थ, और काम पुरुषार्थ को यथा समय एक दूसरे के विरोध रहित सेवन करता है, वह निर्बाध सुख को पाता है और परम्परा से मोक्ष भी पा लेता है ॥४१९॥

इनेयन् पलघुं सोमि येळिन् मुडि तंविक्कीडु ।

कनै कळ लरुसर् सूड कावसन् पोगि येळ ॥

मुनिघरन् शरणा मूळ्गि मुडि मुबत् द्रुंरुं निडान् ।

शिनै मिसै येनिये नीत्त सेरिद कर्प गसौ योत्तान् ॥४२०॥

अर्थ—इस प्रकार राजा सिंहसेन अपने भ्राता पूर्णचन्द्र को राजतंत्र के विषयों की जानकारी कराके राज्य सभूला कर महाभिवेक करके राज्यपद दिया और वहां से निकलकर पूर्व में पूर्णचन्द्र मुनिराज द्वारा दिये हुए उपदेश के अनुसार जिन दीक्षा ग्रहण की ॥४२०॥

पनयिसे मनित्तोल् नञ्जु परिद दोर् फणियंपोल ।  
मण्णिमुडि याडे कुंजि मनत्तिडे मासु नीकि ॥  
गुण मणि इलक्क सेन्वत्तीरि रंड शिदु कोमान् ।  
पनिबि नाल् शील माले पदिनेन्नारिरं दरित्तान् ॥४२१॥

अर्थ—जिस प्रकार सर्प अपने मुख के रत्न को और अपने दांतों में रहने वाले विष को छोड़ता है, उसी प्रकार राजा सिंहचन्द्र ने अपने राज्य चिन्ह वस्त्राभूषण आदि का मन पूर्वक त्याग करके पंचमुष्टि केशलोच किया और अंतरंग बहिरंग परिग्रहों का त्याग किया। अठारह हजार शीलदोषों मन वचन काय पूर्वक त्याग कर चौरासी हजार उत्तरगुणों की वृद्धि करते हुए वह सिंहचन्द्र मुनि तपश्चरण करने लगे ॥४२१॥

दयावेनुं तय्यलाळं सालवुं सेरिदु तन्क ।  
नुशाविनु मुहुदि त्तोळ नुडन् पुणरं दुक्क मेन्नु ॥  
मयाल् सेय्यु मडुंदे तन्ने मनत्तग दगट्टि मान्बि ।  
नया उडर् तिरुक्क वेत्त नरुंतव कोडिये यन्नल् ॥४२२॥

अर्थ—जीव दया रूपी स्त्री के साथ मिलकर, मन शोधन रूपी स्नेह से युक्त निद्रा रूपी रस्सी को त्याग कर वह सिंहचन्द्र मुनि तपरूपी स्त्री के साथ मग्न होकर तपश्चरण करने लगे। क्योंकि संसार में सभी व्यर्थ हैं। कहा भी है:—

“दारा पुत्रा नराणां परिजननिकरो बंधु वगंप्रियाश्च ।  
माता भ्राता श्वसुर कुल बलं भोग-भृत्यादिशस्त्रं ॥  
विद्यारूपं विमल-वपुराधावन मान तेजः ।  
सर्वं व्यर्थं मरणसमये धर्म एको सहायः ॥

स्त्री, पुत्र, पुरुष, परिजन, माता, भ्राता, श्वसुर, कुल, बल, भोग, भाई, बंधु, शस्त्र, विद्या, रूप, सुन्दर शरीर, कीर्ति, मान, तेज यह सब मरण समय में व्यर्थ हैं। धर्म ही एक सहाई है। इस प्रकार विचार करके इनको व्यर्थ समझ कर वह सिंहचन्द्र मुनिराज सच्चे आत्म सुख में मग्न हो जाते हैं। कहा है:—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी ।  
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनः-संयमः ॥  
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजन-  
मेते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद्भयं योगिनः ॥

अर्थ—जबका धैर्य पिता है, क्षमा माता है, शान्ति रूपी चिर स्थायी स्त्री है, सत्य

रूपी पुत्र है, दया जिनकी भगिनी है, मन का संयम भाई है, भूमि तले जिनकी शय्या है, दिशा रूपी वस्त्र है, ज्ञान रूपी भोजन से सदैव तृप्त हैं, ऐसा जिनके पास शाश्वत कुटुम्ब है; उस योगी के पास भय किस प्रकार रह सकता है। इस प्रकार वे सिंहचन्द्र मुनि अपने आत्मस्वरूप में मग्न थे ॥४२२॥

धिनंगळ कुदिचि वेळकं नीकि मं वसस् वरल् ।  
 पुणं वरुं पोरि शेरी पुयिर् कळिबु पोट्टु दुल् ॥  
 निनै वन् दोरुक्कमु नेरिविळवकमु सेयु ।  
 मनसन तवत्तिनो वरुं ववन् पोहं दिनान् ॥४२३॥

अर्थ—कर्म निर्जरा के कारण होने के निमित्त से सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके, अपने शरीर को आत्मध्यान का साधन हो इस प्रकार शरीर को आत्म साधन में तपाते हुए, प्राणि संयम और इन्द्रिय संयम को आधीन करने वाले मोक्ष मार्ग के लिये कारण होने वाले बाह्य व अभ्यंतर और अनशनादि तप को उत्तरोत्तर तपने लगे ॥४२३॥

पुगा मिगिर् पोरि मुगु मनसनं पोहं डिदिन् ।  
 नेगा उडंबुडाइन् पडादु नाळ्ग नीदि मादवन् ॥  
 पुगाविनं सुरुक्क मैयुडंपंडु पोरिगळुं ।  
 मिगाविन विरुं वि याध मोदुरिय मेदिनान् ॥४२४॥

अर्थ—प्रतिदिन स्वादिष्ट आहार करने से इन्द्रिय मद की वृद्धि होती है, और विषय कषायों की वृद्धि होना कर्मास्त्रव का कारण है। ऐसा समझकर उत्तरोत्तर उपवास करते हुए शरीर संयम व इन्द्रिय संयम की वृद्धि करने लगे। ऐसा करने से मन आत्मध्यान में स्थिर होता है। इस प्रकार सिंहचन्द्र मुनि आगम के अनुसार एक २ ग्रास आहार में कम करने लगे और अवमोदयं तप करना प्रारंभ कर दिया ॥४२४॥

इरुत्तल् पोदल् निद्रल् मझिडे किडत्तलिळ्ळइर् ।  
 वरुत्त मेदिडा मं योवुं कायगुत्ति मादवन् ॥  
 तिरप्पिरं शेल् देशकाल भाव मेल्लै संदुनुं ।  
 वृत्ति संक्ष मम् मेनुं विळुत्तवं पोहं दिनान् ॥४२५॥

अर्थ—उठते, बैठते, खड़े होते तथा सोते समय पृथ्वी पर चलने वाले सूक्ष्म जीव जंतुओं को बाधा न पहुँचे। इस प्रकार जीवों की रक्षा करने के लिये कायगुप्ति सहित वे मुनि प्रवृत्ति करते थे। आहार के समय वह सिंहचन्द्र मुनि व्रतपरिसंख्यान तथा ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक धीरे २ गमन करते थे। इस प्रकार वह मुनि बाह्य तप का पालन करते थे।

भावार्थ—मुनि सिंहचन्द्र ने इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम दोनों को मनःपूर्वक अपने आधीन कर लिया था। जीवों की रक्षा के निमित्त काय गुप्ति द्वारा वे मुनि बाह्य और अभ्यन्-

तर दोनों प्रकार के तपों को पालते थे । अनशन भवभोदय, व्रत परिसंख्या, रस परित्याग, विविक्त जटयासन और काय क्लेश इस प्रकार छह बाह्य तप और प्रायश्चित्त, विनय, वैद्यावृत्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह अर्भ्यंतर तप, इस प्रकार बारह तपों को परिपूर्णा पालन करते हुए आत्म-साधना में लीन रहते थे ।

बाह्य और अर्भ्यंतर ये तप दो प्रकार के हैं । दोनों ही तप चरित्र में अंतर्भूत हो जाते हैं । अनशनादि बाह्य तप का संबंध भोजन प्रभृति बहिर्भूत पदार्थों के त्याग से है । इसी प्रकार अंतरंग तप भी चरित्र में अंतर्भूत है । प्रायश्चित्तादिक अंतरंग तप के द्वारा संवर और निर्जरा दोनों हो कार्य होते हैं ॥४२५॥

नवैककेला मिडमिबेड्डु, नावदन् पुलत्तिनिर् ।  
सुबं कन्मेवल बिट्टर तुरंदु निड् बट्टिनुं ॥  
बुवत्तल् काय्द लिडि योत्तु निड् सिस्त मैत्तवन् ।  
सुबं परित्याग मागु मादव तोडुडि नान् ॥४२६॥

अर्थ—सभी पंचेन्द्रिय विषयों में रागद्वेष रहित होकर समता भाव से युक्त वे सिंह-चन्द्र मुनि दुःख को उत्पन्न करने वाले, रसनाइन्द्रिय को सुख पहुँचाने वाले रसों का त्याग करके रस परित्याग तप को तपते थे ।

मावार्थ—इस प्रकार वे मुनिराज इन्द्रियों के दमन दर्प की हानि, संयम के उपरोध निमित्त घृत तैलादि छह रस अथवा खारा, मोठा, कडुआ, तीखा, कषायला इन छहों रसों का क्रम से त्याग करते हुए रस परित्याग तप का पालन करने लगे ॥४२६॥

कबंद भोरि कूगं पेड् निवंद काडु पाळग ।  
मुवदि यानं वाळरि युळुबं निड् ळन् वनं ॥  
कुविदरवु वेंबुलि कुमिरुमाल् वरंमुळं ।  
युवंदि राज शीय मुंड्, पोलवे रुवंदनन् ॥४२७॥

अर्थ—भूत प्रेतों के रहने के स्थान, प्राणियों की पीडा रहित स्थान, शून्यागार, गिरिगुफा आदि स्थानों में तथा सिंह, व्याघ्र ऐसे क्रूर हिंसक प्राणियों के रहने के स्थानों में, पर्वत की चोटी पर ऐसे स्थानों में रहकर वे मुनि तपस्या व ध्यान करते थे । इस तप को विविक्तःशय्यासन नाम का दुर्घर तप कहते हैं ॥४२७॥

वेनल् वेंबु कान् मलं वेयिन् निलइन् मेवियुम् ।  
वान मारि सोरु नान् मरं मुदमं मरुवियुं ॥  
ऊनरक्कुं वन् परिण कडर् पुरत्तु वेळ्ळिडं ।  
काने यानं पोल मुंड्, काल योगु तागिनान् ॥४२८॥



अरियवा युलगलां विलेइला वरुं कलत् ।  
 तिरंय मेय्यनिदवर् शंगे सोन् मनंगळायिन् ॥  
 मरियमा शिनं केडुक्कु महिवार मागिय ।  
 पेरिय यर् मनकोळ पेरुतंबं पोर्दिनान् ॥४२६॥

अर्थ—सिंहचन्द्र मुनि गर्मी के दिनों में पर्वत की चोटी पर, वर्षा काल में वन में वृक्ष के नीचे, सर्दी में नदी के किनारे पर बैठकर तपस्या करते थे। इस प्रकार आगम के अनुसार वह तप करते थे। अलम्य तप, रत्नत्रय साधन करने वाले ऐसे वे सिंहचन्द्र मुनि अपने शरीर से सम्पूर्ण मोह त्याग कर अनादि काल से कर्मरूपी शत्रु के दल का नाश करने के लिये मन, वचन, काय से वे कठिन तपश्चरण करते हुए बाह्य और अर्भ्यंतर तपों में सदा सर्वथा लीन रहते थे ॥४२८॥४२६॥

पेरर् करिय काक्षि मंयुनच्चि नल्लोळुक्किन्में ।  
 लिरप्पंदायै मंमोळि मनत्तळं तिरंजुदल् ॥  
 शिरप्पुडे यरत्तवर् केदिरेळुच्चि यादित् ।  
 तिरत्त नाल् विनयंमु शिरंदु मादवम् शेदान् ॥४३०॥

अर्थ—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित तपस्या करने वाले वे सिंहचन्द्र मुनि दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय इस प्रकार पांच प्रकार के विनय से युक्त तपस्या करते थे। सम्यक्दर्शन में शंकादि अतीचार रहित परिणाम करना दर्शन विनय है। ज्ञान में संशयादि रहित परिणाम करना तथा अष्टांगरूप अभ्यास करना ज्ञान विनय हैं। हिंसादि परिणाम रहित निरतिचार चारित्र पालने रूप परिणाम करना चारित्र विनय है। तप के भेदों को निर्दोष पालन रूप परिणाम करना तप विनय है। रत्नत्रय के धारक मुनियों के अनुकूल तथा तीर्थादिक का वंदन रूप परिणाम करना उपचार विनय है ॥४३०॥

पेरुत्त नोंबु वन् पिनिणळ् पीडे मूविभोग माम् ।  
 तिरुत्तयेवि नगिळ् ध्यान नखव तोंडुडिन्नार् ॥  
 विरुत्तर् वालर् मेळ्ळिया ररत्तौ मेर्विनिड्वर् ।  
 वरुत्त नीकि योंबु वय्या वच्चमु मरुविनान् ॥४३१॥

अर्थ—सिंहचन्द्र मुनि बाल, वृद्ध, तथा रोग से पीडित मुनियों की मनःपूर्वक वैयावृत्य करने में परिपक्व थे। इस प्रकार वैयावृत्य के साथ २ दुर्द्धर कायोत्सर्ग तप भी करते थे। उस तपस्या के समय आने वाले बाईस प्रकार के परिषह सहन करते हुए कर्मरूपी शत्रु का सामना कर आत्मानुभव का स्वाद लेते थे। वे २२ परिषह इस प्रकार हैं—क्षुषा, तृषा, उष्ण, दंशमशक, शीत, नग्नत्व, अरति, स्त्री परीषह-परिषह, चर्या, निषद्या, शयन, आक्रोश, बंध

वाचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान तथा अदर्शन परिषह ।

॥४३१॥

याकं कनिच्चं निको मेळुत्तिन् मेर् पळत्त सोल्लं ।

याकु निड्, मिळु मच्चोल् वशत्तदां सेविपुमुळ्ळम् ॥

नोक्कु मप्पोरळिन् मं मं नुगंवेळु देळिच्चि वट्टं ।

याकु नल्लोळुकिर् शाल वरुदं वन् विरुवि शेंडान् ॥४३२॥

अर्थ—वाचना, पृच्छना, धर्मोपदेश देना, अनुप्रेक्षा तथा आमनाय इस प्रकार पांच प्रकार से स्वाध्याय करने में वे मुनि तत्पर थे । इन पांच प्रकार के स्वाध्याय करने से मन, बचन और काय स्वाधीन होते हैं । इनमें स्वाधीन होने से पंचेन्द्रिय संबंधी विषय आधीन होने से यह मन रामद्वेषादि की ओर नहीं जाता । इसको स्वाध्याय तप कहा है । इस प्रकार वे मुनि पांच प्रकार के तप करने में मग्न थे ॥४३२॥

अतं रौत्तिरत्त शिवे यरवेरिडु इरं मादिर् ।

पेत्तं मुत्ति कन् वेक्कुं धरम शुक्किल ध्यान ॥

मोत्तुडनुळ्ळं वंत्ता नुदिरंदन विनैगळ् पिन्ने ।

पात्तिव कुमरन् सिबै परममा मुनिवनानान् ॥४३३॥

अर्थ—अर्तध्यान व रौद्रध्यान के नाश करने वाले धर्मध्यान को एकाग्रचित्त से चिंतन करते समय उनके कर्मरूपी बंध शिथिल होने लगे । ऐसे वे मुनि कर्मों की शिथिलता हेतु धर्मध्यान में निमग्न हो गये ॥४३३॥

वंसित्त मगट्टि ज्ञान काधी नल्लोळुक्क पेनि ।

मिच्चत्तां वेदनादि यगत्तिन् मेल् विरुपे माट्टि ॥

वंयत्तु तन् काय देश मुदर पुरतन्बु माट्टि ।

विच्चित्ति इडि सेंडान् वित्सर्ग तवत्ति नोड ॥४३४॥

अर्थ—मिध्यात्व को नाश कर सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य को धारण कर स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ऐसे तीन वेद तथा छह कषाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय आदि को वैराग्य भावों से नाश कर आत्मध्यान में मन को लीन करते हुए अंतरंग, बहिरंग परिग्रह का नाश करके सर्वबंध परित्याग के साथ शरीर के ममत्व का त्याग करके उपशम भावना में लीन हो गये ॥४३४॥

अडक्कनीरारुं शिवे यारिरंडोडु मुंडि ।

तुडिप्पर परिशं वेळुं तोंडिय वोळुक्कं तल्लाल् ॥

तडुप्पिडि युलग मोडिर् द्रन्नेल्लं विरियुं पोळुदुं ।

वडु पडा विपुल मेन्नुं मनपर्यंतै पेट्टान् ॥४३५॥

अर्थ—तत्पश्चात् पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय यह पांच स्थावर व एक प्रसकाय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रिया और एक मन ये सब मिलकर बारह प्रकार के इन्द्रिय संयम और प्राणि संयमों का पालन करते हुए तथा इनके साथ २ बाईस परीषहों को सहन करते हुए विपुलमति नाम के मनःपर्यय नामक अविधिज्ञान को प्राप्त हुए ॥४३५॥

शोरणि यडकं शंदोर पट्टा काय शंभु ।  
 चारण तन्धे पेद्रु माडबन् शोरिकु नाळुट् ॥  
 पोरणि याने वेदन् पूरचंदिरन् द्रु चिदे ।  
 बारणि सुलेनादे वससेड् मयंगु निडे ॥४३६॥

अर्थ—तदनंतर वह सिंहचन्द्र मुनिराज बारह प्रकार के संयम से युक्त सम्पूर्ण परि-  
 ब्रह्म को त्यागकर आत्मध्यान में मग्न होकर असंख्यात कर्मों की निर्जरा करने वाले हो गये और आकाश मार्ग से जाते समय उस सिंहपुर नाम के नगर को देखा और उस नगर के राज करने वाले पूर्णचन्द्र राजा को अपनी पटरानी के साथ विषयभोगादि में मग्न होने का सारा हाल जान लिया ॥४३६॥

इसइन् मेल् सून माऊ मिलय वर् मुलई निब ।  
 पसेन्नु मासुनमे कन्नित् पुलंगळिर् परंदु बंदु ॥  
 विसईनाल नाळे विळविकन् बीळुं विट्टिलं पोंडु वेदन् ।  
 इसयुनाळि रायदत्तौ मुनिये वाविरंजि ॥४३७॥

अर्थ—जिस प्रकार अच्छे संगीत तथा वाद्यों में मृग आदि लवलीन होते हैं, उसी प्रकार राजा पूर्णचन्द्र संगीत वाद्यों में मदमस्त हो रहा था। जैसे पतंग मोह के कारण दीपक में पडकर अपने प्राण खो देता है, उसी प्रकार राजा पूर्णचन्द्र भोग विलास में मग्न होकर काल व्यतीत कर रहा था। समय पाकर वह रामदत्ता आर्यिका एक दिन उन चारण ऋद्धि-धारी मुनि सिंहचन्द्र के पास गई और भक्ति पूर्वक नमस्कार करके बैठ गई ॥४३७॥

पुडंय वर मेलिय पोंगु कडंयवर् सेत्वं पोल् ।  
 इडंयदु मेलिय वींगि येळुवेने तिरुंव कोड्गै ॥  
 कडंयव रिड हरत्तं कीळडि यडे ववे पोल् ।  
 इडंयडि यडय कंडु तुरं व वेम्मिरंब पोट्टि ॥४३८॥

अर्थ—तत्पश्चात् दोनों हाथ जोडकर, जिस प्रकार एक याचक तथा दरिद्री बिनय के साथ हाथ जोडकर एक धनी के पास चरणों में पडकर अपनी इच्छा प्रकट करता है उसी प्रकार वह आर्यिका सिंहचन्द्र मुनि के चरणों में नतमस्तक होकर प्रार्थना करने लगी कि हे भगवन् ! राजसंपदा, लक्ष्मी, स्त्री, बाहन, सैन्य आदि २ बाहरी विषय तथा पंचेंद्रिय विषय

बाह्य परिग्रह आदि को मन, वचन, काय से त्याग कर अत्यन्त घोर संयम भार को धारण कर दुर्द्धर तपश्चरण में लीन रहने वाले आप ही हैं। इस कारण मैं आपके चरणों में नमस्कार करती हूँ ॥४३८॥

कांबेन तिरंडु मंद रुळ्ळत्तौ कनट्टु मेट्टोळ् ।  
 पांबिन तुरियै पोल पसै यट्टु तिरै यक्कंडु ॥  
 तेंबलिल् मुळिइनादं तिरत्तुळि वेरुतु पौडु ।  
 कांबुडं यडवि सेरं द कावल पादस् पोट्टि ॥४३९॥

अर्थ—हे मुनि ! आप तरुण पुरुष को अथवा मन को चलायमान करने वाली स्त्री का रूप देखकर उनके गुण व दोषों को भली भांति त्याग कर जंगल में संयम पूर्वक तप करने वाले हो। इसलिए आपको बारम्बार नमस्कार हो ॥४३९॥

पेरिय वर पादं सेरं द पेदैयर् शिदैपोल ।  
 करिय मेन् कौबल् कालत्तार् करुप्पोळिय कंडुस् ॥  
 पुरवलर् सेल्वं पार्किर् पुर्पुवं पोलु मेड्डु ।  
 मरुविय वरसु नीच्च सादव पादं पोट्टि ॥४४०॥

अर्थ—पवित्र ज्ञान को पाकर अज्ञानी लोगों का पाप नाश होने के समान अपने मस्तक के केश श्वेत होने के पूर्व ही जैसे वर्षा में अधिक पानी पडने पर पानी का बुलबुला शीघ्र ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार यह बाह्य राजसंपत्ति क्षण में नष्ट होने वाली है, ऐसा जानकर, उसको त्याग कर संयम पूर्वक धर्मध्यान में लीन होने वाले स्वामी आपको नमस्कार हो ॥४४०॥

एतदं गुणनं इव्वारेतिय विराम वत्तै ।  
 पातरं पगर केट्टु पाण्डन निरुंदु विगनुं ॥  
 वार्ते मुंडिरैव केळुन् मादवत्तिडैय् रेनुं ।  
 पार्थिव कुमरन् पालवेन मुनि पगर्ग वैड्डान् ॥४४१॥  
 मंगल तोळिल्गळ् मुट्टि मणि मुडि कवित्तु बंडु ।  
 तिगळ् वेन् कुडे नीळर् शीय वासन त्तिरुंदान् ॥  
 पोंगु सामरं गळ् वीस पोन्मलै कुवडु तन्निर् ।  
 शिंग वेरिद तोत्तान् शीय मा शेनन् मंदन् ॥४४२॥

अर्थ—इस प्रकार रामदत्ता आर्यिका ने भावभक्ति से स्तुति करके नमस्कार करती हुई एक ओर बैठकर उन मुनिराज से प्रार्थना करने लगी कि हे भगवन् ! आपके मुखारविंद से धर्म के चार शब्द सुनाकर मुझे पवित्र कीजिये। इस प्रार्थना को सुनकर उन सिंहचन्द्र मुनिराज ने कुछ धर्मोपदेश दिया। आर्यिका माता एकाग्रचित्त से शांत होकर धर्ममृत का

पान करती हुई अत्यन्त तृप्त हुई। और पुनः नमस्कार करके कहने लगी कि हे प्रभो ! मैं कुमार पूर्णचन्द्र के विषय में कुछ पूछना चाहती हूँ। आप दया करके इसका उत्तर सुभे दीजिये। मेरे इस प्रश्न के पूछने में आपके धर्मध्यान में बाधा तथा अंतराय होने से जो कष्ट होगा उसकी मैं क्षमा चाहती हूँ। आप थोड़ा सा विषय का प्रतिपादन करें। इस पर मुनिराज ने कहा कि आप किस संबंध में क्या पूछना चाहती हैं कहिये! ॥४४१॥४४२॥

इळंशिंग वेट्टै सूळ्द इरुं पुलि पोदंग पोर् ।  
कळं कंडु मुळुंगुं याने कावल कुमरर्, सूळ्दार ॥  
उळ्कोड वमे चरादि सूळ् बंदूर् कोळ्बट्ट ।  
तिळन् तिग ळागि पूर चंदिर निरुं दिट्टाने ॥४४३॥

अर्थ—पुनः वह रामदत्ता आयिका कहने लगी कि हे गुरुवर ! पूर्णचन्द्र नाम का राजकुमार अपनी दैनिक धार्मिक क्रियाओं से निवृत्त होकर रत्न जडित मुकुट को मस्तक पर धारण करके राज्यसभा में राज्यगद्दी पर बैठ जाता है। उन पर लगा हुआ रत्नजडित धवल छत्र अत्यन्त शोभायमान होता है। वह पूर्णचन्द्र राजसिंहासन पर इस प्रकार बैठता है जैसे मेरु पर्वत की चोटी पर कोई पराक्रमी सिंह ही आकर विराजमान हो गया हो ॥४४३॥

कामत्तिरुविन् मंजरियुं कमल तिरुवुं कडलमिदुं ।  
पूमेतळुंद विल्लिकोडियुं पुनमेन्म यिलु मनं यार्गळ् ॥  
वाम कुरुव शिले कोलि मलर्, कन्, नंबु तेरिदुमनम् ।  
काम कोमान् विल्लिगळ् पोर् कडिदार मन्नन् पुडंसूळ्दारः ४४४॥

अर्थ—राजा पूर्णचन्द्र के चारों ओर अनेक देशों के राजा महाराजा आकर बैठे थे उस समय वह ऐसा प्रतीत होता था मानों एक बबरी शेर के चारों ओर कई सिंहों ने घेरा डाल रखा हो तथा जैसे चन्द्रमा को चारों तरफ से कई नक्षत्रों ने घेर रखा हो। इसी प्रकार उस सभा में मंत्रीमंडल, प्रजाजन सभी बैठे हुए थे ॥४४४॥

पानिबर्, तरु तिरं कौडु पंबोना ।  
लार्त्तिपिं मन्निनै येपिदं सेप्पेन ॥  
वार्, कडं कामुलैयार्, मगळ्चिर् ।  
पोर्, कडा याने यादु पुरिदु सेल्नाळ् ॥४४५॥

अर्थ—राज्यसभा ऐसी शोभायमान दिख रही थी, मानो सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र की सभा में इन्द्र, इन्द्राणियां, देव देवियां, अप्सरा, आदि २ ने सौधर्म कल्प के इन्द्र को चारों तरफ से घेर रखा हो। वह पूर्णचन्द्र रति, लक्ष्मी, धन, धान्य आदि २ से अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥४४५॥

कन्मिसै यवनं यान् कंडु कावल ।  
विन्मिशं इन्धुमुं वेदरुं सेल्वमुं ॥  
पुण्णाय मिलादवर्किल्लं पूमग ।  
ळण्णव दुम् सेयाळ्ळिंदि यच्चिनेन् ॥४४६॥

अर्थ—उस राज्यसभा में महाराजा पूर्णचन्द्र को अनेक देशों के आये हुए राजा लोग आकर अनेक प्रकार की भेंट अर्पण करते हैं और उस भेंट को वहां का भंडारी (खजाञ्ची) उठाकर अपने खजाने में रखती है ।

राज्यसभा समाप्त होने के पश्चात् राजा पूर्णचन्द्र रत्नवास में पधार जाते हैं और सदैव अपनी रानी के साथ हास्य विनोद आदि विषय भोगों में लीन रहते हैं । वे एक समय भी रिक्त नहीं रहते । हमेशा काम भोग के विषय में मग्न रहते हैं । विषय भोग में मग्न रहने वाले प्राणी को कुछ नहीं सुहाता है न उसमें कोई विवेक और गुण ही रहता है ।

विषयासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति ।  
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विषय भोग में आसक्त हो जाता है उसके प्रायः सभी गुणों की इतिश्री हो जाती है । अर्थात् ऐसे मनुष्यों में विद्वत्ता, मनुष्यता, कुलीनता और सभ्यता आदि एक भी गुण नहीं रहता । इसी प्रकार पूर्णचन्द्र विषयभोगों में आसक्त रहते थे ।

पराराधनजाद् दैन्यात् पैशुन्यात् परिवादतः ।  
पराभवाक्तिमन्येभ्यो न बिभेति हि कामुकः ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विषय भोगों में आसक्त हो जाता है, वह उसके कारण होने वाली दरिद्रता, चुगली, बदनामी और अपमान आदि वचन कहने वाले मनुष्यों की परवाह नहीं करता । इसी प्रकार पूर्णचन्द्र भी अपनी बुराइयों की परवाह नहीं करते थे और दिन-ब-दिन कामवासनाओं में विषयासक्त होते जा रहे थे । और भी कहा है—

पाकं त्यागं विवेकं च, वैभवं मानितामपि ।  
कामार्ताः खलु मुञ्चन्ति, किमन्यै स्वञ्च जीवितं ॥

भावार्थ—कामासक्त प्राणी भोजन, दान, विवेक, धन, दौलत और बडप्पन आदि का जरा भी विचार नहीं करते । और तो क्या ? भोग विलास के पीछे वे अपनी जान पर भी पानी फेर देते हैं । इस प्रकार वे पूर्णचन्द्र भी इन बातों पर कोई ध्यान नहीं दे रहे थे । उनका सारा समय विषय भोगों में व्यतीत होता था ।

वह रामदत्ता माता आर्यिका कहने लगी कि एक दिन मैंने उस पूर्णचन्द्र के राज-महल में जाकर उनसे धर्म की बातें कहने की भावना करके कहा कि हे राजकुमार ! देवलोक

के इन्द्रिय विषय सुख और इस लोक में दिखने वाले राजसंपत्ति, यह वैभव सुख, स्त्रियां व भोग सामग्री यह सभी पूर्व जन्म के पुण्य संचय बिना इस लोक में प्राप्त नहीं होती है। जिन प्राणियों ने पुण्य संचय किया है उन्हीं को प्राप्त होती है। जिन्होंने पुण्य का संचय नहीं किया है उनको राज्य संभोग आदि सुख नहीं मिलता है। जिस मनुष्य के हृदय में विषय वासना बैठी हुई है, उनको मोक्ष लक्ष्मी स्पर्श नहीं करती। ४४६॥

उरुधमु लघु नल्लोळियं कीतियुं ।  
सेरु विडे वेल्वळ तिरलुं सिदे सं ॥  
पोरुळवं वरुवलुं भोगमुम् नल्ल ।  
तिरु वुडे येरत्तदु सेगैयंडुनन् ॥४४७॥

अर्थ—हे मुनिराज ! दूसरी बात इस संबंध में मुझे यह कहना है कि सुन्दर शरीर, रूप, लावण्य, राज्यसंपदा तथा युद्ध में शत्रुओं को जीतने की सामर्थ्य पराक्रम आदि यह सभी प्राप्त करने के लिए एक जैनधर्म ही कारण है ॥४४७॥

निलत्तिडे येंकुरं वित्तौ नीट्टिलै ।  
मलै तलै मळेइला तारु ताम्बरा ॥  
कुलत्तिडे इंबमु मिन्नै पुन्नियम् ।  
तलत्तलैवर सेयाद वकट् केंडुनन् ॥४४८॥

अर्थ—भूमि में बीज बोए बिना अंकुर की प्राप्ति नहीं होती है। पर्वत के ऊपर यदि पानी की वर्षा न हो तो ऊपर से भरता हुआ पानी तालाब व कुओं में नहीं आता है। उसी प्रकार पुण्य के कारण होने वाले व्रत, नियम, अनुष्ठान, पूजा आदि किये बिना इस मानव को उस पंचेन्द्रिय सुख की प्राप्ति नहीं होती है। इस प्रकार मैंने पूर्वाचन्द्र राजकुमार को उपदेश द्वारा समझाया था ॥४४८॥

कारण मिल्लये विन्नं कार्य ।  
पोरणि वेत्तिनाय मुत्सं मुण्णियम् ॥  
कारण माग नीरुडुत्त कन्नियुं ।  
शीरणि सेल्ववुं शौरिव उन्नये ॥४४९॥

अर्थ—हे पूर्वाचन्द्र ! कारण बिना कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। वैसे ही पूर्व पुण्य के बिना सद्गुण, सद्बुद्धि भी नहीं मिलती है। यह सारा वैभव आपको पुण्य द्वारा प्राप्त हुआ है। अब मनुष्य जन्म का साधकपना यही है कि आप भोग में रत न रहकर शरीर से ग्रामे के लिए धर्म साधन में उपयोग कर लो यही मनुष्य जन्म का सार है। इस प्रकार उस रामदत्ता आश्रिका ने राजकुमार को धर्म-मार्ग पर चलने का उपदेश दिया ॥४४९॥

मण्डिणन् मेल् मट्टिव सेल्व मेल्वर ।  
 वेण्डिण नी पुण्डिय मीड संगन ॥  
 पुन्नियन् मेल् पट्टवेल् पोल् वच्चोलै ।  
 येन्निडा विगळ्दव नेळ्ळुदु पोइनान् ॥४५०॥

अर्थ—यह सभी राज्य वैभव आदि पुण्य के प्रताप से प्राप्त होते हैं । यदि तुम आगे चलकर इससे भी अधिक संपत्ति वैभव को प्राप्त करने की इच्छा रखते हो तो व्रत अनुष्ठान आदि धारण करो और उन ही के अनुसार तुमको नियम पूर्वक चलना चाहिये । और शक्ति के अनुसार व्रत, पूजा, उद्यापन करना चाहिये । इस प्रकार मैंने पूर्णचंद्र को समझाया और धर्म मार्ग पर चलने का उपदेश दिया । इन बातों को सुनकर पूर्णचंद्र को जिस प्रकार बिच्छू काटने से वेदना होती है उसी प्रकार मेरा उपदेश उनको बुरा लगा और मेरी बात को न मानकर तिरस्कार किया और वह उठकर चला गया ॥४५०॥

पुलंगन् मेल् पुरिवळ्ळु पोरगळोबिये ।  
 विलंगु पेलि यवन् धौडु पोगुमो ॥  
 इलंगु शंबोन् नेरलिरैव नल्लर्त् ।  
 तलंगल् वेळानव नड्यु मोसोलाय् ॥४५१॥

अर्थ—वह पूर्णचंद्र पंचेंद्रिय सुख में मग्न होकर तिर्यच गति में पड़कर नाश को प्राप्त होगा । इनका जीवन सुधरना अत्यंत कठिन है । मैंने ऐसा ही समझा है । अतः वीतराग भगवंत के द्वारा कहे हुए धर्म को वह स्वीकार करेगा या नहीं अथवा पशु के समान ही खा पीकर ध्यर्थ ही अपने जीवन को बिताएगा ? इस संबंध में आप कहें । रामदत्ता आश्रिका के वचनों को सुनकर सिंहचन्द्र मुनि अवधिज्ञान व मनःपर्यय ज्ञान द्वारा जानकर कहने लगे ॥ ४५१ ॥

माववि पुरैस्त वेळ्ळा मादवन् मनत्तौ नोकुं ।  
 पोवि लुनरंवत्तौ मुरवलन् पुरिदु कोळ्ळुं ॥  
 यादु नी कवल वेंडा मवनुक्के येतुबाग ।  
 ओदु मिक्कवय्ये केदु नी यवर् कुरैक्क वेंडान् ॥४५२॥

अर्थ—हे माता ! मुनो ! जैन धर्म को पूर्णचंद्र अवश्य ग्रहण करेगा । इसके बारे में कोई संदेह मत करो । उसकी सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी । किस कारण से उसको सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी उसको दृष्टांत द्वारा समझाता हूं ॥४५२॥

अडकत्तौ पोदि दुइर्कनरुळि नैयूरियारि ।  
 तोडक्कयु मुडिव मोत्तु तोडुत्त वीर् मयर्म तन्नै ॥



येदुत्तु उ नाट्टि वार्, पोन् ट्टिबत्तै यम्बुयिर् कुंमाकुं ।  
वडुप्परि विहन माषब नुरैवक कुट्टान् ॥४५३॥

अर्थ—वे मुनि सम्यक्त्व युक्त सब जीवों में दया भाव रखने वाले पक्षपात रहित जीवों को कल्याण का मार्ग बताने वाले अठारह दोष रहित अर्हत भगवान के वचनों को कहने की सामर्थ्य रखने वाले थे । उन मुनिराज ने तब पूर्णचन्द्र के पूर्वभव का वृत्तांत कहना प्रारंभ किया ॥४५३॥

इस प्रकार पूर्णचन्द्र का राज्य परिपालन का विवेचन करने वाला चौथा अधिकार समाप्त हुआ ।



## ॥ पंचम अधिकार ॥

(विद्युद्दंष्ट्रा, रामदत्ता, पूर्णचन्द्र व सिंहसेन का स्वर्गवास जाना)

वासनिङ् राद सोलं मळयेन मदुकळ पंदु ।  
 मूसुतेन् मुळंग मंजै मुगिलन वगवि मुत्तिन ॥  
 रुसला मलंगं लार् पोट्रोडंगीय नडंगळोवाक् ।  
 कोषल येव तुंडी कुबलयं पुगळु नाडे ॥४५४॥

अर्थ—अत्यंत सुगन्ध से भरे हुए पुष्पों के वन में जिम प्रकार खिले हुए पुष्प के अन्दर भ्रमर मग्न होकर सुगन्ध रस का रसास्वादान करता उड़ता रहता है और उन भ्रमरों के अत्यन्त मधुर शब्द सुनकर मयूर आदि आनन्द से नृत्य करते हैं तथा सुन्दर स्त्रियां जिम प्रकार आनन्द पूर्वक नृत्य करती हैं ऐसा सभी लोगों के द्वारा प्रशंसनीय महा रमणीक कौशल नाम का देश था। उस सर्व सम्पत्ति से युक्त प्रसिद्ध कौशल देश में तिलक रूप के समान रहने वाला तथा वहां के अच्छे २ गोपुरों से युक्त महल, अनेक पंडित विद्वानों से युक्त, बृद्ध ब्राह्मणों से भरपूर वहां वृद्ध नाम का ग्राम था। उस ग्राम में मृगायन नाम का अति सुन्दर क्षमा धारण करने वाला एक ब्राह्मण रहता था ॥४५४॥

तिरुत्तगु नाडि वकुत् तिलद माय् तिगळ् डुं सेंडार् ।  
 वरुलांतोर् माड मूदूर् मरैयव हरैयुमांड ॥  
 विरुत्त नगिरामन् तन्नुळ् मिहगायन नेड् मिक्का ।  
 नोरुत्तनं कुळनर्शांति युरुवु कौंड नय्य निरान् ॥४५५॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर मृग के समान चालवाली, गुणवान मदुरा नाम की उनकी स्त्री थी। जैसे नख व अंगुली एक साथ ही रहते हैं वैसे ही वे दोनों दम्पति साथ २ रहते थे। उस मदुरा की दांतों की पंक्ति अनार के दांतों के समान थी तथा होठ लाल परवल के समान मुख थे। उनकी आंखें हरिणी की आंखों के समान और भृकुटी धनुष के समान थी। इन दोनों के सुलक्षण वाली एक वारुणी नाम की कन्या थी ॥४५५॥

अदिर् पड नडत्तलिल्ला ठवन् मनैकिळत्ति यन् सोल् ।  
 मदुरं येन् डोरैक पट्टाळ् मगळुं वारुणिया मुत्तिन् ॥  
 कदिर् नगै करुन् कट्शौवाय् काल् परं वेळुंडु पोन्नन् ।  
 पिदिर् परंदिरुंद कौंग पिनेयना लोरुत्ति यानाळ् ॥४५६॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्यास्त होते ही कमल निस्तेज हो जाते हैं, उसी प्रकार कारण पाकर

वह मृगायन ब्राह्मण दुःख से पीड़ित होकर मरणा को प्राप्त हुआ। वह मदुरा अपने पति के मर जाने से महान् दुःखी हुई। उस मृगायन नामक ब्राह्मण ने मरकर अयोध्या में अतिबल नामक राजा की पटरानी सुमति के गर्भ में जाकर पुत्री रूप में जन्म लिया ॥४५६॥

कदिर् मरं पुळुदिर् कांड्र कमलमुं पोल् ।  
 मदुरेयुं मगळुं वाड मरेंध्यवन् मरित्तु पोगि ॥  
 यदिर् वरु पिरवि इल्लारिडेंयरा वयोहिं याळ ।  
 मति बलन् दूनक्कु देखि सुमात्तिकुमरिवे यानान् ॥४५७॥  
 इरनिय वदियेबाळ् पेरिळमईलनैय सायल् ।  
 वरिशिले मुरुवच्चोवाय् वल्लिदान् वळर्द पिन्नै ॥  
 तारणिमे तरस रिल्लाम् तेंय्यलं तरुग वेन्न ।  
 सुरमं नाडुडेंय तौडर् रिन् पुयम् तुन्नु वित्तार ॥४५८॥

अर्थ—वह कन्या शनैः २ बडी होने लगी और बडते २ मोर के इधर उधर फुदकने के समान किशोर अवस्था में आई। उसकी भृकुटी धनुष के समान, आंखें कमल के पत्ते के समान दीखने लगी। उस कन्या का नाम हिरणावती रखा गया। उसकी तरणावस्था होने पर उसके सौंदर्य व रूप को देखकर अनेक राजकुमार उसके साथ लग्न करने को आये। तदनंतर भवसर पाकर सुरम्य देश के अधिपति पूर्णचंद्र के साथ उसका विवाह संस्कार कर दिया गया ॥४५७॥४५८॥

पोदन पुरत्तु वेंदन् पूरचंदिरनुं तोगे ।  
 मादनं पुनरंद्दु वंद विवत्तु मयंगु नाळुट् ॥  
 कावलान् मघुरेयेंद कावलन् ट्रेवितन् बान् ।  
 मावराळुसत्ति यानान् मद्वनी कंडाये ॥४५९॥

अर्थ—उस सुरम्य देश को पोदनपुर भी कहते हैं। विवाह के पश्चात् वह पूर्णचंद्र अपनी रानी के साथ विषय भोगों में सदा लीन रहता था। कालवश उस ब्राह्मण मृगायन की स्त्री मदुरा मर कर पूर्णचंद्र की स्त्री हिरणावती के गर्भ में आकर कन्या उत्पन्न हुई। वह जीव कौनसा है। यदि तू प्रश्न करेगी तो वह जीव तू ही है ॥४५९॥

अरुंतव नरुळि नालम्प भद्विर भित्तिरंट्रान् ।  
 ट्टिरु दिय गुणत्तु निन् पाल् शीय चंदिर निडानेन् ॥  
 वरुंद्दु नुमिडें ईनाळौवारुणि वंदुन् कावर् ।  
 पोरुदिय पुवल्व नाय पूरचंदिर नेंडानाळ् ॥४६०॥

अर्थ—पूर्वभव में वरदत्त मुनिराज के उपदेश के प्रभाव से मैंने (सिंहचंद्र) सुगति प्राप्ति के अनन्तर आपके (आयिका रामदत्ता) गर्भ से जन्म लिया। मेरा पूर्वभव भद्रदत्त बणिक नाम का जीव था। मेरे जन्म होने के बाद आपने संस्कार सहित मेरा नाम सिंहचन्द्र रखा। और पूर्वभव में वारुणी नाम की जो ब्राह्मण पुत्री थी उसके जीव ने तुम्हारे गर्भ में आकर पूर्णचन्द्र नाम का पुत्र होकर जन्म लिया ॥४६०॥

आदलावन कनिगां ।

कादले यायिनायनी ॥

पोदुला मलग लानुं ।

कोदिला गुणत्त नाने ॥४६१॥

अर्थ—इस कारण पूर्वभव के संस्कार से तुम्हारे प्रति हमारा प्रेम अधिक हो गया है। इस प्रकार इसी उपदेश से उनको सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी। क्योंकि पूर्वजन्म के संस्कार से सारी बातें प्राप्त होती हैं। मोह कंदमूल के समान है। बार २ इसी प्रेम के कारण किसी भी पर्याय में पहुँचे, एक दूसरे का संबंध होकर प्रेम का कारण बन ही जाता है। इस कारण है आयिका माता ! पूर्व जन्म के मोह का ही संस्कार है। इसलिये पूर्णचन्द्र को अवश्य सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी ॥४६१॥

बिनेयेनु कुयव नम्मं वेदुरु वियट्टल् कंडाय् ।

अनगना मुरुवस् तन्ने पेन्नुरु वाकियेणे ॥

मनविये मगळ् भाकि मगळये संद नाकि ।

निनेविनाल् मुडित्तु निड्डार् नीदियार् कडक्क वल्लार् ॥४६२॥

अर्थ—इस नाम कर्म से जिस प्रकार कुंभकार मिट्टी के बरतन को अपनी भावनाओं के अनुसार छोटा बड़ा बनाता है; उसी प्रकार मनुष्य शुभाशुभ भावों के अनुसार अपनी पर्याय धारण कर लेता है। पूर्व जन्म के संस्कार से पुत्र, माता, भगिनी, भाई, बंधु, पिता, पिता से पुत्र, पुत्र से पिता, माता से पुत्री, पुत्री से माता इस प्रकार शुभाशुभ अर्थात् मोह कर्म के वश जीव अनेक विचित्र पर्यायों को धारण कर लेता है। इसी तरह संसार में जितने प्राणी हैं वे सब पूर्व जन्म के पाप पुण्य के अनुसार फल वाले होते हैं ॥४६२॥

अहिर बाहु वेन्नुं परममा मुनिवन् पारि ।

सुत्तमन् पावं सेदु इन् पिदा विड्डु मुनिवनागी ॥

इत्तळ भेत्तनिड्डु निनक्कु वंदिवत्ती योदि ।

सित्तं मे मोळिकन् मूडुं सेरिवित्त कुरव नानान् ॥४६३॥

अर्थ—इस संसार में उत्तम गुण को धारण किये ऐसे भद्रबाहु मुनि के चरणों में शरण गया है ऐसा तुम्हारा पिता है, वह मुनि दीक्षा लेकर निर्दोष चरित्र को प्राप्त कर यहां

आकर मुझे धर्मोपदेश करके मेरी आत्मा को सुख और शांति करने वाला वही मेरा गुरु है ।

॥४६३॥

शांतमामदिये शरंदु तैय्यलायुने पयंदाळ् ।  
कांदि तानाई नाळक् कावलन् शीय सेनन् ॥  
पांवलान् मरितुपोगि सल्लगी वनत्तु कंमा ।  
वेंदनाय् मुनिय वेरिट्टि पेरसनि कोडम् ॥४६४॥

अर्थ—हे आर्यिका माता ! तुम्हको जन्म देने वाली तुम्हारी माता ने शांतिमति नाम की आर्यिका के पास जाकर दीक्षा ग्रहण की थी । तुम्हारा पतिदेव राजा सिंहसेन था । वे सर्प के काटने से मरकर सल्लकी नाम के वन में बलवान हाथी हुए । वह हाथी सभी हाथियों में बलिष्ठ था । वह गजराज अनेकों को कष्ट व उपसर्ग देता था । उस वन के भीलों ने उसका नाम अशनी कोड रखा था । वह हाथी मद से अधिक बलवान होने के कारण निःसंग होकर अकेला निरंकुश रूप से घूमा करता था ॥४६४॥

नागांदि वेन्ने काना मदत्तिनालंदनांगं ।  
वेगांदि तालिन् मेले वेगुळिया लोडि वंद ॥  
तागा सेत्ति यानेळुंदे नंगु वंदेन्ने काना ।  
वेगांदि नेरि पुक्किन् में कंडव नोरुव नोत्ते । ४६५॥

अर्थ—पर्वत चोटी पर मैं (सिंहचन्द्र) जिस समय तपस्या कर रहा था, उस समय मुझे देखकर अत्यंत क्रोधित होकर वह हाथी मुझे मारने को आया । मुझे चारणश्रद्धि प्राप्त थी, इसलिये उसके प्रभाव से मैं आकाश में जाकर खड़ा रह गया । उस हाथी ने मुझे चारों ओर देखा और न देखने के कारण भयभीत होकर वहीं खड़ा रह गया ॥४६५॥

वेंकंद कडवा कूट्रोत्तेन्ने मेलोक्किक्कल् पाकं ।  
सिगं मा पुरत्त वेंदे शीय मा शेन ओय्नि ॥  
इंगु वंदि याने यानाय पावत्तालिदने विट्टार ।  
पोगि वीळ् नरगं तन्निर पोरुंद घो मुयच्चि येंडेन् ॥४६६॥

अर्थ—उसी समय वह हाथी सहज ही ऊपर की ओर देखने लगा तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि आकाश में कोई यमराज ही मुझे पकड़ने खड़ा है । तब उस हाथी को मैंने देखकर ऊपर से कहा कि हे सिंहपुर के राजा अधिपति सुनो ! तुमने असह्य पाप के उदय से जंगल में अशुभ कर्म के उदय से अशुभ तथा निच पशु पर्याय में जन्म लिया है । तुम्हारा आचरण वर्तमान में यदि देखा जाय तो मरकर नरक जाने का कार्य कर रहा है ॥४६६॥

अरसनाय् पेरियच्चिब तळुव कंदड कनाले ।  
करिय राय् पेरिय तुंबत्तळुद विक्कानिर कडेन् ॥

पेरियवोर् पावत्तलिप्पिरविये पेरिदु मंभिर् ।

तिरुवर मरुवुयान शीय चंभिर नैडिट्टेन् ॥४६७॥

अर्थ—पुनः सिंहचन्द्र मुनि कहते हैं कि हे गजराज ! तुम पूर्वभव में राजसभा में अत्यन्त गौरव पूर्वक राज्यगद्दी पर राज्य करते हुये सिंहासेन नाम के राजा थे । सूर्य का प्रकाश चारों दिशाओं में चमक रहा हो ऐसा मैंने मेरी आंखों से देखा था । अब इस समय मैं देख रहा हूँ कि हाथी की पशु पर्याय में जन्म लिया है । और भीलों के द्वारा तुम कष्ट सहन कर रहे हो । इसलिये भविष्य में यदि अच्छी गति प्राप्त करने की इच्छा रखते हो तो तुम जैन धर्म को स्वीकार करो । मुनिराज ने उस गजराज को कहा कि पूर्वजन्म में जो सिंहासेन तुम राजा थे उनका तुम्हारा पुत्र मैं सिंहचन्द्र हूँ ॥४६७॥

यंड्लु मेळुंब पोव तिरंद वेप्पिरवि तन्ने ।

एंड्रव नरिदु मूच्चित्तु वरं पोल वीळ्बान् ॥

निड् वोर् पडिड्डर् ट्टेरि निरं तवन् पोल निडान् ।

सेंड्रुयां नरतौ कूर सेविनें ताळत्तलोडुं ॥४६८॥

इस प्रकार कहते ही उस हाथी को पूर्वभव का जाति स्मरण उत्पन्न हो गया । और वह मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर गया । तदनन्तर वह हाथी थोड़ी देर में सचेत होकर खड़ा हुआ । उस हाथी का यह हाल देखकर पुनः आकाश में से नीचे आकर उन मुनिराज ने धर्म का उपदेश देना प्रारंभ किया और हाथी भक्ति से ध्यान पूर्वक उपदेश सुनने लगा ।

मुनि महाराज ने धर्म की महिमा का उपदेश उस हाथी को सुनाते हुए यह कहा कि यह भोग सुख सामग्री अनेक भवों से भोगने में आ रहे हैं । चक्रवर्ती पद, देवपद आदि कई प्रकार की संपत्ति वैभव का आनन्द लेते २ इसका खूब अनुभव हो गया है । परन्तु इसमें से आज तक क्षण २ में नष्ट होता हुआ कोई पदार्थ शाश्वत देखने में नहीं आया । यह आत्मा अनादि काल से शुभाशुभ कर्म के फल से इस जगत में तेली के बेल के समान जैसे वह पट्टी बांधे चारों ओर घूमता है उसी प्रकार चारों गतियों में घूमता फिरता है । हमने इस ओर आज तक लक्ष्य नहीं दिया । कहा भी है—

भोगानभुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।

कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णानजीर्णा वयमेव जीर्णाः ।

विषयों को हमने नहीं भोगा, किन्तु विषयों ने हमारा ही भुगतान कर दिया हमने तप को नहीं तपा, किन्तु तप ने हमें ही तपा डाला । काल का खातमा नहीं हुआ, किन्तु हमारा ही खातमा हो चला । तृष्णा का बुढापा नहीं आया किन्तु हमारा ही बुढापा आ गया । क्यों कि जब तक तृष्णा नहीं मिटती तब तक मोक्ष नहीं होता । कहा भी है—

अग्रं गलितं पलितं मुंडम् , दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।

बुद्धो याति गृहीत्वा दण्डम् , तदपि न भुञ्चत्याशा—पिण्डम् ।

अंग शिथिल हो गये हैं, बुढ़ापे में सिर के बाल सफेद हो गये हैं मुँह में दांत नहीं रहे हैं, हाथ में स्त्री हुई लकड़ी के समान शरीर कांपता है, तो भी मनुष्य आशा रूपी पात्र को नहीं त्यागता है। इस कारण हे गजराज ! इससे भिन्न आत्म सुख का अनुभव आज तक इस जीव को नहीं आया। आचार्य कुन्दकुन्द भी कहते हैं:—

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वरस वि कामभोगबंध कथा ।  
एयत्तस्सु बलंभो ए वरिण सुलहो विहत्तस्स ॥

यद्यपि इस समस्त जीव लोक को काम भोग विषय कथा एकत्व के विरुद्ध होने से अत्यन्त बिसंबाद करने वाले हैं, आत्मा का महान बुरा करने वाले हैं, कई बार सुनने में आया है, परिचय व कई बार अनुभव में आ चुका है। यह जीव, लोक-संसार रूपी चक्र के मध्य में स्थित है जो निरन्तर अनेक बार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव का परावर्तन रूप करने से भ्रमण करता है। समस्त क्षेत्र को एकछत्र राज से वश करने वाले बलवान मोह के द्वारा राग रूपी सांकल से बैल की भांति जोता जाता है। वेग से बढ़े हुए तृष्णा रूपी रोग के संताप से जिसके अन्तरंग में शोक व पीडा हुई है। मृग की तृष्णा के समान श्रांत संतप्त होकर इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ता है। इतना ही नहीं इस काम में आपस में आचार्यत्व को करता है तथा दूसरे को कहकर भी अंगीकार कराता है। इसलिए काम भोग की कथा सब को सुख से प्राप्त होती है। भिन्न आत्मा का जो एकत्व रूप है वह सदा अंतरंग में प्रकाशमान है तो भी वह कषायों के साथ एक रूप सरोखा हो रहा है। इसलिए उसका अत्यन्त तिरोभाव अर्थात् वह आच्छादन हो रहा है। इसलिए अपने में आत्म ज्ञान न होने से अपने आप ने कभी भी स्वयं को नहीं जाना, तथा दूसरे ज्ञानी जनों की सेवा संगति भी नहीं की इसलिए वह एकत्व की भावना न सुनने में आई और न कभी अनुभव में ही आई। यद्यपि वह एकत्व निर्मल भेद ज्ञान होकर प्रकाश में प्रकट होता है परन्तु पूर्व में एकत्व भावना के परिचय न होने के कारण महानदुर्लभ है ॥४६८॥

याकयं किळयु मादि यावयु निड् विल्लं ।  
बोकिय विनइन् टुंबस् विलक्कला मरनु मिल्लं ॥  
तीकवि सारंदु सेल्लुळि तुनयु मिल्लं ।  
नीकरुं गुणंगळल्ल निड् तानिल्लं यड् ॥४६९॥

अर्थ—अतः हे गजराज ! तुम मिथ्यात्व और परिग्रह रूपी पिशाच के निमित्त से चारों गतियों में भ्रमण करते हुए आते समय तुम को उस दुख से रक्षा करने वाला कोई नहीं है। जितने भी आज तक इस शरीर संबंधी पुत्र, मित्र, बंधु, बांधव प्राप्त होते आये हैं, वे सब पाप पुण्य के सगे हैं। परन्तु जब पुण्य संचय समाप्त हो जाता है तो सब अपने-अपने ठिकाने चले जाते हैं। परन्तु आज तक जितना २ तुमने उनके संरक्षण के लिए पाप किया उस पाप के भोगी तुम ही हुए। कोई भी दूसरा इसको बंटाने नहीं सका, न संसार में तेरा दुख बंटाने वाला कोई साथी मिला। इसलिए तेरी रक्षा करने के लिए जैन धर्म ही है। तेरी आत्मा को सुख शान्ति पहुँचाने वाला तू स्वयं ही है और कोई अन्य नहीं है। कहा भी है:—

सातों शब्दजु बाजते, घर घर होते राग ।  
ते मंदिर खाली परे, बैठन लागे काग ॥  
परदा रहती पदमिनी करती कुल की कान ।  
बडो जु पहुँची काल की डेरा हुआ मसान ॥

जिस मकान में पूर्व में अनेक प्रकार के गाने गाये जाते थे आज वे खाली पड़े हैं, कोए बैठे हुए हैं । जो महारानी पद्मिनी पहले परदे में रहती थी और कुल की आन के कारण बाहर नहीं आती थी, वही आज काल के आ जाने के कारण सब के सामने मरघट में पडी है । कहा है:—

सुबह जो तस्ते शाही पर बडा सजधज के बैठाया ।  
दोपहर के बक्त में उनका हुआ है बास जंगल का ॥

वाताभ्रविभ्रममिद वसुधाधिपत्यम् ।  
आपातमात्रमधुरो विषयोपभोगः ॥  
प्राणास्तृणाग्रजलविदुसमा नराणां ।  
धर्मः सखा परमहो परलोक्याने ॥

इस समस्त पृथ्वी तल का आधिपत्य तीव्र वायु के वेग से तितर बितर हुए मेघ के समान अस्थिर है । तथा मानव संबंधी सभी विषय भोग आपात मधुर हैं अर्थात् उपभोग काल में ही यह विषयोपभोग मधुर होते हैं, परिणाम में नहीं । तथा मनुष्यों के प्राण तृण के अग्रभाग पर रहने वाले जलबिंदु के समान बंचल हैं अर्थात् न जाने ये प्राण पखेरू कब इस तन को छोड़कर उड़ आयेंगे । अहो! यह कितने आश्चर्य की बात है कि इन नश्वर सभी वस्तुओं के लिये मनुष्य सारे प्रयत्न करता रहता है । तो भी ये सभी वस्तुएं मनुष्य के सदा सहचर नहीं होती । सर्वदा सहचर हो बहुतो एक धर्म ही है, जो परलोक प्रयाणकाल में भी साथ नहीं छोड़ता । अर्थात् परलोक जाने के समय मनुष्यों का एक मात्र सखा धर्म ही होता है । अतः परलोक में सच्ची मित्रता निभाने वाला यह धाराधित एक मात्र धर्म ही है जिसे विषया-भिलाषी जन भूले बैठे हैं ॥४६६॥

उं बुनास् विट्ट वल्ला पुगल मोंड् मिद्धे ।  
पंडु नाम् पिरंदिडाव पदेशमु मुल्लि मिद्धं ॥  
कोंडु नायिड् याकं गुण मिला पूविगंस्य् ।  
संडिना पुलसिल् बीळ्वन् विने वरं चाई लेंडेन् ॥४७०॥

अर्थ—हे गजराज ! अनादि काल से आज तक यह जीव समस्त पुद्गल पर्याय, संपूर्ण योनियों को धारण करता तथा छोड़ता आया है, कोई भी पर्याय शेष नहीं रही है । संसार में जितने भी जीव हैं इन सबों ने अनादिकाल से समस्त पुद्गल पर्याय को अश्रु



परिणामों के द्वारा कर्म, नौकर्म को ग्रहण कर अनुभव न किया हो ऐसी कोई वस्तु नहीं है। जितने संसार में प्रदेश हैं उनमें हम जन्म मरण करते आए हैं। ऐसा कोई शरीर नहीं है जिस को हमने ग्रहण नहीं किया हो। हमारा यह शरीर महान अशुचिमय है। इसके निमित्त हमारा आत्मा अनेक प्रकार के दुख उठा रहा है। पंचेंद्रिय विषयों में लवलीन होने के कारण कर्म परमाणु आकर आस्रव कर रहे हैं और इसी आस्रव के कारण आत्मा इस संसार में परिभ्रमण कर रही है। और इसी कारण हम अनेक प्रकार से दुखी हो रहे हैं ॥४७०॥

अरियदिवुलगिन् बेंडोल् तिरुमोळि यवनं पेट्टार् ।  
 पेरिय नर व्काक्षि ज्ञान उळुक् मामवट्टि पिन्नं ॥  
 वरुविनं वाइलेन्ना मडैक्क मुन् मिडेंद पांव ।  
 निरु सेरे सेळ्ळुमिद नेरिये नी निनेक्क बेंडुन् ॥४७१॥

अर्थ—इस लोक में घाती कर्म को नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त हुए अर्हत भगवान तथा उनके मुख से निकले हुए परमागम ही अथवा जिनवाणी पर ही श्रद्धा रखना सम्यक्दर्शन है। उसको संशय रहित होकर जानना सम्यक्ज्ञान है। उसको जान कर उसके अनुसार चलना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार कहे हुए धर्म व्यवहार के अनुसार पालन करनेसे तथा आने वाले अशुभ कर्मों को रोकने के लिए आत्मभावना के द्वारा भक्तिपूर्वक आचरण करने से अनादि काल से आत्मा के अन्दर लगे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। यह निर्जरा मोक्षमार्ग के लिए कारण है और यही आगे चलकर मोक्ष का देने वाली है। इसी प्रकार आचरण करना व्यवहार धर्म है।

भावार्थ—जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा रखना सम्यक्दर्शन है। इसी तत्त्व को तथा अनेक प्रकार के स्वरूप को समझ लेने से सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह सब समझ लेने के बाद तत्त्वों के अनुसार चलना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार बार बार विचार करना तथा आराधना करना यह निश्चय रत्नत्रय के लिये कारणभूत है। इसकी भावना भाने से स्वपर का आत्मघात न हो अर्थात् परपीडा न हो ऐसे रत्नत्रय के प्रकाश में चलने से आत्मोद्धार और लोकोद्धार होता है। यह रत्नत्रय आत्मा का भूषण तथा प्रकाशक है इसी को मोक्ष मार्ग कहते हैं। इसी मोक्ष मार्ग में अपने आत्मा की स्थापना करो। तदनन्तर उसी का ध्यान व भावना करो। आत्मा में हमेशा विचरण करो। अन्य द्रव्यों में विचरण मत करो। इस प्रकार ग्रंथकार ने कहा है—

आचार्य ने जैन धर्म के सार को समझने के पहले व्यवहार रत्नत्रय को समझने का आदेश दिया है। वह इस प्रकार है:—

‘द्रव्य छह हैं, जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। तत्त्व सात हैं जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमें पाप और पुण्य मिलने से नौ पदार्थ होते हैं। अस्तिकाय पांच हैं—जीवास्तिकाय, अजीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय

और आकाश अस्तिकाय यह पांच पंचास्तिकाय हैं। छह द्रव्यों में से काल द्रव्य को छोड़कर शेष पांच द्रव्य बहुप्रदेशां हैं। यह सब मिलाकर २७ तत्त्व होते हैं। इन पर श्रद्धा रखना व्यवहार सम्यक्दर्शन है। निश्चयसम्यक्दर्शन के लिये भी ये ही साधन होते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्ट पाहुड में गाथा नं० ३० में कहा है:—

“रयणत्तये अजद्व एवं भमिओसि दीहसंसारे ।

इय जिगावरेहि भणियं तं रयणत्तं समायरह ॥

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को रत्नत्रय कहते हैं। रत्नत्रय के व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा दो भेद हैं। इनमें से व्यवहार रत्नत्रय तो इस जीव को कई बार प्राप्त हुआ है। परन्तु निश्चय रत्नत्रय की ओर संकेत करते हुए गाथा में ‘सुअलद्धो’ लिखा गया है, जिसका अर्थ होता है रत्नत्रय के सम्यक् प्रकार से प्राप्त न होने से अर्थात् निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति न होने से यह जीव अनादि संसार में भटकता रहा है। ऐसा तीर्थंकर परमदेव ने कहा है। अतः हे भव्य प्राणी ! तू उस निश्चय रत्नत्रय का अच्छी तरह आचरण कर अथवा उसका अच्छी तरह आदर कर। पुनः श्लोक ३१ में कहा है:—

अप्पा अप्पमि रओ सम्माइठ्ठी ह्वेई फुडु जीवो ।

जाणइ तं मण्णाणं वरदिह चारित्तमग्गुत्ति ॥

अर्थ—आत्म-श्रद्धान में तत्पर जीव निश्चय से सम्यक्दृष्टि है और व्यवहार नय से जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने वाला सम्यक्दृष्टि है। जो आत्मा को जानता है वह निश्चय से सम्यक्ज्ञान है, और व्यवहार नय से जो सात तत्त्वों को जानता है वह सम्यक्ज्ञान है। जो आत्मा में चरण करता है अर्थात् उसी में लीन होता है वह निश्चय से चारित्र्य का मार्ग है, और पाप क्रिया से विरत होना व्यवहार से चारित्र्य का मार्ग है ॥४७१॥

वेरुवु तुंब माक्कुं विलंगिनु ज्जेळ्ळु वीळ्दल् ।

नरगिडे मरुवुं तुंब नरर्केलाम् कुडुंब मोंबन् ॥

मरुविय देव लोगिन् बळुत्तरल् वान वकान् ।

दुरुवमाय् निड् तुंबम् सोम नगितिकु मेंड्रेन् ॥४७२॥

अर्थ—हे गजराज ! अनादि काल से जीव ने पंचेंद्रिय के विषय के निमित्त छल कपट करके निदनीय नीच गति में जन्म लेकर सदैव दुःख ही दुःख पाया और हमेशा भय ही खाया। इस पाप कर्म के उदय से नरक में रहने वाले जीव को दुःख ही दुःख सहन करना पड़ता है। मनुष्य गति में स्त्री, पुत्र, मित्र, बंधु आदि के संरक्षण करने की चिंता तथा दुःख हमेशा बना रहता है। देवलोक में जन्म लेने से जब देव गति से सुख को छोड़कर जाना पड़ता है उस समय उसको अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। इस प्रकार चारों गतियों में कष्ट ही कष्ट भोगना पड़ता है ॥४७२॥

मनत्तिडं पिरक्कुं तुंबम् वंदोरु मबट्टिन् ट्टुंबम् ।  
 तनुत्तनिर् पिरक्कुं तुंबम् तानियल तुंब ॥  
 मेनच्चोल पट्ट नांगु मिया वक्कु मागुमिन्न ।  
 निगत्तार पुनरि निड्डी तीगति नांगु मेड्डीन् ॥४७३॥

अर्थ—मनुष्य पर्याय प्राप्त करने के बाद संज्ञी जीवों को हमेशा संसार में मन की इच्छा पूर्ण करने की भावना होने पर भी पूर्वजन्म में उपाज्जन किए अशुभ कर्म से अनेक प्रकार के दुखों को भोगना पडता है। शरीर से उत्पन्न होने वाले शारीरिक दुख तथा मानसिक, स्वाभाविक और आगतुक ऐसे चार प्रकार के दुख सभी संसारी जीवों में पाये जाते हैं। अतः हे गजराज ! तुम इन सभी दुखों पर विचार करके यदि भगवान अर्हंत देव के वचनों के अनुसार आचरण करोगे तो यह सांसारिक सारे दुख नाश होकर अंत में क्रम २ से मोक्ष की प्राप्ति होगी। ऐसा मुनिराज ने गजराज से कहा ॥४७३॥

बिनयत्तोडिरंजि केळ्कु मुनिय पोल विलंबि ट्टेह्लाम् ।  
 मनो वत्त वनांगि केट्टु वदंगळ् पन्निरेंडु मेवि ॥  
 पनेयोत्त तडक्कं मानल्लुयुर् गळ्ळै पाव काकुं ।  
 मुनियोत्तु करुणै वत्तौ उड्डीरं युमोबिर् ट्टुड्डी ॥४७४॥

अर्थ—इस प्रकार मुनिराज के उपदेश को सुनकर वह हाथी अत्यन्त भक्ति पूर्वक जिस प्रकार आचार्य द्वारा धर्म शास्त्र का किसी मुनिराज को उपदेश देने पर वे मनःपूर्वक आचरण करते हैं, उसी प्रकार धर्मोपदेश सुनकर जैसे निर्ग्रन्थ मुनि संपूर्ण जीवों पर दया करते हैं उसी प्रकार वह हाथी दयालु होकर संपूर्ण जीवों की रक्षा करने लगा ॥४७४॥

पो कोलै कळुवु काम पुल सुत्तेन कळ्ळगट्टि ।  
 मैयुरे विशयिनोडु पोहळि नै वरुंडुमेनि ॥  
 नेईनु वदंग नैया वगैना नागराजन् ।  
 शे मा शैय मत्तिर् ट्टुवै निड्डाल् पोलचंद्रान् ॥४७५॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ऐसे पांच पापों का स्थूल त्याग व देशव्रत, दिग्व्रत और अनर्थदंडव्रत इन तीनों व्रतों को तथा भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत आदि का ग्रहण कर अपने शरीर को व्रत उपवास के द्वारा कृश होने पर भी जैसे दूसरी प्रतिमा वाला श्रावक व्रत को निरतिचार पालन करता है उसी प्रकार वह हाथी भी निरतिचार व्रतों का पालन करने लगा ॥४७५॥

उवकाडु वेरुप्पि नोड्डी युडंबोडु पुलंगडम् मेर् ।  
 ट्टुवर पसै नांगु तीगि सोन्न पन्निरेंडु मुन्नि ॥

शेवर् शं ने इन्द्रि सेत्तां शांति ईनन्मे तीये ।

कुवसल् कायविन्द्रि पक्कं तिग नोव् नेन्द्रि शंङ्गान् ॥४७६॥

अर्थ—इस प्रकार वह गजराज उस व्रत को निरतिचार आचरण करते हुए तथा क्रम से और २ बढाते हुए वैराग्य भावना में महान तत्पर हो गया और क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को त्याग कर शास्त्र में कहे हुए बारह भावनाओं का चितवन करते हुए दुश्चारित्र को त्याग दिया। मन में होने वाले हर्ष व विषाद को भी त्याग कर व्रत में अत्यन्त उत्कर्ष परिणाम करने वाला हो गया अर्थात् कभी २ एक २ मास तक अन्न जल को भी ग्रहण नहीं करता था ॥४७६॥

वारणं तिङ् विट् वट्टिय तुवलुं पुद्धं ।

पारणयाग पार्तं करुन् तवं पयिङ् पान्नें ॥

कारण मिदुमेंवान् पोर् कालंगळ् पलबु नोट्टु ।

नीरनें पोडुं यूप केशरी नदिये पुक्कान् ॥४७७॥

अर्थ—इस प्रकार गजराज अपने व्रतों में तत्पर रहकर सदैव बारह भावनाओं के चितवन में लीन रहता था। उस वन में अन्य सभी हाथी जो चारा घास खाते थे उस खाए हुए सूखे घा व टुकड़ों को ही खा खाकर वह हाथी वन में गुजर करता था। इस प्रकार व्रत को निरतिचार रूप से पालन करने वाले भव्य जीव के समान उस व्रत को वह हाथी निरतिचार पालन करता था। व्रत का आचरण करते समय एक दिन वह गजराज चतुर्दशी का उपवास करके दूसरे दिन रूपकेशरी नाम की नदी पर पानी पीने चला गया ॥४७७॥

उरेयिनु करिय वण्ण मुत्तिग नोबुमुट्टि ।

धरेयिनें पिळ्ळिब वे पोल् वट्टीय कायताट्टायिम् ॥

करेयिनें शारदु नीरुळ् केयिनें नीट केमा ।

निरैयिनु करसन् कालंगळ् निडत्तिडै कुळिप्प निङ्गान् ॥४७८॥

अर्थ—वह उपवास किया हुआ हाथी धीरे २ नदी के पानी में उतरता है। वहां गहरा कीचड़ था। शरीर की शिथिलता के कारण उस हाथी के दोनों पांव कीचड़ में फंस गये और वह हाथी विह्वल हो गया। पानी पीकर जब वह हाथी कीचड़ में से पांव उठाकर ऊपर चलने लगा तो उसके पांव कीचड़ में फंस जाने के कारण वह वहीं खड़ा रह गया।

॥४७८॥

अक्कन समेच्च नाग चमर मायवनें विट्टु ।

कुक्कुड वड्डिविर् पोवाय् पिरं वक्कु ववन् काना ॥

मिक्केळ्ळुम वनलुं कोपित्तोडि मेलेरि निट्टि ।

विक्केन कवुब धोरन् कायमुं त्यागं शंवान् ॥४७९॥

अर्थ—महान प्रयत्न करने पर भी उस गजराज के पांव कीचड़ से बाहर न निकल सके । जब पानी से पांव न निकल सके तो वह वहां ही खड़ा रह गया । तब पूर्वभव का सिंह-सेन राजा का मंत्री सत्यधोष का जीव निदान बंध करके अंगद नाम का सर्प हुआ था और वही सर्प मरकर चमरी मृग हुआ और वहां से चयकर कुक्कुड सर्प हुआ । उस समय उस कुक्कुड सर्प की कीचड़ में फसे हुए हाथी की ओर सहज ही दृष्टि गई । देखते ही पूर्व जन्म का यह मेरा वंरी है, ऐसा जाति स्मरण हो गया । जाति स्मरण होते ही उस सर्प ने हाथी को काट लिया । काटते ही हाथी को विष चढ़ गया ॥४७६॥

मलइनें सूळ्द मंजि नंजु वंदेगुम् सूळ ।

निलइ निर् टूळर्दलिङ्गि निङ्गु माववन् द्रन् पादम् ॥

तलेमिशं कोंडु पजं मंदिरं शिवं शैवु ।

निलं इला उडंबु नीगि नेरियिर् सासारं पुक्कान् ॥४८०॥

अर्थ—जिस प्रकार पर्वत मेघ के समूह के घिरने से काला दीखता है, उसी प्रकार उस कुक्कुड सर्प के विष से वह हाथी काला र दीखने लगा । परन्तु जब प्राण छोड़ने लगा तब आर्तरोद्रध्यान न करके शुभध्यान से सिंहचन्द्र मुनि का ध्यान करते हुए बारहवें सहस्रार स्वर्ग में जाकर देव हुआ ॥४८०॥

आयुजं गतियु माणु पुव्वियु मक्क विक्कं ।

येय नल्विनेग लेल्ला युळ्ळं वट्टोडुम् शेंडु ॥

पाय नल्ल मळि मेल्लोर् पात्तिव ननिवु वंडु ।

मेयिनानेळ्ळं देपोल् विनेयीनान् मुडित्तेळ्ळंदान् ॥४८१॥

अर्थ—वह देव की आयु, गति, नाम कर्म, आनुपूर्वी नाम कर्म सभी उस देव गति योग्य पूर्वजन्म में किए हुए पुण्य कर्म के फल से सहस्रार कल्प में रहने वाले उत्पादशय्या नाम के सिंहासन में सम्पूर्ण आभूषण से युक्त १६ वर्ष के तरुण बालक के समान उत्पादजन्म को प्राप्त हुआ ॥४८१॥

आनें तन्नुरुवु नीगि हरबि मुर् पिरभं तोडि ।

वानत्तु विल्लं पोल वडिवेलां समेंवु मूळ्तिर् ॥

ट्रेनुत्त वलंग सान् पेर् सीदर नेववागु ।

मानुत्त नोकिनार् तम् वडिवकनु किलक्क मानान् ॥४८२॥

अर्थ—अशनी कोड नाम का वह हाथी अपनी पर्याय को छोड़कर सहस्रार नाम के विमान में जिस प्रकार आकाश में इन्द्रधनुष अत्यंत शुभ्र प्रकाशमान दीखता है, उसी प्रकार एक अन्तर्मुहूर्त में सर्वांग अंगोपांग को प्राप्त होकर अत्यन्त शोभायमान प्रकाशित होने लगा और महान सुन्दर रूप को धारण कर सभी की मोहित करने वाला श्रीधर नाम का देव हो गया ॥४८२॥

मुडियुं कुंडलमुं तोडु मारमुं कुळयुं पुनु ।  
 कडमुं कळलुं पट्टु कलावमुं थोळु त्तुलु ॥  
 मुडनियल् बागि तौडि योळि यमिळ् विलंगु मोनि ।  
 पडरोळि परप्प मजिर परुदिई निरुंद पोळ्दिन् ॥४८३॥

अर्थ—उस स्वर्ग में उत्पाद शय्या से जब जन्म लेते हैं तब वहां जन्म लेने वाले किरिट (मुकुट), मोती का हार, कुन्डल, फूलों का हार, हाथ का कुन्डल, पहवस्त्र, जरी मख-मल के वस्त्र आदि २ सोलह आभूषणों सहित सूर्य के समान प्रकाशित होते हुए उत्पाद शय्या से उठकर इस प्रकार बैठते हैं जिस प्रकार गहरी निद्रा में सोकर कोई जाग कर बैठा हुआ है ।  
 ॥४८३॥

कारण मलगळ् यारि कर्पग मरंगळ् बीळ् द ।  
 वारणि मुरस मेंगुम् मुळंग नंदन वनत्तिल् ॥  
 वेरियुं दातु मेरि मंद मारुंगळ् वीस् ।  
 शीरणि कोणै यारै देवरुं सेंडु सेरुंदार् ॥४८४॥

अर्थ—उस देवलोक में रहने वाले कल्पवृक्षों से जिस प्रकार मेघ की वृन्द बरसती है, उसी प्रकार फूल बरसते थे । वहां अनेक प्रकार के भेरी वाद्य आदि बाजे बजते थे । अति सुगन्ध वायु चलती थी । वहां रहने वाले सामान्य देव तथा देवियां उस श्रीधर नाम देव की सेवा करने को तैयार हो गये ॥४८४॥

पेतिककुं पाति देन्नो यावरो यान्बिनारो ।  
 सित्तनु किनय देशं यारदो वेंडि रुंदु ॥  
 तत्तुंर पोळ्दि लंद बवत्तौ शारुं देळुंद ओदि ।  
 कंतल पडिगं पोल् कंडुदु कलबिर् द्रेल्लाम् ॥४८५॥

अर्थ—वह श्रीधर देव शय्या से उठता है और चारों दिशाओं में देखकर आश्चर्य चकित होकर विचारता है कि यह कौनसा स्थान है । मैं कहां से आया हूं, ऐसा सुन्दर व रमणीय स्थान मैंने कभी नहीं देखा । ऐसी सुन्दर स्त्रियां कहां से आईं । मंगल गीत गान हो रहे हैं । ऐसा विचार करते २ उसको भव प्रत्यय नाम का अवधि ज्ञान हो गया । अवधिज्ञान होते ही जैसे हाथ में प्रत्यक्ष वस्तु स्पष्ट दीखती है उसी प्रकार उसने भव प्रत्यय ज्ञान से पिछले भव का सारा हाल जानकर समझ लिया ॥४८५॥

वंतिये तुडक्कमाय् वरिदु यान् मुन्वु शेद ।  
 मंदमादवत्तिर् पेट्टु तुरक्क मंदारं सूळ्द ॥  
 विंदिर विमान मेन्ने यहिक्कु सूळ ओदि ।  
 वंडु निंडिरेजुंगिडा बार् वानवर् तांगलेडान् ॥४८६॥

धर्म—उस श्रीधर देव ने पूर्वभ्रम में मैं भ्रमणीकोड हाथी की पर्याय में था। उस वर्षाय को त्यागकर इस समय मैं देव पर्याय में हूँ। ऐसा अपने अबधिज्ञान से पूर्वभ्रम को जान लिया। अहो! कितने आश्चर्य की बात है कि पूर्वजन्म में मैंने अल्पव्रत को धारण किया था और उसी व्रत के प्रभाव से आज मैंने देव पर्याय धारण की है। क्या जैन धर्म सामान्य है? केवल अल्पमात्र व्रत धारण करने से मुझे देव पर्याय मिली! जब कोई प्राणी महाव्रतों को पालन करता है तो क्यों न उसको मोक्ष की प्राप्ति होगी। इस प्रकार विचार करके धर्म के प्रभाव से वह अत्यन्त आनन्दित हुआ। वहाँ की देवियां मंदार आदि सुगंधित पुष्पों की वर्षा करती हुई उनकी स्तुति कर रही थीं ॥ ४८६ ॥

पाङ्गुवार् मधुर गीतं देविभार् मिन्नुप्पोनिन् ।  
 राङ्गुवाररंभं मारुगळरिचं पोरिलय तोडु ॥  
 मूडुतानेळुंद बोसं कुंभुभि योसं पेंडु ।  
 नोडिया सबत्तिया पातंरिदव निरुंद पोळुबिल् ॥४८७॥

धर्म—उन देवियों के सुन्दर वाद्य व गीत उस श्रीधर देव के कानों को बहुत सुन्दर लगे। इस प्रकार वे देवियां सुन्दर २ वाद्य और गीतों के साथ नृत्य करती थीं। कई देवियां उनकी प्रशंसा करती थीं। कानों को मधुर सुनाई देने वाले बाजे आदि बज रहे थे। तब उस समय वहाँ के देव और देवियां कहने लगी कि हे देव! आप उत्कृष्ट धायु तथा रूप संपत्ति आदि को प्राप्त कर इस देव लोक में रहने के समय तक इस संपत्ति और इन स्त्रियों का उपयोग करके यहाँ के आनन्द का अनुभव करें। पुनः वहाँ के सामान्य देवों ने कहा कि आप भिन्न २ स्वर्गों के भिन्न २ सुखों के आनन्द का अनुभव करें। आप के द्वारा जो कार्य यहाँ होना है उस कार्य के लिये हम प्रार्थना करते हैं सो सुनो ॥४८७॥

बेंडु वयंतित्त उंपर मायवु ।  
 मोंडु वय्यग मुळळळवुं सेल्म ॥  
 येंडु सोळ्ळि इरेंजिय वानवर् ।  
 निडु पित्तु सेयु नीविगळोबिनार् ॥४८८॥

धर्म—हे देव! आप प्रथम त्रिमंजी नाम की बावडी के जल में स्नान करें और अर्हंत भगवान के दर्शन करें। पूजा, अर्चा, भक्ति, स्तुति आदि करें ॥४८८॥

मंजनुं सयेंसार् मविपोत्तु मुग ।  
 तम् सोलारदु मुन्न पमरंदु नी ॥  
 पंच कायं पनिस पिरानडि ।  
 कंजलि सैवमर्दं शिरप्पुलि ॥४८९॥

ताविला तवत्तिल् पयनागिय ।  
 देवर् तन् तोमै संव दरिदु पिन् ॥  
 नावि नोसै नरंवि नेळगुरर् ।  
 द्राविलावि लयं पईल् साले कान् ॥४६०॥

अर्थ—हे सामान्य देव श्रीधर से पुनः कहने लगे कि पूर्व जन्म में आपने द्रतादि का पालन किया था । इसी कारण आप देव गति को प्राप्त हुए हैं । यह सभी को प्राप्त नहीं हो सकती । भाग्यवान ही को मिल सकती है । आप भाग्यवान हैं । इसलिये देवगति मिली है । पूजा, स्तुति करने के बाद आप नृत्य मंडप में पधारें । वहां अनेक स्त्रियां देवियां नृत्य गान करती हैं उनको देखिए और सुनिए ॥ ४८६ ॥ ४६०॥

पडं कडंदनि ताकिय धल्गुलार् ।  
 नुडंगु नुझिडं मोव नुवलरुं ॥  
 वडंजु मंद वनयुलंडन् पयन् ।  
 द्रुडंगु पिन्नेन यद्रवर् सोल्लिनार् ॥४६१॥

अर्थ—हे श्रीधर देव ! जरी के वस्त्र, रत्नों के आभूषण, अनेक प्रकार के रत्नों से जडे हुए अत्यन्त सुन्दर पांवों में पैजनी बांध कर नृत्य करने वाली यहां देवियां हैं । यह आप पर मुग्ध होकर आपको प्रसन्न करने के लिये नृत्य गान कर रही हैं । आप इनको स्वीकार करें । यह देवगति सम्यक्दृष्टि के लिए अच्छी है । किन्तु जो सम्यक्त्व रहित तप व्रत है वह संसार के लिए कारण है । ऐसे व्यक्तियों के लिए कर्म निर्जरा का कारण न होकर संसार का कारण होता है । इसीलिए पूर्वजन्म में हाथी की पर्याय में अगुव्रत धारण कर सम्यक्त्व सहित आपने देवगति प्राप्त की है । आप धम्य हैं ॥४६१॥

नीदि कडवार् पेरियो कडा ।  
 आदलालमरन् नधे सैद पिन् ॥  
 छातियै कडियुं तिरु मालडि ।  
 पोडु कौडु पुगळुं दु परिणवनन् ॥४६२॥

अर्थ—सद्गुणों को प्राप्त हुए जीव नीति शास्त्रों में कहे हुए भगवान के वचनों के अनुसार चलकर इस लोक व परलोक के साधन करने के लिए प्रयत्न करते हैं । इसी प्रकार सद्गुण शिरोमणि श्रीधर देव ने पहले कहे अनुसार पूजा, अर्चा, आदि नित्य क्रिया करके अर्हत देव की स्तुति की ॥४६२॥

आर नडेव विकानत्ताने पाय् निडुन् ।  
 सरण शरणडंवे निडिवं शासार नानार् ॥



करणमेला वेंडुने कंडवर्गळ् काय ।

मरणमिला वीडेंदन् मटोर पोखळु ॥४६३॥

अर्थ—स्तुति करते समय श्रीधर देव भगवान से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु ! जिस वन में सिंह व्याघ्र आदि रहते हैं, ऐसे सल्लकी नामक वन में मैंने हाथी की पर्याय को धारण किया था । परन्तु मेरे पूर्व जन्म के भाग्य के उदय में आने से सिंहचन्द्र मुनि मुझे मिल गये । वे मुनि अपने वचनमृत के अनुसार मुझे भी वही धर्ममृत वचन सुनाकर मेरी आत्मा को जागृत कराया । अर्थात् पंच पापों का त्याग कराया । इसी कारण पशु पर्याय को त्यागकर धर्म ध्यान से अब उत्कृष्ट पर्याय को धारण को है । यह आपके वचन की ही शक्ति है जो मैं निश्च पर्याय को छोड़कर देवगति में आया । अब मन, वचन, काय त्रिगुण से आपको देखकर अति अनुभव में लीन होकर स्वानुभूति को प्राप्त होकर जन्म मरण को नष्ट करके मोक्ष प्राप्त करना दुर्लभ नहीं है, बड़ा सुलभ है । यह इस कारण सुलभ है कि आपके वचनों में महान शक्ति है ॥४६३॥

निळपॉल निड्डुन्ने वंदडेंदा याट्टा ।

यळपॉकि येंद मिला विवत्तौ याकि ॥

वळुत्तरा मुत्तिइन् कन् वेंक्कु निन् पोपीद ।

निळर्सेरा माट्टा नेड्डु वळिये सेल्वार् ॥४६४॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपकी छाया के समान हमेशा हमेशा आपके चरण कमल का जाप्य करने वाले जीव इस संसार रूपी समुद्र से तैरकर अत्यन्त सुख को देने वाले मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है । आपकी पूजा, अर्चा, स्तुति, ध्यान करने वाला जीव अधिक दिन संसार में परिभ्रमण नहीं करता है ॥४६४॥

कामनें युं कालनें युं वेंडुलग मंडि नुक्कुं ।

सेम नेरि अरुळि सेंवामरै पुळ्ळि ॥

पुमुदिरा पिडि कीळ् पोन्नेइल् लुन् मन्नियनिन् ।

नाम नधि ट्रावार् वीटुलग नन्नारे ॥४६५॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप कामदेव रूपी यमराज को जीतकर तीन लोक के प्राणियों को अनन्त सुख उत्पन्न करने वाले वचनमृत को पिलाकर देवेंद्र चक्रवर्ती पद को देने वाले हैं और देवों के द्वारा निर्माण किये हुए १००८ दल के कमलों में चार अंगुल अधर विराजमान होने वाले हैं । आप हमेशा कभी भी शोक को न उत्पन्न करने वाले अशोक वृक्ष के नीचे विराजने वाले हैं और आप पर पुष्पवृष्टि मेघों की बून्दों के समान होती रहती है । देव आपकी स्तुति करते हैं, और स्तुति करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है । ऐसे श्रीधर देव ने भगवान की स्तुति करते हुए प्रार्थना की ॥४६५॥

इप्पडित्तु दित्तोगिय पिन्नरे ।

तुप्पडुं तोडें वायवर् तुप्पिना ॥

रोप्पिलाद विबत्तु कुळित्तन ।

नेप्पडि तुरक्त्तियल् पेंडि येल् ॥४६६॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीधर देव अत्यन्त भक्ति पूर्वक पूजा ध्यान करने के पश्चात् वहाँ से रवाना होकर अपने निवास स्थान पर आया । श्रीधर के अपने स्थान पर आते ही सुशोभित होकर जैसे सुन्दर २ स्त्रियाँ आती हैं उसी प्रकार वहाँ देवांगना आई । तब श्रीधर देव, देवांगना के साथ हास्य विनोद आदि में महान मग्न हुआ । उस मग्न होने का विवरण करना अशक्य है ॥४६६॥

देवों के निवास स्थान के पटलों का वर्णन

वंडिन् मेल् वैयित्त मुप्पत्तेळ् नागिरन् ।

दोंडिन् मेलोड् मूड् मूडोंबुडु ॥

वड् मेलोड् मान् तुर कप्पुरे ।

निड् मेलुर कीळ् निड् नीदियाल् ॥४६७॥

अर्थ—स्वर्ग लोक के पटल—क्रम से सौधर्म, ईशान कल्प में ३२ पटल हैं । सनत्कुमार, माहेन्द्र देवों के स्थान में ७ पटल हैं । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर देवों के स्थान में ४ पटल हैं । लांतव, कापिष्ठ कल्प में दो पटल हैं । शुक्र महाशुक्र कल्प में एक पटल है । शतार सहस्रार में एक पटल है । आरण, प्राणत कल्प में दो पटल हैं । आरण, अच्युत कल्प में ३ पटल हैं । नवग्रंथेयक स्वर्ग में ६ पटल हैं । नवानुदिश में एक पटल है । पंचानुत्तर में एक पटल है । इस प्रकार सौधर्म, ईशान कल्पों में पटलों की संख्या है ॥४६७॥

आयु का प्रमाण

इरंडु मेळनीरेंडु नीरेळुमा ।

ईरेंडु मेरसेंडि रुपत्ति रंडेव ॥

तिरंड वट्टिन् मेलोड् सेंडायुग ।

मुरंडेळुं कडन् मुप्पत्तु मूड् मे ॥४६८॥

अर्थ—सौधर्म ईशान देव की आयु २ सागर । सनत्कुमार माहेन्द्र देव की ७ सागर । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर देवों की १० सागर । लांतव, कापिष्ठ देवों की आयु १६ सागर । शुक्र, महाशुक्र पटल के देवों की आयु १६ सागर । शतार सहस्रार देवों की १८ सागर । आरण, प्राणत देवों की आयु २० सागर । आरण व अच्युत कल्प के देवों की आयु २२ सागर । नवग्रंथेयक कल्प के देवों की २३ से ३३ सागर । नवानुदिश में रहने वाले की एक एक सागर क्रम से बढ़ती जाती है । अधिक से अधिक ३३ सागर की आयु होती है । नवानुदिश में रहने वाले जीवों की आयु ३२ सागर होती है । पंचानुत्तरस्वर्ग के देवों की आयु ३३ सागर है । इस प्रकार उपरोक्त आयु उत्कृष्ट आयु है ॥४६८॥

कडर् कोराइर तांडु कडंदमिर् ।  
 तुडंद् वेंपसि तीर मनत्तुना ॥  
 कडर्कु नाळ पदिनेंदु कळित्तुइर् ।  
 तडक्क भिल्लइन् पत्तर देवरे ॥४६६॥

अर्थ—एक सागर आयु वाले देवों को एक हजार वर्ष के बाद भूख लगती है। वह भूख मानसिक आहार से तृप्त होती है। एक सागर आयु वाले देव १५ दिन में एक बार आसोच्छ्वास लेते हैं। और इन्द्रिय विषयभोग का भी अनुभव मनुष्य के समान करते हैं।

॥४६६॥

### देवों के शरीर की ऊंचाई

येळु मुळं मुदरु केळरं वीळंदिडे ।  
 योळि मुळड् कर्पदुच्चिइन् मूंड्रं ॥  
 विल्लु मुळं मरयेंदुडन् वीळं दुमे ।  
 लुळि मुळं मोंड्रनुत्तर तोकमे ॥५००॥

अर्थ—सौधर्म, ईशान स्वर्ग के देवों के शरीर की ऊंचाई ७ हाथ। सनत्कुमार माहेन्द्र पटल के देवों की ऊंचाई ६॥ हाथ। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर देवों की ६ हाथ ऊंचाई। लांतव कापिष्ठ कल्प के देवों की ५॥ हाथ। शुक्रमहाशुक्र देवों की ५ हाथ। शतार, सहस्रार स्वर्ग में रहने वाले देवों के शरीर की ऊंचाई ४॥ हाथ। आणत, प्राणत स्वर्ग के देवों की ४ हाथ। आरण व अच्युत स्वर्ग के देवों की ऊंचाई ३॥ हाथ होती है। हेट्टिम ग्रैवेयक के हेट्टिम मज्झिम उवरिम ऐसे दोनों विमानों के देवों के शरीर की ऊंचाई २½ हाथ। नवानुदिश कल्प के देवों की ऊंचाई १ हाथ। मध्यम ग्रैवेयक के हेट्टिम मज्झिम उवरिम विमानों में २ हाथ है। उवरिम ग्रैवेयक के हेट्टिम मज्झिम उवरिम विमानों में १॥ हाथ है। उवरिम ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की ऊंचाई २ हाथ। पंचाणुत्तर पटल स्वर्ग के देवों की ऊंचाई १ हाथ। इस प्रकार देवों के शरीर की ऊंचाई समझना चाहिये ॥५००॥

सोव मीशानर् तम् मेलिरुवर तम् ।  
 मोदि मन्नोंड्रि रंडम् मुरैयुहं ॥  
 नीदिया निलंकीळ् मूंड्रु नाळैदा ।  
 लोदियाल् मेल मुधाल् वरुनर् वेर ॥५०१॥

अर्थ—सौधर्म ईशान स्वर्ग के देव अपनी २ अवधि से तीसरे नरक तक का हाल जानते हैं। सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग के देव अपने अवधिज्ञान द्वारा दूसरे नरक के हाल जानते हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के देव तथा लांतव, कापिष्ठ पटल के देव अवधि से तीसरे सातवें नरक तक का हाल जानते हैं। शुक्र, महाशुक्र शतार व सहस्रार यह चार प्रकार के स्वर्ग के

देव चार नरक तक का हाल जानते है । अनन्त, प्राणत, अच्युत स्वर्ग के देव पांचवें नरक का हाल जानते है ॥५०१॥

आर दाघदं केवच्च माय् दिडु ।  
नीरिलविवरुक्कु मेळावदाम् ॥  
मारिला चव्व सिद्धिइल् वानव ।  
रुरिला ओदि नाळिगे युट् कोळुं ॥४०२॥

अर्थ—नव ग्रंथेयक पटल के रहने वाले देव छठे नरक तक का हाल जानते हैं । नवानुदिश पंचाणुत्तर नामके स्वर्ग के देव सातवें नरक तक का हाल जानते हैं । सर्वार्थसिद्धि नाम के विमान में रहने वाले देव त्रस नाडी में रहने वालों के हालात जानते हैं ॥५०२॥

मिड्डेन् मेनिये तींडरिल् कांडलि ।  
नडेयु मिन् सोलिर सिद इन् मेवलिन ॥  
मडनल्लारिन् वरुं पय नंदुव ।  
रडेवि लोदियिर् सोन्न मुन्ने वरुं ॥५०३॥

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देव कामभोग मनुष्य के समान करते हैं । सनत्कुमार, माहेन्द्र स्वर्ग के देवों के देवियों के स्पर्शन से ही काम वासना की तृप्ति हो जाती है । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ स्वर्ग के देवों की देवियों के देखने से ही कामभोग का लालसा तृप्त होती है । शुक, महाशुक, शतार सहस्रार नाम के देवों के देवियों के शब्द सुनते ही काम की तृप्ति हो जाती है । आणत, प्राणत, आरण, अच्युत स्वर्ग के देवों को स्मरण मात्र से ही तृप्ति हो जाती है ॥५०३॥

पल्ल मेविन् मेर् पन्निरडांवदे ।  
येल्ले याग विरंडि रंडेरिडु ॥  
मल्लनाल्वरु केळु मिक्कैम्बत्तौयि ।  
पल्ल मान् देवि येर् पर मायुवे ॥५०४॥

अर्थ—उन देवियों के साथ रहने वाली देवियों की आयु ७ पल्य की होती है । सौधर्म कल्प में रहने वाले देवों की आयु ५ पल्य की होती है । सौधर्म स्वर्ग से ऊपर रहने वाली देवियों की आयु एक एक पल्य बढ़ती जाती है । आणत, प्राणत, आरण स्वर्ग में रहने वाले देवों के साथ की देवियों की आयु ७ पल्य होती है । अनन्त में रहने वाले अच्युत स्वर्ग की देवियों की आयु ५ पल्य की होती है ॥५०४॥

मोंगमिन् मुनिवन विवम् पोलवे ।  
तोगये यनेयवर् तोडचि इंङ्गिये ॥

सोग मोडु रतुय रिङ्गि तानियल् ।  
पागु नल्लग मिदिरत्तवारिबमे ॥५०५॥

अर्थ—अहमिन्द्र स्वर्ग में रहने वाले देव मोह रहित रहते हैं, जैसे साधु का परिणाम शुद्ध रहता है, और काम सेवन से रहित होते हैं। विशुद्ध परिणाम के अनुभव से ही सुख और शांति को पाते हैं ॥५०५॥

सोदमर शिरुमं जोविड रुत्तम ।  
मोदिय वरं कडलुत्त उत्तमस् ॥  
नीदिया निलंकीळ् मेल वकुं निडुवा ।  
मेव मि लिडंयन् पलवु मागुमे ॥५०६॥

अर्थ—सौधर्म, ईशान कल्प के देवों की उत्कृष्ट आयु १ पल्य के होती है। नीच जाति के देवों की आयु जैसे सौधर्म, ईशान कल्प के देवों की उत्कृष्ट आयु होती है उसी प्रकार इनकी जघन्य आयुष्य होती है। मध्यम आयु अनेक प्रकार की है ५०६॥

इदुवयरुलगु मदनियल्वि नन् कनष् ।  
शदिर मंचासार कर्पत्तिन् वळि ॥  
यदिर् पेर ववन रुमत्ति यायुग ।  
मधुर नन्मोळि वरुमिब मेविनान् ॥५०७॥

अर्थ—इस प्रकार देवलोक में रहने वाले देवों की आयु, उनके काम व विषयभोग तथा आयु का क्रम इस प्रकार होता है। वह श्रीधर नाम का देव सहस्रार कल्प में सूर्यप्रभा नाम के विमान में मध्यम आयुष्य को प्राप्त करने वाला बारहवें कल्प में उत्पन्न हुआ। वह देव वचन प्रवीचार नाम के शब्दों से विषय सुख से तृप्त होता था ॥५०७॥

पदिनरु कडन् मिसी पट्टवायुगं ।  
पदिनरु वरुडमा इरंग् कडवुना ॥  
पदिनरु पदनंनाळ् विट्टुयित्तिर ।  
पदिनरु भावनै यारं पाडुमे ॥५०८॥

अर्थ—बारहवें स्वर्ग के सुख को अनुभव करने वाले श्रीधर देव की आयु सोलह हजार वर्ष से कुछ अधिक थी। सोलह हजार वर्ष में वह देव एक बार मानसिक आहार करता था। और आठ महिने में एक बार श्वास निश्वास लेता था। वह देव सदैव षोडश भावना का चिंतन किया करता था ॥५०८॥

नालरि मुळ मियल्बा मोर् मातिरै ।  
माल्वरं येनुवळ वाय् निने पुळि ॥  
शालवु नेनिय वर् पोल वंदलु ।  
मालुव मुरुप्पल वागु मेनियान् ॥५०६॥

अर्थ—उस श्रीधर देव की ऊंचाई साठे चार हाथ थी । वह देव विक्रिया ऋद्धि धारक था और प्रति क्षण में छोटा बडा शरीर तथा रूप को बना लेता था । और उस रूप से सभी को मोहित करता था ॥५०६॥

वास मोरोंजने निडु नारिडु ।  
देसु मोरोजने सेंद्रे रिक्तुडुं ॥  
दूशणि मासंद मेनिइन् गुणषु ।  
पेसलां पडियदु वंडु पोडिनाल् ॥५१०॥

अर्थ—उस श्रीधर देव के शरीर में अनेक प्रकार के आभूषण कंठहार आदि थे । उनके गले में पुष्पहार कभी भी नहीं मुरझाता था । उनके शरीर में सुगंध सदैव आती है और वह सुगंध एक योजन तक फैल जाती है । तथा शरीर का प्रकाश भी एक योजन तक पडता है । उस देव का गुण प्रकट करना अशक्य है ॥५१०॥

मुन् सें नल्विनेनान् मुगिलिन् मिन्नना ।  
रिन् सें वायव रेंदु कोंगैयर् ॥  
वंदिडे सूलं विड वनंग वानव ।  
रंदमीलिइन् वत्तु लमरन् मेविनान् ॥५११॥

अर्थ—पूर्व जन्म में किये हुए पुण्य कर्म के उदय से इस प्राणी को स्त्री, पुत्र, धन, संपत्ति आदि वैभव मिलते हैं । वैसे ही सभी देवों द्वारा पूजनीय चारों ओर से सब के द्वारा नमस्कार करने योग्य आदि सारी बातें श्रीधर को पुण्योदय से ही प्राप्त हुई थी । वह श्रीधर देव भोगभोग में सानन्दग्रपना जीवन व्यतीत करता था । नीच भीलों के द्वारा निकृष्ट जंगल में ताडे जाने वाले हाथी को एक दिग्ग्वर साधु के उपदेश का निमित्त मिलने से पूर्व जन्म का जाति स्मरण होते ही उसने अणुव्रत धारण किया । और उस व्रत को मन मचन से धारण करने से श्रीधर नाम का देव हो गया । अल्प व्रत की शक्ति क्या सामान्य है ? आज कल के नास्तिक लोग धर्म से च्युत होनेवाले कहते हैं कि व्रतों की आवश्यकता नहीं है । यह व्रत तो संसार के कारण हैं । ऐसा कहने वाले इस अल्पव्रत के उदाहरण को यदि भली भांति समझ लें तो विदित होगा कि व्रत का कितना महान महत्व है । व्रत का तिरस्कार करने वाले आज कल के विद्वानों को इस ओर दृष्टिपात करना चाहिये । क्योंकि केवल व्रताचरण के भय से व्रत नियमादि का तिरस्कार करके केवल अध्यात्मवाद का पुरुषार्थ करने वाले तथा

मोक्ष की इच्छा करने वालों को व्रत का महत्व क्या है ? इसके समझने की अत्यन्त आवश्यकता है। जैन सिद्धांत में अनेकांत दृष्टि रखी है। एकांत नहीं है। इस कारण एकांत अनेकांत को भली प्रकार देखा जाय तो जैन धर्म का निचोड़ मालूम होकर मोक्षमार्ग की परिपाटी का भली प्रकार से ज्ञान हो सकता है। इसलिए केवल एकांत को पकड़ कर ही मोक्ष की इच्छा करना चाहते हैं वह उचित नहीं। इस प्रकार वह श्रीधर देव बारहवें स्वर्ग में आनन्द पूर्वक स्वर्ग सुख का भोग भोगते हुए काल व्यतीत करने लगा ॥५११॥

मंदिरि तमिलनुं मरित्तु माल्वन ।  
तंदर मिडि वानरम दागि नान् ॥  
सिदूर कळिट्टिन् मेल् सेरिद वंदिनाल् ।  
वेंतुयररा वरवत्तौ वीटिनान् ॥५१२॥

अर्थ—इधर सत्यघोष नाम के मंत्री का मरण होने के बाद सिंहसेन राजा ने धर्मिल नाम के ब्राह्मण को मंत्री पद दिया। तदनन्तर वह ब्राह्मण मंत्री मरकर सल्लकी नाम के वन में बंदर हो गया। पूर्व जन्म के प्रेम के कारण उस बंदर ने उस हाथी को कुक्कुड सर्प द्वारा काटा हुआ देखकर सर्प पर उपसर्ग किया और मार डाला ॥५१२॥

वुरगं वान रत्तिन लुई रिळ्ळु पोय् ।  
नरग मूङ्गा वदै नन्नियेन्नहं ॥  
पेरिय मादुयर मदुट्टु वाट्टवम् ।  
विरंगिनाल् विनै कनिन् रुदयन्सेट्टववे ॥५१३॥

अर्थ—पूर्व जन्म में उपाजर्जन किया हुआ शिवभूति नाम के मंत्री का जीव वह कुक्कुड सर्प मरकर अत्यन्त दुख देने वाले तीसरे नरक में जाकर उत्पन्न हुआ ॥५१३॥

वोट्टुगं कळुदै नाय् पांबु वासियु ।  
निट्टुवोर् कुळिडन् मिक्केळुंदु नारिडुं ॥  
मट्टिडै वीळ्ळुदवि लमैव याकै यान् ।  
सुट्टुदो पनैत्तु नि पोल तूंगिनान् ॥५१४॥

अर्थ—वह कुक्कुड सर्प का जीव गधे, ऊँट, सर्प, कुत्ता, घोड़ा आदि पशुओं के सड़े हुए मांस की दुर्गंध के समान घोर नरक में अत्यन्त दुख को भोगते हुए काला सिर धारण किया हुआ व नीचे मुँह ऊपर पांव हुए एक योजन ऊपर से नीचे गिर जाता है और उसका मुँह चूर २ हो जाता है ॥५१४॥

मुडैयुडंबु ओरु मूळ्त मेगलुं ।  
पडैमिडै भूमिमेर् पवित्त पोळ्ळिने ॥

तडियोडु दंडु वाळेंदि सूळं विडा ।

कडेंयर वदुकिनार् काळमेनियार् ॥५१५॥

अर्थ—उस नरक में अत्यन्त दुर्गंध को प्राप्त हुए वह नारकी जीव अंतर्मुहूर्त्त में शरीर को धारण करने वाला होकर ऊपर से नीचे गिर जाता है, और गिरते ही उस नरक में रहने वाले अन्य २ नारकी तलवार मुद्गर, बरछी आदि २ शस्त्रों से उसके टुकड़े २ कर डालते हैं ॥५१५॥

तिरितनर् सेक्कुर लुट् तेयचिइ ।

लुरित्तनर् किळ्ळि पुयोप्प सुट्टिडा ॥

वेरित्त नर् निरैत्त मुळ्ळि लव मेट्टि निन् ।

हरैत्तन रेदिरेदिर् वळेंद मुळ्ळिन मेल् ॥५१६॥

अर्थ—उस नारकी जीव के शरीर को वहां के नरक में रहने वाले अन्य २ नारकी घाणी में पेलने लगे । उसके शरीर के चमड़े को खींच कर अलग कर दिया । और उसके मांस के लोथड़े को तीक्ष्ण कांटों के झाड़ में फेंक दिया ॥५१६॥

शीकुळि पुट्पुग तूकि नार् शिलर् ।

वाकिनार् सेंविनेर् युसुकि वायिडे ॥

तूकि मुन्मद्यगे यार् पुडैत्तिह ।

पाकवाय् पिळ्ळिदिडु वारु माई नार् ॥५१७॥

अर्थ—तत्पश्चात् पुराने नारकी जीवों ने इस नवीन नारकी जीव को नारकीय कुंड में डाल दिया । तथा ताम्बे व लोहे को तपाकर गलाकर गर्म २ इसके मुंह में डाल दिया । तीक्ष्ण कांटों को चुभा २ कर मारने लगे ॥५१७॥

मलैयन पेरियवो रिरुम्बु वट्टिने ।

युलं येळर् पोर् कनत्तुरग सुट्टिडु ॥

निलं यळर् कुट्टत्तु वेंदु नीडिया ।

तुलइन् वेंबलि येन वेळुंदु बीळुमे ॥५१८॥

अर्थ—पुनः उस नारकी को अग्नि कुण्ड में डाल दिया । उसमें जिस तरह भात पकता है तथा अन्न को चूल्हे पर चढाने पर जैसे वह अन्न खदबदाता है, सीभता है ; उसी प्रकार अनेक प्रकार की तीव्र वेदना को वह नारकी भोगने लगा ॥५१८॥

पंजळ उलरंदु नापरंद वेट् कैया ।

मजिने मडुत्तुड नडुंगि वीळं विडा ॥



तुंजिनं तुंजिडा तुयर माकड ।

लेंजलि लायुग मिरक्क मोडि लान् ॥२१६॥

अर्थ—इस प्रकार असह्य दुख को सहन करते हुए जब प्यास से उस नारकी की जिह्वा सूख जाती है तब पुराने नारकी यह कहकर कि यह पानी है पीवो और विष को पिला देते हैं, जिसके पीते ही वह नारकी मूर्च्छा खाकर नीचे गिर पड़ता है। नरक में अपमृत्यु न होने के कारण वहां के रहने वाले नारकी जीवों द्वारा अनेक प्रकार के दुख उसको भोगना पड़ता है ॥५१६॥

निड्, निड्, ट्, वें पशियं नोकुवा ।

नोडि निड्, वर्, निनेविट्ट वक्कनम् ॥

सेड्, नंजदिशं युं सेरिविडा ।

पोड्, निड्, डिट्टिड्, कनंदोरुं पुगा ॥५२०॥

अर्थ—जब तीव्र क्षुधा उत्पन्न होती है तब विष मिश्रित अन्न उसको देते हैं। उस अन्न के खाते ही पेट में असह्य पीडा व जलन और अनेक प्रकार की वेदना होती है। इससे वह प्रधीर होकर गिर जाता है और तडफडाता है ॥५२०॥

मुळ मिशं मुप्पत्तोर् विल्लुयरं, दव ।

नेळु मिशं पुगं मुप्पत्तोड्, कावमुष् ॥

विळु मुडन् वेंकनल् वेन्नं पोड्, डे ।

तेळु कडट्टानु मीदवनि यकये ॥५२१॥

अर्थ—तीसरे नरक में उत्पन्न हुआ कुक्कुड नामक का सर्प जो शिवभूति मंत्री का जीव था, वह ३१ १/२ धनुष उच्छेद ऐसे शरीर को धारण कर जमीन से उडकर वहां से सिर नीचा किये जमीन पर गिर जाता है। ऐसे नारकी की आयु नरक में सात सागर की होती है और आयु समाप्त होने तक इसी प्रकार का घोर दुख भोगना पड़ता है ॥५२१॥

नेरुप्पिने युमिळं, बिडुं निळल् कळ् पुक्किडिल् ।

विरुप्पुरु मवें विपरीत माय्वरुं ॥

सेरुच्चया दारिले तिरियुं तीवळी ।

पुरेप्प देन्न वनिनि नरगवुट्टवे ॥५२२॥

अर्थ—वह नारकी नरक के दुखों को अर्थात् गर्मी के ताप को दूर करने के लिए एक वृक्ष के नीचे जाकर बैठता है। और बैठते ही हवा चलते ही उस पेड़ के पत्ते तीक्ष्ण शस्त्र के समान उसके शरीर पर गिर जाते हैं। और शरीर चूर २ हो जाता है। अर्थात् ऐसी अत्यंत गर्म वायु चलती है मानों अग्नि में डाल दिया गया हो। वहां से उठकर मन की शांति के लिये वह और २ जगह जाता है तो कहीं भी कोई शांति का साधन नहीं मिलता है। उस

नरक में उप नवीन नारकी जीव के साथ सभी नारकी प्रेम का व्यवहार न करके परस्पर में सभी मिलकर उसको मारते हैं, पीटते हैं। इस प्रकार नरक में रहकर उस मंत्री का जीव नाना प्रकार के दुख भोग रहा है ॥५२२॥

नागत्तं पोलु नागं नागत्तात् नागमेव ।  
नागत्तं नागं तुयुत्तु नागंवा नरग मेयिव ॥  
मेगत्तिनोडुं तिगळ् बोळं बुडन् किडंद देस्र ।  
नागत्तिन् कौबु मुत्तुम् नरियनुं कुरुवन् कौडान् ॥५२३॥

अर्थ—पर्वत के समान रहने वाले गंभीर अश्वनी कोड नाम के हाथी के शरीर को कुक्कुड सर्प के द्वारा काटे जाने से वह अन्तिम समय शुभ ध्यान में लीन होकर मरकर देव-गति को प्राप्त हुआ। और उस सर्प का जीव बंदर द्वारा मारे जाने के कारण तीसरे नरक में गया। तदनन्तर नर नाम का भील जिस स्थान में वह हाथी मरण को प्राप्त हुआ था उस भूमि पर आकर हाथी के शरीर के दांत व गजमोतियों को चुन २ कर ले गया ॥५२३॥

वंतमुं मुत्तुम् कौडु धनमित्तन् द्रुम्ने कंडु ।  
बेंतिरल् वेडनीडु बेंडुष कौडु पोनान् ॥  
सुंदर मुत्तुं कौबुम् कौडु पिन् वनिगन् पूर ।  
अंदिरन् शरणं सारंडु शालबुं शिरप्पु पेट्टान् ॥५२४॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह भील गजमोती व गजदन्तों को सिंहपुर नगर में ले गया और वहां धनमित्र नाम के व्यापारी को कुछ गजमोती व गजदन्त बेच दिये और बाकी बचे उमने अपने पास रख लिए। तदनन्तर वह व्यापारी उन गजमोती व गजदन्तों को उस नगर के अधिपति राजा पूर्णचन्द्र के चरण कमलों में जाकर भेंट किया और आशीर्वाद प्राप्त किया। ५२४॥

पैबोनुम् मणियुं मुत्तुं पबळमुं पायिड् मंजिर् ।  
कौबि रंडिनेयुं नालु कालगळाय कडेंदु कूटि ॥  
बं मणि मुलै नार्गळ् सूळयट्टवने पेरि ।  
कौबिडे पिरंद मुत्तु मालै कौडनि विहंबान् ॥५२५॥

अर्थ—राजा पूर्णचन्द्र हाथी के दांत व मोतियों को देखकर अस्यन्त प्रसन्न हुआ और उस व्यापारी को भेंट स्वरूप कुछ देकर विदा किया। राजा ने मोतियों को पलंग के चारों पायों में भरकर सोने के लिये पलंग तैयार कराया। और बाकी गजमोतियों का कंठ हार बनवाकर गले में धारण कर लिया। विषय भोग में मग्न हुआ जीव क्या २ नहीं करता? सब कुछ करना है। क्योंकि राजा पूर्णचन्द्र को भगवान् जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए वचनों पर श्रद्धा नहीं थी। हमेशा इन्द्रिय मुख में मग्न रहता था। स्त्री व संसार भोगों की ओर अधिक रुचि थी। धर्म के प्रति उसको श्रद्धा नहीं थी। यह सभी कर्म की विचित्र लीला थी ॥५२५॥

इंमिन्वं माट्टिन दूर्म्म केटपिन् धारु मिल्है ।  
 पोंगिय पुलत्ति नोंगि येरंवलं पडादु पोवार् ॥  
 शिंगवेरनय काळै किदनं नी सेप्पुतीमै ।  
 पंगनल्ल रत्ति नागु मेनप्पनिंदु वंदु पोनान् ॥५२६॥

अर्थ—इस प्रकार हे रामदत्ता आर्यिका माता ! इस लोक में कर्म की विचित्रता महान बलवान है । जब यह कर्म की विचित्रता इस जीव को घेर लेती है तब हिताहित का ज्ञान उसको नहीं रहता । इन्द्रिय लम्पटी जीव संसार में क्या नहीं कर सकता ? सब कुछ करता है । उसको हिताहित का विचार कहां से हो ? इस कारण हे माता ! सिंह के समान पराक्रमी पूर्णचन्द्र राजा को सारा वृत्तांत कह दो । ऐसे सिंहचन्द्र मुनि ने रामदत्ता आर्यिका से कहा । तदनन्तर यह आर्यिका सिंहचन्द्र मुनि को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके सिंहपुर नगर में आई ॥५२६॥

मादवन् पादमेट्टि मनोगर वनत्ति निंदु ।  
 मादरत्तोडुं पोगि यरसन मगनं कांडु ॥  
 कावलुं कळिप्पु नोंगु कदैयि नै युरेप्प केळा ।  
 मेदिनी किरै वन् शाल वेंतुइर् तवल मुट्टान् ॥५२७॥

अर्थ—आर्यिका माता ने राजमहल में रहने वाले पूर्णचंद्र को देखा और बड़ी शांति से रागद्वेष को नष्ट करने वाले वैराग्य भावना का उपदेश व सारा वृत्तांत कहने लगी । राजा पूर्णचंद्र उपदेश सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और धर्म के प्रति उसे पूर्ण विश्वास और भ्रद्धान हो गया ॥५२७॥

मस्सिनु किरैव नायु यरत्तिने परंदु मुन्ने ।  
 पुण्णिय मुलरंद योळ्विन् विलंगिडै पुक्कु वीळ्दान् ॥  
 विप्पिनु किरैव नानान् विलंगि निन् ररत्तं मेवि ।  
 येसलुं द्रादै नीयु नल्ल तींगरिंदु कोळ्ळे ॥५२८॥

अर्थ—तदनन्तर वह आर्यिका पुनः अपने छोटे पुत्र पूर्णचंद्र को संबोधित कर कहने लगी कि आपका पिता जो सिंहसेन राजा था उसने इस राज्य को करते हुए इस भव को छोड़कर दूसरे जन्म में पशु गति में हाथी की पर्याय पाई । और जब वह वन में मदीन्मत्त होकर विचर रहा था उस समय मुनि सिंहचन्द्र ने उसको धर्मोपदेश दिया और उस उपदेश से जैन धर्म को हृदय में धारण कर आयु के अवसान में शरीर छोड़कर देवगति को प्राप्त हुआ । इस लिये इस संबंध में अच्छा कौनसा है और बुरा कौनसा है—उस धर्म को सुनकर स्वीकार करो ॥५२८॥

इलंगोळि मगुडं सूडि इरुनिल किळव नायुम् ।  
 पुलंगन् मेर् पुर्रिवेळुंदु विलंगिडै पुर्रिंदु वीळ्दान् ॥

विलंगिडै पुलंगडम्मै वेरुत्तु बिन्नुलगिर् सेड्डा ।  
नलं कलदारी नाय नीर्यारिडु कोनल्ल देड्डाळ् ॥५२६॥

अर्थ—नवरत्न द्वारा निर्माण किये हुए किरौट को धारण करने वाले हे बालक ! इस राज्य के मुख वैभव को धारण करने वाले, हे कुमार ! तुम्हारे पिता इस जन्म से दूसरे जन्म में हाथी की पर्याय में हुए । किन्तु कर्मवश मनुष्य पर्याय नहीं मिली । तिर्यंच गति में जाकर हाथी होकर मुनिराज से अणुव्रत ले लिया और उस व्रत का पालन करते हुए धर्मध्यान पूर्वक मरकर अच्छी गति को प्राप्त किया । रत्नमयी कंठों के धारण करने वाले कुमार ! य द अच्छी गति में तुमको जाना है तो कौनसे धर्म को स्वीकार करना चाहते हो बताओ ।  
॥५२६॥

पट्टिनार् भूति पांबाय् चमर माय् कोळि पांबाम् ।  
शट्टत्तार् ट्रीडल् वेंबु नरगत्तौ सेरिडु निड्डान् ॥  
कोट्टवेर् कुमर नीड्पिर विये कुरग वंजिर् ।  
शेट्टमुम् पट्टु नीगिं तिरुवरम् पुनर्ग वेंड्डाळ् ॥५३०॥

अर्थ—इस प्रकार वह रामदत्ता आयिका पुनः अपने पुत्र को कहने लगी कि हे पूर्णचंद्र ! वह शिवभूति नाम का मंत्री इस संपत्ति के मोह से मरकर सर्प की योनि में गया । पुनः वहां से मरकर चमरी मृग हुआ । चमरी मृग की पर्याय छोड़कर कुक्कुड सर्प हुआ । सिहसेन राजा क्रोध, मान, माया आदि से निदान बंध करके मरकर हाथी हुआ और शिवभूति के जीव सर्प द्वारा वह हाथी काटा गया । और वह सर्प आर्त रौद्र ध्यान से मरकर तीसरे नरक में गया । इस कारण हे कुमार ! पंचेन्द्रिय विषयों में तुम लीन हो रहे हो । तुमको भी उनके समान ही गति न मिले, इस कारण तुम जैन धर्म धारण करो ॥५३०॥

अरस उन् ट्रावे युट्ट तरुंद वन् शीय चंदन् ।  
ट्टिरिविद उलग मेत्तुं तिरुवडि पानिडु केटेन् ॥  
ओरुवि नी मरत्तं इंदपिरप्पु नीरुगुत्ति डावे ।  
मरुव नीयरत्तौ इंदमाट्टु वडविदेंड्डाळ् ॥५३१॥

अर्थ—वह माता पुनः कहने लगी कि हे पूर्णचंद्र ! यह मैं तुम को अपनी बुद्धि से नहीं बता रही हूँ । मुनिराज से जो वृत्तांत व उपदेश सुना है वैसा ही कह रही हूँ । तुम्हारा पिता सिहसेन धर्म को छोड़कर मरकर हाथी बना और हाथी ने मुनिराज का उपदेश सुनकर अणुव्रत लेकर महान तप किया । और संकल्प विकल्प छोड़कर उत्तम गति को प्राप्त हुआ । इस कारण विषय वासनाओं को छोड़कर तुम जैन धर्म को अपनाओ ॥५३१॥

आंग व रुरैत्त विन् सोलर विळक्के रिप्प उळ्ळ ।  
नींगियतिरुळ्ळ नींग नेरिइनै सिरिडु कंडान् ॥

तांगरुं तुंबं मुद्रान् द्रावे पाकादिसार् पित् ।

द्रींगला नींग मुरी कौबोडु तीईस वंतान् ॥५३२॥

अर्थ—रामदत्ता आश्रिका ने अपने पुत्र पूर्णाचन्द्र को उपदेश देकर जैन धर्म की ओर प्रवृत्त कर लिया । पूर्णाचन्द्र ने अपने माता के हितोपदेश को ग्रहण किया । जिस प्रकार अंधकार में दीपक रखते ही सम्पूर्ण घर में प्रकाश पड़ता है उसी प्रकार अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट कर पूर्णाचन्द्र की आत्मा में धर्म का प्रकाश पड़ गया । तब सभी बात जानकर कि अपने पिता ने हाथी की पर्याय को छोड़ा था । और उसी हाथी के दांत व गजमोती का उसने जो पसंग व गले का हार बनाया था तुरन्त उसको तोड़कर चूर २ कर दिया और जला दिया ॥५३२॥

पाम्मयडु गुदिस तोळ्दिर् पेंबोडि पवळ वायार् ।

मीरसैयंगुरिस यामे मनसग वगंडु निपं ॥

शीर्मयंगुदिसप नम्बै शेरिबनन् सेरिबोवष् ।

कूर्मयंगुदिसकु वें वेर् कुमरनुक् कुरगर् कोवे ॥५३३॥

अर्थ—हे धरगेंद्र ! सुनो, पूर्णाचन्द्र को उनकी माता का उपदेश सुनते ही उनके हृदय में पूर्व पुण्योदय से सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई । तब अत्यन्त सुन्दर स्त्री से तथा सर्व कुटुम्ब परिवार से मोह को त्याग दिया । संसार की सभी वस्तुओं से अरुचि उत्पन्न हो गई, और सम्यक्दर्शन की उत्पत्ति हो गई । सम्यक्ज्ञान सहित आत्मा की ओर रुचि उत्पन्न हुई । ॥५३३॥

कलयर बलणु लार्द कावळिर् कळुमल् कामन् ।

बलं मलैयनय सेल्व नरगत्तु वीळ्कु माय ॥

मलयबिला नेरिये विट्टु मयगि नार् नेरिये पट्टिन् ।

निलैला माट्टि निडु सुळरकु निमित्त मेंडान् ॥५३४॥

अर्थ—इस प्रकार सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य के होने पर सम्यक्ज्ञान से पुरुष के ज्ञान और विवेक गुणाधिक को नाश करने वाले स्त्रियों के हाव भाव विलास तथा मोह को शीघ्र ही त्याग कर दिया । उसे संसार से अरुचि पैदा हो गई । हेय और उपादेय को भली प्रकार जानकर वह पूर्णाचन्द्र राजसंपत्ति विषयभोग आदि क्षणिक सुखों को हेय समझने लगे । ऐसी पूर्वधारणा जम गई । स्त्रियों के साथ रहने पर विषय कषाय का बंध अबंध रूप में हो गया । मन में विचार करता है कि हे आत्मा ! क्षणिक सुख के लालच में मग्न होकर संसार रूपी समुद्र में पड़कर महान दुख को सहन किया । यदि इस समय मेरी माता (रामदत्ता आश्रिका) मुझे उपदेश न देती तो न मालूम कितने समय तक इस घोर दुख में पड़ा रहना पड़ता । इस प्रकार भगवान की वाणी में श्रद्धा करने वाला हो गया । यदि मेरी जिनेन्द्र वाणी पर श्रद्धा न होती तो न मालूम कब तक संसार सागर में पड़ा रहता । ऐसा विचार किया ॥५३४॥

अंजिनात् माट्टे चाल वडंगि नान् कुलंगडं में ।  
 नंजये पोलु मेड् नडंगि नान् ट्रोंडगल् संयान् ॥  
 वंजमुं पडिरं पट्टमं सेट्टमुप् कळिप्पु माट्टि ।  
 पंचनु वडंगळोडु सीलंगळ् पड्डु सेंडान् ॥५३५॥

अर्थ—राजा पूर्णचन्द्र ने विचारा कि संसार महान दुख का कारण है। अतः इससे भयभीत होकर पंचेन्द्रिय सुख को नाशवान् समझकर इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम को पालन करने वाला हो गया। और मिथ्यात्व, माया, असत्य, निदान, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को त्याग कर उन्होंने सप्तशील को धारण किया। अर्थात् अणुव्रत धारण किया। ५३५॥

शित्तमं मुळिकन् मूङ्किर् जिनवरन् सेळुं पुर्पावम् ।  
 मत्तगत्तनिदु नांदु मंगसं पयिडु वेंध्यत् ॥  
 दुत्तमर् तम्मं येसि शरणं पुक्कडरे येंबि ।  
 तत्त्वं पड्डु वानं तवत्तोडु वयाविरु सेंडान् ॥५३६॥

अर्थ—तदनन्तर मन, वचन काय के द्वारा अर्हत भगवान का स्मरण करने लगा। पाप के नाश करने वाले चत्वारि दंडक को स्मरण करने योग्य अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पांच परमेष्ठी हैं। मेरी आत्मा की रक्षा करने वाले हैं। और कोई नहीं है। ऐसा विचार करके रक्षा मंत्र का जाप्य करने लगा। और शक्ति के अनुसार जीवों की रक्षा करते हुए संयम पालन करने वाला हो गया ॥५३६॥

इरे वन वरत्ते येंबल् सेरुं दपिनि राय वत्ते ।  
 करेकेळु वेलिनानं कंबिडाविरुंदु नोट्टु ॥  
 निरेंयळि कासाले निवानत्तु निडु सेड्डाळ ।  
 करंडला वायु नीगि कपंमा सुविकलत्ते ॥५३७॥

अर्थ—सर्वज्ञ वीतराग देव का कहा हुआ जिनधर्म उस पूर्णचन्द्र को उनकी माता रामदत्ता आदिका ने सुनाया और अपने पुत्र को वहीं छोड़कर उसी राजमहल में ही रह गई। और राजमहल में रहकर सभी अणुव्रतों को उनका आचरण कराने लगी। उनकी माता ने विचारा कि अगले भव में यह पूर्णचंद्र मेरे गर्भ से जन्म ले ऐसा मोह के उदय से उसने निदान बंध कर लिया। तत्पश्चात् इस पंच अणुव्रत के आचरण के फल से आयु के अन्त में उस माता ने समाधिमरण करके महाशुक कल्प नाम के दशवे स्वर्ग में जाकर जन्म लिया। मोह की महिमा अत्यन्त विचित्र है। इस जीव के संसार में परिभ्रमण करने के लिये आत्मा के साथ शत्रु के समान यह मोह कर्म लगा हुआ है। इस कारण यह जीव संसार में मोह के कारण दुख को दुख न समझ कर सुख मानता है। फल स्वरूप अनादि से आज तक अनेक प्रकार के दुख उठा रहा है। परन्तु मोह रूपी बंधन से दुख उठाकर भी घखंड अनिवाशी आत्म-सुख को प्राप्त करना नहीं चाहता है ॥५३७॥

पागर प्रभयेन्नुं विमानत्तु परुधि पोल ।  
 पागर प्रभनेन्नुं देवनाय् पावै तोडि ॥  
 नागर् बंदिरैजं विद मूतिय नडुवि इरुंदाळ् ।  
 सागरं पत्तोडारु तनक्कु वाळ् नाळ्दामे ॥५३८॥

अर्थ—उस महाशुक्र कल्प में भास्कर प्रभा नाम के विमान में सूर्य के प्रकाश के समान प्रकाश होने वाला रामदत्ता माता का जीव भास्कर नाम का देव हुआ । तब वहाँ आकर सामान्य देवों ने उस देव को नमस्कार किया । वह सोलह सागर आयु को प्राप्त करने वाला हो गया । आचार्य कहते हैं कि:—

अणुमात्तं व्रतमल्पकालमिरे मुञ्चं तच्छ्रुतं प्राप्तिथि ।  
 अणुतक्ष्मापतिपादेनिष्पत्तिदि सम्यग्व्रताचार ल—  
 क्षणमं शाश्वतवांतु देव पदमं कैवल्यमं को वेनें ।  
 देणिसुत्तुज्जुगिपातने सुखियला रत्नाकराधोश्वरा ॥

अणुमात्र व्रत अल्प काल तक रहने से उसके फल से आगे चलकर पृथ्वी का अधि-पति हुआ अर्थात् चक्रवर्ती हुआ । सम्यक्दशन अणुव्रत तथा महाव्रत व तपश्चरण करने से शाश्वत मोक्ष पद करने की इच्छा करने वाले तथा महाव्रत की रक्षा करने वाले मोक्ष पद पाने के इच्छुक नहीं हैं क्या ? तथा सुखी नहीं है क्या ? अर्थात् वही जीव सुखी है ऐसा मन में विचार किया ॥५३८॥

इरुट्टा माइत्तांडिडे विट्टिन् नमुद मुष्ठा ।  
 वीरेट्टां पक्कन् तन्नै इडे इडे विट्टुइत्तु ॥  
 मोरिट्टिन् पादियाय् नरगत्ति लवदि योट्टा ।  
 ओरेट्टु गुणंगळ् बल्लउडंबंडु मुळ्ळु यरं दान् ॥५३९॥

अर्थ—इस प्रकार भास्कर देव सोलह हजार वर्ष में एक बार आहार करता था । और आठ महिने में एक बार श्वास निश्वास लेता था । अपनी अवधि के द्वारा वह देव चौथे नरक तक का हाल जानता था । उसके साथ २ उसको व्रत के प्रताप से अणिमा, लक्षिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व आदि आठ प्रकार की ऋद्धियां प्राप्त हो गईं । उसका शरीर पांच हाथ प्रमाण था ॥५३९॥

मिन्नरि शिलंबि नोसं मिळिरुमे कल्लेइनोसं ।  
 इन्नरंबि सं ईनोसं येळुंद गोवत्ति नो सं ॥  
 मिन्नुडं किडयि नादं विळेंदुला मुळिई नो सं ।  
 तन्नुळं कवर विन् सोल् वीच्चरत्तोडु नाळ्ळाल् ॥५४०॥

अर्थ—वह भास्कर देव उस देव लोक में अत्यन्त सुन्दर देवांगना के पांव के नूपुर के शब्दों को तथा बीना, बांसुरी के शब्द व मधुर वचनों को सुनकर वचन प्रवीचार से अपने कामभोग की आनन्द सहित तृप्ति करते हुए स्वर्ग सुख का अनुभव करने लगा ॥१५०॥

कोंट्र वन् पूर चंदन् गुणक्कडं ट्रोंडि पोगि ।  
मट्टंद विमानत्तिन् कन् वंडूर्यं प्रभं तन्नुट् ॥  
पेट्टियार् ट्रोंडि तांनु वंडूर्यं प्रभनानान् ।  
मुट्टु मुन्नुरेंत्त वायु मुदल विन्मुत्ति क्कामे ॥१५१॥

अर्थ—इधर पूर्णचन्द्र राजा सम्यक्दर्शन सहित निरतिचार व्रतों का पालन करते हुए समाधिमरण करके शुभ परिणामों से वंडूर्यं प्रभा नाम के विमान में वंडूर्यं प्रभा नाम का देव हुआ । पूर्व में कहे हुए भास्कर देव के समान ही उस वंडूर्यं प्रभा की आयु भी उतनी ही थी । और उसी के समान वह भी विषयभोग में तृप्त था ॥१५१॥

पाडलिव् मबांगयुं पवळ वाईना ।  
राडलिव् मयांगियु मरंबइ यारोडु ॥  
माडभुं सोलयु मलयुं वावियु ।  
यूडु पोय नीडु यर बंदु वेंगुनाळ ॥१५२॥

अर्थ—इस प्रकार भास्कर तथा वंडूर्यं प्रभा दोनों देव उस लोक में गीत, वाद्य, नाट्य आदि क्रियाओं को देखकर संतोष व आनंद मानने लगे । और स्त्रियों के साथ भोग भोगते हुए सुख से काल व्यतीत करने लगे ॥१५२॥

तूयचंदिरन् कलं पेरुग नाडोरुं ।  
तीयवन् काळगंतैयुं मारु पोडूर् ॥  
चोय चंदिरन् ट्रुवं पेरुग नाडोरुं ।  
कायमं कषायमुं कश्चि मानवे ॥१५३॥

अर्थ—इधर सिंहचन्द्र मुनि महान उग्र तपश्चरणा करने लगे । जैसे चंद्रमा को राहु ग्रस्त करता है और राहु को छोड़कर जाते ही चांदनी निर्मलता से फैल जाती है, उसी प्रकार सिंहचन्द्र मुनि के तपश्चर्या की प्रतिदिन वृद्धि होते हुए उनका शरीर कृश होने लगा । शरीर के कृश होने के साथ २ लोभ, मान, क्रोध, आदि कषाय भी क्षीण हो गई ॥१५३॥

ईट्टिळा रावने विदियि लेंदरा ।  
नाट्टु केट्टु वारन्न पानमुं ॥  
साट्टिय वगनार सुरुक्कि शेय्यमे ।  
लेट्टिनान् ट्टुन्ने मिट्टिलंगुं सिदयाम् ॥१५४॥



अर्थ—इस प्रकार तपश्चरणा के द्वारा मुनि सिंहचन्द्र ने शरीर के क्षीण होने के साथ २ चारों आराधनाओं से चारों कषायों को क्षीण किया और अपनी शक्ति के अनुसार चारों प्रकार के आहारों में कमी करते हुए आत्म बल को बढ़ाया । और आत्म ध्यान के बल से दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य की आराधना करते हुए तप आराधना की वृद्धि करने लगे । इस प्रकार तप आराधना के साथ २ शुद्ध आत्मा के ध्यान में निमग्न होते हुए इन्द्रिय तथा प्राणि संयम को निरतिचार पालन करने वाले हो गये ॥५४४॥

शित्तमं मुळिगळिर् सेरिदु यिकेलां ।  
मित्तिर नाय पिन् वेद नादि ॥  
लोत्तेळु मगत्तना युवगं युळ्ळुलाय् ।  
तत्तुवत तवत्तिनार् ट्रनुवै वाटिनान् ॥५४५॥

अर्थ—तदनन्तर वह मुनि सिंहचन्द्र मन, वचन, काय से त्रस स्थावर जीवों की रक्षा करते हुए शुभाशुभ कर्म को उत्पन्न करने वाले, साता और असाता वेदनीय कर्मों के द्वारा उत्पन्न होने वाला सुख, दुःख, हर्ष, विषाद में समता भाव धारण करने वाले होकर तपश्चरणा स्वरूप को भली भांति जानकर दुर्द्धर तपस्या में लीन रहने लगे ॥५४५॥

तिहंदि नार् तेऊ कडेळुम नोसर पो ।  
नरंबेला मेळुंदन नल्ल मांदरी ॥  
लरंगिन नयन मुळ्ळरुंद ववकोडि ।  
इरुंद मं काटि निडिलगुं नीरवे ॥५४६॥

अर्थ—इस प्रकार वे मुनि दुर्द्धर तप करने लगे । उनका शरीर अत्यन्त शुष्क होकर हड्डियों का पीजरा सा दीखने लगा । और उनकी आंखें तप के बल से अंदर घुस गईं । देखने वाले भव्य जन उनका तपश्चरणा देखकर विचार करने लगे कि साक्षात् मोक्ष व मोक्ष का मार्ग यही है । और हमको भी इनको देखकर, और इनके समान आचरण करने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है—ऐसा भव्य जीव अनुभव करने लगे ॥५४६॥

तवत्तळ लेळुंदुइराम् पोद्रादु वै ।  
तुवक्कर चुडचुड तोंडु नो रोळि ॥  
निवत्तलां निट्रोळि तुळुबु मूर्तिया ।  
नुवत्तलुं काय्दलु मोरुवि नान् दरो ॥५४७॥

अर्थ—इस प्रकार उनके शरीर के कृश हो जाने के बाद वह मुनि आत्मध्यान रूपी अग्नि से कर्म सहित आत्मा को जैसे स्वर्ण को बार २ तपा कर शुद्ध करते हैं उसी प्रकार अनादिकाल से आत्मा में लगे हुए कर्म रूपी मल को मुस में डालकर आत्मा की कीट कालिमा को क्रम से नाश करने लगे । तपश्चरणा करते हुए उन मुनिराज ने केवलमात्र शरीर को रखते हुए कषाय उत्पन्न होने वाले परिग्रह का त्याग कर दिया ॥५४७॥

तनुवदु तनुवदाय तनुवदायदु ।  
मननिरं पोरं तवं मगिळ्चि येदुव ॥  
निनेवदु वितइ नं निड् दुदितदु ।  
मुनिवतुं तनदु मेर् कोळिन् मुट्टिनान् ॥५४८॥

अर्थ—उनका हृदय क्षमाभाव से युक्त हो गया । वे क्षमाभाव अभ्यन्तर तप की भावना से युक्त होकर अत्यन्त संतोष पूर्वक तपश्चरणा करने में लीन हो गये ॥५४८॥

यरिई तुन् मोळ्गिय देन्न दन्न दाय् ।  
परिषैये वेंड्रव परम मा मुनि ॥  
येरुगने हृदय कमल तुळ्ळिरि इत्त् ।  
तेरिवरुं शिद्धरै सेळि सेत्ति नान् ॥५४९॥

अर्थ—इस प्रकार अत्यन्त दुर्द्धर तपश्चरणा के साथ २ बाईस परोषह को सहन करते हुए तथा जीनते हुए आत्म बल से बलिष्ठ हुए सिंहचंद्र मुनिराज वीतराग शुद्धोपयोग भावना से युक्त होकर अर्हंत परम देव की अपने हृदय कमल में धारणा करके श्री सिद्ध परमेष्ठी को अपने मस्तक में स्थापित किया ॥५४९॥

सेसि ईलिडुं कवशत्तोडत्तिरम् ।  
पन्नरुं पूवरुं पांगि नाय पिन् ॥  
तन्नुंडुंबु ईरिने तडरु वाळन ।  
उळ्ळिनिड् वद मुसि योदिनान् ॥५५०॥

अर्थ—अपने हृदय में अर्हंत, सिद्ध, आचार्य की स्थापना करके कर्म निर्जरा के लिये उनको शस्त्र रूप बना लिया । तदनन्तर पंच नमस्कार मंत्र का एकाग्रचित्त से मनन करने लगे । तब जैसे २ अर्हंत भगवान का ध्यान करने लगे वैसे २ अंकुर चमकने लगे और वैसे ही कर्मों की निर्जरा होने लगी ॥५५०॥

कसि नार् कळंक मिन्नलयै कंडिडा ।  
पन्नुर प्पेरियवर् पांद सेर्दव ॥  
पुसिय युरदियै सेविडर् पूरिया ।  
विन्नुल मडेंदनन् वेडि वीरने ॥५५१॥

अर्थ—इस प्रकार उन सिंहचंद्र मुनि ने ध्यान करते हुए सम्यक्दर्शन और ज्ञान के बल से दोष रहित तत्त्वार्थ स्वरूप को भली भांति अपने अन्दर समझ लिया । और अर्हंत भगवान के चरण ही मुझे शरण हैं और कोई शरण नहीं है—यह स्मरण करने लग गये ।

“अन्यथा शरणां नास्ति, स्वमेव शरणां मम ।  
तस्मात् कारुण्यभावने, रक्ष रक्ष जिनेश्वर ! ॥

अर्थात् इस पद के अनुसार भगवान के चरण ही भुझे शरणा हैं, और कोई शरणा नहीं है । भगवान का कहा हुआ सप्त तत्व, नवपदार्थ, पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य प्रवचन मात्र का द्वादशांग शास्त्र यही मेरा शरणा है, और कोई शरणा नहीं है । ऐसा अन्त समय में स्मरण करते हुए वह सिंहचन्द्र मुनि समाधिपूर्वक मरण कर देवगति को प्राप्त हुआ ॥५५१॥

पोरुविल उल्लगेनुं पुरवलकुं नर् ।  
फिरिच माम् केवच्च वोंबदावदे ॥  
मरुबिनान् मालोळि विमान मट्टदिर् ।  
प्रितयंकरत्तिनें पेरिय धीरने ॥५५२॥

अर्थ—वह मुनि समाधि पूर्वक शरीर को छोड़कर नवधैवेयक नामक ऊपरी अत्यंत शोभायमान प्रीतंकर नाम के विमान में प्रीतंकर नाम का देव हो गया ॥५५२॥

मुप्पत्तोराळियान् मुंडिद वायुग ।  
मुप्पत्तो राईर तांडु विट्टुना ॥  
मुप्पत्तोर् पक्कत्ते कंडदुविरत्तिडा ।  
मुप्पत्तोर् नान् गवि शयरें वाळ्तुमे ॥५५३॥

अर्थ—प्रीतंकर नाम के देव की आयु ३१ सागर की थी । वह देव इकत्तीस हजार वर्ष बीतने के बाद एक बार मानसिक आहार करता था । और १५३ दिन में एक बार आसोच्छ्वास लेता था । वह हमेशा अर्हंत भगवान के स्मरण में लीन रहता था ॥५५३॥

अवधिया नरगमा राववांदिडा ।  
युववि याल् वरुं पय नोंडु मिळिये ॥  
शिवगति पवर्कुं पोलिवकुं नल्लिने ।  
यवधिई नुवयत्ता लागु मिळमे ॥५५४॥

अर्थ—वह प्रीतंकर अपने अवधिज्ञान से छठे नरक तक के हाल को जानता था । उनको स्त्रियों की कामेच्छा नहीं रहती । मोक्ष में रहने वाले अर्हमिद्र देव के समान आत्म सुख का अनुभव करते हैं । और हमेशा यही भावना भाते रहते हैं—

सिद्धर सतत विशुद्धर बोधस । मृद्धर नेनेदु नानीग ।  
सिद्धरसद्रोव्बु लोहवनंहिंदंदात्म । सिद्धियपडेवे निन्नेनु ॥

सिद्ध भगवान का सतत ध्यान करते हुए मन में यह भावना आते थे कि हमको अब किस बात की परवाह है ? जैसे सिद्ध भगवान का ध्यान करने वाले जीव ऐसी भावना आते हैं कि सतत हमें सिद्ध भगवान के ध्यान में रहने से जैसा लोहा गलने से सिद्धरस हो जाता है उसी प्रकार हमारा आत्मा शुद्ध है । ऐसा मानकर आनन्द में रत रहते हैं ॥५५४॥

अंजिर पयहळि येरिवनानया ।  
लंजिरंइडि नडंदिरेंज लल्लु ॥  
अंजि बंदोर वर तम्माने इइसेला ।  
रंजोला रिन्मया रगर्नळिदिरर् ॥५५५॥

अर्थ—अत्यंत सुन्दर स्त्रियों का संसर्ग अथवा काम सेवन की इच्छा न होने से वह अर्हमिद्र देव हमेशा बालब्रह्मचारी रहते हैं । जहां भगवान के पंच कल्पाणक महोत्सव पूजा उत्सव आदि २ कल्पवासी देवों द्वारा करते समय वे देव अपने अवधिज्ञान द्वारा जानकर नीचे उतरकर सात पैड जाकर परोक्ष में भगवान को नमस्कार करते हैं; किंतु वहां तक नहीं जाते हैं ॥५५५॥

इं वमे इडेयर वेळुव लल्लु ।  
सुंबमुं कवलमुं तोगै येन्नवर् ॥  
कन्तु नंबुम् मित्ता वर्गामिदित्तवन् ।  
मुन्तु पित् पळिदेवा मूर्ति यायिनात् ॥५५६॥

अर्थ—अर्हमिद्र को अल्प सुख के अलावा और अधिक कोई सुख नहीं है और स्त्रियों को देखने की इच्छा तथा उनका स्मरण भी नहीं होता । इस प्रकार उस नवग्रहवेद्यक में जन्मे हुए अर्हमिद्र देव आयु के अवनसान तक शरीर व मानसिक सुख का अनुभव करने वाले होते हैं ।

॥५५६॥

अरुं तवं पौरुं विय शीलमावियार् ।  
ट्टिरुं विय नात्वरुं वेव राईनार् ॥  
पेरुंतुयर् विसंगीट्टि विनेइत् वीळुंदु पित् ।  
पोरु विना निरयेत्तु वृत्ति पोमिये ॥५५७॥

अर्थ—इस प्रकार श्रेष्ठ देवपद होने का कौनसा कारण है ? आचार्य बतलाते हैं कि श्रेष्ठ तप अथवा निरतिचार व्रतों के पालन करने से जैसे राजा सिंहसेन, सिंहचन्द्र मुनि, रामदत्ता आदिका तथा पूर्णचन्द्र ये चारों श्रेष्ठ देवगति को प्राप्त हुए ; उसी प्रकार निरतिचार व्रतों के पालने व श्रेष्ठ तप करने से देवगति प्राप्त होती है । और पाप कर्म के उदय से शिवभूति नामक मंत्री का जीव सर्प, चमरी मृग, और कुक्कुड सर्प होकर मरकर तीसरे नरक में गया ॥५५७॥

पशुबनुस् तनकुत्ताने पावंगळ् पयिङ्गु सोल्लि ।  
 नगैय्यमै नंबुताने नल्लिवनै केदु वाइर् ॥  
 पंगयुर विरंडुम् पाव पुण्णाय वयंगळाव ।  
 लिगन् मदयानै पांदळिरंडिनुं तेळिद वंडो ॥५५८॥

अर्थ—शत्रु परिणाम से युक्त जीव के अपनी आत्मा के आस्रव करने वाले कार्य को करने से उस जीव को पाप का बंध होता है और शुभ भाव को प्राप्त होने वाले कार्य करने से पुण्य बंध का करने वाला शुभास्रव होता है । सम्पूर्ण जीवों पर दया करने से शुभ परिणाम होते हैं । अन्य जीवों के प्रति द्वेषभाव होने से विरोध के कारण पाप बंध होकर हमेशा पाप का कारण होता है । महान बलिष्ठ अशनीकोड नाम का हाथी सर्प के द्वारा काटे जाने से शांत भाव को धारण कर उत्तम देवगति को प्राप्त हुआ । और कुक्कुड नाम के सर्प को द्वेष भाव तथा दुष्परिणाम से तीसरे नरक में जाना पडा ॥५५८॥

वाळरि युळुवै कंमा वल्लेइडं पट्टु मुईव ।  
 नीळर नायनल्ल विनैयदु निङ्गु पोळ्दिर् ॥  
 कोळरि येरु तन्नै कुरु नरि येनुं कोळ्ळं ।  
 नीळर नाय नल्ल विनैयदु नींगि नांगे ॥५५९॥

अर्थ—अत्यन्त भयंकर सिंह, सियार, भालू, बलवान हाथी आदि यदि मनुष्य के सामने आ जाये तो पूर्वभव के पुण्योदय से बच जाते हैं । यदि पूर्वभव का पुण्य संचय न हो तो नहीं बच सकता । इसी तरह यदि पाप कर्म का उदय आ जावे तो मामूली गीदड भी उस को मार सकता है ॥५५९॥

तीगति मेलवि नै नीकि सिदै इन् ।  
 नोक्किला पोरुळ्ळैयु नोकि इंबत्तै ॥  
 वीकि यिस् माट्टिनै नीकि वीटिनै ।  
 याकुनल्लरत्तिनै यमरंदु शैमिने ॥५६०॥

अर्थ—मन, वचन, काय के शुभ परिणाम से तिर्यंच गति, नरक गति में ले जाने वाले अशुभ परिणामों को त्यागकर मतिज्ञान, श्रुतज्ञान को प्राप्तकर, स्वसंवेदन नाम के प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा आत्मस्वरूप को उत्पन्न करते हुए तथा इस संसार सुख को रोकते हुए तथा इस संसार सुख को उत्पन्न करने वाले रत्नत्रयरूपी आत्म धर्म की शांति व प्रेम से सभी जीव आराधना करने से संसार दुख से छूटकर अत्यन्त सुख की प्राप्ति करते हैं । अतः हे भव्य जीव! यदि तू संसार बंध से छूटना चाहता है तो सम्यक्ज्ञान पूर्वक सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारिव धर्म की आराधना कर । ताकि सहज ही मोक्ष सुख की प्राप्ति हो जाय ॥५६०॥

इति—सिहसेन, रामदत्ता, सिंहचन्द्र, पूर्णचन्द्र मुनि को देव गति को प्राप्त करने वाला पांचवाँ अधिकार समाप्त हुआ ।

## ॥ षष्ठम अधिकार ॥

वेद्विबेल् वेदनुं वेदन् देवियुं ।  
 कोट्टय कुमरुं कोवे येदिनार् ॥  
 मट्टिद निलत्तिडे वंदु नात्वरु ।  
 मुट्टन उरै पन् केळुरग राजने ॥५६१॥

अर्थ—हे घरणेंद्र सुनो ! वैराग्य को प्राप्त हुए मिहसेन महाराज तथा उनकी पट-  
 रानी रामदत्ता देवी तथा इनके दोनों राजकुमार सिंहचन्द्र पूर्णचन्द्र अपनी २ आयु के अवसान  
 कर देवगति को प्राप्त हुए । तदनंतर ये चारों देवगति की आयु पूर्ण करके इस कर्मभूमि में  
 आकर अवतार लेने के पश्चात् उनके विषय का अब विवेचन करेंगे ॥५६१॥

पागर पिरभ नाम पावै यायुगं ।  
 सागर सुळ्ळुदु पदिने नाळिन ॥  
 नागरिर् पिरिवे ना नडुगिर् ट्राट्टंबुं ।  
 पागर प्रभंयुट् पारिजातमे ॥५६२॥

अर्थ—हे घरणेंद्र ! भास्कर प्रभा नाम के विमान में उस रामदत्ता आशिका का  
 जीव भास्कर प्रभा नाम का महद्विक देव हुआ और अपनी सोलह हजार वर्ष की आयु जब  
 पूर्ण होने लगी तो १५ दिन पूर्व ही वहां के भास्कर प्रभा नाम के स्वर्ग में कल्प वृक्ष चलाय-  
 मान होने लगे ॥५६२॥

कर्पगं शालिप्पदु कंड देवरुं ।  
 मट्टवर् शिदयुं नडुगि वाडिनार् ॥  
 कर्पगतोडे यत्तुं कंठ मालं युं ।  
 पोपळिदनिगळुं मासु पोतवे ॥५६३॥

अर्थ—कल्प वृक्षों के चलायमान होने से वहां के भास्कर नाम के परिवार देवताओं  
 में भय उत्पन्न होने लगा और भास्कर देव के गले का कंठाहार (माला) मुरझाने लगी ।  
 ॥५६३॥

मदियोळि पदिने नाडोरु माय् दिडा ।  
 विदियोळि मासुरि ई वीयु मारु पोन् ॥  
 मुदिवर् मदयने योळि मूति मासुरिक् ।  
 कविवर् कळंडिडुवदु कंडु वाडि नान् ॥५६४॥

अर्थ—षोडश कला से युक्त पूर्णचंद्र राजा का जीव जिस प्रकार चंद्रमा की कला पूर्णमासी से अमावस तक कम होती जाती है उसी प्रकार भास्कर देव की सुन्दर शरीर की कला भीण होती देखकर उस देव के मन में अत्यन्त दुख उत्पन्न होने लगा ॥५६४॥

देवनायमल्लिये शरीदं नान्मोद ।  
लोविला वगै यवनुट्टं विबमोर् ॥  
तावमाय् तिरंडु वंदडुव दुःखमा ।  
सूबेनाळग वैडन् मुडिद तंबमे ॥५६५॥

अर्थ—पंद्रह दिन के अन्त में होनेवाले घोर मारणांतिक दुख से वह दुखी हो गया। सोलह हजार वर्ष देवांगनाओं के साथ भोगे हुए संपूर्ण सुख जैसे जंगल में आग लगते ही सब नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इतने वर्षों का वह आनन्द उस भास्कर देव का तत्काल नष्ट हो गया। अर्थात् देवांगना का मुख एक क्षण में नष्ट होता देखकर अत्यन्त दुखी हुए। क्योंकि यह संसार चक्र की विचित्रता है ॥५६५॥

सूकरमागि तोंडि तुयरुह मुडर्ग डुब ।  
तागरमागे निडुं वळ्ळुडं पिडिद लाटा ॥  
नागरुक्किरेव रागि विन्निते नन्नि वीळ्वार् ।  
सोगयुं तुयरु नम्मार् सोल्ललाम् पडियदोडो ॥५६६॥

अर्थ—शरीरधारी संसारी को कितना ही दुख होने पर भी शरीर छोड़ने की भावना नहीं रहती। शरीर को छोड़ते समय महान दुख होता है, जो अवरणीय है। जिस प्रकार एक सूकर निदा पर्याय का जीव अपनी पर्याय को छोड़ता है उसको भी मरण समय में शरीर छोड़ने पर दुख होता है। उसी प्रकार देवगति का सुख भी आयु की समाप्ति पर जीव को दुखी कर देता है। उस दुख का वर्णन किया जाना असंभव है ॥५६६॥

कानेरि कवरप्पट्टु कर्पगं पोलवाडि ।  
वानव निरुंद पोळ्ळिन् वंदु सामान देवर् ॥  
सेनिव रलंग लाइत् देवर तं मुलगिर् चिन्हाळ् ।  
वानवरिदुं पिन्ने वळ्ळुत्तर् मरवि वैडार् ॥५६७॥

अर्थ—जिस प्रकार आग लगने पर जलता हुआ कल्पवृक्ष कंपायमान होता है उसी प्रकार भास्कर देव को दुखी होते देख कर वहां के रहने वाले सामान्य देव उसके पास आकर समझाने लगे कि हे महद्दिक देव ! आप अपने पूर्व जन्म में पुण्योपाजन करने से यहां देवपद को प्राप्त हुए। अब आयु पूर्ण हो गई है। आप धबराओ मत। इस स्वर्ग में रहने वाले सभी देवों की आयु पूर्ण होने के बाद उनकी कंठ की माला व आभरण मुरझा जाते हैं। ऐसा होना देव-

गति का स्वाभाविक नियम है। अतः आप धबराओ मत। अब आपकी आयु पूर्ण हो गई है।  
ऐसा वे सामान्य देव समझाने लगे ॥५६७॥

करां करांदोरं वेरा मुडंदिने कंडु पिन्नु ।  
मरांडुडन् पिरिवं वट्टु किरंगु वार् मदि लादार् ॥  
पुरारंबवं पिरियुं पोळ्दुं पुदिय वंदड्युं पोळ्दु ।  
मुनरं, दुह कवलै कावळु लुळ पुगारळ्ळे मिक्कार् ॥५६८॥

अर्थ—एक एक समय उत्पन्न होकर नष्ट होने वाला यह शरीर क्षणिक और अनित्य है। ऐसे शरीर रूपी नाशवान पुद्गल पर्याय को छोड़कर जाने में यह अज्ञानी जीव धबराता है। अपने धारण किये हुए शरीर को छोड़ना, दूसरे शरीर को धारण करना यह पुद्गल पर्याय की परिपाटी है। यह किसी के साथ शाश्वत रूप में नहीं रहता है। इस प्रकार स्वरूप को जिसने भली प्रकार जान लिया है वह सम्यक्दृष्टि है। एक शरीर छोड़ता है दूसरा प्राप्त करता है। इसी को समझ लेना सम्यक्त्व है। शरीर को छोड़ते समय जो दुःख करता है वह मिथ्या दृष्टि है। परन्तु संसार स्वरूप को अच्छी तरह समझा हुआ जो सम्यक्दृष्टि है वह शरीर छोड़ते समय दुखी नहीं होता। वह विचार करता है कि आयु समाप्त होने पर शरीर को छोड़ना ही पड़ेगा। वे कभी भी शरीर को छोड़ते समय डरते नहीं हैं। वे विचार करते हैं कि—

“नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न नष्टं मन्यते तथा ।  
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मनं, न नष्टं मन्यते बुधः ॥  
यस्य सस्पंदमाभाति निस्पंदने समं जगत् ।  
अप्रजमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥  
शरीरकंचुकेनात्मा संवृतो ज्ञानविग्रहः ।  
नाऽऽत्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यति चिरं भवे ॥५६८॥

अरं पोरुंळिब मूडि लादिया लिरंडु मागुम् ।  
इरंब वरु किरंगि नालुं घादोडु म् पिन्नं यैदा ॥  
पिरंदुळि पेरियु तुंबम् पिनिक्कु नल्द्विनैयै याक्कु ।  
मरं पुगारं विरैवन् पांद शिरप्पि नोडडंग वेंडाड् ॥५६९॥

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों में सबसे पहला धर्म पुरुषार्थ है। उस धर्म पुरुषार्थ से सभी इन्द्रिय विषयभोग सुख सामग्री प्राप्त होती है। इसलिये हे भास्कर देव! आप पूर्वभव के इन्द्रिय सुख को स्मरण करोगे तो आर्तध्यान से निरुपगति अथवा तिर्यंच गति को प्राप्त करोगे। ऐसा सामान्य देवों ने उनको समझाया। अतः आप इस समय शुभ भावना को उत्पन्न करने वाले अर्हंत भगवान के चरण कमलों का स्मरण करो। इससे आप की शुभ गति प्राप्ति होगी ॥५६९॥



येड्व ररत्त भाट्टोरियुव मेळुगु नीरुट् ।  
 सेंड्वु पोल तिन्नेडिरेवनर् शिरप्पो डोंडि ॥  
 निड् नाळुलप्प मिन्नि नोगि नान् निलसो सेरं बा ।  
 नंड्वय निदानत्ताले यरिवेया युरगर् कोवे ॥५७०॥

अर्थ—इस प्रकार सामान्य देवों द्वारा कहने के बाद शीघ्र ही जिस प्रकार लाख को अग्नि के सामने रखते ही पिघल जाती है और अग्नि से अलग करने के बाद पुनः वह लाख जम जाती है, उसी प्रकार भास्कर देव का मन हठ हो गया और धर्म में रुचि हो गई। वह भगवान की पूजा, स्तुति, श्रोत, भक्ति पूर्वक करता रहा। तत्पश्चात् वह क्रम २ से आयु पूर्ण करके जिस प्रकार आकाश में बिजली चमकती २ बद हो जाती है उसी प्रकार क्षण भर में उसकी आयु समाप्त हो गई। और पूर्व जन्म में निदान बंध करने के कारण इस कर्मभूमि में आकर स्त्री पर्याय को धारण किया ॥५७०॥

कावलन् पोल दीप सागरं सूळ निड् ।  
 नावलं तीवु तन्नुळ् भरतत्तु नडुव नोगि ॥  
 सेवलं नस्तिर् सेडि शिरगिने बिरित्तु तीवै ।  
 मेवलुद्रेळुव दुःखं विलंगुम् वेदंड मंडे ॥५७१॥

अर्थ—असंख्यात द्वीप समुद्रों से घिरा हुआ यह जम्बूद्वीप है। इस जम्बूद्वीप के बीच में भरतखंड है। भरतखंड के बीच में जैसे एक हंस पक्षी उड़ने के लिये पंख पसारता है और उड़ने का प्रयत्न करता है, उसी आकार का विजयाद्वं नाम का पर्वत है ॥५७१॥

आळिये शेरिडु कंड मारंयु मडिपडुत्तु ।  
 वेळमा निरंगळ् विन्नोर् वेवर् विजेयर्गळ् सूळ ।  
 वाळियंगंगे शिवु वंदडि यडेंडु कुंडुम् ।  
 पाळियन् तडक्कै वेवन् भरतन् पोंडिलंगु निड् ॥२७२॥

अर्थ—महालवण समुद्र पूर्वापर से भरतादि छह खंड घेरे हुए हैं। उस भरत खंड में गंगा सिंधु नदियों से घिरा हुआ यह विजयाद्वं पर्वत जैसे भरत चक्रवर्ती अपने हाथ को पसार कर याचक जनों को दान देता है, उसी प्रकार विजयाद्वं पर्वत का आकार है ॥५७२॥

अंबडु इरुसौडुम् पुगैय्य कंड् यरं डु नीळ ।  
 मोन्डुवु मोंड् माय वाडुत्तदिग मोडि ॥  
 यंबडु पत्ते मेर् सेंडुगिह मरंगुम् पुक्कु ।  
 विजय रत्नग मागि पप्पत्तु वीळ् व वेपिन् ॥५७३॥

अर्थ—उस पर्वत की दक्षिण पश्चिम की चौड़ाई ५० योजन तथा लम्बाई २५ योजन है। पर्वत के दक्षिणी पार्श्व में नौ हजार से कुछ अधिक और उत्तर दिशा में दस हजार से कुछ अधिक चौड़ाई है। उस पर्वत के नीचे दस योजन, ऊपर पचास योजन चौड़ाई है। वहाँ विद्याधरों के निवास करने का स्थान है ॥५७३॥

निङ् मुष्पंदु पत्तेरि नेरिह नार् सेडियागि ।  
सेडन शक बालर वियोगर पुरंगलागु ।  
मंडिय कुंडिर् पत्तु मंडुयर् सूळियामे ।  
लौडि निङ्गोळिरं कूडमगुडं पोलोबवामे ॥५७४॥

अर्थ—उस स्थान पर दस योजन ऊपर में समान रूप में है। उसके बाजू में दस-दस योजन उत्तर श्रेणी और दक्षिण श्रेणी है। वहाँ चक्रवाल नाम के प्रसिद्ध व्यन्तर देव का निवास स्थान है। और शेष दस योजन के उच्छेद में चूलिका है। वह चूलिका राजा के मुकुट के समान नौ प्रकार की है ॥५७४॥

इमयेत्ति निरुमोरुंगुं निलंगळ् पोंडिलंगुम् बेळिळ् ।  
शिमं येत्ति निरुमरुंगुम् सेड् विजयर्गळ् सेडि ॥  
समय्येत्तु नांग दाव दुःखुमेर् ट्रिळिवु तन्नित् ।  
नय्योप्पर् विजया लिब्बिंजयर् नागर् कोबे ॥५७५॥

अर्थ—हे धरणेंद्र सुनो ! विजयाद्व पर्वत के उत्तर दक्षिण दोनों बाजू में ही दक्षिण श्रेणी उत्तर श्रेणी नाम के नगर हैं। और वहाँ उत्सर्पिणी व अक्सर्पिणी नाम के चतुर्ध काल में ऋद्धि को प्राप्त हुए मनुष्य जिस प्रकार रहते हैं उसी प्रकार अत्यन्त शीलवान, गुणवान, विद्याधर रहते हैं ॥५७५॥

येळुमुळं विल्लेङ्गुनुट्टि लिलिबदु मेट्टु मिद्धं ।  
बळुबिला बरड नूर पुठव कोडिई निर कोळ्मेल् ॥  
येळुमुळ माइरत्ताडेंबत्तु नात्तु निकुंश् ।  
मुळु विल्लेंडयुरु कोडाकोडि मूवारु मुन्निर ॥५७६॥

अर्थ—उन विद्याधरों के शरीर का उत्सेद पांच सौ धनुष से कम नहीं रहता है। और उनकी जघन्य आयु सौ वर्ष से कम नहीं होती है और पूर्व करोड से अधिक आयु उनकी नहीं होती है। दुखमा, दुखमा—दुखमा यह दोनों काल चौरासी लाख वर्ष प्रमाण हैं। पांच सौ धनुष अठारह कोडा कोडी काल प्रमाण है। पहले कहे हुए उत्सर्पिणी, अक्सर्पिणी दोनों काल के प्रमाण है। उत्सर्पिणी काल में आयु व शरीर का उच्छेद होता है। और अक्सर्पिणी काल में आयु व शरीर का उच्छेद कम होता है ॥५७६॥

नागसौ सूळ्डु नागसौपोल निकुं ।  
 नागसौ विलंगि नागं नागसौ सूळ्डु वांगु ॥  
 नागसौ यडंब नागर् नागसौ येंडु मन्नार् ।  
 नागसु किरंब वेंडा नागसु किरंबन् टाने ॥५७७॥

अर्थ—लातव कल्प के आदित्य देव ने घरणों से पुनः कहा कि हे भवन के अधिपति! विजयाद्वं पर्वत के चारों ओर काले मेघ के समान बड़े २ हाथी रहते हैं। और बाही जूही के फूल के समान बेल चारों ओर वहां फैली हुई है। उस पर्वत में जन्म लेने वाले देवों को उसकी छोड़कर जाने की इच्छा नहीं होती है ॥५७७॥

मरुबिला पळिगिर् पाय्वं मरगत कडिरे भान्ग ।  
 लरुगरा करिस्तु कान नीरन सेत्व पोसुं ॥  
 वेरिमलर् दुबेंव नील मणिसल दगसो थंडु ।  
 कुरुगु वर कुबळं वट्टु मेंडु कोल वळं नारे ॥५७८॥

अर्थ—उस पर्वत की पृथ्वी स्फटिक मणि में जैसे मरकत का पत्थर जोड़ा गया हो और जोड़ने से उसके प्रकाश को देखकर वहां के रहने वाले हरिण, इस को हरा भरा घास समझ कर खाने को दौड़ते हैं अथवा इसको पानी समझकर पीने को दौड़ते हैं। उसी प्रकार वहां की भूमि अत्यन्त शोभायमान है। और उस नीलमणि रत्नों से युक्त भूमि को देखकर वहां रहने वाली स्त्रियां अत्यन्त आतुरता से मानो पानी का सरोवर है ऐसा समझकर वहां जाकर देखने लगती हैं ॥५७८॥

वेळ मुम्मदवुं विळ तेरलुं ।  
 वाळेंहन् कनियुं सुळयुं मळाय् ॥  
 वीळुं वेळळरु विसिरळ् बेर्पिदन् ।  
 सूळ् माळि मुळंगुब दुःसुने ॥५७९॥

अर्थ—उस विजयाद्वं पर्वत से उत्पन्न होने वाला पानी कैसा है सो बताते हैं। जैसे हाथी के कर्ण मल, कपोत मल जैसा उत्पन्न होता है उसी प्रकार उस पर्वत में पानी के भरने निकलते हैं। और पर्वत की चोटी पर से पानी के गिरने की बड़ी कलकलाहट की आवाज होनी है ॥५७९॥

वरुडपाय वेळुधं मणिसु गळ् ।  
 कडिर गळा येळिल् बाने सेरिदन् ॥  
 मरि यिय मानिदि यालि मले मिशे ।  
 इरुदु नीळ् विळु तीड्डु पोंडुवे ॥५८०॥

अर्थ—इस प्रकार संपत्ति से युक्त उस पर्वत पर अष्टापद जीवों के भागते समय वहां की पृथ्वी से धूल उड़ती है वह आकाश में फैलकर सूर्य के प्रकाश को ढक देती है। जैसे बड़ के वृक्ष को जटाएं नीचे तक चारों ओर फैल जाती हैं उसी प्रकार विद्याधरों के विमान नीचे उतर कर आते हैं और उसी प्रकार वह धूल ऊपर से नीचे आती है ॥५८०॥

मलेकन् वंजियं कुंबन् विन् सोला ।  
रत्तकम् सेरिबजिलं पारडि ।  
तलसोळुंब सेंवामरं पोटुपो ।  
निलतगम् पोटुविकडंबवे ॥५८१॥

अर्थ—उस विजयाई पर्वत पर रहने वाली स्त्रियां अत्यन्त मधुर वचन बोलने वाली तथा पांव में बंधे हुए नूपुर के मधुर शब्द करने वाली, अनेक अलंकार से युक्त, अत्यन्त सुन्दर रूपवान हैं। और जब वे स्त्रियां चलती हैं तो उनके पांव के तलवे मानों लाल कमल ही उछल कर गिर रहे हों—इस भांति प्रतीत होते हैं ॥५८१॥

पेंबोनन् पबळम् पडिगं मरिा ।  
योंबदि नोळि यड कळंबुळ्ळु लाय् ॥  
बंबुकोंडु किडंबवे माल्वरं ।  
युंबर कोन् विष्णुरंगुव दुःखुमे ॥५८२॥

अर्थ—वह पर्वत स्वर्ण, स्फटिक, नीलमणि आदि नवरत्नों से निर्मित अत्यन्त प्रकाश से युक्त है। उस पर्वत को देखने से ऐसा मालूम होता है कि जैसे कोई शहर ही सोया हुआ हो। ऐसा वह पर्वत प्रतीत होता है ॥५८२॥

येरिसुरा उयर् बा निडं पोंडूळिल् ।  
येरियुला मलर् पवरं मिल्लने ॥  
सेरियुं विजयर् सेइळै यारोडुं ।  
कुरंबिला कुडंबंब रोप्परे ॥५८३॥

अर्थ—सुगंधित लताओं से तथा मंडपों से युक्त तथा रत्नों को धारण किये हुए स्त्रियों के साथ वहां रहने वाले विद्याधर कुमार उत्तरकुरु नाम के उत्तर भोग भूमि में जैसे मनुष्य विषय भोगों को भोगते हैं उसी प्रकार विद्याधर इन्द्रिय भोगों का अनुभव करते हैं।

॥५८३॥

किन्नर मिनुनम् सेंब गीत माय्न् ।  
तिन्नरंवि नेळुंब वेळाल् बळि ॥

मिभिनाडु मरबयर् मेवलार् ।

पोग्नलुगदु पोलु मोर् पालेताम् ॥५८४॥

अर्थ—उस विजयाद्ध पर्वत के एक ओर वीणा, वाद्य, संगीत सहित वहाँ की रहने वाली शशिदेवी विद्याधरियां अत्यन्त शोभायमान नृत्य करती है। उस नृत्य कला को देखकर ऐसा मालूम होता था जैसे स्वर्ग की अप्सरायें ही नृत्य कर रही हों ॥५८४॥

कोंगु वागे कुडिसं कुरुंदुनल् ।

वेंगे सेन्वगं तन्वगं पाडलं ॥

वांगु वाळयुं ताळयुं पुण्णयुं ।

पांगिनोगिन पार्मिशै इल्लये ॥५८५॥

अर्थ—उस पर्वत पर नारियल के वृक्ष जाहीजूही की लता, नीबू का झाड़, ताड़ वृक्ष, केले के झाड़ तथा चम्बल आदि नाम के अनेक जाति के वृक्ष अनेक प्रकार के सुन्दर २ फूलों-दार सुगन्धित वृक्ष आदि उस पर्वत पर हरे भरे सुशोभित दिखाई देते थे। उस पर्वत की उपमा देने को संसार में ऐसी अन्य और कोई वस्तु नहीं है ॥५८५॥

कळळु मीळ्वल रुंकळु नीर् चुने ।

पुळ्ळोलिप्प वंडार् तेळुं पूम् पोगे ॥

वेळ्ळु मार्वुळु विडि विळवय ।

ळुल्ल वण्ण मुरैत्तर् करियवे ॥५८६॥

अर्थ—कनेर के पुष्प, अनेक प्रकार की लताओं में लगे हुए पुष्पों की वाटिका, पानी का तालाब, हरे भरे वृद्धिगत घान की फसल, वहाँ की अत्यन्त सुन्दर भूमि, सुगन्धित घान की वाली आदि का वर्णन कहां तक किया जावे, वहाँ की भूमि अत्यन्त सुन्दर व अवर्णनीय है।

॥५८६॥

मट्टिद मलै मिसै धडत्तेन् सेडियिर् ।

कोट्टव रुरे पदि कोडियूर् गळार् ॥

मुट्ट पट्टि रुंदवै तूट्टोरु बदिर् ।

ट्टेकोरु पुरिनल दरणि तिलगमे ॥५८७॥

अर्थ—इस विजयाद्ध पर्वत पर उत्तर दक्षिण श्रेणी में करोड़ से अधिक संख्या के ग्रामों से चारों ओर घेरे हुए विद्याधर राजाओं के नगर थे। वह नगर एक सौ दस थे। वहाँ की श्रेणी में धरणी तिलक नाम का एक नगर है। ५८७॥

कोडिमिडै गोपुर वीदि वायलां ।

वडिवुडे मगळिरुं मैदरुं मलिडन् ॥

तडियिडु मिडंबेरा बडयुं मानगर् ।

कडलिडे नदिपुगुं काक्षि दागुमे ॥५८८॥

अर्थ—उस धरणी तिलकनगर में अधिक से अधिक ऊंचाई में तथा ध्वजाओं से युक्त गोपुर थे । और गोपुर के आसपास बड़ी २ गलियां थीं । उस नगर में सुन्दर स्त्रियों क इतनी भीड़ रहती थी कि जिससे आने जाने में बड़ी बाधा होती थी । इस प्रकार स्त्रियों व पुरुषों से भरा हुआ वह नगर था । उस गली में आने जाने वाली स्त्रियां तथा पुरुषों के चलने फिरने में ऐसे शब्द होते थे जैसे पर्वत पर से नदी के पानी के गिरने की आवाज होती है । यदि खड़ा होकर वहां के लोगों के आवागमन को देखा जावे तो ऐसा मालूम होता था कि जैसे नदी के दोनों किनारे बह कर जा रहे हों ॥५८८॥

सुर वुयर् कोडियुडे तौडुल् काळियर् ।

नरं विरि मरै मलर् नंगै मंगयर् ॥

पोरि विरु पुलंगळं भेग भूमिय ।

वरिचन तळि नगर् पोलु मानगर् ॥५८९॥

अर्थ—ऐसे उस महानगर में निवास करने करने वाली तरुण स्त्रियां सर्वगुण सम्पन्न व रूप में सुन्दर, मधुर शब्दों से युक्त एक क्षण में मन्मथ को वश में करने वाली थीं । वहां के रहने वाले मनुष्य इष्ट विषय व काम सेवन में यहां के मनुष्यों के समान ही भोग भोगते थे । जैसे अर्हत भगवान का समवसरण ही यहां उतरा हो ऐसा सदैव वह नगर प्रतीत होता था ॥५८९॥

नरंवि निम्लोलि नाडग माडुनल् ।

तरंवे यरने यारोलि याय् पिळि ॥

सुरुंबुनुं मौलि सूदेरि कोवयर् ।

करंवि नन् मोळि युं कव्वे सेय्युमे ॥५९०॥

अर्थ—उस नगर में वीणा के तथा नृत्य करने वाली स्त्रियों की पैजनी के मधुर शब्द कान में अत्यन्त मधुर सुनाई दे रहे थे । अनेक प्रकार के विषय भोग संबंधी अनेक कलाओं से स्त्री और पुरुष युक्त थे । ऐसे स्त्री और पुरुष उस नगर में निवास करते थे ॥५९०॥

मळे युन् मिन्नन माळिंग्युं डुला ।

मुळैय नार् पुरुवत्तुरु वच्चिले ॥

कुळैय वांगि विडुडुं कनम् पुळ्ळपुग ।

वळ्ळुं कव्वे यमर् वत्तरोर् पाल् ॥५९१॥

अर्थ—उस नगर में महलों पर इधर उधर घूमने वाली सुन्दर स्त्रियों की आंखें

हरिणी को आंख के समान अत्यन्त सुन्दर दीख पड़ती थी। वे तरुण स्त्रियां कटाक्ष दृष्टि से जिस मनुष्य की ओर देख लेती थी उसी मनुष्य को अपने नेत्रों के कटाक्ष से वश में कर लिया करती थी ॥५६१॥

मदि यडंड नेडुड् कोडि माडवूर् ।  
कदिबन् विजयर् कोनदि वेगनाम् ॥  
निदिइरंडन नीडिय तोळि नान् ।  
विदिइन् विजं कडंड नेडंडगं ॥५६२॥

अर्थ—उस नगर में आकाश में चंद्र मंडल को स्पर्श करने वाली ऐसी बड़ी २ ऊंची २ छ्बजाएँ थीं। ऐसी छ्बजाओं से अलंकृत धरणी तिलक नाम का वह नगर था। उस नगर का अधिपति पद्मनिधि के समान सम्पूर्ण पुरुषों की तथा नगर निवासियों तथा याचकों को इच्छा पूरी करने वाला सभी विद्याओं में निपुण अतिवेग नाम का राजा था ॥५६२॥

विलक्किला विलुनि दिवेड्डि यायुवा ।  
मिलक्कन मिथा वयु मिरुंद कोव नाळ् ॥  
सुलक्कनं यां पेयर् तुनार् गडोळ् वलि ।  
विलक्किय पुयत्तवि वेगन ट्रेविये ॥५६३॥

अर्थ—शत्रु राजाओं के भुजबल को नाश करने की शक्ति रखने वाले उस राजा अतिवेग की सर्व प्रकार के गुणों से सम्पन्न जैन धर्म में परायण तथा धर्म में आसक्ति रखने वाली सर्व सुन्दर सुलक्षणा नाम की पटरानी थी। यह पटरानी पूर्वजन्म में रामदत्ता का जीव ही यहाँ आकर सूर्य के प्रकाश के समान चमकने वाली महारानी हुई। इस सुलक्षणा पटरानी के गर्भ में मास्कर नाम का देव का जीव आया और नव मास पूर्ण होने के बाद श्रीधरा नाम की कन्या उस पटरानी के उत्पन्न हुई ॥५६३॥

परुदिइन् नोळियळां पार्व तानवळ् ।  
बह शिलै तिरुनुवन् मामडंडे पार् ॥  
ट्टिरुवेन तौडिनाळ् शीवरं यवाम् ।  
मरुविय पुरुळ् वळि बंद नाममें ॥५६४॥  
कोट्ट व नाम् कुलमल इर् ट्टोडिय ।  
कपुंडं सुलक्कनं कनग पाति युळ् ।  
कर्पग कोडियकु वळरं दु कामरं ।  
पपुंडं मुलैयरं पेळुंदु पूतवे ॥५६५॥

अर्थ—अतिवेग नाम के कुलपर्वत के समान गंभीर और पतिव्रता श्रेष्ठ लक्षणां

वाली सुलक्षणा नाम की पटरानी के श्रीधर नाम की पुत्री जिस प्रकार श्रेष्ठ भूमि में कल्प लता उत्पन्न होकर फैल जाती है उसी प्रकार वह पुत्री क्रमशः बढ़ने लगी ॥५६४॥५६५॥

मुत्तनि मुगिन् मुले मुळरि वानमुग ।  
तत्तयङ् किळविये तरुशगनेनुं ॥  
वित्तग नळगंयान् बेंदर कीदं नर् ।  
मुत्ति पेदारै मुत्तानं मूर्तिये ॥५६६॥

अर्थ—वह श्रीधरा अनेक प्रकार के मोती, माणक आदि के कंठों को गले में धारण करके कमल के समान मुख वाली वह कन्या अत्यन्त सौभाग्यशाली थी। उस श्रीधरा कन्या का अत्यन्त पराक्रमी दर्शक नाम से प्रसिद्ध अलकापुर के अधिपति के साथ विधि पूर्वक विवाह संस्कार कर दिया गया। वह दर्शक सदैव अपनी श्रीधरा रानी के साथ विषय भोग में तल्लीन रहता था ॥५६६॥

अळमुं कुळल्गळुं तिरुत्ति यम्मले ।  
इळ मईलनय वळोडौ यंदरा ॥  
नुळमलि युवगे तोडु नाळिनाल् ।  
वळरोळि बेंडूर्य प्रभं वानवन् ॥५६७॥

अर्थ—नवरत्न आदि आभरणों से तथा अनेक गुणों से सुशोभित वह श्रीधरा और उसके पति दोनों काम भोग में समय व्यतीत करते समय जैसे मोती से मोती और माणक से माणक मिलने में चमक व प्रकाश अधिक बढ़ता है, उसी प्रकार वे विषय भोग में दोनों मग्न थे ॥५६७॥

इरै वळे इरामे तन्निलय काळमेर् ।  
पिरविलेन् वयिर् पिरक्कु माय् विडि ॥  
निरंतव पयनेना निनेत सिदइन् ।  
मरुविला तिरुविनाळ् बेंट्टुट्टोडिना ॥५६८॥

अर्थ—पूर्व में रामदत्ता आयिका ने पूर्णचन्द्र के राजमहल में यह निदान बंध कर लिया था कि यह मेरा छोटा लडका पूर्णचन्द्र ही मेरा पुत्र हो। ऐसा निदान बंध कर लेने से उसी पुत्र का जीव गर्भ में आया। और वह श्रीधरा नाम की कन्या उत्पन्न हुई ॥५६८॥

मंगैयाय् मैद नाय् वागिर् ट्रेवनाय् ।  
मंगयाय् बेंडूर्य प्रभन् ट्टोडिनान् ॥  
इगिबु माट्टिन् वियल्वि सोदरै ।  
संगय निडुंगन तिरुविनाममे ॥५६९॥



अर्थ—पूर्व जन्म में वारुणी का जीव स्त्री मरणा करके पूर्वाचंद्र हुआ था और वह मरणा करके पुनः उस श्रीधरा रानी के गर्भ में आकर लडकी उत्पन्न हुई । बढते २ वह कन्या सर्वगुण सम्पन्न हो गई । तब उसका नाम यशोधरा रख दिया । संसार की विचित्रता बलवान है । यह सब मोह की माया है ॥५६६॥

अंगयु मडिगळु मलरंद तामरं ।  
 कोंगयुं कुळ्गळुं कुरुवै कोंड्रं याम् ॥  
 वेंगयर् पोरुव कन्वेयें वेंड्र तोळ् ।  
 पंकथ मलर् मिसं पावें पावये ॥६००॥

अर्थ—उस यशोधरा का मुख लाल कमल के समान अत्यन्त सुन्दर था । उसके नेत्र हिरणी के नेत्र के समान एवं भृकुटी इन्द्र धनुष के समान थी । इस प्रकार वह कन्या सुशो-  
 भित होकर पृथ्वी को शोभित करने लगी ॥६००॥

मेघरवत्तोडु मिडेंदं पेरोलि ।  
 पागर पुरत्तव रिरेवन् पारोडु ॥  
 नागर् तं मिडत्तं युंम नडुक्कुं विजंगट् ।  
 काकरन् सूर्या वरुत्तनागुमे ॥६०१॥

अर्थ—वहां मेघ की गर्जना के समान आवाज करने वाली तथा सूर्य के प्रकाश के समान प्रकाशवान, ऐसा भास्कर नामक नगर का अधिपति प्रतापी सूर्यावर्त नाम का राजा राज्य शासन करता था ॥६०१॥

निरैमवि यनय मुक्कुडे नीळलि ।  
 निरेवन तिरुंदडि निरुंव सिदयान् ।  
 पोरिकडस् पुलंगन् मेन् मिक्क पोळ्दिनुं ।  
 नेरियला नेरिच्चेला नीदिया नवन् ॥६०२॥

अर्थ—वह सूर्यावर्त राजा सूर्य के समान प्रतापी, शत्रु समूह को सदैव परास्त करने वाला, अत्यंत धार्मिक था । देव, शास्त्र, गुरु में भक्ति रखने वाला, शीलगुण सम्पन्न, चार प्रकार के दानों में हमेशा रत तथा सदैव जीवों पर दया करने वाला, तीन छत्रों के नीचे रहने वाला तथा सदैव भगवान के चरण कमलों की पूजा में रत रहता था । वह धर्मज्ञ तथा पापभीरु भी था ॥६०२॥

आट्रन् मूङ्गान् मलै यरसर् तस् वलि ।  
 माट्रिय पुयवली मट्रमंगै तन् ॥

नेट्रिय वडं सुमंवेळुंद कोंगयं ।

याट्ठुळि वेळ्बिया लन्न लेंदिनान् ॥६०३॥

अर्थ—उत्साह शक्ति, आलोचना शक्ति, प्रभुत्व शक्ति इन तीनों शक्तियों से युक्त, विजयाद्वै पर्वत पर रहने वाला, सब राजाओं को अपने आधीन करने वाला वह सूर्यावर्त राजा अलकापुरी का अधिपति था । उसका श्रीधरा की कूख से जन्म लेने वाली यशोधरा नाम की कन्या के साथ जैन उपाध्यायों के द्वारा विधि पूर्वक पाणिग्रहण संस्कार किया गया और यशोधरा उसकी पटरानी बनी ॥६०३॥

आर्यावर्तंतुळ् लारेंपोलवच ।

सूयांवर्तनुं तोगै तन्नलं ॥

वारिवर्तंतुळ् लमिळ् दिन् वांगिय ।

तारियान् परुगुनाळ् शासरत्तिनुळ् ॥६०४॥

अर्थ—आर्यावर्त नाम की उत्तम भोगभूमि में रहने वाले मनुष्य के समान यह सूर्यावर्त नाम का राजा अपनी पटरानी यशोधरा के साथ विषयभोग में मग्न हो गया और आनंद पूर्वक समय व्यतीत करने लगा ॥६०४॥

कामरुं देवियर् वदनत्तामरं ।

तेमरु वडेन सेंगट् शीधर ॥

नामद यानं शासरत्तिन् वळियिप् ।

पूमरु कुळलि तन् पुदल्ब नाईनान् ॥६०५॥

अर्थ—सुलक्षण से युक्त, देवांगना के तुल्य, कमलपुष्पवत् सुन्दर वदन वाली यशोधरा थी और कमल को जिस प्रकार भ्रमर सदैव उसकी सुगन्ध के लिये घेरे रहता है, उसी प्रकार पूर्व जन्म में हाथी की पर्याय में सभी हाथियों से घिरा हुआ अशनी कोड नाम के हाथी ने पंचाणुवत ग्रहण करने के फल से सहस्रार कल्प में जन्म लिया हुआ वह श्रीधर देव अपनी मायु को पूर्ण करके वहाँ से यशोधरा रानी के गर्भ में आ गया ॥६०५॥

श्रीधर निशोधरं शिरुवनाय् मझिर् ।

केदमास् तिमिर् केड किरण वेगनाय् ॥

मादिरं तन्नयुं धनवकु विजया ।

लोदनोर् वट्टत्ति नोरुव नाईनान् ॥६०६॥

अर्थ—उस श्रीधर देव का जीव यशोधरा देवी के गर्भ से जन्म लेकर पुत्र उत्पन्न हुआ । उस पुत्र का नामकरण संस्कार करके किरणवेग ऐसा नाम रखा गया । अब वह अपनी विद्या के सामर्थ्य से समुद्र से घिरा हुआ उस पृथ्वी में जन्म लेकर उपमा रहित हो गया ॥६०६॥

कुंजिगळ् करुवळं सुरळिन् कोत्तन ।  
 मंजिला मदियिन वियर्कं वान् मुगं ॥  
 कुंजर तडक्कं तित् पुयंगन् मावंगं ।  
 पंजिन् मेल्लनैनल पदुमै कंबवे ॥६०७॥

अर्थ—उस किरण वेग के सर के बाल स्त्रियों के हाथों में रंग बिरंगी चूड़ियां जैसे चमकती हैं, वैसे चमकते थे । उसका मुख कलंकरहित चंद्रमा के समान सुशोभित था । उनके हाथ हाथी की सूंड के समान थे । उनका वक्षस्थल लक्ष्मी निवास करने के स्थान के समान अत्यन्त विशाल था ॥६०७॥

इडं यरि येट्टिन् तिडंयौ वेंदरन् ।  
 तुडं कडन् माळिगं त्तुगळ् पोलुमे ॥  
 नडं विडं योदुक्कुमा नळिनं कालडि ।  
 यडंपलर् करि योडु कूट् मन्नने ॥६०८॥

अर्थ—उस किरणवेग का कटिभाग सिंह के कटिभाग के समान शोभायमान था । उनके पांव कदलीस्तम्भ के समान तथा वह तरुण सांड के समान यौवनवान दीखता था । चलते समय उनके पांव के तलवे कमल पुष्प के समान दीखते थे । उनके आस पास के देश के शत्रु राजा उनको देखकर कांपते थे । ऐसा वह पुत्र महान पराक्रमी था ॥६०८॥

कलं गुण त्तुल्लगळिर् कामनन्न वन् ।  
 मलं मिसं मन्नदं कण्णिण वल्लि कन् ॥  
 मुलं मलि भोगत्तिन् मीइस्वन् मोळ्गुना ।  
 निलं इन्मै सूर्यावरुत्त नेन्निनान् ॥६०९॥

अर्थ—वह किरणवेग संगीतादि ६४ कलाओं में परिपूर्ण तथा मन्मथ के समान यौवनावस्था को प्राप्त हुआ था । ऐसा वह किरणवेग विजयाद्वै पर्वत पर रहने वाली कुमारी के साथ विषय भोग आदि का आनन्द पूर्वक मुख भोगता था । वह आर्यावर्त राजा, यह संसार अनित्य है—ऐसा समझ कर अनित्य भावना का चितवन करने लगा ॥६०९॥

कळिट्टि नुक्करस निङ्गालुम् कालवै ।  
 येळट्टि सेरिद पोदाव विळ्ळिनम् ॥  
 वेळिट्टिनिर् कट्टिय विनेइन् वेंतुय ।  
 रळट्टिन् वीळ् पोडु मुङ्गावदिल्लये ॥६१०॥

अर्थ—जिस प्रकार एक बलवान हाथी पानी पीने को जाते समय अपने दोनों पावों को कीचड़ में फंसाकर शक्तिहीन हो जाता है और प्रयत्न करने पर भी उनके दोनों पांव

कीचड से नहीं निकलते उसी प्रकार वह विचारता है कि मैं कर्मरूपी कीचड में फंसकर उससे उठकर ऊपर आने की शक्ति न होने के कारण संसार रूपी कीचड में फंसकर महान दुख को भोगने वाला हो गया है। परन्तु मैंने उस कीचड से उठकर मैंने ऊपर आने का पुरुषार्थ नहीं किया। यह मेरी बड़ी भारी भूल है। पद्मनंदी आचार्य ने भी तत्त्व भावना में श्लोक ५ में लिखा है:—

‘लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरबपुर्बुध्वाश्रुतं पुण्यतो ।  
वैराग्यं च करोति यः शुचितया लोके सं एकः कृती॥  
तेनेवोज्झितगौरवेण, यदि वा ध्यानामृतं पीयते ।  
प्रासादे कलशस्तदा, मणिमयो हेमःसमारोपितः ॥

पुण्य के उदय से पवित्र कुल में जन्म पाकर व उत्तम शरीर का लाभ कर जो कोई शास्त्र को समझ कर व वैराग्य को पाकर पवित्र तप करता है वही इस लोक में एक कृतार्थ पुरुष है। यदि वह तपस्वी होकर मद को छोड़कर ध्यान रूपी अमृत का पान करता रहे तो भानो उसने स्वर्गमई महल के ऊपर मणिमयी कलश ही चढ़ा दिया है। अर्थात् आत्मध्यानी ही सच्चे तपस्वी हैं और वे ही कर्मों को काटकर मोक्ष के अधिकारी होते हैं। पुनः विचार करने लगा कि—

दिनकर—करजाले शैत्यमुष्णत्वमिदोः ।  
सुर—शिखरिणि जातु प्राप्यते जंगमत्वम् ॥  
न पुनरिह कदाचिद् घोर—संसार—चक्रे ।  
स्फुटमसुखनिधाने, भ्राम्यता शर्मं पुंसा ॥६८॥ (तत्त्व भावना)

मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा, आत्मज्ञान रहित ही जीव चारों गतिमई संसार के चक्कर में नित्य भ्रमण करता है। अज्ञानी को, संसार ही प्यारा है। वह संसार के भोगों का ही लोलुपी होता है। इसलिए वह गाढे कर्मों को बांधकर कभी दुख, कभी कुछ सांसारिक सुख उठाया करता है। उसको स्वप्न में भी आत्मिक सच्चे सुख का लाभ नहीं होता है। आचार्य ने यहां तक कह दिया है कि असंभव बातें यदि हो जाय अर्थात् सूर्य की किरणें गरम होती हैं वे ठंडी हो जावे, व चंद्रमा में ठंडक होती है सो गर्मी मिलने लगे तथा सुमेरु पर्वत सदा स्थिर रहता है सो कदाचित् चलने लग जाय परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव को कभी भी आत्म-सुख नहीं मिल सकता है। इसलिये हमें उचित है कि मिथ्यात्व रूपी विष को उगलने का उद्यम करें और सम्यक्दर्शन को प्राप्त करें। भेद विज्ञान को हांसिल करें व आत्मा के विचार करने वाले हो जावें। इस ही उपाय से मुक्ति के अनन्त सुख का लाभ होता है। श्री पद्मनंदी मुनि परमार्थ विशति में कहते हैं—

दुःखव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे ।  
नित्यं दुर्गतिपल्लिपाति कुपये भ्राम्यन्ति सर्वेगिनः ॥  
तन्मध्ये सुगुरु-प्रकाशित-पथे प्रारब्धमानो जनी ।  
यात्यानंदकरं परं स्थिरतरं निर्वाणमेकं पुरं ॥१०॥

इन दुखरूपी हाथियों से भरे हुए व हिंसादि पापों के वृक्षों को खोटे मार्ग में नित्य पटकने वाले संसार वन में सब ही प्राणी भटका करते हैं। इस वन के बीच में जो चतुर पुरुष सुगुरु के दिखाये हुए मार्ग में चलना शुरू कर देता है वह परमानन्दमई उत्कृष्ट व स्थिर एक निर्वाण रूपी नगर में पहुँच जाता है ॥६१०॥

मडंदयर् मनत्तिनुष् कडिदु मायं दिडु ।

मुडंघोडु किळैयन् वुळ्ळं वेत्तवन् ॥

टूडंगन् वेन्मुलयवर् सूळ्ळांबिय ।

मडंगल् पोल् मलं निडु निलैसित् वंदनन् ॥६११॥

अर्थ—इस शरीर संबंधी पुत्र, मित्र, बंधु, बांधवादिक जितने भी दीखते हैं वे सब असद्भूत चारित्र हैं। और वे असद्भूत चारित्र होने से क्षणिक और चंचल हैं, शीघ्र ही नष्ट होने वाले हैं। इस प्रकार वह भार्यावर्त विचार करके कि यह सब अनित्य है, एकत्व भावना का चिंतन करने लगा और इस प्रकार भावना भाते समय उनकी महारानी आदि सब कुटुम्ब के लोग वहाँ उनके पास आये तब उनको संबोधन करके संसार की असारता का उपदेश देकर वैराग्य युक्त होकर विजयाद्वं पर्वत पर से नीचे आ गये। और नीचे आकर उस जंगल में घोर तपश्चरण करने वाले निर्ग्रन्थ मुनिराज को देखा और देखते ही शीघ्रता से उनके पास जाकर भक्ति पूर्वक स्तुति करके बारंबार नमस्कार किया। तत्पश्चात् बहुत विनय के साथ उनसे प्रार्थना करने लगा कि हे प्रभु! अष्ट कर्मों के मर्मों को तथा स्वरूप को समझने की मेरी भावना है। कृपा करके उसको मुझे समझाकर प्रतिपादन करें ॥६११॥

मलैबिन् मादवन् मामुनि चंदिरन् ।

टूलैव नन्नवन् टून् चरणंबुयम् ॥

निलनु रप्पणिवैत्ति निडुन्विनं ।

फलमेनो पनिक्केडु पानंदनन् ॥६१२॥

अरिओडा लोगम् तम्ने यारिरुळ् पोल् निडु ।

मरुदलै शैयुं ज्ञान काक्षिया वरनुं वाळि ॥

नेरियुं वाय्हरंडि नोडिन्म नमिर्दम् पूशि ।

सेरिय नावैत्त लुक्कुं तीय नल् वेदनीयम् ॥६१३॥

अर्थ—तदनन्तर भार्यावर्त राजा की प्रार्थना को सुनकर वे मुनिराज कहने लगे—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय ये चार घातिया कर्म हैं और आयु, नाम, शोत्र, वेदनीय ये प्रघातियां कर्म हैं। ये घातिया कर्म आत्म स्वभाव को हमेशा घात करते आये हैं। इस कारण यह सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के निज स्वरूप को घातते हैं और संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं। ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय जिस प्रकार अंधकार में रखी हुई वस्तु दिखाई नहीं देती उसी प्रकार दर्शन और ज्ञान का आवरण करके अपने आत्म-स्वरूप का आवरण कर देते हैं। और उसमें घात तथा असाता वेदनीय दोनों कर्म विष

और अमृत के समान हैं। जैसे मनुष्य खड्गधारा में लगे हुए मधुबिंदु के लोभ से उसको जीभ से चाटता है और उसकी धार से जिह्वा कट कर खून निकलता है उसी प्रकार जिह्वा इन्द्रिय के लोभ के कारण ऐसा करने से साता कर्म मधु की बून्द है और असाता कर्म खड्ग की धार के समान है। श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है:—

“आद्योज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयऽऽयुर्नामि-गोत्रांतरायाः ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय ये आठ मूल प्रकृतियां हैं ॥

ज्ञानावराणीय, दर्शनावराणीय, मोहनीय, अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं। क्योंकि जीव के अनुजीवी गुणों को नष्ट करते हैं। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय ये चार अघातिया कर्म हैं। जलो हुई रस्सी की तरह इनके रहने से भी अनुजीवी गुणों का नाश नहीं होता। अब जीवों के उन गुणों को कहते हैं जिनको कि कर्म घातते हैं।

केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य और क्षायिक सम्यक्त्व तथा क्षायिक चारित्र और क्षायिक दानादि इन क्षायिक भावों को तथा मतिज्ञान आदि (मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय) क्षायोपशमिक भावों को भी ये ज्ञानावराणादि चार घातिया कर्म घातते हैं। अर्थात् ये जीव के सम्पूर्ण गुणों को प्रगट नहीं होने देते। इसी वास्ते ये घातिया कर्म कहलाते हैं।

अब अघातिया कर्मों का कार्य बताने के लिए पहले आयु कर्म का कार्य बतलाते हैं।

कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ और मोह अर्थात् अज्ञान, असंयम तथा मिथ्यात्व से वृद्धि को प्राप्त हुआ संसार अनादि है। उसमें जीव का अवस्थान रखने वाला आयु कर्म है। वह उदय रूप होकर मनुष्यादि चार गतियों में जीव की स्थिति करता है। जैसे कि काठ- (खोडा) जेलखानों में अपराधियों के पांव को बांध रखने के लिये रहता है, अपने छेद में जिसका पैर आ जाय उसको बाहर नहीं निकलने देता। उसी प्रकार उदय को प्राप्त आयु कर्म जीवों को उन २ गतियों में रोक कर रखता है।

अब नाम कर्म का कार्य कहते हैं:—

नामकर्म, गति आदि अनेक तरह का है। वह नारकी वगैरह जीव की पर्यायों के भेदों को, तथा जीव के एक गति से दूसरी गति रूप परिणामन को कराना है। अर्थात् चित्रकार की तरह वह अनेक कार्यों को किया करता है। भावार्थ—जीव में जिनका फल हो सो जीव-विपाकी पुद्गल में जिनका फल हो सो पुद्गल-विपाकी, क्षेत्र-विग्रह गति में जिनका फल हो सो क्षेत्र-विपाकी तथा च शब्द से भव-विपाकी। यद्यपि भव-विपाकी आयु कर्म को ही माना है; परन्तु उपचार से आयु का अविनाभावी गति कर्म भी भव-विपाकी कहा जा सकता है इस तरह नाम कर्म जीव-विपाकी आदि चार तरह की प्रकृतियों के रूप परिमणन करता है।

अब गोत्र कर्म के कार्य को कहते हैं:—

कुल की परिपाटी के क्रम से चला आया जो जीव का आचरण उसकी गोत्र संज्ञा

है। उसे गोत्र कहते हैं। उस कुल परम्परा में उत्तम आचरण होय तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं। जो निम्न आचरण होय वह नीच गोत्र कहा जाता है। जैसे सियार का एक बच्चा बचपन से सिंहनी ने पाला, वह सिंह के बच्चों के साथ ही खेला करता था। एक दिन खेलते हुए वे सब बच्चे किसी जंगल में गये। वहां उन्होंने हाथियों का समूह देखा। देखकर जो सिंहनी के बच्चे थे वे तो हाथी के सामने हुए, लेकिन वह सियार जिसमें कि अपने कुल का डरपोकपने का संस्कार था—हाथी को देखकर भागने लगा। तब वे सिंह के बच्चे भी अपना बड़ा भाई समझकर उसके साथ पीछे लौटकर माता के पास आये। और उस सियार की शिकायत की कि हमको शिकार से इसने रोका। सिंहनी ने उस सियार के बच्चे से एक श्लोक कहा जिस का मतलब यह है कि हे बेटा ! तू अब यहां से भाग जा, नहीं तो तेरी जान नहीं बचेगी।

शूरोसि कृतविद्योऽसि, दर्शनीयोसिपुत्रक ।

यस्मिन् कुलेत्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥

अर्थ—हे पुत्र ! तू शूरवीर है, विद्यावान है, रूपवान है परन्तु जिस कुल में तू पैदा हुआ है, उस कुल में हाथी नहीं मारे जाते।

भाषार्थ—कुल का संस्कार अवश्य आ जाता है। चाहे वह कैसे भी विद्यादि गुणों कर सहित क्यों न हो। उस पर्याय में संस्कार नहीं मिटता।

अब वेदनीय कर्म के कार्य को कहते हैं—

इन्द्रियों का अपने २ रूपादि विषय का अनुभव करना वेदनीय है। उसमें दुःख रूप अनुभव करना असाता वेदनीय है और सुख रूप अनुभव करना साता वेदनीय है। उस सुख दुःख का जो अनुभव कराये वह वेदनीय कर्म है ॥६१२॥६१३॥

मस्तत्तिन् मयक्कु भोगं वान् रळ् पोलुमाय् ।

चिसिरक्कारि नाम शिरुमयुं पेरुमयुं शै ॥

गोतिरं कुलाल नोक्कुं पोरुनेळिने कोळामर काक् ।

वंत्तवन् पोलुमंद रायंगन् मन्न वैङ्गान् ॥६१४॥

अर्थ—हे राजन् ! यह कर्म इस प्राणी को चारों गतियों में भ्रमण कराने का कारण है और अनेकों दुखों को उत्पन्न करने वाले हैं। आयु कर्म जैसे अपराधी के पांव में बेड़ी डाल देते हैं उसी प्रकार यह कर्म जकड़े रहता है। जिस प्रकार चित्रकार चित्र को छोटा-बड़ा करता है, इसी प्रकार नाम कर्म है। शुभाशुभ ऊंच नीच नाम यह कर्म ही करता है। गोत्र कर्म—कुम्हार जैसे बर्तन को छोटा बड़ा बनाता है, उसी प्रकार ऊंचा नीचा करना यह गोत्र कर्म का कार्य है। अंतराय कर्म—जिस प्रकार राजा याचक लोगों को दान करता है और भंडारी उसको दान देता देख कर रोक देता है उसी प्रकार अन्तराय कर्म आत्मा की शक्ति को प्रकट नहीं होने देता है। दर्शनावरणीय कर्म—जैसे दर्शन करते समय भगवान के मन्दिर का दरवाजा बंद रहता है—दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म आत्मा पर आवरण करता है ॥६१४॥

मुडिविला कोडुमे ताय मोगंदान् मुन्ममिल्ला ।  
 कडिय तीविनेगळेला कट्टवे तानु कट्टु ॥  
 केडुवळितान् केडामुन् केडव विनेक्कु मुट्टा ।  
 तडुत्तलु करिय मोग मरसन विनेगेट् केड्रान् ॥६१५॥

अर्थ—हे राजन् ! अनेक प्रकार के दुख को देने वाला यह मोहनीय कर्म अनादि काल से आत्मा को दुख देता आ रहा है । जब तक मोहनीय कर्म का नाश नहीं होता तब तक आत्मा के साथ लगे हुए मोहनीय कर्म जनित दुःख भी नष्ट नहीं होते । यह कर्म महा बलवान है । जैसे सेना में सेनापति प्रधान होता है उसी तरह आठों कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है । इस कर्म के नष्ट होने पर अन्य कर्म अपने आप खिर जाते हैं । इसको जीतना अत्यंत कठिन है ॥६१५॥

मदियिना लावें सेट्ट मयक्कत्तान् विनयवट्टान् ।  
 कदिगळुळ् कळुमक्काय मारिलोड्रामक्कायं ॥  
 पोदिय वेंबोरियं याक्कुं पोरिगळार् पुळत्तंमेवि ।  
 विदियिनाम् वेळ्कै शेट्ट मीदुमच्चुळट्टि यामे ॥६१६॥

अर्थ—अज्ञान से रागद्वेष तथा मोह उत्पन्न होता है । मोह से आत्मा में कर्म का बंध होता है । उन कर्मों से छह काय के जीवों में जिस २ पर्याय में जीव जाकर अपनी भावना के अनुसार पर्याय धारण करता है, वैसे ही पूर्व जन्म में किया हुआ शुभाशुभ परिणाम के अनुसार पर्याय प्राप्त करता है । यह आत्मा अनादि काल से मोह के कारण अनेक पर्याय को धारण करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता आ रहा है ॥६१६॥

परियट्ट मिदने वेल्धार् धान्मै यार् पान्मेइल्लार् ।  
 तिरिवट्टं पोल नानगु गविगळुट् तिरिवरेन्न ॥  
 किरियेट्ट विरंमै तन्नै किरण वेगन् कन्वंसु ।  
 पोरियोक्क भोगं विट्टु पुरवलन् मुनिव नानान् ॥६१७॥

अर्थ—जो ज्ञानी भव्य जीव हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव को जानकर मोक्ष पुरुषार्थ के द्वारा तपश्चरण करके मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं । इस मार्ग को न जानने वाले संसारी जीव कुम्भकार के चक्र के समान हैं जैसे चक्र एक ही जगह चक्कर करता रहता है उसी प्रकार यह जीव एक ही जगह भ्रमण करता रहता है । इस प्रकार मुनिराज ने आर्यावर्त को उपदेश दिया । उस उपदेश को सुनकर वह आनंदित हुआ और पुनः मृतियों को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके अपने नगर में लौटकर आ गया । अपने पुत्र किरणवेग को बुलाकर उस नगर का अधिपति बनाया अर्थात् उसका राज्याभिषेक कर दिया । और मन, वचन, काय से सर्वसंघ, कुटुम्ब परिवार आदि का त्याग करके जिनदीक्षा को धारण कर लिया ॥६१७॥

येरिमुयंगिलंगु वेळान् ट्टु रंद पिनिसोदरं यान् ।  
 करिकुळर् करुंगट् सेव्वाय सूर्यावरुत्तन् ट्टेवि ॥



शिरिदरं योडुं शेंडुं गुण वदि पादं सेरंदु ।  
वरिसैर् टुरंदु मंजै मयिरु गुत्तिरंद वत्तार् ॥६१८॥

अर्थ—उम आर्यावर्त राजा ने जिनदीक्षा लेने के पश्चात् रति तिलोत्तमा के समान रूप को धारण करने वाली वह यशोधरा व उसकी माता श्रीधरा इन दोनों ने भी वैराग्य भावना को भाते हुए जिनमति नाम की आर्यिका के पास जाकर आर्यिका दीक्षा धारण कर ली ॥६१८॥

अंग पूवादि नूलु लच्चियर् कुरिय ओदि ।  
वेंगडु काननन् मेवल् वेरु पट्टुरंदल् विट्टु ॥  
शिगनर् पायचलादि नोन् बोडु सेरिडु सेंबोन् ।  
बंगमे यनेय तोळ्गळ् वट्टिमाशडेंय नोट्टार् ॥६१९॥  
तवक्कोडि इरंडु पोल तांगरुं कोळ्गं तांगि ।  
युवत्तल् काय् विडि शित्तत्तोत्तु निड्रोळ्गु नाळुळ् ॥  
नवेंकेला मिडमिब्पोग मेंडु नर्किरण वेगन् ।  
शिवत्तिरं युरइन् शित्तायदन नकूडन् सेरं दान् ॥६२०॥

अर्थ—तदनन्तर इन दोनों आर्यिकाओं ने घोर तपश्चरणा करते हुए अंगंग, पूर्वांग आदि शास्त्रों का अध्ययन किया और त्रिकाय योग को धारण कर सिंह निष्कृत व्रत को धारण करके उपवास सहित घोर तपश्चरणा करने लगी । तपश्चरणा करके शरीर को कृश किया । और दोनों आर्यिकाएं निर्दोष चरित्र को परिपालन करने लगी । इधर इस संसार को, इन्द्रिय भोगों को दुख का कारण समझ कर उस किरणवेग ने भली प्रकार से संसार भोगों के विषय को अच्छी तरह से जान लिया और विजयाद्व पर्वत की दक्षिण दिशा में सिद्धायतन नाम के अकृत्रिम चैत्यालय में गया ॥६१९ ६२०॥

ऐयेंदुं कादमोंगि यागंडु नीडडि ईनुच्चि ।  
ये येदिर पादि नीळ् मगलमाम् शिकरन् तन्नै ॥  
पैयोडुं मु परवैयल्गुर् पट्टिगं सूटु पोल ।  
सैयोडुं मलरं व कन्नार् वनप्पिर् काविरंडु सूळ्द ॥६२१॥

अर्थ—वह विजयाद्व पर्वत पच्चीस कोस ऊंचा व पच्चीस कोस ही चौड़ा था । उस के ऊपर शिखर था, उस शिखर की ऊंचाई साढे बारह कोस थी । उस पर अकृत्रिम चैत्यालय था उस चैत्यालय के चारों ओर दो उपवन थे ॥६२१॥

वेदिगं तोरणंगळ् वंदन कांतियारं द ।  
सेदिय मरंगनान् नगु दिसै दोरुं सेरिवं कावु ॥  
ळादियोडुंद मिळावरिन् कोईलेडुम् ।  
बोदिग डोरुं नान्गु गोपुरं विळ्गु निडु ॥६२२॥

अर्थ—उस चैत्यालय की वेदियां तोरण से खिरी हुई थी। उस चैत्यालय के चारों ओर अत्यंत प्रकाशमान चैत्य वृक्ष हैं और जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने जाने को चार वीथी है। चारों वीथियों पर चार ही गोपुर हैं ॥६२२॥

कनकमन्युशियुं कंबम् कुमुदम् पालिकासु ।  
मननिरं भूतमांडु पावैगळ् कूडशालं ॥  
शिमंवेष्टुं वेदम् डुम् पुराणम् मेळुहि वेट्योन् ।  
ट्टन विडं प्रोडु वेडोर् तलं वन् विरुक्कं यामे ॥६२३॥  
घायतं कावमागि यदनरं यगल मागि ।  
यायवन् काल् कुरेव तुयरना यमसमागि ॥  
नीदिया निडु गंद कुडिगळ् नूट्टिट्टागि ।  
दायद लोर् मूडु मुन्नु मंडयम् पलवुमामे ॥६२४॥

अर्थ—उस अकृत्रिम चैत्यालय के स्तम्भ रत्नों से निर्मित हैं जो अत्यन्त प्रकाशमान और शोभायमान दिखते हैं। और उसके बाहर नर्तन मंडप में जिस प्रकार नर्तकी नृत्य करती है उसी प्रकार के अनेक रंगों से चित्रित चित्राम हैं। और प्रागम के अनुसार द्वादशांग भाव को वहां चित्रित किया गया है और उसमें अर्हत भगवान के प्रतिमा कृत चित्र हैं। उस चैत्यालय के निचले भाग से ऊपर के भाग तक एक कोस चौड़ा, सवाकोस ऊंचा और सवा कोस लम्बा इस प्रकार एक सौ आठ संख्या वाले मंडप हैं ॥६२३॥६२४॥

स्तूपं चैदियमर वैजयंतयाम् ।  
मा पेहं कोडिमलिमानसंबनर् ॥  
गोपुरन् कोडिनिरं तोरण शिबै ।  
वापिमानंबयं वेद बंबवे ॥६२५॥

अर्थ—यह स्तूप चैत्यवृक्ष और वैदूर्य नाम के रत्नों की ध्वजा, महान सुशोभित मानस्तंभ, विशेष सुन्दर गोपुर आदि यह सभी पूर्वी दिशा में थे। जिनके पास पास कई तालाब थे ॥६२५॥

घाडु मामिसै वंद किरण वेननर् ।  
कूडमालुरे विडंकुरुगु मेळैयु ॥  
नीडि यादिल्लिडु पिप्पिलसिन् मेसवरा ।  
कोडुनीळगोपुरकडंडु कुंबिडा ॥६२६॥

अर्थ—वह किरणवेग अनेक प्रकार के विचित्र नृत्य करने वाली नर्तकी के समान चंचल घोड़े पर चढ़कर सिद्धायतन नाम के मंडप में जाने के लिये शीघ्रता से चैत्यालय के पास नीचे आकर घोड़े से उतरा और बोधी दूर पैदल चल कर गोपुर के आगे आकर जिनेन्द्र

भगवान के मंडप में गया और जैसे सुन्दर कमल की कली आपस में जुड़ी हो उसी प्रकार दोनों हाथ जोड़कर किरणवेग ने भक्ति पूर्वक नमस्कार किया ॥६२६॥

मलर् कई नैदिमामेरु सूळ्वरु ।  
मलर् कदि नरुक्क निर किरण वेगन् ट्रान् ॥  
पलमुरै वलं वर परमन् कोड्लु ।  
निलैयुरु कदवंग नीगि निडुवे ॥६२७॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह किरणवेग अपने हाथ में अत्यन्त सुगन्धित पुष्प लेकर जिस प्रकार भेरु पर्वत को सूर्य प्रदक्षिणा देकर आता है उसी प्रकार वह जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करता हुआ तीन प्रदक्षिणा देकर भगवान के मंदिर में जाता है और मंदिर में धुसते समय उस शैत्यालय के द्वार अपने आप खुल जाते हैं ॥६२७॥

केडुकल कंड वझाय् केन् केळिर् पोर् ।  
कुडे मुम्मै नीळळं कोने कांड्लु ॥  
मडि मिसै गलर् सोरिदरट्टि येबि नार् ।  
पडि मिसै कळिर् पोर् पणिवेळुवनन् ॥६२८॥

अर्थ—किवाड़ों के खुलते ही जिस प्रकार एक नाव नदी में जाते समय रास्ता भूल कर दूसरी जगह जाने तथा पुनः प्रयत्न करने पर अपने सही रास्ते पर आ जाने से मल्लाह प्रसन्न होता है उसी प्रकार वह किरणवेग अर्हंत भगवान के प्रतिकृत को देखकर अत्यन्त संतोष व आनन्द सहित भगवान के चरण कमलों में वह सुगन्धित पुष्प अर्पण कर साष्टांग नमस्कार करके सदा हो गया ॥६२८॥

मणि निलं सेंदनम् कौडु मट्टिया ।  
वरिण्पेर वरुच्चने विदियि नचिया ॥  
चिनेला रिरंवनं पणिवेळुद पिन् ।  
ट्टुणि पडु चिनय वन् ट्टुवि तोडंगि नान् ॥६२९॥

अर्थ—तत्पश्चात् सुगन्धित चन्दन मिश्रित पानी से शुद्ध की गई भूमि पर बैठ कर अष्ट इन्द्र से भगवान की पूजा की व कर्म निर्जरा का कारण भूत अत्यन्त भक्ति पूर्वक जित स्तुति की ॥६२९॥

वरिचिवा सरियःव वरिवनी ।  
पोरिइनाल् भोगिमल्लुनि ॥  
वरुचिसाद गुणत्तुने वाळुत्तु मा ।  
ट्टुरिक्किसेनडि येनर वेंवने ॥६३०॥

अर्थ—भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति करके वह किरणवेग प्राथना करता है कि हे प्रभो ! आपने मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ऐसे चार ज्ञानों को तथा पांचवें केवलज्ञान को प्राप्त करके चार घातिया कर्मों को नष्ट किया है और उस केवलज्ञान के द्वारा तीन लोक में चराचर वस्तु को तथा उसकी द्रव्य पर्याय को जानने की शक्ति आपने प्राप्त की है । और पचेन्द्रिय क्षणिक सुख को विष के समान समझकर उसको त्याग करके अतीन्द्रिय शाश्वत सुख को प्राप्त किया है । आप में अनन्त गुण विद्यमान हैं । हम अल्प ज्ञानियों में स्तुति करने की योग्यता नहीं है । इसलिये हम आपके गुणानुवाद तथा स्तुति करने में असमर्थ हैं ॥६३०॥

ओंड्रि यावयु मुन्मं इनालेना ।  
ओंड्रिलामयु मुन्मयु मोदिना ॥  
योंड्रिडादन पोलु निन्वाय् मोळि ।  
योंड्रिडा विने योडुळ् वारुळम् ॥६३१॥

अर्थ—जीवादि द्रव्य द्रव्याधिक नय की अपेक्षा एक है और पर्यायाधिक दृष्टि से अनेक हैं । ऐसा आपने अपने केवलज्ञानादि द्वारा बतलाया है । परन्तु आपके वचन पर मिथ्यादृष्टि लोग विश्वास नहीं करते हैं ॥६३१॥

नित्तमाम् पोरुळ् निड् गुणत्तेना ।  
नित्तमु मर्लनिड् गुणत्तेना ॥  
नित्त मुंड्रि निलाव निन्वाय् मुळि ।  
नित्तमुं निने वार् विने नींगुमें ॥६३२॥

अर्थ जीवादि द्रव्य निश्चय नय से एक होने पर भी वह द्रव्याधिक अपेक्षा से नित्य है । पर्यायाधिक नय की अपेक्षा से अनित्य है । इसी प्रकार आपका वचन अनेकांतमय है और अनेक प्रकार का है ।

भावार्थ—ग्रंथकार का कहना है कि भगवान की वाणी अनेकांतमय है । क्योंकि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय, धौब्य रूप से युक्त है । द्रव्याधिक नय की अपेक्षा वस्तु नित्य है और पर्यायाधिक नय की अपेक्षा अनित्य है । आलाप पद्धति में कहा है कि—

“नयभेदा उच्यन्ते-अर्थात् नय के भेदों को कहते हैं:—

गिच्छय-ववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं ।  
गिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह ॥

सम्पूर्ण नयों के निश्चय नय और व्यवहार नय ये दो मूल भेद हैं । निश्चय का हेतु द्रव्याधिक नय है और व्यवहार का हेतु पर्यायाधिक नय है । निश्चय नय द्रव्य में स्थित है और व्यवहारनय पर्याय में स्थित है । श्री अमृतचंद्राचार्य ने भी समयसार में गाथा ५६ की टीका में “व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात्” निश्चयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्” इन शब्दों द्वारा

बहु बतलाया है कि व्यवहारनय पर्याय के आश्रय है और निश्चयनय द्रव्य के आश्रय है । अर्थात् निश्चयनय का विषय द्रव्य है और व्यवहारनय का विषय पर्याय है ।

व्यवहारो य वियप्नो भेदो तह पउजधो सि एयट्टो ॥५७२॥ (गो जी.)

व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण । (समयसार गाथा १२ टीका)

व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय बहु सब एकार्थवाची शब्द हैं । क्योंकि निश्चय नय का विषय द्रव्य है और व्यवहारनय का विषय पर्याय है । अतः निश्चय नय का हेतु द्रव्याधिकनय है और व्यवहार का हेतु पर्यायाधिक नय है ॥६३२॥

अलगिला वरि विक्कन् नडंगिबन् ।

हुलगेला मुळळडंगिय उम्ने यन् ॥

मवमिलाह मनस्तिडे जैसपिन् ।

नलगि सामैय वेन् करणवायवे ॥६३३॥

अर्थ—आप अपने केशल ज्ञान रूपी प्रकाश के द्वारा सर्व द्रव्य पर्यायों को एक ही समय में जानने वाले हैं । हे भगवन् ! आपके समान मेरे कलंक रहित मन, वचन, काय से ध्यान करने से मेरे अन्दर भी आपके समान गुण आ जाते हैं ॥६३३॥

वेरियार मलर् भोडु सेल् पोडु पू ।

मारियाय् मू बुलोग मेडुक्कु मा ॥

वीरिया दडियेन् विनेसीर नल् ।

वारि यावव लायर वेदने ॥६३४॥

अर्थ—हे धर्मचक्र के अधिपति ! हे त्रिलोकीनाथ ! आप लाल कमल पर गमन करने वाले हैं । देवों के द्वारा पुष्प वृष्टि करने योग्य हैं । अनन्त गुण व अनन्त शक्ति से युक्त आप की स्तुति करने से कर्मों का नाश होता है । इस कारण आप भक्ति, स्तुति के योग्य हैं । देवागम स्तोत्र में समंतभद्राचार्य ने भगवान की स्तुति करते समय भगवान के प्रति यह प्रश्न उठाया कि हे भगवन् !

“देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः ।

मायाविष्कपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥

हे भगवन् ! आपके समक्षरूप में देवों का आगमन, आकाश गमन, छत्र-चंद्र आदि की विभूति जो देखने में आ रही है इसलिये आप यह कहते होंगे कि इन विभूतियों के कारण मुनि हमारे दर्शन करते हैं । परन्तु इन विभूतियों के कारण से तो आप महामुनियों के द्वारा स्तुति करने योग्य नहीं ही सकते; क्योंकि इस प्रकार विभूति तो मायामयी मस्करी आदि इन्द्रजालियों में भी पाई जाती है । देव आज्ञा-प्रधानी हैं, देवों का आवागमन व अन्यत्र विभूति आपमें समझ कर हमारे सक्षम परीक्षा प्रधानी स्तुति करना नहीं मानते हैं । इसलिए

स्तवन आगम के आश्रय है। इस स्तवन का हेतु देवों का आगम विभूति सहित है तो यह हेतु भी आगम आश्रित है। यह विभूति ऐसी है कि प्रतिवादी को तो प्रमाण सिद्ध नहीं देती है। सबसे पहले देवागम आदि को देखे बिना कैसे माने? और आगम प्रमाणवादी के यहाँ भी माया आदि से प्रवर्तन करने वाला है सो इसको कैसे साधे? पुनः प्रमाणवादी कहते हैं कि जो सच्चा देव आगम आदि विभूति सहितपना भगवान में है वह मायामयी में नहीं है इसलिये वही हेतु (कारण) हो, यह विचार ठीक नहीं। इस प्रकार तुम कहोगे तो भी सच्ची विभूति भगवान के प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। आगम से यदि कहा जाय तो आगम प्रमाण है। इसलिए इस हेतु से भगवान आप सिद्ध नहीं होते हैं। सिद्ध भगवान मुझे पूछते हैं कि जो अंतरंग व बहिरंग शरीरादि मोह जो हमारा है दूसरे का नहीं है इसलिये हम स्तुति करने योग्य हैं। इसी प्रकार मेरी स्तुति करना चाहिये पुनः आचार्य कहते हैं:—

“अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।

दिव्यः सत्यो दिवोकस्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ।२। (आ.मी.)

अध्यात्म अर्थात् आत्माश्रित, शरीराश्रित अंतरंग शरीर आदि का महान् उदय, पसीना आदि मलका न आना बाह्य देवों द्वारा किये हुए गंधोदक वृष्टि, दिव्यपना ये बातें सच्चे मायामयी में नहीं पाये जाते हैं। चक्रवर्ती आदि मनुष्यों में यह दिव्य शरीर नहीं रहता। फिर भी हमारे द्वारा स्तुति करने योग्य आप नहीं हो सकते हैं। इस हेतु से भगवान आप हमारे स्तुति करने योग्य नहीं हैं। अंतरंग और बहिरंगपना सच्चे इन्द्रजाली में नहीं पाया जाता बल्कि कषाय रागादि सहित स्वर्ग के देवों में पाया जाता है। इस कारण आप स्तुति करने योग्य नहीं हैं।

जो भगवान के घातिया कर्मों के नाश से ऐश्वर्यपना है, वैसा रागादि सहित देवों में नहीं है। इसलिये हमारी स्तुति करना चाहिये। पर भगवान के घातिया कर्मों के नाश से उत्पन्न हुआ केवलज्ञान तो साक्षात् दीखता नहीं यह आगम आश्रित है।

इसके अलावा अन्यवादी जो प्रमाण सम्प्लव को मानने वाले अनेक प्रमाणाँ से सिद्ध मानते हैं। यह आगम प्रमाण से सिद्ध हुआ। इसमें कौनसा दोष है? आचार्य इसका उत्तर देते हैं कि ऐसा प्रमाण सम्प्लव इष्ट नहीं है। प्रयोजन विशेष जहाँ होता है वहाँ प्रमाण सम्प्लव इष्ट है। पहले सिद्ध प्रामाण्य आगम से सिद्ध हुआ तभी उसके हेतु को प्रत्यक्ष देखकर अनुमान से सिद्ध करें, पीछे उसको प्रत्यक्ष जाने। वहाँ प्रयोजन विशेष होता है। ऐसे प्रमाण सम्प्लव होता है। केवल आगम से ही अथवा आगमाश्रित हेतु जनित अनुमान से प्रमाण नहीं। फिर काहे को प्रमाण सम्प्लव कहना। ऐसे २ विग्रह ऐश्वर्यों से भी भगवान परमात्मा नहीं माने जाते हैं। फिर भगवान्, संमत भद्राचार्य को कहते हैं कि हमारा तीर्थंकर सम्प्रदाय है। मोक्ष मार्ग स्वयं धर्म तीर्थ को हम चलाते हैं। इस कारण हम स्तुति करने योग्य हैं। इसका आचार्य उत्तर देते हैं:—

‘तीर्थंकृत्समयानां च परस्परविरोधतः ।

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ।३। (आ.मी.)

हे भगवन् ! यदि हम तीर्थकर कहेंगे तो उसके द्वारा भव्य तिर जाते हैं, ऐसे धर्म-तीर्थ को आप करते हो तो इस प्रकार करने से तीर्थकर कहेंगे या तीर्थकर आगमन कहेंगे तो इसमें भी परस्पर विरोध होता है। सभी में आप्तपना नहीं है। इसलिये कोई एक गुरु स्तुति करने योग्य होता है. सभी देव नहीं होते।

हे भगवन् आप्त ! तुम्हारे तीर्थकरपने हेतु से महानपना साथे तो यह तीर्थकरपना अनुमान प्रमाण से तो सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्ष आप दीखते नहीं, और उसका लिंग भी नहीं दिखता। और आगम से साथे तो पूर्ववत् आगम का साधन ठहरे पुनः यह विचार हो। इस कारण इन्द्रादिक विषय में भी असभव ही है। तो भी बौद्ध धर्म आदि अन्यमती भी सब अपने २ को तीर्थकर माने हैं। फिर तुम्हारे में और उनमें अन्तर ही क्या है। वे भी सर्वज्ञ नहीं। इस कारण परस्पर आगम विरुद्ध कहता है। जो विरुद्ध न कहे तो मतभेद काहे का। इसलिए तीर्थकरपने का हेतु है तो कोई भी इस महानपने को नहीं साथे।

यहां मीमांसक मत वाले यह कहते हैं कि इसी से पुरुष तो कोई भी सर्वज्ञ महान स्तुति करने योग्य नहीं है, कल्याण के अर्थ तो वेद ही कल्याण के उपदेश का साधन है ?

वेद आप ही स्वयं अपने अर्थ को नहीं कहता। वेद का अर्थ पुरुष ही करते हैं उनमें परस्पर में विरोध देखा गया है। भट्ट के सम्प्रदायी तो वेद का वाक्यार्थ भावना को मानते हैं। प्रभाकर के सम्प्रदायी नियोग को वाक्यार्थ मानते हैं, वेदान्त वाले विधि को वाक्यार्थ मानते हैं। इनमें आपस में विरोध है।

नास्तिकवादी चार्वाक तथा शून्यवादी यह कहते हैं कि जब कोई वस्तु ही सत्यार्थ नहीं है तब किसका आप्त और काहे की परीक्षा विवाद का प्रयास करना ? कोई वस्तु ही नहीं इसका निश्चय कैसे करें ? तुम नास्तिक हो और यह कहते हो कि कोई वस्तु ही नहीं है तो तुम्हारी बात कौन मानेगा। क्योंकि सर्व वस्तु का जानने वाला सर्वज्ञ आप्त है। वस्तु का स्वरूप कोई किस प्रकार मानता है कोई किस प्रकार मानता है इसकी परीक्षा भी करना चाहिये और परीक्षा होय तो प्रमाण सहित ज्ञान से होय है। प्रमाणरूप ज्ञान है और सर्वथा सच्चा ज्ञान सर्वज्ञ देव का है, सो वह सर्वज्ञ अदृष्ट है उसका निश्चय करना चाहिये। और जो थोडा ज्ञान वाला हो सो अपने ज्ञान के ही आश्रय होता है। सो साधक और बाधक प्रमाण का कैसे निश्चय होय। वादी प्रतिवादी निष्पक्ष निश्चय करे तो कोई प्रकार की बाधा नहीं होवे और इसी प्रकार निश्चय करना ही परीक्षा है।

फिर मीमांसक कहते हैं कि अल्प ज्ञानी को तो सिद्ध होय और सर्वज्ञ की सिद्ध नहीं ऐसा कैसे ? जो अल्पज्ञ आत्मा की सिद्धि है उसके निषेध के लिये इस श्लोक में "कश्चिदेव भवेद्गुरुः ऐसा कहा है अर्थात् कहिये कौन गुरु है ? ज्ञानरूप आत्मा है वही गुरु है वही महान है। जिससे इस आत्मा और पुद्गल के संबंध से ज्ञानावरणादि कर्मों के आवरण से अल्प ज्ञपना दोषसहित पना है। जब आवरण दूर हो गया तो आत्मा सर्वज्ञ वीतराग हो गया। यह प्रमाण से सिद्ध है। ऐसा आप्त सर्वज्ञ का निश्चय हो जाय और भगवान के वचनों का निश्चय हो जाय और आगमानुसार सब निश्चय हो जाय। ऐसा निश्चय करके देवागमादि विभूति सहितपना से और विभ्रहादि महोदयपना से तथा तीर्थकरपना से तो आप्त सिद्ध न

हुआ। अतः भली प्रकार निश्चय हुआ है असंभवता बाधक प्रमाण जिसमें है ऐसे अर्हत भगवान आप ही संसारो जीवों के स्वामी हो, प्रभु हो इस कारण अत्यन्त दोषों का और कर्मों के आवरण की हानि का तथा समस्त तत्वों का ज्ञातापना होने से समस्त मुनियों ने आपका स्तवन किया है।

इस प्रकार आचार्य समंतभद्र स्वामी ने निरूपण किया। तब साक्षात् भगवान ने पूछा जो अत्यन्त दोष और कर्मों के आवरण हानि भेरे में निश्चय की सो कैसे? फिर आचार्य कहते हैं:—

“दोषावरणयोर्हानिनिःशेषास्त्यतिशायनात् ।

क्वचिद्यथा स्वहेतुम्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥ (आ.मी.)

दोष और आवरण की हानि सामान्य तो प्रसिद्ध है। एक देश हानि से थोड़े ज्ञान वाले के एक देश निर्दोषपना और एक देश ज्ञानादिक उसकी हानि के कार्य देखिये हैं। इस कारण निर्दोष आवरण की हानि किस तरह देखिये है। यहां अति शायन अर्थात् हानि वृद्धि होती देखिये है जैसे कनक पाषाण में कीट कालिमा आदि अंदरूनी व बाहर का मैल ताव देने से मैल का अभाव हो जाता है वैसे अज्ञान के नाश के लिये जो सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के पालने से सब प्रकार के दोषों को तथा कर्मों के आवरण का अभाव हो जाता है, ऐसा सिद्ध हुआ है। कर्मों के आवरण तो ज्ञानावरणादिक कर्म पुद्गल के परिणाम हैं और दोष अज्ञान रागादिक जीव के परिणाम है। फिर यदि यहां कोई यह कहे जैसे प्रतिशायन हेतु दोषों के आवरण की हानि संपूर्ण साथी तैसे कहुँ बुद्धि आदि गुण भी हानि बधती २ देखिये हैं सो यह भी कहीं पूर्ण सच है? इमका यह उत्तर है कि बुद्धि आदि की सम्पूर्ण हानि आत्मा विषै साधते हैं तो आत्मा के जडपना आवे और जडपना आने से बडा भारी दोष लगे तो जीव और पुद्गल का संबंध बंध पर्याय में क्षयोपशम रूपबुद्धि है। उसका अभाव होता है सो आत्मा का स्वाभाविक ज्ञानादि गुण तो सारा प्रकट हो जाता है और बंध पर्याय का अभाव हो जाता है। पुद्गल कर्म जड रूप भिन्न हो जाता है उन्ही प्रकार पुद्गल के बुद्धि आदि गुण का अभाव का व्यवहार है। ऐसे नीतराग सर्वज्ञ पुरुष अनुमान से सिद्ध होता है। इसलिये अर्हत भगवान को नमस्कार किया है ॥६३४॥

मारि मुक्कुळिन् मायं दु पिरंदुमार ।

द्वार नसिलेन् नाळ् तुयर् पोय बन् ॥

पार माय उन् पाव मडेव पिन् ।

वारि बीळंब बन् माल् करे सेंदरं वाम् ॥६३५॥

अर्थ—हे भगवन् ! सम्पूर्ण जीवों पर दया करने वाले आपके चरणकमल में प्ररण भाये हुए जीव का सभी दुख नाश होता है। जिस प्रकार समुद्र में पड़े हुए मनुष्य को यदि बीच में उसके हाथ में कहीं लकड़ी का टुकडा मिल जावे तो वह मनुष्य उसके सहारे से समुद्र के किनारे पहुँच सकता है। उसी प्रकार तुम्हारे चरणकमल में अल्प स्तुति करने मात्र से इस क्षणिक संसार रूपी अटबी में रहने वाला भय जीव संसार समुद्र से तिर कर, इष्ट स्थान पर



पहुँच सकता है ॥६३५॥

पोंगु शाय मरं पूमळे मंडिलम् ।  
शिग मेदने पिडि सेळुं कुडे ॥  
येग यूवम दामोळि दुंडुभि ।  
येगडि विने तीर वेळुंगे ॥६३६॥

हे भगवन् ! आपके ऊपर ढोरने वाले चंवर, पुष्प-वृष्टि, प्रभा मंडल, सिंहासन, अशोक, वृक्ष, मीन छत्र, दिव्यध्वनि और देववाद्य को देखते ही आपके दर्शन मात्र से सर्व पापों का नाश हो जाता है ॥६३६॥

विलंकरसनय वोक्काळं धीर नै ।  
इलंगि निडुडि पळिवत्ति इळ्वगे ॥  
वलंकोंडु मुनियारि चंदिरन् नव ।  
नलं कलं सेवडि मुडियिर् ट्रीटिनान् ॥६३७॥

इस प्रकार स्तुति करके राजा किरणवेग अनन्त वीर्य से युक्त जिनेन्द्र भगवान की अनेक प्रकार से स्तुति करते हुए प्रदक्षिणा देकर उस चैत्यालय के प्राकार तथा मंडप में विराजमान भगवान के दर्शन कर सभामंडप में आया और वहाँ सिंहचन्द्र मुनि को देखा । मुनिराज को देखकर मन, वचन, काय से भक्तिपूर्वक कर-बद्ध होकर पंचांग नमस्कार करके खड़ा हो गया ॥६३७॥

अरंतव नरसने कुशल भोविन ।  
तिरुंदिय गुणत्तिना निरेंदि शोय वेन् ॥  
टिरुंदव मिळुंदु माट्रगत्तुं धीटिनुं ।  
पोरुंदु कारण मरुळ् पोट्रियेडु नन् ॥६३८॥

अर्थ—उन मुनि ने किरणवेग राजा को सद्धर्म वृद्धिरस्तु ऐसा आशीर्वाद दिया अर्थात् सद्धर्म की वृद्धि हो । और कहने लगे कि हे किरणवेग 'जीयात्' अर्थात् जयवन्त हो, ऐसा शुभ आशीर्वाद देकर पूछा कि राजन् कुशल है । मुनिराज के वचनों को सुनकर वह किरणवेग संसारी भोग से विरक्तसा होकर चरणकमल में नमस्कार करके कहने लगा कि हे प्रभु ! हे परम गुरु ! संसार में कुशलता कहां से आयेगी । जब तक यह जीव संसार बंधन से कूटकर अखंड मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं करता तब तक आत्मा को सुख कहां से मिल सकता है ? अतः हे प्रभु ! मोक्ष सुख को प्राप्त करने की जिन दीक्षा देकर मेरी रक्षा कीजिये ।

॥६३८॥

इं दु विनेळि लोडुत्तिसंगु पारंमे ।  
निडु पिडि ईनिळिलिचंद चारनन् ॥

मंडल्लर् मुडुइनाय मांद् वीटुमास् ।

संद् तत्त्वं तिळियामं तेरलाल् ॥६३६॥

अर्थ—किरणवेग की प्रार्थना सुनकर उस चैत्यालय में स्थित अशोकवृक्ष के नीचे चंद्रशिला पर विराजमान चारण ऋद्धिधारी हरीचंद्र मुनि कहने लगे । हे भव्य शिरोमणि राजा किरणवेग सुनो ! जीवादि तत्त्वों के न जानने वाले संसारी जीव इस संसार में हमेशा भ्रमण करते रहते हैं । जीवादि तत्त्व को समझे हुए सम्यक्दृष्टि जीव स्वर्गादि सुख की इच्छा करते हैं । इस क्षणिक राज लक्ष्मी को एक दिन छोड़ना ही पड़ेगा । इसलिए इसको राजी खुशी से छोड़कर आत्म-कल्याण में लगना, यही ज्ञानी जीवों को उचित है ।

तत्त्व भावना में कहा है—

“नानारंभपरायणैर्नरवरैरावर्ज्यं यस्त्यज्यते ।

दुःप्राप्योऽपि परिग्रहस्तृणमिव प्राणप्रयाणे पुनः ॥

आदावेव विमुञ्च दुःखजनकं तत्त्वं त्रिधा दूरत—

श्रेतो मस्करि मोदक व्यतिकरं हास्यास्पदं मा कृथाः ॥

यहां आचार्य कहते हैं कि राजलक्ष्मी आदि २ बड़ी २ सम्पत्ति बड़ी मेहनत से एकत्रित की जाती है, जो प्रत्येक को मिलना असंभव है । परन्तु करोड़ों की सम्पत्ति कैसे भी वह कमाई गई हो शीघ्र छोड़कर जाना पड़ता है । जब मरण का समय आ जाता है उस समय हाथ से जैसे तिनका गिर जाता है उसी प्रकार सब छूट जाता है । ज्ञानवान प्राणी को उचित है कि पहले ही मन, वचन, काय से उसको छोड़ दे । इससे पहले सारे परिग्रह को त्याग करे । ज्ञानी को स्वयं मोह त्याग कर सब छोड़ देना चाहिये । यदि परिग्रह न हो तो नवीन परिग्रह को बढाना नहीं चाहिये । परिग्रह को ग्रहण करके वास्तव में छोड़ना हंसी का स्थान है । किसी ने एक फकीर को बहुत से लड्डू दिये । उनमें से एक लड्डू बिष्टा में गिर गया । तब उस लोभी फकीर ने उस लड्डू को उठा लिया । तब एक वृद्ध आदमी ने कहा कि तुमने इस लड्डू को क्यों उठाया तो जवाब मिला कि मैं घर जाकर इसको फेंक दूंगा । तब उस वृद्ध ने कहा कि जब इस लड्डू को फेंकना ही था तो उठाने की क्या आवश्यकता थी । इस प्रकार आचार्यों ने कहा कि इसको ग्रहण करना बुद्धिमानी नहीं है । यह आत्मा के घात करने का कारण है । वास्तव में चेतन अचेतन का परिग्रह आत्मा को सैकड़ों दुखों में पटकने वाला है । इसलिए जो निर्विकल्प सुख को चाहते हैं, आत्मीय आनन्द का अनुभव करते हैं उनको भगवान द्वारा कहे हुए तत्त्वों को मानने से ही अविनाशी निर्विकल्प सुख की प्राप्ति हो सकेगी

॥६३६॥

अत्ति नित्त मनित्त मवाधिय ।

मोत्त वेट्टु मे योट्टु मे सूनियं ॥

तत्त्वं मिवं योंडिय तन्मैयाल् ।

मित्तमारं वेरेयन वेडिनाल् ॥६४०॥

अर्थ—श्री भगवान की वाणी अनेकांतमयी है। वह अनेकांत अस्तित्व, नास्तित्व अवाच्य, भिन्नत्व, अभिन्नत्व और शून्यत्व ऐसे छह नयों से युक्त होकर वस्तु स्वरूप को भिन्न रूप से मानते हैं। कोई नित्य तत्व को मानता है, कोई अनित्य तत्व को, कोई वाच्य तत्व को, कोई अवाच्य तत्व को मानता है। इस प्रकार मानना मिथ्यात्व है ॥६४०॥

नित्तमे तत्वमेंडु निडुवन् ।  
शित्तं वत्त पोरुडेरिडु शेप्पुमें ॥  
नित्तमे येडु कोळ्ळियु मंड्रेनिल ।  
तत्त्ववान् पेरर् पाडु मिल्लये ॥६४१॥

अर्थ—वस्तु सर्वथा नित्य है ऐसा कहने से उस वस्तु के अनेक रूप उत्पाद व्यय, आदि स्वरूप को कैसे बताया है? यदि वह नित्य ही होता तो किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वस्तु स्यात् अनित्य भी है और नित्य भी है ऐसा समझना चाहिये। यदि वस्तु को नित्य ही कहा जावे तो यह वस्तु उत्पाद, व्यय, ध्रुव रूप है ऐसा नहीं कह सकते। इस संबंध में आचार्य समंतभद्र ! आत्म-मीमांसा में श्लोक ३७ में कहते हैं:—

“नित्यत्वैकांतपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते ।  
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाण क्वतत्फलम् ॥

नित्य एकांत वादी के कहने के अनुसार वस्तु कूटस्थ रहने से एक सी रहे। उसी पक्ष में कूटस्थ रहने में होने वाली क्रिया या उसकी शक्ति अथवा परिस्पंद चलना या एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाना ऐसी अनेक प्रकार की क्रिया नहीं बन सकती है। क्योंकि कारक, कर्ता कर्म आदि का कूटस्थ में पहले से अभाव है, और वह कभी पलटता नहीं। और यदि पलटे नहीं तो कारक को प्रवृत्ति कैसे बने? पुनः जब कारक का अभाव हो जायगा तो प्रमाण कहां और प्रमाण का फल प्रमिति कहां से? इसलिये प्रमाण का कर्ता हो तब प्रमाण और प्रमिति संभव होती है। अकारक प्रमाता नहीं होता है। जो कोई भी किसी के प्रति साधत न हो तो अवस्तु ठहरे, तब आत्मा की शुद्धि भी नहीं होती। ऐसा कहने से नित्यात्मा में दूषण आता है। फिर वह सांख्यमती कहते हैं कि हम अव्यक्त पदार्थ कारण रूप है उसको सर्वथा नित्य मानते हैं और कार्य रूप व्यक्त पदार्थ को अनित्य मानते हैं। इसलिये उससे विक्रिया बनती है। वहां व्यक्त जो पदार्थ है वह किसके निमित्त से छिपा हो उसको प्रगट होना है ऐसे तो अभि व्यक्ति और नवीन अवस्था का होना उत्पत्ति है ऐसा व्यक्त पदार्थ को नवीन मानकर विक्रिया होती है। आचार्य फिर उसके लिये कहते हैं ॥६४१॥

निलेइन तन्मये तोट्टु केडिबं ।  
इल्लेयेनिलिरैवनु त्तुलु मिल्लियाल् ॥  
निलेइला माट्टु त्तिक मिन्मडुर् ।  
ट्टोलेविला वीट्टु तोट्टु मिल्लिये ॥६४२॥

अर्थ—वस्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप से युक्त होते हुए सत्य है। यदि वस्तु इस प्रकार न रह कर सदैव ही नित्य रहे तो संसार से कोई भी जीव मुक्त न होकर उसको संसार में ही रहना पड़ेगा। और भगवान के मुख से कहा हुआ शास्त्र भी असत्य मानना पड़ेगा। सर्वदा नित्य ही है ऐसा कहा जाय तो आप्तेष्टम्, संसार इष्टम्, मोक्षेष्टम् इस प्रकार कहे हुए सभी वचन असत्य हो जायेंगे ॥६४२॥

विने इने शैदलुं तुयित्तलु मिले ।  
निनेवडु तोडि मीदुगं वडुं निले ॥  
इनेय तान् वेडिय विट्ट मारोडु ।  
मुनेदलुं शेयु नित्त मुट्ट वेडिनाल् ॥६४३॥

अर्थ—तत्व सदैव नित्य ही है ऐसा कहने से शुभाशुभ कर्म, पाप-पुण्य यह सभी नहीं बन सकते हैं और जप, तप, ध्यान, व्रत, नियम तथा उसका फल स्वर्ग, नरक आदि बन नहीं सकते। यदि यह नहीं बने तो जीव के द्वारा किए जाने वाले पाप कर्म नहीं संभवते। ऐसे देखने वाले सभी कूटस्थ हो जायेंगे ॥६४३॥

कडन् कोडुत्तान् कोळान् कोडवन् कोडाव् ।  
मडंदै तन् शिरुवनु वळ्ळिचि ये दिडान् ।  
टोडगिये त्तन् मुडित्तोदि नान् सोलान् ।  
टिडं पोरु लेरिट्टट्ट मूनड्डु मारैदुं ॥६४४॥

अर्थ—वस्तु सर्वथा नित्य ही है ऐसा कहने से संसार की सभी वस्तु लेन देन तथा सारा व्यवहार बन्द हो जावेगा। और सभी व्यावहारिक क्रियाओं का भी अभाव हो जायेगा। व्यावहारिक क्रियाओं का अभाव हो जाने से पूर्वापर विरोध आता है। इस कारण जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ वचन कथंचित् नित्य अनित्य है ऐसा मानने से सभी व्यवहार क्रिया बन सकती है। स्वर्ग मोक्ष भी तभी बन सकता है ॥६४४॥

तन्सोल् मारागि मेर्कोळ्ळिदं तन् ।  
पिन् पिरन् कोळ् पिडि तिट्ट तिट्टमा ॥  
मोन्बदि नोडु मारैव उम् पोरु ।  
निड्डे येव वर् निकं निकंवे ॥६४५॥

अर्थ—सर्वथा नित्य ही है ऐसा कहने वाले बातचीत कहना सुनना दृष्टांत आदि जो व्यवहार की बातें हैं, यह संभावित नहीं होती है। इसी प्रकार पूर्वापर विरुद्ध कहने वाले क्षणिकवादियों का कहना भी घटित नहीं होता है ६४५॥

अनित्तमे तत्वमेन्नु मात्तनुं ।  
निनेप्पुं वाचगमुं पोरेळ्ळु विना ॥

वनंत्तु मक्कन तोट्टर् केट्टु पिन् ।  
नेनेत्तु मिळ्ळेब् देतै कोडित्तयो ॥६४६॥

अर्थ—सर्वथा नित्य है। सर्वथा नित्यवादी कहने वाले की बात से उनके द्वारा किए जाने वाले व्यवहार में चलने वाली सभी क्रिया कैसे सभव होती है। यदि वह नित्यवादी इस प्रकार नित्य कहने से वस्तु को देखकर या न देखकर कहता है। अथवा तुम्हारे कथन की पुष्टि करता है। यदि नित्य है तो व्यवहार बातचीत कैसे करते हैं। तुम स्वयं बोल रहे हो इसी बात से तुम्हारे नित्यवाद पने का खंडन हो रहा है ॥ ४६॥

करण कणंदोरुं तोट्टुं केडुमाय् ।  
तनंदवे त्तत्त्वं निलै इल्ले निर् ।  
कनंकनंदोरुं केट्टुवन् केटि नै ।  
युनरंदु सोल्लुमो विल्लैयो उंडनिल् ॥६४७॥

अर्थ—प्रतिक्षण में प्रत्येक वस्तु का उत्पाद व्यय द्रौव्य कहा जाता है प्रत्येक वस्तु क्षण २ में परिणामन करने वाली है। इसलिए प्रत्येक वस्तु नित्यानित्य से युक्त है। और परिणामनशील ही सारी वस्तुएं है ऐसा भगवान के द्वारा कहे वचन हैं। यदि वस्तु का सर्वदा नास्तिकपना कहोगे तो वस्तु में भेद करके कैसे कह सकते हो? इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में सत्यासत्य, नित्यानित्य ~~व्यवहार~~ चलता ही रहता है यदि इस प्रकार न चलेगा तो संसार का लोप हो जायेगा ॥६४७॥

अविबं वव्विल्लक्के इरुळ्ळै केड ।  
शिवंदु निङ्गुरियुं मेन शेप्पिना ॥  
निबंदु निङ्गोर वन् सोलु मोड्डिडि ।  
लुबं व नित्तमु नित्तमु मुट्टि नान् ॥६४८॥

अर्थ—जिस प्रकार दीपक कभी बड़े प्रमाण में जलता है और अन्त में छोटे प्रमाण में होकर बुझ जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु बनती है और बिगडती है। ऐसा कहना क्षणिक बौद्धमत वालों का वचन है। जैसे दीपक के बुझने से उसका नाश हो जाता है वैसे आत्मा का नाश हो जाता है। ऐसा क्षणिक मत बौद्ध धर्म वाले कहते हैं। यह बात पूर्वापर विरोध है ॥६४८॥

मायंद वन् कंड वप्पोरळ्ळुं मनत् ।  
तायंदु तोट्टु मवन् सोलु मोड्डिडिन् ॥  
मायंद नंतर मनत्तेप्पोरळ्ळैयु ।  
मायंदु सोल्लु व वावदु मागुमे ॥६४९॥

अर्थ—प्रथम समय में अपनी पर्याय का नाम होना देखकर भविष्य में उत्पन्न होने वाली पर्याय को कहना और अनादि काल से परंपरा से चली हुई वस्तु को नहीं कहना और वर्तमान और भविष्य की बात कहना आगम के विरुद्ध है। यदि क्षणिक कहेंगे तो आगे की बात कैसे कह सकता है। इस कारण प्रत्यक्ष विरोध है ॥६४६॥

सित्तमुन्नंदु पिन्नंदु तत्तमि ।  
लत्तियंतं धेरागु रिर् सोन्नदा ॥  
सति यंतम् धेरल्लवे याय् विडि ।  
नित्त मोटिना निडु डोंडु न् मं याल् ॥६५०॥

अर्थ—मन में भविष्य की वस्तु का बार बार स्मरण करना यह सब उस विषय के लिये परस्पर विरोध आता है। और यह वस्तु परस्पर आपस में संबंधित है, ऐसा कहने से उस संबंध में विरोध नहीं आता है। इसलिए वस्तु नित्य है और अनित्य है, प्रत्येक द्रव्य या वस्तु नित्यानित्य है ऐसा कहने में विरोध नहीं आता है। क्योंकि वस्तु व्यवहारनय से अनित्य है और निश्चयनय से नित्य है। ऐसा कहने से वस्तु-प्रतिपादन में बाधा नहीं आती है ॥६५०॥

अरिब नाम् किरंडं मरियुं मेरिण ।  
लरिब नामवन् यार्कोलरिदिलोम् ॥  
नेरिह नाट्टव शैयिदु निडुडिया ।  
नरिब नैडिडि लांगव निडुये ॥६५१॥

अर्थ—जानी आगे पीछे दोनों समय को जानता है—प्रत्येक क्षण में ऐसा यदि कहते हो तो क्षण २ में जीव कैसे नष्ट हो जाता है, यह समझ में नहीं आता और तपश्चरण करने वाला साधु अधिक दिन तक कैसे टिक सकता है? नहीं टिक सकता है। इसलिए वह जानी साधु तुम्हारे मत के अनुसार अनित्य है ऐसा कहना आपके मतानुसार गलत है। और तुम्हारे मत के लिए ही यह बाधा है। इसलिए प्रत्येक वस्तु का उत्पाद व्यय द्रौढ्य मानना विरोध का परिहार है। क्षणिक बौद्धमत वाले जो कहते हैं कि वह सत्य है तो इससे नित्यत्व एकांत मत में दूषण है। इसलिये जो वे क्षणिक एतांतवादी कहते हैं वह सिद्ध और कल्याणकारी है। उनके मत के निराकरण के लिये तथा ऐसे मत वालों के लिये प्राचार्य समंतभद्र प्राप्तभीमांसा के श्लोक ४१ में कहते हैं:—

‘‘क्षणिकैकांतपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः ।  
प्रत्यभिज्ञाद्यभावात्त कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥

क्षणिक एकांत का पक्ष में भी परलोक, बंध मोक्ष आदि का मानना असंभव होता है। क्योंकि पहले तथा पिछले समय में जो अवस्था होती है उसका जोडरूप ज्ञान तथा स्मरण ज्ञान आदि के अभाव से कार्य का प्रारंभ संभव नहीं होता। कार्य के प्रारंभ बिना पुण्य पाप

सुख दुख आदि का फल फिर किस से होय ? अर्थात् नहीं होता है । यदि क्षणिक पक्ष में संतान को कार्य करने वाला कहा जाय तो संतान परमार्थभूत क्षणिक एकांत में संभव नहीं है । एक अन्वयी ज्ञाता द्रव्य आत्म द्रव्य ठहरे । तब संतान सत्य ठहरे सो क्षणिक पक्ष में ऐसा होता नहीं । इसलिये क्षणिक एकांत मत हितकारी नहीं है । परलोक बंध, मोक्ष यदि संभव न हो तो काहे का हितकारी है । जैसा नित्यत्व आदि एकांत है वैसा ही यह है । इसलिए ऐसे मत का परीक्षावान आदर नहीं करता ।

आगे इस क्षणिक एकान्त पक्ष में सत् कार्य बनता नहीं है । जो कहे तो मत में विरोध आवे । अब असत् रूप ही कार्य कहे जिसमें क्या दोष है ? इसके लिये आचार्य आप्त मीमांसा में श्लोक ४२ में कहते हैं:—

“यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत् ।  
सोपादाननियामोऽभून्मां श्वासः कार्यजन्मनि ॥

जो कार्य है सो सर्वथा असत् उत्पन्न होता है । ऐसा माना जाय तो वह कार्य आकाश के फूल की तरह मत हो । पुनः उपादान आदि कार्य के उत्पन्न होने को कारण है । जिसका नियम ठहरता नहीं है । फिर यदि उपादान का नियम न ठहरे तब काम के उत्पन्न होने का विश्वास ठहरता नहीं । इस कारण यही कार्य नियम से उत्पन्न होगा । जैसे जी के पैदा होने के लिए जी बीज ही है ऐसा उपादान कारण का नियम होय तिस कारण तै वही काम उत्पन्न होने का विश्वास ठहरे, सो क्षणिक एकांत पक्ष में असत्कार्य माने तब यह नियम ठहरता नहीं है ॥६५१॥

वारि योटिल् वला करितिट्ट पोर् ।  
पार मोदंगळ् पत्तुं पइं ड्रव ॥  
तावंत्तोडु भरित्तरि वेदिदि ।  
नेरि नित्तमो मोट्टिन नागुमे ॥६५२॥

अर्थ-नदी का पानी वेग से बहते समय बगुला किनारे पर बैठ जाता है किंतु उसको दृष्टि पानी के बहाव को ओर न रहकर नदी में रहने वाली मछली की तरफ रहती है, दूसरी तरफ वह दृष्टि नहीं रखता । बगुला की दृष्ट वस्तु मछली है । उसको अन्य वस्तु से कोई मतलब नहीं रहता । उसी प्रकार संसार में रहने वाला भव्य जीव क्षमाशील, वीर्य ध्यान प्रज्ञा, उपाय दया, बल, ज्ञान, व उपयोग यह दस प्रकार विषय को भली भांति अभ्यास कर मोक्ष की प्राप्ति करने की इच्छा से इन ऊपर कही हुई बातों की ओर ध्यान देकर अन्त में मोक्ष की इच्छा की भावना सहित मरण करके बुद्ध होकर उसी भव में तप करके मोक्ष को जाता है । ऐसा यदि कहते हो तो जीव नित्य है ऐसा मत तुम्हारे से सिद्ध होता है । जीव अनित्य नहीं है, नित्य है ऐसा सिद्ध होता है । अगर अनित्य कहते हो तो तुम्हारे मत के अनुसार ही नित्य सिद्ध होता है । इस विषय को दीपकर बुद्ध नाम की जातक गाथा में लिखा है । मैंने बुद्ध होकर यदि जन्म लिया है तो मुझे क्या करना चाहिये ऐसा विचार कर उपरोक्त दसों बातों पर पारविद्या में परिपूर्ण होकर पुनः दूसरे जन्म में गौतम बुद्ध होकर जन्म लिया ।

इस प्रकार उपरोक्त विषय के अनुसार जीव अनित्य है, तुम्हारे मत के अनुसार जीव शाश्वत नित्य है ऐसा सिद्ध होता है ॥६५२॥

मेवं श्रोतिल विळुंबवत् तुळिल पोल् ।  
 वंद पावनै योडवन् मायु मेल ॥  
 मंदु पोन वनलन् मट्टार् कोलो ।  
 वंद मोंड्रिला पाळ् मुत्तिनावने ॥६५३॥

अर्थ—अग्नि से तपे हुए गर्म तवे पर पानी डालने से जिस प्रकार वह पानी तुरन्त ही सूख जाता है, उसी प्रकार जीव अपने परिणाम के अनुसार मर जाता है । यदि ऐसा तुम कहोगे तो कौनसा जीव मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है ॥६५३॥

आदलालनित्तं पिडित्तात् नाम् ।  
 पोदि यानैयुं भोग बेरिद्व ॥  
 रोडु त्तुलगळु मोट्टर केट्ट पिन् ।  
 यादि नानिल्लै यार्यै निरुत्तु वार् ॥६५४॥

अर्थ—इसलिये आप लोगों के अपने मत के अनुसार कहे जाने वाले सभी विषय संभव नहीं है । इसलिये इन सभी बातों पर तुम्हारे मत के अनुसार विचार करके देखा जाय तो बौद्ध लोग कहने वाले का मत संभवता नहीं । यदि वस्तु क्षण २ में नष्ट होती है । ऐसा कहोगे तो पुनः वही वस्तु कहां से आ जाती है ॥६५४॥

नौ वेन सोल्लि नान् सोल्ल वल्लवु ।  
 मौववक्कनत्तिले येळ्ळिडु पोदलाल् ॥  
 नव्वये नव्वये नविट्टि नल्लडु ।  
 मोन्विन्नं यनित्त मेव्वार्गळ् मूट्टिडार् ॥६५५॥

अर्थ—सर्वथा तत्त्व अनित्य है ऐसा कहने वाले अनित्यवादी से यह पूछते हैं कि अनित्यवादी साधने वाले मुंह से नमः कहते हैं । पहला अक्षर 'न' यह अनित्य हुआ या नहीं । इस शब्द का नाश हुआ या नहीं? तुम्हारी दृष्टि से वह न शब्द अनित्य हो गया पुनः नमः अक्षर कहने से वह भी अनित्य हो गया । उस न अक्षर के उच्चारण करते ही उसका नाश हो गया जब न, म का नाश हो गया तो पुनः नमो शब्द की उत्पत्ति कहां से हो गई । तब हृदय में नमः शब्द का अर्थ कहां से होता है ? ॥६५५॥

वासत्तं पोल्वरु मेघिन् मा मलर् ।  
 नासत्तं शेलाव मुअन्नु मुट्टिडं ॥



वासत्तं वैतुष्पिन् मायु मारु पोल् ।  
पेसिट्टुंडो पिरिवोडु निकवे ॥६५६॥

अर्थ—पुष्पों में रहने वाली सुगंध, पुष्प के सूख जाने पर वह दूसरे पुष्पों में चली जाती है। इसी प्रकार “न” अक्षर को कहने वाले मरने के बाद म अक्षर का उच्चारण होता है। यदि तुम ऐसा कहते हो तो एक मनुष्य मरने के बाद पुनः उत्पन्न होता है जैसे म अक्षर की बाद में उत्पत्ति होती है। ऐसा कहा जाय तो उस सुगन्ध पुष्प के मरने (सूखने) के पहले ही अपने समीप से रहने वाले पुष्प की सुगन्ध को देखकर मरण को प्राप्त होना तुम कहोगे तो “म” ऐसा अक्षर को कहने वाले मनुष्य मरने के पहले ही उनके पास रहने वाले मनुष्य को “न” ऐसा कहने वाले अक्षर को अपने पास खड़ा रहने वाले “म” नाम के अक्षर को देखकर मर जाता है, ऐसा अर्थ निकलता है। क्या वह पहले ऐसा देखकर मर गया यह अर्थ तुम्हारे मत के अनुसार निकलता है ॥६५६॥

मुकनत्तुरं तवन् मुडिद पोळवि निर् ।  
पिकनं तुरं पवन् पिरवकु मैड्लान् ॥  
मुकनत्तवनोडु पिकनत्तव ।  
निकुं मैड्रुं दिडि नित्तमागुमे ॥६५७॥

अर्थ—अतीत काल में कहा हुआ मनुष्य भविष्य में उत्पन्न होने वाले मनुष्य को वह समझकर कहता है। ऐसा यदि तुम कहोगे तो वह जीव नित्य है ऐसा तुम्हारे मत के अनुसार वह जीव नित्य है ऐसा सिद्ध होता है ॥६५७॥

नल्विनं शय निनित्तान् शयान् पिनं ।  
योविनं शेदव नदन् पयंड्रु वा ॥  
निठवगं यनित्तमे येड्रुं रं प्पवर् ।  
शेर्यु नल् विनंगळं पयनु मिल्लये ॥६५८॥

अर्थ—सर्वदा जीव अनित्य है, ऐसा कहा जावे तो पुण्य कार्य की इच्छा करने वाला जीव भविष्य में शुभ कार्य करने की इच्छा कैसे करेगा और उसके फल को कैसे भुगतेगा ? इसलिये वस्तु को यदि अनित्य ही कहा जावे तो शुभाशुभ आचरण करने वाले को शुभाशुभ कार्य का फल का अनुभव कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा। ऐसा आपके मत के अनुसार सिद्ध हुआ। पर कर्मों के अनुसार जीव शुभ अशुभ फल भोगता है। यह तुम्हारे मत के अनुसार कैसे सिद्ध हुआ। आप्तमीमांसा में कहा है—

‘सर्वथाऽनभिसंबंधः सामान्य-समवाययोः ।  
ताभ्यामर्थो न संबन्धस्तानि त्रीणि स्व-पुष्पवत् ॥

सामान्य और समवाय का वैशेषिकों ने सर्वथा संबंध माना है। फिर इन दोनों से

भिन्न पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म यह संबंध रूप नहीं होता है । जिससे परस्पर अपेक्षा रहित सर्वथा भेद माना है । इससे यह सिद्ध हुआ कि परस्पर अपेक्षा बिना सामान्य समवाय और अन्य पदार्थ यह तीनों ही आकाश के फूल के समान अवस्तु हैं । वैशेषिक ने कल्पना मात्र वचन जाल किया है । ऐसे कार्य-कारण, गुणगुणी, सामान्य-विशेष इनके अन्यपने का एकांत भेद एकांत की तरह श्रेष्ठ नहीं ॥६५८॥

मरित्तदु विदुवेन उनरु मठ्ठुनर् ।

धरक्केडु मनित्तदुळिल्लं यामेनि ॥

लरक्केड वेट्टिन विळक्के यदेनु ।

मरित्तुनर् अनर् वदुं मयक्क मागुमे ॥६५९॥

अर्थ—एक वस्तु को देखकर पुनः कई दिनों बाद वह वस्तु देखने में आती है वह प्रत्यभिज्ञान, है, जो सर्वथा अनित्य है । ऐसा तत्त्वशास्त्रों में देखने में नहीं आया और अंधेरे में यदि दीपक को लाकर रखा जावे और उजाले को कहे कि यह दीपक है तो भ्रम उत्पन्न होता है ॥६५९॥

तव्वियन् देशमे काल भावमेन् ।

रव्वियम् पिडित्तंद विळक्क वेड्डेळु ॥

मेव्वगं युम् केडि निदुव वेड्डेळु ।

मव्वदु मिदुविन् पेररिव् मिळ्ळये ॥६६०॥

अर्थ—इस संबंध में जैनाचार्य कहते हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार वस्तु नित्यानित्य है, उसी प्रकार दीपक हमेशा रहता ही है—ऐसा कहने वाले प्रत्यभिज्ञान अनित्य है । पहले दीपक था ऐसा कहने वाले वह दीपक अनित्य है । ऐसा तुम्हारे मत के अनुसार शास्त्र में नहीं है । इसलिए वस्तु हमेशा नित्यानित्य है ॥६६०॥

अंङ्गु नास् पिरिवन मडिकडा मिव ।

रिङ्गु बंदारेन उरैत्ति यावरं ॥

सेङ्गरि दिरंजुव देव्वरि विना ।

लौङ्गु निङ्गिडा वगं युरैक्कु त्तलिनार् ॥६६१॥

अर्थ—सर्वथा अनित्य ऐसा कहने वाले मत की अपेक्षा में विचार करके देखा जाये तो वस्तु अनित्य ही मानने से कल मैंने अमुक मनुष्य को देखा था यह कैसे संभव है ? क्योंकि सर्वथा अनित्य ऐसा कहने वाला वह वस्तु अनित्य होने के बाद यह मनुष्य कल देखा था यही कहना असाध्य नहीं है । इस कारण स्वपर द्रव्य चतुष्टय की अपेक्षा से नित्यानित्य है ऐसा तुम्हारे मत से सिद्ध होता है और स्वद्रव्य की अपेक्षा से कल देखा हुआ मनुष्य यही है ऐसा कहना तुम्हारे मत के अनुसार सिद्ध नहीं होता है । यदि आप ऐसा कहोगे कि वस्तु सर्वथा अनित्य है, यह किस ज्ञान के द्वारा कहते हो ? ॥६६१॥

मुन्नं कनसि निरखंनं मुडिं कनत्तु निडुवतु ।  
 पिन्ने कमत्तु पिरप्प वनं पिरिदु पिरिदे युरविद्धं ॥  
 येन्नि द्रुमाद्रु विद्धे इवदं कौडु विडु मोरु वन् ।  
 द्रुन्नेवकानो भावसिन् तद्रुमाद्रु वकुं तद्रु माद्रे ॥६६२॥

अर्थ—भूतकाल में मरण करके वर्तमान काल में रहने वाला और भविष्यत काल में उत्पन्न होने वाला यह समय प्रायस में सम्बन्ध नहीं होता, ऐसा यदि कहा जावे तो संसार का ही अभाव हो जाय तो जन्म मरण का भी अभाव हो गया तो जीव का भी अभाव हो गया और जब जीव का अभाव हो गया तो मोक्ष मार्ग का भी अभाव हो जायगा ॥६६२॥

दानं शीलं तवं इरुवं दया कडंमा द्रुमाद्रिल् ।  
 वाणिन् मन्निर् पिरंदिरेदु वंदु वीडु पेरुमोरु वन् ॥  
 द्रानं किलनेन् परावकुं तद्रु माद्रुस्त वीटिनं पेर् ।  
 द्रानेद्वार् सोर् पोर्षाळिडु सारो वीडु पेरुवारे ॥६६३॥

अर्थ - दान करने से, शील, संयम, व्रत, तप आदि से, जीव दया पालन, जीवों की रक्षा करने से, व्रत उपवास आदि शुभाचरण से जीव मरकर देवगति में जन्म लेकर वहां के सुख का अनुभव कर वहां की देव पर्याय व आयु को पूर्ण कर मध्य लोक में प्राय क्षेत्र में अर्थात् भरत क्षेत्र में जन्म लेकर तपश्चर्या करके कर्म का क्षय करके वह जीव मोक्ष की प्राप्ति करता है। यह आगम का कहा हुआ सर्वथा अनित्य है। ऐसा कहने वाला किसी मत का कोई शास्त्र नहीं है अर्थात् संसार नाम की कोई वस्तु ही नहीं बन सकती ॥६६३॥

येन्नवगेयं केट्टुळ्ळत्तिल्ल ववं कनत्तुवुवित्तु ।  
 वद्रे वरुमि सेन्वानम् मुडियुं कनत्तु वंदववर्को ॥  
 वेन्ना वगेयु मिद्राय् वंदेदु मवर्को वीडेडु ।  
 निन्ना वंदत्तु पोव निवल्वे निडु ववर्के निल् ॥६६४॥

अर्थ—समस्त मतों की दृष्टि से विचार करके देखा जावे तो यह आगम श्राव परम्परा से विरुद्ध पडता है। एक समय में रहने वाले जीव का नाश दूसरे समय में माने वाले जीव को मोक्ष होता है यदि ऐसा कह दिया जाय तो पहले समय में नाश हुआ जीवपना दूसरे समय में कहां से आ सकता है ? ॥६६४॥

अदंत्तदन्नप्पिन् वरुन् गं ववकुं वीडु तानागिल् ।  
 मुन्दे कनंकोडवन् शंदु मुंडिवारेन्न पयन् पेदार् ॥  
 सिदिप्पिसान् द्रवन् तन्ने यरिया मन्नेर् सेरिचिद्दाम् ।  
 वदु परिदुम् वीडेवुं पान्ने किव पाळ्वीडे ॥६६५॥

अर्थ—संतान के अवसान में आने वाले स्कंध को मोक्ष होता है। ऐसा यदि कहते हो तो पहले समय में किये गये तप के प्रभाव से उस जीव को कौनसा फल मिलता है? और किस फल का अनुभव करता है? इस प्रकार कहने वाले एकांत अनित्य मत वालों को मोक्ष की प्राप्ति कहां से होती है? अर्थात् कहीं से नहीं होती । ६६५।

इदृ भारं विदृ मेर् कोळ्ळिदु तन् सीन् मारागि ।  
तिदृ मूङ्गु महत्तलिप्प तेरा तनित्त मेंवाङ्गेन् ॥  
सेट्टर् केट्टे पोइडुग तडुयाट्टरुत्तु वीडेङ्गु ।  
शिदृर् सोर् कवंचित्ते येनित्त मेंवार् तिरुवरमे ॥६६६॥

अर्थ—अनित्य आत्मवाद से युक्त बौद्ध दर्शन में आत्मा सर्वथा नित्य होने से बुद्धि इच्छा ज्ञानादि का नाश होना यही निर्वाण है। अथवा जैसे दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार आत्मा का नाश होता है, इसी को निर्वाण कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार दीपक बुझ जाने के बाद उजाला नहीं है, उसी प्रकार आत्मा शरीर में से निकल जाने के बाद दीखता नहीं है, वस इसी को निर्वाण कहते हैं। इस प्रकार यह क्षणिक बौद्ध मत है ॥६६६॥

धेर मुंङ्गु डेयन् बैयत्तुदृ कण्मेन् मायै मंदन् ।  
शंदर् विडत्तया मुन्नूरा नरक्केडु मनित्तं सोष्ठा ॥  
तूईरिने इल्लं येड्ढा तूनिने युंग वेड्ढान् ।  
पईरिनार् कोल युस् सोष्थान् मुत्तियुस् पाळेंडिट्टान् । ६६७॥

अर्थ—बौद्ध मत वाले, बौद्धमत कहलाने वालों में परस्पर में विरोध आता है अर्थात् असंगत है। उनका तत्त्व संसार का नाश कर मोक्ष प्राप्त करने का विषय जैन सिद्धांत के विरोध का कारण है।

भावार्थ—यह बौद्धमत मायादेवी के समान है। इस लोक में रहने वाले जीव दया-भयी धर्म को न जानने वाले सबका क्षणिक अथवा नाश होना ऐसे कहने वाले जीवों को अनात्मवाद से क्षणिक हैं, ऐसा प्रतिपादन करने वाले, मरे हुए जानवर का मांस खाने का समर्थन करने वाले, जंगल में कोई जीव हिंसा कर रहा हो उसका विरोध न करने वाले तथा कोई जीव का घात करके मांस लाकर देने और खिलाने में कोई दोष न होना ऐसा कहने वाले तथा मोक्ष में किसी वस्तु का या जीव का न होना ऐसा बौद्धमत वाले प्रतिपादन करते हैं।

॥६६७॥

आवचिय यावर् सोल्लार् पोळ्ळिन् मेलरि वेळामं ।  
अवाचिमेंडु सोल्लार् पोळ्ळिन् मेलरि वेळुंब ॥  
ववाचिमेंडु सोल्लार् सोल्लप्पडा पोळ्ळु मुंडो ।  
ववाचिय पक्कन् दृन् सोन्मारु माय कतंचित्तु तायत्ते ॥६६८॥

अर्थ—सर्वथा वस्तु को अवाच्य कहने वाले कहते हैं कि एक वस्तु के जाने हुए ज्ञान से कहने वाले शब्द को अवाच्य कहते हैं। एक शब्द कहने के बाद पुनः दूसरा शब्द नहीं कहते हैं क्योंकि लोक में रहने वाली वस्तुओं को शब्दों के द्वारा कहने में नहीं आता, इस कारण वह शब्द अवाच्य है ऐसा कहने वाले सभी वचनीय अवाच्य होते हैं ॥६६८॥

मदुर मेंडोरुरेत्त सोल्लान् मदुरं तान् वशिक् पोट्टु ।

मदुरत्तिन् विकल्प येल्लाम् वंत्तरी वरिदं वल्लाम् ॥

यदुर सोल्लमाय बादला लवाच्चि पम्मां ।

मदुरे ताम् मधुरच्चोल्लार् सोल्लपडुं सोल्लपडावाम् ॥६६९॥

अर्थ—इस प्रकार जिह्वा पर रहने वाली मिश्री आदि भीठी वस्तु के स्वाद को इतना सा है ऐसा कहना साध्य नहीं है। उसी प्रकार सत्य ऐसे विषय को कहना साध्य न होने के कारण वह शब्द अवाच्य होता है।

भावार्थ—इस संबंध में आचार्य समंतभद्र ने आप्तमीमांसा में श्लोक ५४ में कहा है

“स्कंधाः संततयश्चैव संवृत्तित्वादसंस्कृताः ।

स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां, न स्युः स्वरविधाणवत् ॥

स्कंधाः-रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार यह पांच स्कंध हैं। इनमें स्पर्श, रस, गंध, वरुण के परमाणु तो रूप स्कंध हैं, उनका भोगना वेदना स्कंध है और सविकल्प, निर्विकल्प ज्ञान विज्ञान स्कंध हैं। वस्तुओं के नाम को संज्ञा स्कंध कहते हैं। तथा ज्ञान, पुण्य, पाप की वासना को संस्कार स्कंध कहते हैं। उनकी संतान को संतति कहना स्कंध संतति है। ऐसे लोग असंस्कृत हैं अकार्य रूप हैं उनकी बुद्धि उपचार करि कल्पित है। बौद्धमती सर्वथा परिणामों को भिन्न २ मानते हैं। वह संतान संप्रदाय आदि कल्पना मात्र है। इस कारण उस स्कंध संतति की स्थिति, उत्पत्ति, विनाश संभव नहीं है। इससे यह स्कंध संतति बिना किये हैं। कार्य कारण रूप नहीं है। जिसकी बुद्धि कल्पित है उसके काहे की स्थिति और काहे की उत्पत्ति विनाश ? यह तो गधे के सींग की तरह कल्पित है। इससे पहले जो यह कहा था कि बिरूप कार्य के लिए हेतु का व्यापार मानिये हैं। ऐसा कहना भी बिगड़े है। स्कंध संतान ही जब भूँठा है तब क्या बाकी रहा जिसके अर्थ हेतु का व्यापार मानिये। ऐसा क्षणिक एकांत पक्ष है वह श्रेष्ठ नहीं जैसे नित्य एकांत पक्ष श्रेष्ठ नहीं वैसे यह भी परीक्षा किये सबाध है। पुनः श्लोक ५५ में कहा है—

पुनः नित्यत्व यह दोनों सर्वथा एकांत माने उसका दूषण दिखाते हैं—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्याय-विद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्ते ऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥५७॥

जो लोग स्याद्वाद न्याय के विद्वेषी हैं उनके नित्यत्व अनित्यत्व यह दोनों पक्ष एक

स्वरूप नहीं बने है जैसे जीना और मरना इन दोनों में विरोध है । यह एक स्वरूप नहीं होता है । विरोध दूषण के भय से अवक्तव्यकांत मानना यह भी अयुक्त है । इसी कारण "अवाच्य" है । ऐसी उक्ति कहना भी उचित नहीं । ऐसा कहने से अवक्तव्यपने का एकांत तो रहा नहीं । अवक्तव्य शब्द से तो वक्तव्य हो गया ।

इस प्रकार नित्य आदि एकांत विरुद्ध ठहरा । अनेकांत की सिद्धि हुई । शून्यवादी के आशय को नष्ट करने के लिये तथा अनेकांत के ज्ञान की दृढता के लिये स्याद्वाद न्याय के अनुसार नित्यानित्यवादी आचार्य कहते हैं ॥६६६॥

वैय्यत्तु वीर्ते केल्लाम् वाचिय पिल्लमागिल् ।  
पोथ्येता मुरकि कंड्रार् गळ्ळा वरिप्पूतलत्तार् ॥  
मे येंत्ता त्तुलु सोल्ला दुनर्मुं वेरादल् वेंडुम् ।  
वैय्यत्तु वळवकु त्तुलोडि वनु माराई नाने ॥६७०॥

अर्थ—इस जगत् में कहने में आने वाली ऐसी कोई वस्तु ही यदि न हो तो संसार में रहने वाले सभी प्राणियों के वचन ही असत्य हो जायेंगे । और शास्त्र में कहे जाने वाले सभी शब्द अवाच्य होंगे । इस प्रकार अवाच्य होने से अवाच्य मत के कहने के अनुसार तो आगम के सभी विषय विरुद्ध होते हैं ॥६७०॥

गुण गुणि वेरे येन्निरु कूडिय मुडि विट्टाणु ।  
मुनर् वोडु काक्षियादि मुयिरिन् वेरळवु मागुं ॥  
गुण गुणि तन्मं येडि कुळु वलुं पिरिवु मागुं ।  
मुनर् विडा दुडरिक्किर् मुरो वळि कुणियु मंड्राम् ॥६७१॥

अर्थ—तुम्हारे मत के अनुसार गुणों से युक्त वस्तु को यदि भिन्न कहा जाय तो वस्तु दूसरे स्थान से आकर मिली है—ऐसा कहना पड़ेगा । यदि ऐसा कह दिया जाये तो आत्म-गुणों से युक्त आत्मा में रहने वाले दर्शन और ज्ञान गुण भिन्न हैं ऐसा मत तुम्हारे से भिन्न होगा । इस प्रकार गुणी और गुण भिन्न है, ऐसा कहते हैं इस तरह कहने से संसार में जितनी वस्तु है, उनकी तुम्हारे मत के अनुसार कोई भी स्थिति नहीं होगी । अतः यह कहना पड़ेगा कि संसार में गुण रहित कोई भी वस्तु नहीं है ॥६७१॥

मयक्कमे सेट्टु मार्वेमा वंद कारनंग ।  
ळुईर् परिणाम मिडि योळिय मोडु कट्टु वीडुं ॥  
कयक्क मिनिर्ल इट्टागि कयत्तिडं कस्तु पोलासु ।  
वियप्पुरु तवत्ति नालेन् पेरुवडु वेरेन् वारेल् ॥६७२॥

अर्थ—गुण और गुणी दोनों भिन्न २ हैं, यदि ऐसा कह दिया जाय तो राजहोष

परिणाम से कर्म बंध का कारण नहीं होगा। इस प्रकार होने से मोक्ष, बंध आदि का भी अभाव होगा। जैसे पानी से मरे हुए तालाब में एक पत्थर डाल दिया जाय और वह डालते ही नीचे चला जाता है उसी प्रकार वह होगा। जैसे एक मनुष्य को तपश्चरण के द्वारा आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मों के असंग होने से तपश्चरण करने पर भी सफलता नहीं होगी अर्थात् सभी धर्म विफल होंगे उसी प्रकार मोक्ष का तुम्हारे मत के अनुसार अभाव होगा। इनका मत बाधा सहित है, यह आप्तमीमांसा में श्लोक २८ में दिखाते हैं:—

‘पृथक्त्वेकांतपक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक्त्तुतौ ।

पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थोह्यसौ गुणः ॥

पृथक्त्व कहिये पदार्थ सब भिन्न ही है ऐसा एकांत पक्ष होने से पृथक्त्व नामा गुणों से गुण और गुणी इन दोनों, पदार्थों के भिन्न २ पना होने से दोनों अभिन्न ही होते हैं। ऐसे यह पृथक्त्व नामा गुण ही नहीं ठहरता है। जिससे पृथक्त्व गुण को एक को अनेक पदार्थों में होना मानते हैं तो पृथक्त्व गुण कहना ही निष्फल हो गया। जो वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ऐसे छह पदार्थ मानते हैं। उनके उत्तर भेद इस प्रकार हैं:—द्रव्य नौ, गुण चौबीस, कर्म पांच, सामान्य दोग प्रकार, विशेष एक तथा समवाय एक है। तिनमें गुण के चौबीस भेदों में एक पृथक्त्व नामा भी गुण है सो यह गुण सर्व द्रव्य गुण आदि २ पदार्थों को भिन्न २ करता है ऐसा माना है। फिर नैयायिक प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, नर्क, निर्णय, बाद, जल्प वितन्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान इस प्रकार सोलह पदार्थ माने हैं। इनको भी भिन्न २ ही मानते हैं। तिनका पदार्थों का सर्वथा भिन्न पक्ष होने से प्रश्न करते हैं कि पृथक्त्व गुण से द्रव्य गुण ये दोनों भिन्न हैं या अभिन्न। यदि अभिन्न कहा जाय तो सर्वथा भिन्न का एकान्त पक्ष कैसे ठहरे? फिर कहे जो द्रव्य, गुण, पृथक्त्व तैं भिन्न है तो द्रव्य, गुण, अभिन्न ठहरे। पृथक्त्व गुण न्यारा है तिसने द्रव्य, गुण का कहा किया कुछ भी नहीं किया जिससे पृथक्त्व गुण एक है और अनेक में ठहरा मानते हैं। इस प्रकार ऐसा कहने से सर्वथा भेदकदी नैयायिक वैशेषिक मत के सर्वथा पृथक्त्व एकांत पक्ष में दूषण दिखाया ॥६७२॥

उडंवि नुळ्हरं पोल गुण गुणी योडो डोडु ।

विडुं पडि कंड दुंडेल् वेरन विळंब लागुम् ॥

शेडं पुंरिदुरं वेराग पोरुळं वेरामेन् बानेल् ।

मडंवे पेन् मावेडालुं मगळला पुरुळु मंडो ॥६७३॥

अर्थ—जिस प्रकार जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है और दूसरा शरीर छोड़कर तीसरा शरीर धारण करता है उसी प्रकार गुण और गुणी का स्वरूप है, ऐसा कहते हैं। इस प्रकार कहने से जीव नाम के पदार्थ का भी अभाव होगा। इस प्रकार गुण और गुणी का स्वरूप है। ऐसा कह दिया जाय तो जीव नाम के पदार्थ का अभाव हो जायगा। आत्मा नाम का कोई पदार्थ ही नहीं रहेगा। इस प्रकार गुण, गुणी तादात्म्य संबंधी है। गुण, गुणी कहना व्यवहार नय की दृष्टि से है। अग्नि और उष्णता को जिस

प्रकार भ्रमलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार गुणगुणी का संबंध है । कुमारी व स्त्री कहने में व्यवहार है परन्तु निश्चय दृष्टि से एक ही है ॥६७३॥

येति रत्तालु मुंङ्गे तत्व मेंङ्गु वेंडुम् ।  
विस्तग नाधि नारिर् गुण गुण विकर्प वेंडार् ॥  
पित्तन् दून् तुनवुं शैगं सुख दुःखं पिरिवु मुंङ्गाय् ।  
तत्व मोळियु मारुं धीडुंदाव् पाळ दामे ॥६७४॥

अर्थ—गुणगुणी सर्व प्रकार से तत्व स्वरूप से एक ही हैं ऐसा कहने के अनुसार उसमें पीछे कहे अनुसार सर्वथा गुणी भिन्न गुण भिन्न ऐसा कहना, जैसे एक मनुष्य भरकर सुख दुख यह दोनों एक ही रहता है उसी प्रकार सर्वथा गुण गुणी को भिन्न ऐसा कहने वाले मत की दृष्टि को भी इसी प्रकार उनके मन से मोक्ष का अभाव होता है । अर्थात् मोक्ष की सिद्धि नहीं होती है ॥६७४॥

वंडन उरेंप्पान् केट्पानुनवुं मोझान्गु वेडां ।  
वंडे नि लोंडुं मिड्दा मुळ वेनि लोंडुं मंडा ।  
मेंडिडा नान्गुं वेंडि प्रांतियेडुं रै क्कु पोळ्दु ।  
निडुवै भ्रांति याग निलं पेट्ट विकर्पं मेळ ॥६७५॥

अर्थ—संसार में समस्त जीव एक ही है । ऐसा कहने वाले और उसी प्रकार तत्व को अभिन्न कहने वाले और चारों यह एक ही हैं ऐसा कहने वालों के मत की दृष्टि से प्रत्यक्ष विरोध होता है । कहना सुनना यह सभी भिन्न २ क्रियाएँ हैं । ऐसा कहने से सर्वदा अभिन्न तत्व का संभव नहीं होता है । इस प्रकार कहने सुनने तथा जानने वाले तथा मत के शास्त्रों को जानने वाले ये चारों अभिन्न २ हैं । ऐसा कहने से यह चारों विषय भिन्न २ हैं ऐसा नहीं कह सकते ॥६७५॥

वंडेन उरेंत्त मेकोळुडन् सेल्लु मेदु ओडु ।  
निडुवो रेडुत्तु कादु निडु वन् पोरुण् मुडिक्कि ॥  
लोंडुं डु मेक्कोळ् तन् सोळ्ळिडु मारेंदि योडि ।  
निडुव पक्कं सेर्वा नेरि पिरि तन्मे याळे ॥६७६॥

अर्थ—सर्वथा भिन्न है ऐसा कहने वाले तत्व को अच्छी तरह से विचार करके देखा जाय तो हेतु दृष्टांत, उपनय आदि आत्मा से संबंधित नहीं होते । और उनसे संबंध न होने के कारण उनके मत में बाधा आती है । पहले प्रकरण में सर्वथा भिन्न ऐसा कहने वाले मत के तत्व के प्रकार, यह भी प्रत्यक्ष में विरोध आता है ७६॥

वंडन उरेंक्कु तूले थोकुवा नोंडुन डुंङ्गु ।  
निडु तूलोवु धानोडुत्तिडुष् वीडुमत्ते ॥



येङ्गेनि लोङ्गनं डागुमामेति लळियट्टान्टा ।  
नोङ्गेन उरत्तु पेट्ट ऊविययेन् कोलोवे ॥६७७॥

अर्थ—जीवादि सभी द्रव्य एक परमात्मा बहु आधेयवर्ती है ।

यथा—मृतपिण्डमेकं, बहुभांडरूपं, सुवर्णमेकं बहु भूषणात्मकं ।  
गोक्षीरमेकं बहुधेनुजातं, एकं परमात्म तत्त्वं बहुदेशवर्ति ॥

अर्थात् एक मृत्तिका पिण्ड में बहुत से बर्तन तैयार होते हैं, एक स्वर्ण में कई आभूषण तैयार होते हैं । दूध एक ही है किंतु गायों की संख्या अनेक है । उसी प्रकार एक परमात्मा अनेक रूप धारण करता है ऐसा सर्वथा अभिन्न मत वालों का मत है इस प्रकार अभिन्न मतों द्वारा कहना सर्वथा भिन्न है ऐसा लोग कहते हैं सर्वथा भिन्न सर्वथा अभिन्न है ऐसा कहने वाले दोनों ही मत वालों से मोक्ष मार्ग में बाधा आती है, इनके मत पर श्रद्धा न करना उचित नहीं । यह भिन्न है ऐसा कहने वाले अद्वैतवादी का मत ठीक नहीं, ऐसा कहने से कोई लाभ नहीं है ॥६७७॥

वंङ्गन उरैक्कुं मारि तीवेयिर् कोदुंगुमोडि ।  
तिन न्ङिडा रिडा मन्ने चोरु तेडिये पशितुंगु ॥  
नेङ्गिडा विरडुरेकु मेन्ने पाकि लेल्ला ।  
मोङ्गन उरैकु वाये मुन्मत्त चरित मायूते ॥६७८॥

अर्थ—यदि अभिन्न मत वाले ऐसा कहेंगे तो पानी के बरसने, धूप को देखने तथा अग्नि के जलते समय, अर्थात् घूप में चलते समय, वन में वृक्ष के नीचे बैठने आदि सारी बातें सारे तत्त्व असिद्ध ठहरे । यह पांव के नीचे की मिट्टी को खाकर अपनी भूख क्यों नहीं मिटाता रोटी को क्यों ढूँढता है । ऐसा अभिन्न मत वालों के कहने में प्रत्यक्ष रूप से विरोध आता है ।

॥६७८॥

विन्मवि येन्निला मन्न कर्कळि ।  
मुन्निला नीरगत्तुरवु पोलवु ॥  
कण्णुद कडंबोरा कायं पोलवु ।  
मेन्निला कायोत्तु लुइरु मोङ्गे निल ॥६७९॥

अर्थ—बहुत से फलों से भरे हुए पात्र में आकाश में रहने वाले चंद्र का धिब प्रत्येक पात्र में प्रतिबिंबित होता है, उसी प्रकार एक आत्मा सम्पूर्ण शरीर में दिखता है । इस प्रकार तुम कहते हो तो—॥६७९॥

छायंक्कु तन्मे तानेगु मोत्तपो ।  
सायु नन्नरि यिन्न संव माविगळ् ॥

कायत्तु लुङ्गळ्ळु क्केगुं मुत्तिडि ।  
लेयु मङ्गि योङ्गा दिक्वेडुत्तुरं ॥६८०॥

अर्थ—अनेक जल के पात्रों जैसे चंद्र का प्रतिबिंब दिखने के समान अनेक शरीर में रहने वाले आत्मा को सुख दुख आदि विशेष युक्त विषय की उपमा देने में नहीं आती। इसलिये आपके मत प्रत्यक्ष और प्रमाण से बाधित होते हैं ॥६८०॥

कार्तुळुंबु कडत्तुरंतिमया ।  
लोर् तुळुंबु नर् वादिग लुत्तोवा ॥  
नीर्त्तुळुंबुनर् वादिग लुत्तोवा ।  
नेर् तुळुंब देगंनमेंडिडिल् ॥६८१॥

अर्थ—कहीं मिट्टी के पात्र में रहने वाला पानी हवा से हिलता है। उसी प्रकार कदाचित् यह ज्ञान चलायमान होता है अथवा हिलता है यदि ऐसा कही तो वह बात कई विषयों में संभव होती है, कई विषयों में संभव नहीं होती है। मिट्टी के बर्तन में रहने वाला पानी चंद्रमा के चलायमान होने के समान चंचल दीखता है तो आकाश में चंद्रमा चलायमान नहीं दीखता है, यदि आप ऐसा कहोगे तो ॥६८१॥

इं ब तुंब मुमिर् कल्ल याकेंय्य ।  
वेवं दिडं वेडुत्तुरं याल् वरुं ॥  
मुन्सं पुण्णिय पाव मुडित्तवर् ।  
पिन् पिरं व लिरत्तलु मित्तये ॥६८२॥

अर्थ—सुख दुख आदि इस आत्मा के नहीं हैं, शरीर को सुख दुख उत्पन्न होता है। इस प्रकार इसके लिये उदाहरण दिया जाय तो एक जीव पूर्व जन्म में उपार्जन किया हुआ पाप और पुण्य का अनुभव करके पुनः जन्म और मरण धारण करता है। यह कभी जीव नाश होता है ऐसा सिद्ध हुआ इसलिये जीव और आत्मा भिन्न २ है ऐसा सिद्ध हुआ ॥६८२॥

वारियेन् मेन् मदि निर्यं व चायैतान् ।  
नीरि नीगुदलिस्सये निन्नुरे ॥  
पोरु मोरुहर् निर्यं उंडवुधिर् ।  
पेर नीपिन मागि पिळैत्तवे ॥६८३॥

अर्थ—घड़े के पानी में प्रकाश में रहने वाला चंद्र का प्रतिबिंब पड़ता है। वह प्रतिबिंब पानी को छोड़कर इधर उधर नहीं जाता है। इसलिये भिन्न २ मत वाले आप लोगों के द्वारा कहे जाने वाला अभिन्न तत्त्व जीव घड़े में रहने वाले चंद्र के समान इस शरीर से पृथक नहीं होता यदि ऐसा कहा जावे तो संभवता नहीं ॥६८३॥

इं वयुं चायेयुं पोलिरंडुयिर् ।  
 निकुन कंडिसं निकुं काटिबु ॥  
 वंडियुं चाये पोला निरंडुइर् ।  
 निइ बुंदागिलुं निइ वित्तये ॥६८४॥

अर्थ—चंद्रमा की छाया के समान रहने वाले जीव को हमने देखा नहीं और छाया के समान जीव और शरीर रहता है ऐसा यदि कहोगे तो तुम्हारे द्वारा कहे जाने वाले दृष्टांत से इस तत्त्व का संबंध न होने से आपका मत सिद्ध नहीं होता ॥६८४॥

कडं कडं दोरा काय मदायव ।  
 रुडंबुंडु तोरा मुई रौंइ निल् ॥  
 कडंव कंडुं लि काय निलकुमा ।  
 रुडंबुडं दुळियुं मुइर् निपंवां ॥६८५॥

अर्थ—प्रत्येक पानी के पात्र में आकाश में रहने वाले चंद्रमा के दीखने के समान हर एक शरीर में उत्पन्न होने वाले सभी जीवों को एक ही है ऐसा कहेंगे तो उस घड़े के फूट जाने के बाद केवल आकाश ही रहता है। उसी प्रकार शरीर को छोड़ जाने के बाद उस आत्मा को रहना चाहिये था। परन्तु आपके मत के अनुसार यह नहीं घटता है। इस कारण आपके दिये जाने वाले उदाहरण से यह मत सिद्ध नहीं होता है ॥६८५॥

कुडतुळुं कुडमिडि इरुंदमर् ।  
 ट्रिडत्तिनुं कविनुक्कियल् पोत्तपो ॥  
 लुडंबुळु मुडंविडि इरुंद वेव् ।  
 विडत्तिनु मुडंगेत्तिडल् वेडुमें ॥६८६॥

अर्थ—घट में, घट से रहित पृथ्वी में यह आकाश आदि में समान रूप से रहता है। इस प्रकार आपके दृष्टांत के द्वारा सभी में रहता था, परन्तु रहता नहीं। इस कारण तुम्हारा मत संभवता नहीं ॥६८६॥

उडंबि मुइर तोळि लालुई ।  
 रुडंबि नुन्मं युनर् तिडुमत्तोळि ॥  
 लडंगलुं मित्तावळी या रुइर् ।  
 तोडरंडु निइ सं सोल्लुव वेन् कोलो ॥६८७॥

अर्थ—शरीर से युक्त इस आत्मा के गुण आत्मा को ही मालूम होते हैं। शरीर को कोई पता नहीं पड़ता; शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है। तथा शरीर जड है ॥६८७॥

उडंबु तानुइर् कोयदु मुंडेनि ।  
 रडंब तन्नुरे जाल विरोधिया ॥  
 मुडंबु तन्नळ वायुड निड्, पिन् ।  
 विडुं पडित्तुइरेवुदु वीळंददे ॥६८८॥

अर्थ—शरीर के नाश होने के पश्चात् जीव रहता है, यदि आप ऐसा कहोगे तो तुम्हारे द्वारा माने गये अभिन्न मत माने जा सकते हैं, यह ठीक है, परन्तु तुम्हारे अभिन्न मत के समान पुद्गल को छोड़कर जाने वाले जीव को देखने वाला कोई नहीं है। जीव के निकल जाने के बाद पुद्गल मात्र ही दीखता है। और पूर्व जन्म में अशुभ कार्य के द्वारा पापोपार्जन किया हुआ जीव शरीर प्रमाण होता है यदि ऐसा कहना है तो सम्पूर्णा जगत में इसका प्रचार है यह बात जगत में प्रसिद्ध है। इसलिये सदैव जीवात्मा एक ही कहना, यह तुम्हारा अभिन्न मत आगम के विरुद्ध आता है ॥६८८॥

तत्तु वंनिदु वैदुव दंडेनि ।  
 लुत्तौ वामेयं विट्टुइ रौड्, दान् ।  
 शित्तियं दुव दिन् मइर् सिद यान् ।  
 मुत्ति यंद मुयलुथ देन्कोलो ॥६८९॥

अर्थ—तत्त्वों का स्वरूप दो प्रकार का है। जीव तत्त्व का एक प्रकार से रहना, ऐसा कहना भ्रम है। जीव अपने धारण किये हुए शरीर को छोड़कर जाने के बाद दूसरा शरीर धारण नहीं करता—यदि आप ऐसा कहेंगे तो मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा करने वाले ज्ञानी लोग तपस्या क्यों करते हैं? तपस्या करने से क्या लाभ है? आप के कहे गये मत के अनुसार ज्ञानी लोग तपश्चरण करते हैं। अतः ऐसा सिद्ध नहीं होता ॥६८९॥

काक्षिये नुडित्तिडा काटि युवट्टं विट ।  
 ताक्षिया लौड्देनि लंदग नुक्किरुळ् ॥  
 माक्षियां वेयगमट्टु नक्कु योन् ।  
 ट्राक्षिया लौड्देवि लार विलक्कु वार ॥६९०॥

अर्थ—इस लोक में दीखने वाले पुरुष प्रवृत्ति दुष्टम्, शास्त्र प्रवृत्ति दुष्टम्, लोक प्रवृत्ति दुष्टम्, ऐसा कहने के लिये शास्त्र प्रवृत्ति ऐसा कहने में विरोध रहित परस्पर में भिन्न २ स्थिति को बतलाया हुआ उसके स्वाभाविक गुणों से भली भांति न जानकर तथा न समझते हुए अपने द्वारा किया हुआ सर्वथा अभिन्न तत्त्व के बराबर है। ऐसा प्रहण करके कहने वालों का यह मत है। जिस प्रकार अंधे को रात दिन समान दीखता है उसी प्रकार एकांत मत वाले को कितना ही समझाया जावे वह अपने हठवाद को नहीं छोड़ता है ॥६९०॥

सुत्त सूनियं तत्तुव मंबवन् ।  
 सुत्त सूनिय मागिलु निक्किलुं ॥  
 सुत्त सूनियं तत्तुव मल्लदाम् ।  
 सुत्त सूनियंतान् मुदलल्लवो ॥६६१॥

अर्थ—वस्तु सर्वथा शून्य है ऐसा कहने वाले मत भी ठीक नहीं हैं ; क्योंकि जो वस्तु सामने प्रत्यक्ष में दिखाई दे रही है उसको यदि शून्य कहा जायेगा तो प्रत्यक्ष रूप कहने में बाधा आती है । इस कारण सर्वदा वस्तु को शून्य कहने वाले स्वतः शून्य ही होते हैं ; क्योंकि शून्य ऐसा कहने वालों की बात प्रत्यक्ष में दिखाई दे रही है ॥६६१॥

सोन्न सूनिय वादियुं सूनिय ।  
 मुन्न मिल्लदो मुन्न मुंडायदो ॥  
 मुन्न मिल्लद्वर् केन्भोकि तानिले ।  
 पिन्न इल्लद्वर केषिळ्ळं यायवे ॥६६२॥

अर्थ—इस कारण प्रत्यक्ष वस्तु को शून्य कहने वाले स्वयं शून्य होते हैं । जानी हुई वस्तु को शून्य कहना सर्वथा असत्य है । भूतकाल में वस्तु थी या नहीं यदि ऐसा उनसे पूछा जाय तो यदि वे ऐसा कह दें कि वस्तु नहीं थी तो अनादि काल से चली आ रही वस्तु को सर्वथा शून्य कहना, अथवा हमारे सामने प्रत्यक्ष में जो वस्तु दीख रही है, उसको शून्य कहना तथा भविष्यत काल में उसी वस्तु का नाश न होना, इसका आपके मत से प्रत्यक्ष में विरोध आता है ॥६६२॥

तोट्टं वीदल् तोडरंद्दु निले पेर ।  
 लाट्टुं पोरुळिन् निगळ्ळं वादलार् ॥  
 द्रोट्टं मायं दिडल् सूनिय मेड्ढिडि ।  
 नेट्टं वाररंत्ता निले मट्टवे ॥६६३॥

अर्थ—उत्पाद, व्यय रूप होकर रहने वाले को यदि ऐसा कहा जावे कि यह शून्य है तो उस तत्त्व को किस प्रकार माना जायेगा । ऐसा कहने वाले तथा सुनने वालों के मत के अनुसार यह ठीक नहीं है । ऐसा कहने से उस वस्तु में विरोध आता है ॥६६३॥

इट्टं विट्टं मेरिंदु तन्कोळिन् ।  
 विट्टुं मारंदि तन् सोल् विरोधिया ॥  
 केट्टं वारिर्वं तीनेरि केळिनी ।  
 मट्टुला मुडिगाय् नल्लवा नेरि ॥६६४॥

अर्थ—वे हरिचन्द्र मुनिराज किरणावेग को संबोधन करते हैं कि हे राजा किरणावेग!

प्रागमेष्टम्, प्रतिज्ञानेष्टम्, कर्म-फल-संबन्धेष्टम्, संसारेष्टम्, मोक्षेष्टम् आदि इष्टों को और लोक प्रवृत्ति दुष्टम्, पुरुष प्रवृत्ति दुष्टम्, शास्त्र प्रवृत्ति दुष्टम्, इस प्रकार तीनों दृष्टियों को नाश कर तथा अपने अभिप्रायों को त्यागकर विरोध होने वाले नित्यमेव अनित्यमेव, अवाच्य-मेव, भिन्नमेव, अभिन्नमेव, शून्यमेव ऐसे इन छह प्रकार के तत्त्वों का त्याग करके आगे, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ऐसे इन तत्त्वों का मैं प्रतिपानन करूंगा उसको ध्यान पूर्वक सुनो ! ऐसा हरिचन्द्र मुनिराज ने उस किरणवेग से कहा ॥६६४॥

उन्मेदल्लद निकुरैयु मिले ।  
युन्मे इल्लद निकुंनर्वु मिले ॥  
युन्मे इल्लद निर् पयनु मिले ।  
युन्मे इल्लद्वर् कुन्मुयु मिल्लये ॥६६५॥

अर्थ—पुनः वे हरिचन्द्र मुनिराज कहने लगे कि सत्स्वरूप में रहने वाली वस्तु वचनीय नहीं है । और उस वचन में ज्ञान भी नहीं है । सत्य रहित वस्तु में फल ही नहीं है । असत्य वस्तु में सत्य ऐसे गुण नहीं है । ऐसा सुख बोध नाम के ग्रंथ के पांचवें अध्याय में विशेष रूप से विवेचन किया है । इस संबंध में विशेष विवरण को समझ लेना चाहिये ।  
॥६६५॥

अत्तियन् वयत्तालेड्, नित्तमां ।  
सित्तमुं मोळियुं तिरि विन्मया ॥  
नित्तमे वेतिरेगत्त नित्तमाश् ।  
सित्तमुं मोळियुं सिदे वेदलात् ॥६६६॥

अर्थ—अस्तित्व रूप से रहने वाले सत्यगुण को निश्चय से सदैव सत्य गुण को जानने वाले मन के द्वारा कहने वाले वचनों का नाश न होने कारण निश्चय से गुण और गुणी दोनों एक ही हैं । ऐसा जानने वाले मन, वचन स्यात् नित्य स्वरूप है । इससे एक द्रव्य, अन्वय, व्यतिरेक गुणों से नित्यानित्य होता है । सत्य ऐसे कहा हुआ अस्तित्व स्वरूप उत्पाद व्यय से युक्त है ॥६६६॥

अन्वयं व्यतिरेग मनंद मत् ।  
तन्मैयार् पोरु डानिगळुं पडि ।  
सोन्निगळुं व तनिचोत्त लिलैयत् ।  
तन्मैयार् पोरुडान इवाचियम् ॥६६७॥

अर्थ—निश्चय गुण पर्यायगुण को प्राप्त होकर अनन्त गुण से युक्त ऐसे जीवादि जीव के विषय को सामान्य रीति से सामान्य रूप में तुम्हारे विषय को उस द्रव्य के विशेष गुणों की शक्ति न कहने के कारण अवाच्य होता है । यह स्याद्वाद रूप नहीं है । इसलिये यह तत्त्व वाच्याऽवाच्य रूप कहलाता है ॥६६७॥

अन्वयं वेतिरेग मद्र पोरुट् ।  
 सोन्न नल्लरि विषय नाविइर् ॥  
 भिन्न मादलिर् भिन्नमुमां पोरु ।  
 नन्वयं वेंडुलादिय वट्टे चोल् ॥६६८॥

अर्थ—पीछे कहे हुए जीवादि द्रव्य के तादात्म्य अन्वय तथा व्यतिरेक ऐसे दो प्रकार के गुण हैं। यह दोनों गुण व्यवहार की अपेक्षा से भिन्न तथा निश्चय की अपेक्षा से अभिन्न हैं। इसी विभाव विषय को जीतने का विवेचन करूंगा। इसे सुनो ॥६६८॥

माट्टि निडु पिव् वीटिनु निकुं नल् ।  
 लाट्टल् पट्टि येळुं मुनर् वन् वयं ॥  
 माट्टि निडुवु वीटिलिल्लामै याल् ।  
 वेट्टु मै युन वान् वेतिरेगमे ॥६६९॥

अर्थ—आचार्य अन्वय, व्यतिरेक गुणों के बारे में दृष्टांत पूर्वक विवेचन करते हैं। हे किरणवेग राजा! सुनो। अन्वयगुण, व्यतिरेक गुणों को उत्पन्न करने के लिए निमित्त कारण होने से यह जीव नरकगति, देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति इन चार गतियों में भ्रमण करता है। इसलिए यह जीव अन्वय गुणों से युक्त होकर उपादान कारण से होने वाले विभाव गुण को प्राप्त होकर इन चारों गतियों में भ्रमण करता है। जिस प्रकार सोना अन्वयगुण को प्राप्त होकर उपादान कारण होकर कुण्डल, कड़ा आदि पर्यायों में परिणामन होता है, उसी प्रकार यह जीव भी उपादान कारण को प्राप्त होकर संसार में अनेक पर्यायों को धारण करके संसार में परिभ्रमण करता है ॥६६९॥

अन्वयं व्यतिरेग अन्वयं वेतिरेगत्तैयाकला ।  
 त्तिन्नवं पिर पावि ये याकलाल् ॥  
 पोन्निनपोरु निट्टु लवन् पय ।  
 निन्न वोंडुं योंडुं वल्लु मुक्कुमें ॥७००॥

अर्थ—पूर्व में कहे हुए गुण और गुणी से युक्त वह द्रव्य सदैव केवल व्यवहार नय में भिन्न होने पर भी निश्चय नय से आपस में एक रहते हैं। अपने स्वभाव को छोड़कर दूसरे स्वभाव में परिणत नहीं होते। अतः यह जीवद्रव्य, ज्ञान, दर्शन, गुण से युक्त है। गुण और गुणी में प्रदेश रूप से भेद नहीं होता है। वचनों के द्वारा गुण और गुणी ऐसा कहा जाता है परन्तु निश्चय से नहीं है ॥७००॥

येंडु मिग्गु नयं पोरुळु तम्मु ।  
 सोंडु योंडु बिट्टो रिडत्तिव् कनुं ॥

सैङ्गु निङ्गुन कंडरियामे या ।  
 लोंङ्गु मास् पोरळोडु गुरांगळे ॥७०१॥  
 अचेतनसिडे चेवन मिन्म युं ।  
 चेतनत्तिलघ चेतन मिन्मयु ॥  
 मोदु मूर्ति ये मूर्ति योन् इन्मयुं ।  
 तीदिसादव सुनियं सेप्पि नेन् ॥७०२॥

अर्थ—अचेतन द्रव्य में चेतन गुण नहीं, चेतन द्रव्य में अचेतन गुण नहीं । मूर्ति रूप द्रव्य में अरूपी गुण नहीं है । इसलिये सर्वदा नाश नहीं है । कथंचित् भ्रूण्य ऐसे परमागम में अर्हंत जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ अनेकांतवाद है । इस अनेकांतवाद में केवल एकांतवाद को ही मानकर यदि एकांत कोटि सिद्ध करेगे तो सिद्ध नहीं होगा । प्रत्येक द्रव्य के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग किया है । इसलिये व्यवहार की अपेक्षा से अर्हंत भगवान के वचन के अनुसार हमने प्रतिपादन किया है । यह मार्ग एकांत और अनेकांत रूप में कहे हुए पर किसी भी प्रकार की शंका नहीं करना चाहिये ॥७०१॥७०२॥

सोन्न वारु विकर्प मोरु पोरुट् ।  
 तन्मे इट्टलं वत्तु मुबलारु मा ॥  
 ट्टिन्मे इत्तिल्लिडु मै मे इवट्टिन् मेर् ।  
 सोन्न भंगमु मेळुळ् सोल्लु वास् ॥७०३॥

अर्थ—पूर्व में कहे हुए नित्य, अनित्य, अवाच्य, भिन्न, अभिन्न और शून्य यह छह प्रकार के भेद एक ही वस्तु में होते हैं । आप्तेष्ट आदि छह द्रव्य पूर्वोक्त तीनों दृष्टांतों में परस्पर में एक होकर रहने के कारण ये छहों स्वभाव से एक ही वस्तु में रहते हैं । इस प्रकार सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए आगम से इस भेद को भली प्रकार समझने के लिए सप्तभंगों का मैं विस्तार से विवेचन करूंगा, तुम सुनो ॥७०३॥

उन्मं नल्लिन् मै युन्मं इन्मयु मुरेक्कोनामं ।  
 युन्मं नल्लिन्मै युन्मं योडुरेक्कु नामं ॥  
 नन्निय मून्डु माग नयभंग मेळु मोड्डिर ।  
 कन्नुरि मघमंगळ् कडा वीट्टि नयगळ्चेवे ॥७०४॥

अर्थ—हे भव्य शिरोमणि राजा किरणावेग ! वस्तु के कथन करने के लिये सात भंग (तरह) होते हैं । स्यात् अस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्याद्भवक्तव्य, स्यादस्तिभवक्तव्य, स्यान्नास्ति भवक्तव्य, और स्यादस्ति-नास्ति-भवक्तव्य । एक पदार्थ में परस्पर विरोध न करके अविरोध रूप से प्रमाणा अथवा नय के वाक्य से यह सत् है आदि की जो कल्पना की जाती है वह सप्त भंगी है । अस्ति द्रव्य और नास्ति द्रव्य इनको पृथक् २ करके यदि एक को



ही ग्रहण करोगे तो यह मिथ्या है। इससे वस्तु की सिद्धि नहीं होती। प्रत्येक वस्तु कथंचित् सत् है और कथंचित् असत् है ॥७०४॥

उंडेन पट्ट देर्क इल्लया मुरुव मिड्रे ।

लुंडेन पट्टुवंड्रे यामिवं उलग मेल्ला ॥

मुंडेन पट्ट देर्क इल्लया मारें नेन्निल् ।

वंडुनुं कौवं यावाळ् मगळिला उरुव मंड्रे ॥७०५॥

अर्थ—ऐसा अस्ति कहने वाले द्रव्य को नास्ति न कहना इससे व्यवहार नहीं रहेगा और तीन लोक में रहते वाले सभी द्रव्य एक ही होंगे, ऐसा होगा। अस्ति रूप वस्तु को नास्ति रूप स्वभाव कैसे कहा जायेगा? इस प्रकार का यदि प्रश्न होगा तो इस संबंध में आचार्य दृष्टांत देते हैं कि एक मनुष्य की बहिन दूसरे की अपेक्षा पत्नी है। इसी प्रकार दूसरे की अपेक्षा लडकी होने के कारण अस्ति हो गई और दूसरे को अपेक्षा नास्ति हो गई। एक की अपेक्षा से वह स्त्री माता है। इस कारण वह नास्ति हो गई। इस प्रकार एक ही द्रव्य में व्यवहार न होगा तो संसार में सभी वस्तु बिना व्यवहार के एक ही होगी। यदि वस्तु में व्यवहार नहीं होगा तो सारी वस्तु गडबड हो जायेगी ॥७०५॥

अत्तियां कुंभ मेंड्रा लुलगला मडमवायो ।

वैत्तन् निडत्त देनिन्न मट्टेगु कुंभ मेड्डाल् ॥

वैत्तदन् निडत्त देन्निन् मट्टेगु मिलामे याले ।

नत्तियुंडेत्तन् रागि लुलग नर् कुंभ मामे ॥७०६॥

अर्थ—घट अस्ति रूप है क्योंकि घडा सभी जगह न रहने के कारण उस समय वहां रहने के कारण वह घट अस्ति रूप हो गया। और वही घट दूसरों की अपेक्षा से नास्ति रूप हो गया। क्योंकि घट स्वक्षेत्र की अपेक्षा से अस्ति हो गया। और परक्षेत्र की अपेक्षा से नास्ति हो गया। इस प्रकार अस्ति नास्ति नहीं होगा तो एक ही घट तीन लोक में है ऐसा होगा। इसलिए स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव की अपेक्षा से द्रव्य, अस्ति रूप एवं परद्रव्य की अपेक्षा से नास्ति रूप होता है ॥७०६॥

इवुवदु वलामे युंडे लिदु वदु वैन्नलागु ।

मिदु वदु वलामे इवुड्रे लिदु वदु थिलामे याले ॥

पोदु ओदु विशेषियिडि पोस् पोळ् पोन पिन्ने ।

विदि विलक्कि लामे याले शूनियमागु वैदे ॥७०७॥

अर्थ—हे राजा किरणवेग सुनो! वस्तु ऐसे बतलाया हुआ जो द्रव्य है वह यदि नास्ति न होगा तो द्रव्य कूटस्थ होगा। एक २ वस्तु में रहने वाले विशेष गुणों का और उस द्रव्य का अभाव हो जाता है। इस प्रकार अभाव होने से अस्तित्व व नास्तित्व यह साध्य

नहीं है। इसलिये वस्तु में रहने वाले अनेक भेदों को कह नहीं सकते ॥७०७॥

अस्तियालति जीबनरिविना लरिव नेन्नि ।  
लत्ति माराय वेल्ला गुणत्तंयु मडय पट्टि ॥  
नत्तियाम् भंगं तौडि जीव न नाति येन्नु ।  
मितिर भंगमेळुं पोह लिडै इरंद वारे ॥७०८॥

अर्थ—यह आत्मा सत्स्वरूप ऐसे अस्ति रूप से चेतन नाम के ज्ञानादि गुण गुणी से युक्त तत्स्वरूप या अनादि काल से अस्ति रूप है क्योंकि अस्ति रूप को दूसरे अचेतन ऐसे असत् स्वरूप है। यदि ऐसा मान लिया तो अस्ति द्रव्य नास्ति रूप होता है। इसलिये जीव पदार्थ को स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति इस प्रकार मानकर प्रत्येक द्रव्य में ७ भंग होते हैं ॥७०८॥

उन्मयु मिन्मै तानु मोरु पोह ट्रन्मं यागुं ।  
वन्मं सोल्लु मूंड्राय् भंग मट्टौ विरंडिर् ॥  
कन्नुरु पोरुळै योर् सोल् सोलाम यंतुरिय काटुं ।  
तिन्नि यो इवाचि येतिन् सेरिविन् सेप्पु मूडुम् ॥७०९॥

अर्थ—स्यात् अस्ति स्याद् नास्ति ये दोनों वस्तु एक ही स्वभाव के गुण के भेद हैं। क्योंकि स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव इनकी अपेक्षा से अस्ति हो गया। और पर द्रव्य परक्षेत्र, परकाल, परभाव की अपेक्षा नास्ति हो गया। यह दोनों भेद एक ही द्रव्य में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार रहने वाले स्यात् अस्ति-नास्ति नाम का तीसरा भंग हो गया। इस प्रकार स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति यह दोनों ही एक समय में कहने में समर्थ न होने के कारण स्याद् अवक्तव्य यह चौथा भंग हो गया। स्याद् अस्ति स्याद् नास्ति स्याद् अस्ति नास्ति ऐसे तीन अवक्तव्य को एक ही समय में कहने को साध्य नहीं होता। इसी प्रकार अन्य २ भंगों के संबंध में ज्ञान लेना चाहिये ॥७०९॥

सेप्पिय भंग मेळुं वत्तुक डोरुं सेल्लु ।  
मिप्पडि वुरैत्त वेल्ला मेव कारत्तो दौडिर् ॥  
रप्पित्ति नयंगळामि तडुमाट्टं तन्नं याकुं ।  
मंपड वुनरंद पोळ्विन् वीटि नं विळैक्कुं वेंदे ॥७१०॥

अर्थ—हे राजा किरणवेग ! यह उपरोक्त सप्त प्रकार के भंग जीवादि सभी द्रव्यों में रहते हैं। इन सात भंगों को अस्ति नास्ति ऐसे भिन्न २ रूप से कल्पना ग्रहण करगे तो व्यवहार का लोप हो जायगा और सप्तभंग विषय को अन्य मिथ्यादृष्टि लोगों के एक २ नव को पकड़ कर ही मोक्ष मार्ग को न समझने के कारण संसार भ्रमण होता है। इस कारण द्रव्य सम्पूर्ण तीर पर एक ही है भिन्न २ नहीं है। ऐसा कहने वाले अन्य प्राणो मोक्ष को प्राप्ति कैसे कर सकते हैं? ॥७१०॥

अनादि मिच्चोद यत्तालरिबु मिच्चत्त मागि ।  
 कनाविनुं मै मै कानार् पान्मै यांग कालं वंवाल् ॥  
 बिनावि मै युनरं व वट्टिनिळुंवाळ् विशोधि तन्ना ।  
 सनादि मिच्चुव समत्ता लडयुं सम्मत्तं वडे ॥७११॥

अर्थ—हे राजन् ! अनादि काल से मिथ्यात्व के तीव्र उदय से हेय उपादेय का स्वरूप न समझने के कारण अपने निज स्वरूप का अनादि काल से लेकर अब तक स्वरूप स्वप्न में भी अनुभव में नहीं आया है । उनके अनुभव में तो स्वपर के भेदज्ञान की भावना अभी तक उत्पन्न नहीं हुई, न आपापर के जानने का अभ्यास किया, इस कारण वह आज तक संसार में भ्रमण कर ही रहा है । सम्यक्त्व को धारण करने की लब्धि उत्पन्न हो जाय तो वह जीव सद्गुरु का उपदेश सुनकर उस उपदेश के निमित्त से कर्म क्षयोपशम लब्धि से अनादि काल से आत्मा के साथ संबंध करते आये मिथ्यात्व कर्म प्रकृति के उपशम से सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेता है ॥७११॥

येळुवुदु कोडा कोडि सागर त्तिळिदु निर ।  
 पळुदेलां शेय्य वल्ल मिच्च्यत्त पगडि तन्ने ॥  
 येळियवे सारं व कोडा कोडि मेलं व मूळत् ।  
 मुळिय मेट्टिविये सोदि शाम वण्ण मोरंगु वीळ्कुं ॥७१२॥

अर्थ—मोह कर्म को सत्तर कोडाकोडी सागर में कुछ कम होकर आत्म-स्वभाव की प्रगट न होने देने वाले मिथ्यात्व प्रवृत्ति को नाश करने वाले कोडाकोडी सागर में एक अतर्मुहूर्त में उस स्थिति को अर्थात् मध्यम उत्कृष्ट स्थिति को विशुद्धि लब्धि द्वारा नाश कराता है ।  
 ॥७१२॥

निङ्गु कोटिविये कंडन् कणंदोरु नेरिडर् सेय्या ।  
 वं वमु नापंतोरु पगडिकट् कोलित्त कोळ्दे ॥  
 वंडुडन् कट्टुतीय नल्बने तिबि सुरुक्का ।  
 वं व मूळत्तं सेड्दं विशोविय वगं ड् पिन्ने ॥७१३॥

अर्थ—इस प्रकार उस स्थिति को खंड २ करके प्रति समय में नाश कराते २ इक-तालीस प्रकृति मिथ्यात्व कर्म को बंध करने वाले परिणामों का नाश करने से और उनमें आकर बंध होने वाले पाप और पुण्य स्थिति को कम करके एक मुहूर्त के बाद देशना-लब्धि परिणाम का ज्ञान होने के बाद आगे कही जाने वाली ४१ प्रकृतियों का बंध नहीं होता है । अर्थात् एक मिथ्यात्व दूसरा नपुंसक वेद, तीसरा नरक आयु, चौथा नरक गति, पांचवां नरक गत्यानुपूर्वी, छठा एकेंद्रिय जाति, सातवां दो इन्द्रिय जाति, आठवां तीन इन्द्रिय जाति, नवां चतुरिन्द्रिय जाति, दसवां हुंडक संस्थान, ग्यारहवां असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, बारहवां प्रातप, तेरहवां स्वावर, चौदहवां सूक्ष्म, पंद्रहवां अपर्यायात्मक, सोलहवां साधारण नरीर, सत्रहवां निद्रा २, अठारहवां प्रचलाप्रचला, उन्नीसवां स्थानगुडि, बीसवां अर्नतानुबंधी

क्रोध, इक्कीसवां अनंतानुबंधी मान, बाईसवां अनन्तानुबन्धी माया, तेईसवां अनन्तानुबंधी लोभ, चौबीसवां स्त्रोवेद, पच्चीसवां तिर्यंच आयु, छब्बीसवां तिर्यंच गति, सत्ताइसवां तिर्यंगत्यानुपूर्वी, अट्ठाईसवां न्यग्रोध संहनन उन्तीसवां स्वाति संहनन, तीसवां वामन संहनन, इकतीसवां कुब्जक संहनन, बत्तीसवां कीलक संहनन, तेतीसवां नाराच संहनन, चौतीसवां अर्द्ध नाराच संहनन, पैंतीसवां बज्र वृषभनाराच संहनन, छत्तीसवां उद्योत, सैंतीसवां अग्रशस्त विहायोगति, अउनीसवां दुर्लभ, उन्तालीसवां दुःस्वर, चालीसवां अनादेय, इकतालीसवां नीष गौत्र इस प्रकार यह इकतालीस प्रकृतियां हैं ॥७१३॥

करंदोरु मनंद मांगु गुण मुडे विशोदि तोंडा ।  
 कनंदोरुं कट्टु गिड्डु विनेत्तिदि सुरंगि कट्टा ॥  
 कनंदोरु पडिय नंदोम् नल्विनें भाग मेट्टा ।  
 कनंदोरु मळविर् कट्टुं तीविनें भागं बोळ्ळुं ॥७१४॥

अर्थ—अनादि काल से उपाजित किये हुए ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की स्थिति को घटाकर अंतः कोडाकोडी सामर प्रमाण कर लेने की योग्यता आ जाना तथा दारु लता अस्थि और शैल रूप अनुभाग वाले चार घातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति को घटाकर केवल दारु और लता के रूप में ले आने की शक्ति हो जाना इसको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं ॥७१४॥

इळ्ळो पयंद दाय विवन् विन् वंद दर्पमत्त ।  
 मौवगे पयत्तं शंया बंद मूळतत्ति नोगं ॥  
 कौवे शै विनक्कु कालन् पोलपु पुव्वाणि तोंडि ।  
 शव्वि इट्टिदि नोडु भागसं सिदैक्कु तिड्डु ॥७१५॥

अर्थ—इस प्रकार के फल देने वाली प्रायोग्यलब्धि के प्राप्त हो जाने के बाद आगे उत्पन्न होने वाली करण लब्धि में प्रायोग्य लब्धि के समान ही इस परिणाम के फल को देते हुए तथा सम्पूर्ण कर्मों के क्षय स्वरूप मोक्ष को अनेक नय निक्षेप प्रमाणां के द्वारा भली भांति जानकर दर्शन मोहनीय कर्मों के उपशम करने योग्य परिणाम का हो जाना कारणलब्धि है ॥७१५॥

विदिइनि केपत्तोडु गुणंद शंगमत्तं शय्या ।  
 पुदिय वाम् विदिइन् भागं तिदीये मुन्पोल कट्टा ॥  
 पदररु पलगं लारं पयंद पुवाणि नीय ।  
 बतिशयं पल्लुं मैय्यु मणि येट्टि विशोदि तोंडा ॥७१६॥

अर्थ—इस क्रम से निक्षेप गुण सहित संक्रमण करके कभी भी न होने वाले नवीन पुण्य बंध का अनुभाग और स्थिति गति का अधिक बंध होकर छह प्रकार के फल को उत्पन्न करने वाले ऐसे अपूर्व करण परिणाम को छोड़कर आत्मा में प्रतिशय गुण उत्पन्न करने वाले अनिवृत्ति करण नाम का परिणाम उत्पन्न होता है ॥७१६॥

पन्व सन्दत्ते चार्न्द नाल्वगं पयत्तं याका ।  
 वंडूला विनेकु केट्टमो कट्ट मोरुंगु शय्या ॥  
 निड्डु गुणत्तच्चेडि निक्केवन् तन्नै याका ।  
 कुंडिय विनगेट्ट कंडु गुणंद सेंगमत्तं शया ॥७१७॥

अर्थ—इस प्रकार परिणाम उत्पन्न होने के पश्चात् पाप और पुण्य इन दोनों कर्मों में पाप कर्म को संत उदीरणा और पुण्य कर्मों को बंध उदीरणा कहते हैं । तदनन्तर उम स्थिति को कम करके गुण श्रेणी में आरोहण करते २ गुण निक्षेप कर उसके परिणाम से पुनः अपने स यकत्व की वृत्ति करता है ॥७१७॥

अनियेट्टि करणं पिन्नै येंवर करणं शैया ।  
 विदियेंद कोडा कोडि मूळत्त मेल् कोळ् मुन्निकु ॥  
 तन्नै विट्टु नडु वनंद मूकत्त माय् निडेदितन् कन् ।  
 विनै इनै कोळ् मेलु मंदर वेळियै शैया ॥७१८॥

अर्थ—तदनन्तर अनिवृत्तिकरण लब्धि के परिणाम एक अन्तर्मुहूर्त के बाद क्रम से वृद्धि करते हुए मिथ्यात्व कर्म की अन्तः कोडाकोडी उत्कृष्ट स्थिति को तथा अन्तर्मुहूर्त की मध्यम तथा जघन्य स्थिति को अन्तर्मुहूर्त में आत्मा में रहने वाले मिथ्यात्व कर्म के तीन भाग करके एक भाग ऊपर, और भाग नीचे करके अन्त में आत्म-ज्योति की वृद्धि करता है ॥७१८॥

वेळिइन् मेल् मिच्चत्तित्त्तन् वेम्मयै तन्मै शैया ।  
 वेळिइन् कोळ् मिच्च मेल्लां विरगुळि येळुंद पोळ्दि ॥  
 लळविला ज्ञानं काक्षि येक्कणत्तेळुंद वट्टाल् ।  
 वेळिइन् मेनिड्डु तुंडन् कंड मूंड्रागि नीळुं ॥७१९॥  
 तिरियिर् पैवरत्त पोळ्दिर् ट्रिरिविद मागि वीळुं ।  
 वरगै पोल् मिच्चं चम्मा चम्मत्त मागि ॥  
 विरगिनाल् वीळुंद मून्डो दनंतानु वेधि नान्गास् ।  
 तिरै इनै यवित्तान् साट्टान् तित्त्तन् कडर् करयै कानुं ॥७२०॥

अर्थ—आत्म-ज्योति प्रगट हो जाने के बाद आत्मा में लगे हुए बाह्य और अभ्यंतर कर्मों की निर्जरा होकर सत्ता में रहने वाले तथा उदय में आने वाले पाप कर्मों का नाश करते समय अन्तर् गुण से युक्त सम्यक्दर्शन का आत्मा में प्रादुर्भाव होने के पश्चात् आत्मा में अनादि काल से बंधे हुए कर्मों की निर्जरा होकर, खंड २ तीन टुकड़े होकर, इस तरह नीचे गिर जाते हैं, जिस प्रकार कि चक्की में अनाज को डालते ही सबसे पहले उसके तीन टुकड़े हो जाते हैं । मिथ्यात्व के तीन भाग होते हैं । मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् इच्छा ।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायरूपी तरंगों का उपशम होकर सम्यक् विशुद्ध परिणाम को प्राप्त हुआ यह जीव संसार रूपी सागर का अन्त करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है ॥७१६॥७२०॥

मिच्चत्त यगडि मेळुं विरगिनान् लुबस भिप्प ।

उच्चत्ति निड्ढ वीर मुपशम सम्मत्तिट्ठि ॥

मिच्चत्ता पगडि वंदमुदल् व्यापांर नींगा ।

वच्चत्तं विनिकट् काकि येद मूळत्तळबु निकुं ॥७२१॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियों का क्रम से उपशम करके रत्न पर्वत पर से मनुष्य के नीचे गिरने में वह जो रहने का समय होता है वह जीव उपशम सम्यक्दृष्टि होता है। उपशम सम्यक्दृष्टि जीव एक मुहूर्त पर्यंत मिथ्यात्व प्रकृति का बंध करने वाली प्रकृति, कर्म प्रकृति को रोकता है ॥७२१॥

उपशम कालत्तुळ्ळो अनंतानुबंधि तोंडिर् ।

कुबद शादं शम्याट्ठि यांगुण तं येदु ॥

मुपशम कालत्तिन् पिन् मूड्ढत्तोड्ढु दय मादल् ।

सवदभा मिच्चं सम्मा मिच्चिल तन्मे तानां ॥७२२॥

अर्थ—उस उपशम काल के अन्तर्मुहूर्त तक अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया और अनन्तानुबन्धी लोभ इन चारों कषायों में से किसी भी एक कषाय का रत्न पर्वत पर से मनुष्य के नीचे गिरने के समय तक के बीच का समय के समान भाग वाले को सासादन गुणस्थान प्राप्त होता है। उस उपशम काल के अनन्तर उक्त प्रकृतियों में मिश्र प्रकृति का उदय हो जावे तो वह मिश्र गुणस्थानी कहा जाता है। सम्यक्प्रकृति का यदि उदय हो जाय तो वह सम्यक्दृष्टि गुणस्थान कहलाता है ॥७२२॥

वेदगं मुदित्त पोळ्दिन् मेयुनर ओडु काक्षि ।

कोयादु भो कुट्ट मेदा तेरिपुदि विनंगडंमे ॥

बोदियुं काक्षि दानुं पूरसां शेंडु निड्ढु :

घाद वेदक मुन्नेळं काक्षि काई कमदामे ॥७२३॥

अर्थ—सम्यक् प्रकृति का यदि उदय हो जावे तो वह अपने आत्म-स्वरूप को जान लेता है। और सम्यक्त्व सहित ज्ञान वाला होकर, सम्पूर्ण दोषों से मुक्त होकर पाप कर्मों का नाश करता है। तब वह सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान पूर्ण हो जाने के बाद वह वेदक सम्यक्त्व पूर्व में कहे हुए सात प्रकृतियों का नाश करने वाला क्षायिक सम्यक्दृष्टि कहलाता है। इस प्रकार क्षायिक गुण को प्राप्त हुए भव्य जीव को क्षायिक सम्यक्दृष्टि कहते हैं ॥७२३॥

अटक मित्ताने यादि नाल्बकुं मूंडु भागु ।  
 मुंडेत्तिडा तुवस मिप्पा नाल्बह कुपस मित्तां ॥  
 केडुत्तव ररुवर् कागिर् केटिन् कनाय वागुं ।  
 तडक्कं मा बेंदे मंडान् द्रुत्त तवत्तु वेंवन् ॥७२४॥

अर्थ—जीव अजीव तथा तत्वों के स्वरूप को जानने वाले निर्ग्रंथ महा तपस्वी हरी-चंद्र नाम के मुनि उस किरणवेग राजा को इस प्रकार आत्मा के साथ लगे हुए सभी कर्मों के भेदों का निवेदन करते हुए कहते हैं कि हे राजन् ! सुनो ।

असंयत, देशसयत, प्रमत्त अप्रमत्त, यह चार गुणस्थान पर्यंत उपशम सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व इन तीनों में से कोई एक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । इन कर्मों के नाश करने में उपशम श्रेणी चहने वाले अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, तथा सूक्ष्म सांपराय ओणकषाय, सयोग केवली, अयोग केवली ऐसे छह गुणस्थानों में एक क्षायिक सम्यक्त्व रहता है ॥७२४॥

काक्षियु मरिषु मिन्न कदिपं बेंबोरियुं वेंडु ।  
 पूक्षि सालोळुक्कं तांगि पुरिदेळु ध्यान वाळाल् ॥  
 वेट्कं वेररुत्तु घाति विनेंगळं वेंडु पोळदि ।  
 लाक्षि मूउलग मागु मरस मट्टरि मो वेंडान् ॥७२५॥

अर्थ—वह सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान पहले कहते आये हुए के समान प्रकाशमान होकर वृद्धि होते हुए पंचेन्द्रिय विषयों को नाश कर सम्यक्चारित्र्य को प्राप्त होकर धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान इन आयुषों से राग, द्वेष मोह रूपी संसार बेल का उच्छेद कर घातियाँ कर्मों का नाश कर इस तीन लोक में भरे हुए चराचर वस्तुओं को एक ही समय में जानने की सामर्थ्य रखने वाले केवलज्ञान को प्राप्त होता है ॥७२५॥

माइवन् मलरं द वायुं मं माणि विळ केरिप्प मेय ।  
 लादिय मं द कार् मगंडु तमनरिवु काक्षि ॥  
 योदिय वगडुर् ट्रोंडु उलप्पि ला पोखळं कंडा ।  
 नेद मडिसा मं केवु विय ट्रु व नेंडु सोल्लान् ॥७२६॥

इस प्रकार हरिचंद्र मुनिराज सत्य अहिंसामयी धर्म का स्वरूप राजा किरणवेग के समझ में आ जाये इस प्रकार राजा को समझा दिया । उस समय राजा किरणवेग ने अपने मन में उन मुनिराज के उपदेश से अन्दर में रहने वाले मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को दूर किया और धर्म में रुचि रखने वाले उन हरिचंद्र मुनि के चरणों में नतमस्तक होकर विनय से प्रार्थना करने लगा कि हे प्रभु ! निर्दोष गुणों से भरे हुए मोक्ष पद प्राप्त कराने वाली मुझे दिगम्बरी बिन दीक्षा प्रदान करें । इसको प्राप्त करने की उत्कंठा मेरे मन में हो गई है ।

॥७२६॥

बिरि तिरं बीनु सोंडल् वेळ्ळं वेनत्तुपरस् वेले ।  
 तिरि भुवनत्ति नेळ्ळं तिमिर् गणार् गति गळासे ॥  
 येरि पुरि वडवै इंबस् वीप माट्टाळि निडिब् ।  
 बुरेयमुं वोनि सित्ति पत्तमं तुडक्कु मेडान् ॥७२७॥

अर्थ—पुनः मुनिराज से प्रार्थना करता है कि मेरी आत्मा अनादि काल से संसार रूपी तरंग में उथल पुथल हो रही है। आज तक इस संसार में चिरस्थान मुझे कहीं भी नहीं मिला। इस संसार रूपी समुद्र में दुख जल प्रवाह के समान है। तीन लोक में भरे हुए दुख तालाब के समान हैं। समुद्र के बीच में रहने वाले द्वीप के समान यह चारों गति हैं। यह दुख राग रूपी समुद्र में बडवानल के समान हैं। सुख रत्नद्वीप के समान रहता है। अब मैं शीघ्र ही हे प्रभु! आपके गौका रूपी चरण कमलों का सहारा लेना चाहता हूँ। श्रीर सद्धर्म रूपी नाथ में बैठकर इस संसार रूपी से पार होना चाहता हूँ। बस यही मेरी अभिलाषा है। ऐसा विचार कर राजा किरणवेग ने जिनदीक्षा लेने का दृढ विचार कर लिया ॥७२७॥

भोगंमुं पेरुळु मेळ्ळां मेघमुम् तिरयुं पोळुं ।  
 सोगमुं तुयरुं याकुं तोडुकुडर् सुट्ट मागुं ॥  
 नागमुं निलमुं पेट्टाल् नालेंदु नाळिल् वेराय् ॥  
 योगि याय विनयं वेत्त्य निरैव वेंडु रै शंदाने ॥७२८॥

अर्थ—इस प्रकार विचार करके मुनि महाराज से वह प्रार्थना करता है कि हे प्रभु भोगोपभोग ऐश्वर्यादि जितने भी पंचेंद्रिय विषयों को उत्पन्न करने वाली भोग सामग्री है वह सब आकाश में बादलों के समूह के तथा समुद्र की तरंगों के समान क्षणिक है। मेरे शरीर संबंधी भाई, बंधु, मित्र, कुटुम्बी, पुत्र इन सब को अभी तक मैंने अपना ही समझा है, यही कल्पना मात्र करता आया है। इनको जितना २ अपना समझा उतने २ दुख के कारण होते गये। इनके द्वारा आज तक मुझे कोई सुख प्रतीत नहीं हुआ। मैंने देवगति, साम्राज्य भी प्राप्त किया परन्तु वहाँ भी सुख नहीं मिला, उसको भी मुझे छोड़ना पडा, उनको भी आत्मा से भिन्न समझा। इस कारण अब संसार समुद्र से तारने के लिये मुझे दिगम्बरी जिन दीक्षा प्रदान करें। इसको ग्रहस्त कर कर्म रूपी शशुओं का नाश करके मोक्ष रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करने की इच्छा मेरे मनमें प्रकट हुई ॥७२८॥

अहं तवं दानं शील मरिव नर् शिरप्पु नागुं ।  
 तिरिविय गुणत्ति नार्कु सेविक्कु वीवि यागु ॥  
 मरुंतव मरिवु शील माट्टु व वांगि दानुं ।  
 पोहंवि नर्शिरप्पोडोंडि पुरवल शेलग वेंडान् ॥७२९॥

अर्थ—किरणवेग की प्रार्थना को सुनकर मुनिराज कहने लगे कि राजन्! तपश्चरण का मूल यह है कि, चार प्रकार दान देना, शीलाचार से रहना, सर्वत्र भगवान की पूजा, चर्चा



करना, धर्म पर रुचि पूर्वक दृढ श्रद्धा रखना आदि यह सब भव्य सम्यक्दृष्टि के लिये प्रथम मोक्ष जाने का मार्ग है। इस प्रकार के तपश्चरणा के भाव को प्राप्त करके संसार में रहकर ही धर्म मार्ग पर चलना यही अर्च्छा है। यही आगे चलकर भीक्ष मार्ग का साधन होगा। एक दम से तप भार को सम्हालना बड़ा कठिन होगा। तप तीक्ष्ण तलवार की धार के समान है। प्रत्येक प्राणी को यह तपश्चरणा भार मिलना महान दुर्लभ है। आप संसार में रहकर ही, सत्पात्रों को दान देवें, पूजा, अर्चा, शास्त्र, स्वाध्याय करो। धर्म पर श्रद्धा रखो तो सहज ही मोक्ष प्राप्त करने की सामग्री प्राप्त होगी। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में ही रहकर षट्क्रिया पूर्वक धर्म ध्यान करके समय को बिताना चाहिये ॥७२६॥

अरुळिय मूंडु मेन् कन् विने पर् वेरिदु वीटे ।  
तरुयेनिलरिय वंदत्तवत्ति नार् पयनु मिल्ले ॥  
अरिय वत्तवत्ति नड्ढि पिरप्पिने कडवकोनादे ।  
लरुविय देन् कोलेन् वरुंदव नमेग वेड्डान् ॥७३०॥

अर्थ—हरिचंद्र मुनि का उपदेश सुनकर पुनः किरणवेग प्रार्थना करने लगा कि शील दान, पूजा आदि ही कर्मों के नाश करने के कारण नहीं हैं। ये तो पुण्य बंध के कारण हैं। यदि पुण्य को मोक्ष का देने वाला समझा जावे तो तपश्चरणा ही क्यों किया जावे। इतने महान तीर्थकरों ने क्यों तपश्चरणा किया? आप ही तो यह कहते हैं कि बिना संसार छोड़े कल्याण नहीं होता है। फिर मुझे ही आप ऐसा उपदेश देते हो कि गृहस्थाश्रम में ही रहकर षट्क्रिया, दान, पूजा आदि करो, ऐसा आपने क्यों कहा? तब मुनिराज ने कहा कि यदि तुम्हारे मन में तपश्चरणा करके कर्मों की निर्जरा करने की भावना उत्पन्न हुई हो और जिन दीक्षा लेने की शक्ति हो तो दिगम्बरी दीक्षा लो वरना दीक्षा लेकर फिर उसमें बाधाएं पड़ जावे, यह ठीक नहीं। और इसी कारण हमने घर पर ही रहकर धर्म ध्यान करने का उपदेश दिया था। ऐसा हरिचंद्र मुनि ने किरणवेग को समझाया ॥७३०॥

सैकयर करुंगेट् शौवाय् शीरडि परव्व यलगुर् ।  
कोंगैगळ् वींगत्तेइं दु नुडंगिडै कोळिय नार्गळ् ॥  
वैंगळियाने वेदन् थिवदियान् तिरुवे मेव ।  
वंग व नुमिळ पट्ट तंबलं पोल वानार् ॥७३१॥

अर्थ—हरिचंद्र मुनि राज के कहने के बाद राजा किरणवेग वैराग्य से युक्त होकर संसार शरीर भोग से विरक्तता धारण कर, जिस प्रकार एक मनुष्य पान खाकर खाकर तुरन्त ही थूक देता है उसी प्रकार किरणवेग ने अपनी पटरानी, राज्य वैभव आदि सर्व सम्पत्ति भोग सामग्री का एकदम त्याग कर कर दिया ॥७३१॥

परु मारिण मुडियि तौंडु पट्टमुं कुळियि पूनुं ।  
तरु मरिय यारं ताम मंगवं शेन्न वीरम् ॥

अरुविले पट्टं विट्ट वरस नाल् मुनिय पट्ट ।  
परिसनं पोल चायं इळ्ळु पोय् वीळ्ळु वंडे ॥७३२॥

अर्थ—तदनन्तर उन मुनिराज ने “तथास्तु” कहकर आस्त्रोक्त विधि के अनुसार किरणवेग को जिन दीक्षा की अनुमति दे दी । उसने अपने मस्तक पर रहने वाले मुकुट, छत्र, चांद तथा अन्य २ वस्त्राभूषण आदि को जिस प्रकार एक राजा क्रोधित होकर अपने शत्रु राजा को अपनी हृद से बाहर निकाल देता है, उसी प्रकार सारे अलंकारों को उतार कर फेंक दिये और कानों में कुण्डल रत्नों, के हार उतार कर अलहदा रख दिये ॥७३२॥

कुंदळमागि नोलं कुळ्ळुळुंद नैय कुंजि ।  
भंदिर पदंगळ् सोळ्ळि घन् कयाल् बांगु मेळ्ळं ॥  
येंडर करणं शिदं कौवळि यळ्ळैय दाग ।  
विदिय सिरगु वीळ्ळवं परवें पोलेळ्ळुंद वेगं ॥७३३॥

अर्थ—तत्पश्चात् हरिचन्द्र मुनिराज ने राजा किरणवेग को पूर्वमुखी बिठा कर शास्त्रानुसार विधि व मंत्र पूर्वक आचार्य भक्ति, सिद्ध भक्ति आदि को पढकर ‘ॐ नमः सिद्धेभ्यः’ ऐसा बोलकर सिद्ध भगवान को नमस्कार किया और अपने हाथों से पंचमुष्टि केश-लुंचन किया । केश-लुंचन करते समय जिस प्रकार पक्षी के पंख उखाड कर फेंकते समय वह पक्षी भाग नहीं सकता उसी प्रकार पंचेन्द्रिय विषयों के सुख को त्याग कर वे केश-लुंचन करके मन में स्थिर हो गये ॥७३३॥

वंडिने कोवित्ताट्टि वरुमात्तिन् वळ्ळिय नागि ।  
विडं गारवंयळ् वेय्य परिशयै वेंडु वीरन् ॥  
मुंड मोरेदा वौडि मुनिमं इर् ट्टनिय नागि ।  
वंडुळि मुगिलिर सेल्लुं चारणत्तन्मं पेट्टान् ॥७३४॥

अर्थ—वे किरणवेग मुनि मन, वचन और काय ऐसे तीन दंड को त्याग कर आत्म-भावना में लीन हो गये और पुनः उत्तम क्षमादि दस धर्मों का पालन करते हुए, रसगारव, क्रुद्धिगारव, और सात गारव ऐसे तीनों गारवों को त्यागकर क्षुत्पिपासादि परीषह को जीतकर दस प्रकार के मुंडनों से युक्त होकर आकाश में जैसे मेष समूह जाते हैं, उसी प्रकार उन्होंने आकाश में गमन करने वाली चारण ऋद्धि प्राप्त कर ली ॥७३४॥

तिरिविद योगु तांगि तिरिव दोर् शिगरि पोल ।  
मरुयिय कोळ्ळुं नौगा मादवर् मरुळ् चल्वान् ॥  
फरि यर शदनं पोल कांचन कुगयं सेंदाड् ।  
फरिइळ्ळु बेरु पोल वरुंदव निरुंव नाळ्ळाल् ॥७३५॥

अर्थ—उन किरणवैद्य मुनि ने चारणश्रद्धि प्राप्त करके ऐसा त्रिकाल योग धारण किया कि वहाँ अन्य सभी मुनिगण उनके तपश्चरणा के महत्व को देखकर सज्जित हो गये । उन मुनिराज के चारणश्रद्धि तथा तपश्चरणा के बल से उनको आकाश मार्ग में जाते देखकर मुनिगण विचार करते हैं कि हमको इतना समय मुनि दीक्षा लिये हुए हो गया आज तक हमें ऐसी श्रद्धि प्राप्त नहीं हुई । इन नवीन दीक्षित मुनि को इतनी जल्दी ऐसी महान् श्रद्धि कैसे प्राप्त हो गई । तदनन्तर वे किरणवैद्य मुनि इधर उधर विहार करते हुए कांतन नाम के पर्वत पर सिंह के समान वृत्ति धारण किये हुए वहाँ तप करने लगे ॥७३५॥

येरि मूळ्गि यने कुळ्गे यशोधरे इलंगु वान्मेर् ।  
द्विरिगिङ्ग वनेय कुळ्गे शिरिवरे योडुम् शंबोन् ॥  
बिरिगिङ्ग कुगइन् पाडं मत्तवन् द्रन्ने वाळ्ति ।  
हरिगिङ्ग विनय रागि इरेवन् पालिखं काले ॥७३६॥

अर्थ—वे मुनिराज निरतिचार पूर्वक व्रतों का पालन करते हुए उस पर्वत की गुफा में उपवास किये हुए विराज रहे थे । एक दिन यशोधरा तथा श्रीधरा नाम की दोनों आर्यिकाएं असिधारा के समान चारित्र्य को पालन करती हुई उस कांतनगिरि पर्वत पर आई और उनसे भक्तिपूर्वक मुनिराज को नमस्कार किया ॥७३६॥

विदिइनार् गतिग नान् मेविनिङ्गार् कंड मुन् ।  
मदियिनार् पेरिय नीरार् मक्कळ्ळाय् वंदु तौडि ॥  
बिदियिनार् द्रानं पूजे मत्तवं शैयदु वीटे ।  
गतिगळं कडंडु शेल्वार् कारिगै यार्गळ् शेल्वार् ॥७३७॥

अर्थ—तदनन्तर मुनिराज की भक्ति स्तुति करके पुनः नमस्कार करके वे आर्यिकाएं बैठ गईं । मुनिराज ने उन दोनों को “सद्धर्मवृद्धि” ऐसा शुभाशीर्वाद दिया । उन यशोधरा श्रीधरा आर्यिकाओं ने विनयपूर्वक प्रार्थना की कि हे प्रभु ! यह जीव संसार में अनादि काल से परिभ्रमण करता आया है, इसके उद्धार होने का कौनसा उपाय है ? वह हमें कृपा करके बतलाइये । मुनिराज ने कहा कि जीव के उद्धार होने का एक जैन धर्म ही कारण है । चारों गतियों में भ्रमण करते हुए इस जीव को अपने २ परिणामों के अनुसार उच्च नीच गतियों में जाना पड़ता है । जब तक यह जीव भगवान के द्वारा कहे हुए मोक्ष मार्ग को बतलाने वाले वचन व तत्वों की भली भांति से जानकर उस पर सम्यक्त्व सहित श्रद्धा नहीं करता है तब तक यह जीव संसार में परिभ्रमण करता ही रहेगा । जिस समय इस जीव को जिनेन्द्र भगवान की वाणी में श्रद्धा हो जाती है, उस समय प्राणी स्वपर भेद-विज्ञान को प्राप्त कर लेता है । तब यह थोड़े समय में ही तपश्चरणा के द्वारा कर्मों का नाश करके संसार से मुक्त हो जाता है ।

भावार्थ—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह विवेचन किया है कि जीव का कल्याण जैन धर्म ही कर सकता है । जैन धर्म पालन करने वाले को भगवान के द्वारा कहे हुए तत्वों पर

रुचि रखना चाहिये । वह प्राणी भव्य होना चाहिये । आर्य कुल में जन्म, भगवान् जिनेन्द्र के प्रति निदानबंध रहित भक्ति, देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय आदि क्रिया के द्वारा जो पुण्य बंध होता है वह भागे चलकर कर्म निर्जरा तथा शरीर भोग आदि से विरक्तता उत्पन्न कराता है । इसीसे तपश्चरण के द्वारा कर्मों का नाश करके संसार से मुक्ति को पाता है ।

प्रश्न—दीक्षा के योग्य कौन व्यक्ति होता है ।

उत्तर— देश-जाति-कुलोत्पन्नः क्षमा-संतोष-शीलवान् ।  
मोक्षाभिलाषिको धर्मं गुरु-भक्तो जितेन्द्रियः ॥  
शांतो दांतो दयायुक्तो मदमाया-विवर्जितः ।  
शास्त्ररागी कषायघ्नो दीक्षायोग्यः भवेन्नरः ॥

उत्तम देश उत्तम जाति, उत्तम कुल में जन्म, क्षमा शील व संतोषी, शीलवान्, मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला, दयावान्, गुरु भक्ति में परायण, जितेन्द्रिय, शांत स्वभावी, दानी, संपूर्ण प्राणियों पर दया रखने वाला, आठ मद से रहित, शास्त्रज्ञ, कषाय रहित ऐसा जीव जिन दीक्षा के योग्य है ।

इस संबंध में आचार्य कुंदकुंद ने प्रवचनसार में तीसरे अध्याय में श्लोक १५ में कहा है कि:—

“वण्णोसु तीसु एक्को कल्लासंगोतवासहो वयसा ।  
समुहो कुंछारहिदो लिंगगहणो ह्वदि जोग्गो ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों वाले व्यक्ति में कोई भी हो, आरोग्यवान्, शीलवान्, तपवान्, उत्तम कुलवान्, बालक व अतिवृद्ध भी न हो, निर्विकार, अभ्यंतर-बाह्य, परम चैतन्य परिणति से विशुद्ध, ज्ञानवान्, व्यभिचार दुराचार से रहित, योग्य, जित्त लिंग धारण करने योग्य ऐसा जीव दीक्षा लेने योग्य होता है । स्त्रियों के लिये मोक्ष प्राप्ति नहीं होती है । इसका कारण यह है कि उनमें परिपूर्ण बाह्य अंतरंग परिग्रह के त्याग करने की शक्ति नहीं होती । क्योंकि स्त्री पर्याय विकार सहित है । पूर्णतया महाव्रत नहीं पाल सकती हैं । इस संबंध में अधिक विवेचन प्रवचनसार ग्रंथ से समझ लेना चाहिये ॥७३७॥

इं विरन् द्वेविमाकुं मिरंमं शं मुरे मं इल्लं ।  
पेदोडि मगळि रावार् पावत्ता पेरिय नीरार् ॥  
मंदेरे पेरांमं पेदा लिळंविडल् माद्रु पेत्ति ।  
संबरत्तनय तुंबत्तांगति नींगु वारगळ् ॥७३८॥

अर्थ—देव लोक में सीधर्म इन्द्रके समान इन्द्रानी शचीदेवी को दूसरे को आज्ञा देने की सामर्थ्य नहीं है । उसने पूर्वजन्म में पापीदय से स्त्री पर्याय को धारण किया है । और

मायाचार के कारण स्त्रीरूप में जन्म लिया है। और उनको यदि संतान न हो तो दुख होता है। और यदि संतान होकर पुत्र का भरण हो जाय तो महान दुख होता है। यदि अपना पति दूसरी स्त्री के साथ प्रेम करता है तो उस स्त्री को दुख होता है। स्त्री स्वतंत्र नहीं है; क्योंकि:—

“पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने ।  
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये, न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ॥

इस प्रकार इस श्लोक के अनुसार स्त्री स्वतंत्र कभी नहीं रह सकती, वह अपने दुख से तथा चंचल बुद्धि होने के कारण मोक्ष प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं होती ॥७३८॥

विरद शीलत्त रागि दानमत्तवरकुं शंदु ।  
अरुगने शरण मूलगि यादवर् शिरप्पु शंदु ॥  
करुदि नर् कनवर पेनुं कर्पुडे मगळिरिद ।  
उरुवत्ति नीगि कर्प तुत्तम देवरावार् ॥७३९॥

अर्थ—पुनः वह मुनिराज आर्यिकाओं से कहने लगे कि पंचाणुव्रत, शीलाचार निर्ग्रन्थ-व्रत को धारण करके तपश्चरण करने वाले निर्ग्रन्थ व सत्पात्रों को चार प्रकार के दान का देना और अर्हत वीतराग जिनेन्द्र देव की भक्ति पूजा करना, ऐसे गुणों की प्राप्त हुए पति-व्रता स्त्रियों के द्वारा किये जाने वाले पुण्य के फल से अगले जन्म में देवमति के सुख का अनुभव करके वहाँ से चयकर उच्च कुल में जन्मी हुई स्त्रियों में वह सभी गुण रहते हैं। ऐसी कुल-वान स्त्रियाँ इस जगत् में बहुत दुर्लभ हैं।

“कार्येषु दासी कर्णेषु मंत्री, रूपेसु लक्ष्मी क्षमया धरित्री ।  
स्नेहे च माता, शयनेसु रंभा, षट्कर्मयुक्ता कुलधर्मपत्नी ॥

इस प्रकार जिन स्त्रियों में ये गुण हों वे ही सच्ची स्त्रियाँ हैं। और अपनी स्त्री पर्याय को धारण करके पंचाणुव्रत का पालन करके मनुष्य पर्याय में आकर जिन दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करने की भागी होती हैं ॥७३९॥

भादवं तांगि वैद्यत्तरयराय् वंदु तोंडि ।  
येव मुडिंडि वीडु मैयदु वर तैयलाग ॥  
नीगि नोदिया नोट्टु वंदीर् नीविरि पिरवि नीमि ।  
धाति कनरिदु वीडुं कालत्ता लडेदि रेडान् ॥७४०॥

अर्थ—ऐसी उत्तम स्त्रियाँ संयम धारण करके देवमति का सुख प्राप्त कर चक्रवर्ती पद का अनुभव करके जिन दीक्षा धारण कर मोक्ष सुख को प्राप्त करती हैं। इस कारण तुम दोनों शीलव्रतानुष्ठान आदि क्रिया को निरतिचार पालन करो। इससे अगले जन्म में मनुष्य

पर्याय को प्राप्त करलोगे और इस व्रत के पालन करने से मोक्ष पद की प्राप्ति होगी ।

॥७४०॥

तूंबन्न तडक्कं मावे तुयर् शंदु नरगं पुक्कं ।  
कांवल कडल्गळेला मवल मुट्टरिदिल् पोंदु ॥  
मेंबडलिलाव वेला विलगि नुं सुळंडु मींडुम् ।  
पांबदाय् पदलं वगिर् पाविदान् परिणमित्तान् ॥७४१॥

अर्थ—वह आदित्य देव आदित्य से कहने लगा कि भ्रशवनी कोड नाम के हाथी को सर्प ने काटा और वह सर्प मर कर तीसरे नरक में जाकर वहाँ सात हजार वर्ष तक अपने द्वारा पाप उपाजन किया हुआ असह्य दुख का अनुभव कर त्रसस्थावर आदि अनेक पर्यायों को धारण कर वहाँ से चयकर उस सर्प के जीव ने उस स्थान पर जन्म लिया था जिस जगह वे किरणवेग मुनिराज ध्यान में मग्न थे ॥७४१॥

हरुवरु मियेव केट वरत्तिन रागि पोग ।  
पेरियवन् कुगैयै सेर पिरयेद्द रिलगं वंगाम् ॥  
तेरियळ् विळित्तु काना विरै वनै पिडित्त पोळ्दि ।  
लरुग वैडु रेप्प मीळा वच्चिय रदनै कंडार् ॥७४२॥

अर्थ—उस समय उन मुनिराज ने उन दोनों यशोवरा व श्रीधरा आर्यिकाओं को उपदेश दिया और उपदेश सुनकर वहाँ से आर्यिकाओं ने अन्यत्र प्रयाण किया । उनके जाते ही उन मुनिराज ने अपने स्थान को छोड़कर पर्वत की गुफा में प्रवेश किया । गुफा में प्रवेश करते ही वह सर्प (भ्रजगर) जो अन्दर बैठा था, उसने इन मुनिराज को देखते ही मुह में लेकर निगलना शुरू कर दिया । उस वक्त उन मुनिराज ने “अर्हत” इस प्रकार जोर से उच्चारण किया । यह अर्हत शब्द उन दोनों जाती हुई आर्यिकाओं के कान में पड़े । वे तुरन्त ही वापस आईं और उन्होंने उस गुफा में प्रवेश किया । उन आर्यिकाओं ने देखा कि वह भ्रजगर मुनिराज को निगल रहा है ॥७४२॥

वेगुंडु वैतुइत्तुं शीरि विळित्तन् लुमिळुंदु वैव ।  
लगंडं मुं शिलिपं वंगां वरवुंक्कं सादु नादन् ॥  
नुगन् तिरंड नैय तोळे पट्टि यांगुट्ट पोळ्दिन् ।  
मुगळ् कंडार् मुनिव नोडु मूवरुं विळुंग पट्टार् ॥७४३॥

अर्थ—उन आर्यिकाओं ने ऐसा देखकर उन मुनिराज की दोनों भुजाओं को पकड़कर वे उन्हें बाहर खींचने लगी । उस समय वह बलवान भ्रजगर उन दोनों आर्यिकाओं को भी पकड़कर निगलने लगा ॥७४३॥

अरुक्कनै शनि शौब्बायोडरव तान् विळुंगिट्टे पो ।  
लरुक्क वेगन् ट्टोडे यारि यांगनै कडंमै ॥

नेरिगिय वरवं कोळ्ळ निङ्गु म्मै म्मै तम्मे ।  
 लोरुक्किय मनत्तगागि युडंबु विट्टोरुगुं सेंडार् ॥७४४॥  
 पाविट्टुन् मेलोर् कौब पनित्तिला मनत्ति नार् पोय् ।  
 काविट्टु कर्प्पत्तिरेळ् कडल पेट्टुन् कुरिशं कंमा ॥  
 पेर् पेट्टु विमानत्तिन् कच् मुनि यर्गं प्रभनानान् ।  
 ट्टो पत्तै पुरैयु मावर् देवक्कुं तिलव मानार् ॥७४५॥

अर्थ—जिस प्रकार सर्प को अंगार, केतु और शनि को राहु अक्षित करता है उसी प्रकार मुनि व दोनों आयिकाओं को वह अजगर निगल गया । उस समय वे तीनों समता धारण कर शांतिपूर्वक परीषह सहन करके देवगति को प्राप्त हुए । पापी अजगर ने तीनों को निगलते हुए किसी प्रकार का हलन चलन नहीं किया । और कई दिन पश्चात् वह दुष्ट पापी अजगर मरकर चौथे नरक में गया । वे मुनि कापिष्ठ नाम के कल्प में शांति पूर्वक शरीर को छोड़कर सोलह हजार वर्ष की आयु धारण करने वाले रुक्मिण नाम के विमान में रवि प्रभा नाम का महद्दिक देव हुआ और वे दोनों आयिकाएं अत्यन्त गुण को प्राप्त करने वाले सामान्य देव हुए ॥७४४॥७४५॥

मरुविला गुणत्तिनार् पोय् वानवराग मायाक् ।  
 करुविनार् पांवल्ल पोमि नरग नांगाव वैदि ॥  
 यरुव दो विरडंरै याम् पुगे युयर् देळ्ळु वीळु ।  
 मरुववो विरंड वैविल्लु यरं दो रुडंबु पेट्टान् ॥७४६॥

अर्थ—इस प्रकार दोष रहित गुण को प्राप्त कर वह तीनों जीव देवलोक में उत्पन्न हुए और अतिद्वेषी वह पापी अजगर का जीव मरकर चौथे नरक में गया । वह पापी सर्प साढे बासठ धनुष शरीर की ऊंचाई को प्राप्त हुआ और पापोदय से साढे बारह हजार योजन ऊंचा उछल कर फिर नीचे गिर गया । इससे वह अत्यन्त दुःखित हुआ उसका सारा शरीर खिन्न भिन्न हो गया ॥७४६॥

अरत्तिनुं काक मिल्लै येन्वु मिदने यार्दु ।  
 अरत्तिनुंगिल्लै केडु मेवु मदित्तिवर् तम् ॥  
 पिरत्तिने येरिदु कोन्मिन् ट्टो गति पिरवि येजिल ।  
 अरत्तै नीतरत्तोडोडि वाळु नीर वैय्यत्तिरे ॥७४७॥

अर्थ—हे उत्तम कुल में उत्पन्न हुए मानव प्राणियों ! इस आत्मा को सुख शांति देने वाला अहिंसा धर्म के अतिरिक्त और कोई धर्म संसार में नहीं है । इस प्रकार भली भाँति मनमें विचारते हुए उत्तम चारित्र्य धारण करके धर्मध्यान पूर्वक मरकर वह मुनि देवगति को प्राप्त हुआ । और वह सर्प पाप के कारण मरकर नरकों में गया । इसलिये हे भव्यजीव ! यदि

अच्छी गति पाना है तथा दुख से छुटकारा पाना है तो अच्छा कार्य करके सदैव धर्मध्यान में लीन रहो। ऐसा हरिचन्द्र मुनि ने कहा ॥७४७॥

मन्तुं देवियु मिल्दंय्य भेदनु ।

मिन्नव रायिना रिस्सिय केवच ॥

शेन्निई लिहंदव शीय चंदिरन् ।

दन्वर उरंपत केळ् धरणा वेंडुनन् ॥७४८॥

अर्थ— राजा सिंहसेन और उनकी पटरानी रामदत्ता देवी तथा उनका छोटा राजकुमार पूरणचन्द्र इन तीनों जीवों ने कापिष्ठ नाम के कल्प में जन्म लिया। आगे ऊपर ग्रंथेयक में अहमिद्र होकर जन्म लिया हुआ राजा सिंहसेन का ज्येष्ठ पुत्र सिंहचन्द्र उस अहमिद्र लोक में आयु को पूर्णकर कर्म भूमि में आया। इस विषय का हम प्रतिपादन करेंगे। हे धरणेंद्र ! उसको लक्ष्य पूर्वक सुनो—ऐसा आदित्य देव ने धरणेंद्र से कहा ॥७४८॥

राजा सिंहसेन, रामदत्ता देवी व पूरणचन्द्र इन तीनों जीवों का स्वर्ग प्राप्त कराने वाला छटा अध्याय पूर्ण हुआ।





## ॥ सप्तम अधिकार ॥

### ✽ चक्रायुष को मोक्ष प्राप्ति ✽

उत्तम मेनुं तिरुविनिडे युंवि यन जंबूइत् ।  
 तत्तनिलव् भरत मलि धर्म खंड मदनर् ॥  
 पुलवर् कृगळ् वरिय पुरि चक्कर पुरमेन् ।  
 दल्लगुडेय विरैव नुरे नगर मेन उळ्ळे ॥७४६॥

अर्थ—जिस प्रकार मनुष्य शरीर के मध्य में नाभि होती है उसी प्रकार जम्बू के मध्य में सुमेरु पर्वत है । उस पर्वत के दक्षिण भाग में जम्बू द्वीप से संबंधित भरत क्षेत्र है । उस भरत क्षेत्र के आर्य खंड में विद्वानों द्वारा वर्णन करने योग्य ऐसा भगवान के समवसरण के समान अत्यंत सुशोभि . चक्रपुर नाम का सुन्दर नगर है ॥७४६॥

किडगु मवि डेरुव् किडे माळिगे ईनोळुंगु ।  
 नडुवरसन् माळिगे ईनमरं दिरुंद नगरम् ॥  
 नुडंगुदिरं देविगे योडारु कलमलंग ।  
 नडु वडेव मले पुडेव दीपमडु वनेत्ते ॥७५०॥

अर्थ—उस पट्टन के चारों ओर घेरे हुए एक महान गहरी खाई है । चारों ओर सुंदर रास्ते हैं । उसके अंतर्गत छोटी २ गलियां हैं । बड़े २ ऊंचे सतखणो महल मकानात हैं । उन सबके बीच में राजा का राजमहल है । यदि सभी को विचार करके देखा जाय तो जिस प्रकार जम्बूद्वीप शोभायमान है उसी की उपमा के अनुसार यह पट्टन है । इस नगर के चारों ओर विस्तार पूर्वक गहरी खाई हैं तथा छोटी २ नदियोंके समान गलियां हैं । बड़े सामन्तों के मकानात बने हुए हैं । राजा के राज महल मानों मेरु पर्वत ही है ऐसे प्रतीत होते हैं । इसलिये इस नगर को अंधकार ने जम्बूद्वीप की उपमा दी है । ७५०॥

तोर्ग यनेयार् कनडमाडु मिड मोरु पाल् ।  
 पाग पवि नुदलि वर्गळ् पाडु मिड पोरु पाल् ॥  
 मेग मेन वेग मुडे नाग निले योरुपाल् ।  
 पूग मोदलाय मलि पुरंवनैय वोरुपाल् ॥७५१॥

अर्थ—उस नगर में किनारे पर नरमयूर के समान सुन्दर शरीर वाली स्त्रियों के मृत्यु करने की नृत्यशाला बनी हुई है । और अष्टमी व पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान प्रकाशमान मुखवाली स्त्रियां वहां नृत्य करती हैं । आकाश में जैसे काले मेघों का समूह रहता है ।

उसी प्रकार वहाँ मदनमस्त हाथियों के बांधने की गज शालाएँ थी । उस नगर के बाहर उद्यान में सुपारी, कदली, आम, नारंगी आदि २ के वृक्ष सुशोभित थे ॥७५१॥

वाणिने येळुंदु वरं वासिनिलं योरुपा ।  
लूपुरंयुं वेर् पडे यडेक्कु मिड मोरुपार् ॥  
ट्रेनुलवु कंदलवर् तिळक्कुं तेरु योरुपा ।  
लानं नितै वरंघणिग रवरिडंग लोरुपाल् ॥७५२॥

अर्थ—अत्यन्त जातिवन्त सुन्दर वेग से चलने वाले शोडे के ठान थे । शत्रुशाली वैरियों की नाश करने वाले शस्त्र शालाएँ मानों बैरी को जिस प्रकार घाँस फाड़ २ कर देखा जाता है उसी प्रकार शस्त्र शालाएँ बनी हुई थीं । स्त्रियाँ अपने सिर में बालों को गूँथ कर जिस प्रकार मस्तक नीचा करके जाती हैं, उसी प्रकार सुन्दर २ गलियाँ थीं । वहाँ के व्यापारी लोगों की पृथक २ मंडियाँ थीं ॥७५२॥

कंदं मलर् कंदम् विळं कैलव रोरुपा ।  
लंदनिला वरिव नुरे याले यंग लोरुपाल् ॥  
बंदुलग मिरैजं मन्न निरुक्कु निडमोरुपा ।  
लंदं मिला विण्णविड मिथाकुं मुरे परिदे ॥७५३॥

अर्थ—अत्यन्त सुगन्धित चूर्ण मसाले आदि बनाने वाले लोगों की दुकानें अलग २ स्थानों पर थीं । भगवान् अर्हत देव के चैत्यालय वहाँ एक ओर बने हुए थे । मानवों के द्वारा पूजनीय राजमार्ग, राजमहलात एक ओर थे । इस प्रकार नगरी की शोभा का वर्णन करना मेरी अल्प बुद्धि में अशक्य है । इस प्रकार वह चक्रपुर नगर शोभनीय था ॥७५३॥

इमग रिद्वर् किरंब नेत्तरिय कीर्ति ।  
मण्णान रपरजितन् वयप्पुलि योडप्पा ॥  
नन्न मनैयार् मदन नांड कंप्पुयत्तै ।  
तुन्निय वसुंदरि तुळंबिय नलत्ताळ् ॥७५४॥

अर्थ—उस नगर की कीर्ति चारों ओर फैली थी । उस चक्रपुर नगर का अपराजित नाम का राजा था । उसकी सर्व गुण सम्पन्न, सुन्दर, शुभ लक्षण वाली, हंसगामिनी वसुन्धरा नाम की पटरानी थी ॥७५४॥

मळले किलि तेनमिदं वान् कंबु नल्लि याळ् ।  
कुळलोत्तेळु मुळि मदनन् कोडि मैलं शाय ॥  
सुळर् कोलि नोकत्तुव बोक्कोडि ईनोडु ।  
मळसुत्तिडं वेळ नङ्गा नमरं कुळगुं वळिनाळ् ॥७५५॥

अर्थ—तीते के शब्द, वीणानाद के समान मधुर शब्द बोलने वाली हरिया की आंख के समान नेत्र वाली, पुष्पलता के समान शरीर युक्त वह वसुन्धरा मन्मथ को मर्दन करने वाली थी। ऐसी सुलक्षणा पटरानी के साथ वह राजा विषय भोग तथा सुखोपभोग में आनंद के साथ समय व्यतीत करता था ॥७५५॥

वेशुडय शीय चंदन् केवच्चत्तिन् वळु वि ।  
 वास मुलबुं कुळलि भंगे तन् वेट्टु ट् ॥  
 त्सु पोदि पावयन तौडि यवन् मन्नोक् ।  
 काशं केड बंदबोरु मामणिय दानान् ॥७५६॥

अर्थ—अत्यंत प्रकाशमान से युक्त पूर्व जन्म में तप के बल से उपाज्जन किया हुआ अर्हमिद्र प्राप्त किया प्रीतंकर नाम का देव जो पूर्व जन्म का सिंहसेन राजा का जीव था वह अर्हमिद्र नाम देव की आयु पूर्ण करके वसुन्धरा रानी के गर्भ में आया और तबमास पूर्ण होने के बाद पुत्ररत्न का जन्म हुआ। पुत्र के जन्मोत्सव के उपलक्ष में उस राजा ने प्रजाजन तथा याचकों का इच्छा पूर्वक दान देकर उनको तृप्त किया ॥७५६॥

शेवकर मलिवाणि निडंतिगळन बंदान् ।  
 कक्कुलं विळंग वणश ट्रोंडिय कनत्ते ॥  
 विक्किरमशालि विने येट्टुं वेरुमेंडे ।  
 तक्क पयर्ह चक्करायुध नैन्निट्टार ॥७५७॥

अर्थ—वह पुत्र शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चंद्रमा के समान वृद्धि करता हुआ पूर्णिमा चंद्रमा के समान अपने कुल को प्रकाशित करने वाला हो गया। जन्म होते ही बालक के सम्पूर्ण शुभ लक्षणों को देखकर राजा ने मन में विचार किया कि इस पुत्र के शुभ लक्षण ऐसे हैं जैसे शुभ कार्य करके यह मोक्ष में जावेगा। उसका नामकरण संस्कार करके शुभ मुहूर्त में उसका नाम चक्रायुध रखा गया ॥७५७॥

मंगयर् तड् कोंगक्कु वट्टिल्लु निरंमदिपोर् ।  
 पंगुदवि शिनिडे सिगं पोगगत्ति नडिनर् ॥  
 शंकमल निल मडंदै शेन्नि मिशं यनिदु ।  
 पोंगुमी मिलुडेंय विडे पोल नडंदाने ॥७५८॥

अर्थ—वह चक्रायुध बालक अपनी माता के स्तनपान से वृद्धिगत होता हुआ क्रम से शनः २ बढ़ने लगा। वह बालक सिंह के बच्चे के समान घुटनों के बल चलने लगा और गिरते पड़ते उठने लगा और शनः २ चलने लगा ॥७५८॥

अंजु वरुडं कडंदु नामगळोळाडि ।  
 वेन्जिले मुवर् पडे पईं ड् पिने वेंबुस् ॥

शंजरम् वरिद शिलं येंडित्तिरन् मारन् ।

मंब नोडु पोर् तोडॉगि वळि तोड लुट्टान् ॥७५६॥

अर्थ—जब वह बालक पांच वर्ष का हो गया तब राजा ने एक उपाध्याय पंडित के पास कला शास्त्र आदि २ सीखने के लिये उनके आधीन कर दिया । बाद में वह राजकुमार थोड़े दिनों में तर्क व्याकरण, शास्त्र-शास्त्र आदि अनेक कलाओं में उत्तीर्ण होकर युवावस्था को प्राप्त हुआ ॥७५६॥

अंगवने मझनपराजित नरिदु ।

कोंगरंबु पोत्तु मुत्तं कुर्वेयन् सेव्वाय ॥

तेंगुळलि चित्तिर नन् मालं येनुं शोंबोन् ।

चांगनय तोळि तुनें यागमलि बित्तान् ॥७६०॥

अर्थ—यौवनावस्था को प्राप्त हुए चक्रायुष कुमार को देखकर राजा अपराजित ने उस कुमार के लिये अत्यन्त सुन्दर सबंगुण सम्पन्न शीलवान एक राजा की कन्या चित्रमाला के साथ विवाह कर दिया ॥७६०॥

कापिष्ठ स्वर्ग से किरणवेग का भरत क्षेत्र में आकर जन्म लेना ।

मिस्त्रि नोडु मेघं विल्डं याडुवडु पोल् ।

वन्न नडें थोड्ढ नभरं, दोळुगुं वळित्तान् ॥

मन्नरुक्क वेगन् मलि काबिट्टित्तिन् बळु वि ।

येन्नवर् कडंपुवल्ब नागिय वदरित्तान् ॥७६१॥

अर्थ—चक्रायुष राजा अपनी पटरानी चित्रमाला के साथ विविध भांति के इन्द्रिय जनित सुखोपभोग करते हुए आनन्द से समय व्यतीत कर रहा था । देवयोग से निमित्त पाकर पूर्वभव का राजा किरणवेग का जीव जो संसार से विरक्त होकर दुर्द्धर तपश्चर्या करके समाधिपूर्वक शरीर को त्यागकर उत्तम देवगति को प्राप्त हुआ, वह वहां से उत्तम स्वर्गीय सुखों का दीर्घकाल तक अनुभव करके वहां से चयकर इस कर्म भूमि में चक्रायुष रानी की पटरानी चित्रमाला के गर्भ में आया और नवमास पूर्ण होने पर रानी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया ॥७६१॥

वानत्तुं मिन्नु मुञ्जान् मदिहने पयंदवे पोर् ।

ट्रेनुत्त मुळि चित्ताळ्हे वनें पेद्द पोळ्ळि ॥

त्रूनत्तै वैश्यत्तिन् कनगट्टि निडु वविसन्नन् ।

मामत्त युडेय नामं वञ्जायुव नेसिट्टार् ॥७६२॥

अर्थ—जिस प्रकार शुक्ल पक्ष की द्वितीया में आकाश अत्यन्त निर्मल रहता है उसी प्रकार अत्यन्त सुन्दर मुख कमल से सुशोभित उस चित्रमाला की कुक्षि से परम तेजस्वी पुत्र-

रत्न के जन्मोत्सव के निमित्त राजा ने याचक जनों को विविध भांति दान देकर पृथोत्सव हर्षोल्लास पूर्वक मनाकर नाम संस्कार करके पुत्र का वज्रायुध नाम रखा ॥७६२॥

मदि कले वळरत्तानुं वळवदे पोल मंदन् ।

विदिइ नार् कलयुं वेदर विजयुं विळंग अंगि ॥

नुदि कोंड वेरुक् नळ्ळार् नोक्किनु किलक्कमाना ।

नदि पति यदनै यारायुं द रिवे यर् पुराकं लुट्टान् ॥७६३॥

अर्थ—जिस प्रकार शुक्ल पक्ष की चंद्रकला दिनोदिन बढ़ती जाती है उसी प्रकार राजकुमार वज्रायुध शैवः २ वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अल्प काल में ही सकल विद्याओं तथा कलाओं में तथा आयुधादि में भी निपुणता प्राप्त करके यौवनावस्था में प्रवेश किया । तत्पश्चात् एक दिन राजा चक्रायुध ने अपने पुत्र को सर्व विद्याओं व मुलक्षणों से सम्पन्न तथा तरुण अवस्था देखकर विवाह संस्कार करने का विचार किया । ७६३॥

### ✽ पृथ्वी तिलक नगर का वर्णन ✽

मरुद वान् कुरुचि मुल्लै नैदलुं मयंगि वानोत् ।

तिरुदु विन् विगर्पे मिडि इलंगिय सोलेत्तागि ॥

परुदि इन् वेम्मे याट्टु पदागं सूळ माड यूदूर् ।

पिरुदिवि तिलक मेन्नुं पेरुडै नगर मुंडे ॥७६४॥

अर्थ—जिस प्रकार देवगण सर्व सम्पत्ति व सुख सामग्रियों से सम्पन्न रहते हैं तथा इच्छानुसार पूर्ण रूपेण इन्द्रिय सुखों का भोगोपभोग करते रहते हैं, उसी प्रकार इस पृथ्वी में छह प्रकार की ऋतुएं प्रजाजनों के मनोनुकूल सुखदायिनी थी । पृथ्वी के चारों ओर बनो-पवन होने के कारण प्रजाजनों को शीत-उष्णदि की कोई बाधा नहीं होती थी । बसंत, शीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर ये छह ऋतुएं सदा पृथ्वी पर बनी रहती थीं; जिससे कि सभी प्रजाजन सदा सुखी रहते थे । उस नगर का नाम पृथ्वीतिलक नगर था ॥७६४॥

मट्टिव नगर् कु नादन् मालविधेगन् भांड ।

पेट्टि यान् ट्रनक्कु देवि पिरिय कारिरिणै येंबाळा ॥

मट्टि वर तमक्कु मंगे इरतन मालै यानाळ् ।

सेट्टु निरवत्तु देवनायवच्चीवरं तान् ॥७६५॥

अर्थ—पृथ्वीतिलक नगर का राजा अति तिलक था । उनकी पट्टरानी सर्व गुण सम्पन्न, अत्यंत सुन्दर, शीलवान थी । जिसका नाम प्रियकारिणी था । जो पूर्व जन्म में श्रीधरा नाम की स्त्री थी, वह आर्यिका दीक्षा लेकर उत्तम चारित्र्य पालन करके दुर्द्धर तप-श्रद्धा करती हुई अंत में समाधि पूर्वक शरीर को त्याग करके देवगति को प्राप्त हुई । वहाँ के

स्वर्गीय सुखों का दीर्घकाल तक उपभोग करके वहां की आयु पूर्ण करके इस नगर के राजा अतितिलक की पट्टरानी प्रियकारिणी के गर्भ में भाई और नवमास पूर्ण होने के बाद उत्पन्न हुई। उसका नाम रत्नमाला रखा गया ॥७६५॥

✽ रत्नमाला की शोभा का वर्णन ✽

कर्मग बल्लिईंङ् कष्णिग मंजरिये पोलुं ।  
पोर् पुडं तिरुविन् पाव पूमग त्तिरुके कामन् ॥  
नर्कनंतूणि नंगे तन् करणं काळूव ।  
पोट्टिरट् कबळी नल्लार् पुगळेन परंदव ल्गुल् ॥७६६॥

अर्थ—वह रत्नमाला द्वितीया के चन्द्रमा की कला के समान शनैः शनैः बढ़ती गई और उसके शरीर की शोभा दीप्तिमान होती गई। उसका चरणतल रक्तकमल के समान सुन्दर, एडी तरकश की भांति, जंघा कदलो के समान सुशोभित थी। जिस प्रकार महापुरुषों की कीर्ति सर्वत्र फैल जाती है उसी प्रकार उस रत्नमाला कन्या के सौंदर्य की शोभा सर्वत्र फैल गई। उसका विशाल हृदय स्वर्ण कलश के समान अत्यंत सुन्दर था ॥७६६॥

मिन् सुळि नर कोवु लोर केइर् ट्रामम् बेय् तोळ् ।  
पोन् पुने यमिबं सेप्पि निने मुले बलंपुरिइन् ॥  
ट्टन् सुरि पोलुं नंगे मगल विरुक्कं कोव्वे ।  
नन् कनियार्गुं सेव्वाम् मुक्क नर् शिरिय मुत्तम् ॥७६७॥

अर्थ—रत्नमाला का कटिभाग केहरि के समान, नाभि पानी में उठने वाले भवर के समान, कंठ शंख के समान, स्तन सुन्दर स्वर्ण कलश के समान, भ्रमर टेसु पुष्प के समान रक्त तथा दंत, पंक्तियां मुक्ताफल मोती के समान अत्यंत सुशोभित लगती थी ॥७६७॥

भुगतिडे यळयलाम् पोन्बोळुगुव दोक मूकुं ।  
बगुत्त तम्भुगतिर् केट्ट बळ मेव काकुम् ॥  
नगत्तिनुं कन्तोप्पिल्लै नन्निलै पुरबं नंगे ।  
भुगत्तिनु कोप्पु तिगन् भुयत्तिङ्गि इरुवं वामे ॥७६८॥

अर्थ—उसके कान अत्यंत सुन्दर विशाल थे। नयन मृग के समान तथा चूकटि मुके हुए धनुष के समान थी ॥७६८॥

मेरिदुं नंतोळुगि भीडु मिससिन् कबिरे येव्वाम् ।  
करंबोव कर्ई वाकि वेत्तवाम् कबिरि वंदय् ॥

पुरंबुळ बळशु सोल्लिर् पुरिबुळी पाथं कन्नं ।  
तिरंबिडा वगयं सेय्यं शेप्पुव विनि मट्टेन्नी ॥७६६॥

अर्थ—उसके केश इस प्रकार चमकते थे जैसे कि अनेक नील रत्न एक साथ एकत्रित होकर प्रकाशमान होते हैं । उसकी शोभा जिसने एक बार देखली उसकी इच्छा किसी अन्य स्त्री को देखने की नहीं होती थी । उसमें इतने सुलक्षण विद्यमान थे जिसकी उपमा संसार में किसी अन्य स्त्री से नहीं की जा सकती थी ॥७६६॥

मइलिय लन्नं पोत्तु मेन्नडं मान्ने नोक्कं ।  
कुइल् कूळन् मळलं नल्लि याळ् मोळिमसर् कोडिय नाडन् ॥  
नियल् वेलां सूदरार् चक्करायुव नरिवु पिन्नं ।  
तेय्यस्से वज्जिरायुदकं तरुणं त्तु विट्टान् ॥७७०॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक शुभलक्षणों से सम्पन्न राजकुमारी रत्नमाला के गुण तथा सुन्दरता की प्रशंसा गुप्तचर दूतों द्वारा सुनकर चक्रायुष राजा ने अपने सुयोग्य राजकुमार वच्चायुष के साथ शुभविवाह करने का विचार किया । समय पाकर अतिथिलक राजा ने अपने दूतों को रत्नमाला के पिता के पास विवाह निश्चित करने के लिये भेज दिया ॥७७०॥

तुवर् बंडुरेत्त माट्टं केट्टिवेगन् सोभान् ।  
पोडुत्तास कूळले मंवन पुनर् विडिर् पुगळ्चि तामेन्न ॥  
ट्टियावुनी ररेत्तवेला मिसंवन नेन्न पिन्नं ।  
नोदि नूत्त वगंन् वेळ्वि यागुवि नेरियिर् संवार् ॥७७१॥

अर्थ—राजा चक्रायुष के दूत पृथ्वीतिलक नगर में जाकर अतिथिलक राजा के पास आकर विवाह के संबंध में विचार-विमर्श किया । इसे सुनकर राजा अतिथिलक अत्यंत हर्ष पूर्वक कहने लगा कि यह तो परम सौभाग्य है कि वच्चायुष जैसे सुयोग्य राजकुमार के साथ यदि मेरी पुत्री का शुभ विवाह हो जाय तो जगत में विशेष रूप में कीर्ति व मान्यता फैल जायेगी । हे दूत ! जो तुम शुभ संदेश राजा की ओर से हमारे लिये लाये हो, वह हमें मान्य है । मेरी सम्मति अपने राजा से आकर कहो । तत्पश्चात् दूत वापस चक्रपुर नगर में आकर राजा से सभी शुभ समाचार कहे । यह मंगलमय समाचार सुनते ही राजा ने एक ज्योतिषी को बुलाकर शीघ्र ही विवाह का मुहूर्त निकलवाया और पं० जैनोपाध्य के द्वारा विवाह संस्कार सम्पन्न किया ॥७७१॥

कडि मसर् कोडिय नाळं कावल कुमर नैदि ।  
वडि उडं तडक्कं वेळं पिडियोडु मगळ्वडं पोर् ॥  
कोडि मसर् पंवर कुंडुस् वावियुं काउमेय्दि ।  
पडिमिसं पट्ट विम्बस् परिबिडि नुगव नाळिन् ॥७७२॥

अर्थ—सुगंधित सुन्दर सुमन की भांति मृदु शरीर वाली परम सुन्दरी राजकुमारी रत्नमाला के साथ विधिपूर्वक कुमार वज्रायुध का शुभ विवाह सम्पन्न हो गया और बाद में दोनों क्षमपति अत्यंत हर्षोल्लास पूर्वक परस्पर में रतिक्रीडा करते हुए स्वच्छंद रूप से वनोपवन में इस प्रकार रहने लगे जैसे कोई मदीनमत्त गज हस्तिनी के साथ वन प्रदेश में स्वच्छंद हो कर भोगोपभोग करके सुखी होता है ॥७७२॥

इंब नीर् कडलै येरि इशोदरं धान देव ।  
नंबिनार् शिरुवनाना नर गण भालै कंडु ॥  
नंबिय मदियै कंड नळि कडल् पौडु जाल ।  
मंदमिलुवगै यैव वरद नायुव नैड्डारे ॥७७३॥

अर्थ—पूर्वजन्म में यशोधरा नाम की जो आधिका थी वह अपने उत्तम तप के प्रभाव से समाधि पूर्वक शरीर को त्यागकर कापिष्ठ कल्प में पर्याय प्राप्त की और स्वर्गीय सुखों को भोगने के बाद वहां की आयु पूर्ण हो जाने पर स्वर्ग से चलकर पृथ्वीतल में रत्नमाला के गर्भ से पुत्र रत्न रूप में जन्म लिया । उसका जन्म होते ही प्रजाजनों में इस प्रकार अपार हर्ष उत्पन्न हुआ जैसे पूर्ण चंद्रमा के समय सागर में ज्वार भाटा उठता है । उसका नाम रत्नायुध रखा गया ॥७७३॥

वारि सूळ् वधत्तिन् कन् वरुमयै केडुक्क वंद ।  
पारिजादत्तिन् कंडिर् परि विडि वळ्ळु मैदन् ॥  
येरिसूळ् कूव लारै वेळ्विया लंबि इंबम् ।  
पूरिया मनत्त नागि भोगत्ति नाट्ट् बीळ्वान् ॥७७४॥

अर्थ—कल्पवृक्ष प्राप्त हो जाने पर जिस प्रकार सांसारिक समस्त सुखों की उपलब्धि से प्राणी हर्षित होता है, उसी प्रकार रत्नायुध राजकुमार सर्व सुविधाओं एवं सुखों से समन्वित प्राप्त हुआ । और वह राजकुमार अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह करके सुखपूर्वक काल व्यतीत करने लगा ॥७७४॥

तानुं तन्मगनुं पिन्नै यवन् मगन् मगनु माय्ये ।  
राणंदत्तळ्ळु गिडु नल्लपरादित्तन् पो ॥  
यूनन् तीर तवत्ति लोट्टु शेरित्त मादवनं येत्ति ।  
ईनं तीविर्न कट्टकाक् सुपाय मोन्निरंध मेंड्रान् ॥७७५॥

अर्थ—उस समय अपराजित राजा अपने पुत्र, पौत्रादि विपुल परिवार को देखकर अत्यंत हर्षित हुआ । कुछ दिनों के बाद एक पिहितासव नामक मुनि महाराज कहीं से विहार करते हुए आकर नगर के उद्यान में ठहरे । मुनिराज का शुभागमन सुनकर राजा अपराजित अपनी रानी सहित विनीतभाव से जाकर दर्शन बंदन करके मुनिमहाराज से निवेदन किया कि



हे स्वामिन् ! अनादि काल से आत्मा के साथ रहने वाले कर्म शत्रु को नाश करने के लिये कौनसा प्रयत्न है ? ॥७७५॥

विनेयुद्धर् कट्टु वोटिन् मं मै ये येरिक्कु तेरि ।  
 सिनें यनेत्तानुं पट्टिर् सेरिचिला नेरिये मेबिट् ॥  
 तनें विने नोकि निडु तन्मै यनाग नोक ।  
 विनयनेत्तानुं नीगुं विकारंगे लोडु मेंडान् ॥७७६॥

अर्थ—यह सुनकर पिहित्तास्रव मुनिराज कहने लगे कि हे राजन् ! कर्म स्वरूप, जीवस्वरूप, जीव के परिणाम द्वारा आने वाले आस्रवों का स्वरूप तथा मोक्ष स्वरूप को सम्यक्ज्ञान से सच्चिपूर्वक समझकर दर्शनविशुद्धि को प्राप्त करने पर द्रव्य में रागद्वेष रहित होकर सम्यक्चारित्र्य को पाकर अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म शत्रु को नष्ट करके आत्मा के शुद्ध स्वरूप को वीतराग परिणति द्वारा दर्शन करने से सभी कर्मों का नाश होकर मोक्ष पद की प्राप्ति होती है ॥७७६॥

येडुंलुं मुडिये मन्नन् चक्करायुवनुक्कीडु ।  
 कुंडेनेत्तिरंड तोळाय् कुवल्यं कानु शिष्णाळ् ॥  
 शैडु मन् कावलुपांर् शिरुवनुक्कीडु पोगि ।  
 निड्डिडा निळमै नीगु नीयन तोळुडु नीत्ताव् ॥७७७॥

अर्थ—इस प्रकार पिहित्तास्रव मुनिराज के द्वारा धर्म के यथार्थ स्वरूप को सुनकर अपराजित राजा ने अपने राजपुत्र चक्रायुध के राजतिलक कर दिया । पुनः राजा अपने पुत्र को उपदेश देता है कि हे राजकुमार ! मेरे समान न्यायनीति के द्वारा तुम भी राज्य करना जैसा कि मैं अब तक करता आया हूँ । और राज्य करते २ जिस प्रकार इस राज्य संपत्ति को मैंने त्याग करके तुम को राजतिलक देकर जिन दीक्षा धारण कर रहा हूँ, उसी प्रकार तुम भी राज्य शासन न्यायनीति पूर्वक करते हुए राज्य संपदा त्याग करके, अपने पुत्र को राज्यभार संभलाकर मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिये जिन दीक्षा ग्रहण करना ॥७७७॥

अपराजितन् भाववनायिन पिन ।  
 नुवरोव मुडुस निलत्तै यलां ॥  
 चक्करायुवनुं तळरामे निरुत् ।  
 अपराजितनुं सवनाइनने ॥७७८॥  
 पोरिमीडु पुलत्तेळु भोग मेला ।  
 मिरुवाविरुं पगलुं नुगरा ॥  
 निरैया वीळिय पिनेरुप्पिनिडै ।  
 चिरगे इवे येडु वेरुत्तने ॥७७९॥

अर्थ—अपराजित राजा के दीक्षा लेने के बाद उनका पुत्र चक्रायुष न्यायपूर्वक राज्य करते समय अपने पराक्रम से जिस प्रकार वन में सिंह से सब भयभीत होकर जान जाते हैं उसी प्रकार सब शत्रु राजाओं को इसने परास्त कर लिया। राजा चक्रायुष राज करते हुए पंचेन्द्रिय सुख को मर्यादा पूर्वक भोगता था। वह मन में विचार करने लगा कि अनादि काल से पंचेन्द्रिय सुखों को भोगने पर भी आत्मा की तृप्ति इनसे नहीं हुई। जिस प्रकार अग्नि में ईंधन डालने से वृद्धि होती है उसी प्रकार पंचेन्द्रिय सुख को जितना २ अधिक भोगा जावे उसकी तृप्ति नहीं होती है; बल्कि वृद्धि ही होती है। विचार करने से वैराग्य भावना उसके मन में उत्पन्न हो गई ॥७७८॥७७९॥

अरिवालरिया वरिया वदनार् ।  
पिरिदाम् विनैयै-पिनिया वदना ॥  
निरैया दुनिला दुविरु पुरणिन् ।  
रुवे मुयल्वा रुगर् बंडिलरे ॥७८०॥

अर्थ—इस प्रकार वैराग्य भावना से युक्त होकर चक्रायुष राजा मन में विचार करने लगा कि पदार्थों के हेयोपादेय स्वरूप को भली भाँति न जानकर वीतराग शुद्ध स्वरूप से युक्त आत्मा के स्वरूप को न जानने वाले अज्ञानी जीव पंचेन्द्रिय जन्म विषयों में मग्न होकर उस क्षणिक विषय सुख के लिये अनेक प्रकार के पापों का संचय करके तससे तीव्र कर्मसिद्ध का बंध करके इस चतुर्गति में भ्रमण करते चले आ रहे हैं ॥७८०॥

विनैयान् वरुविवम् वेरुत्तिडवे ।  
तनै ये नुदलि तळरा वगैया ॥  
निनै वान् विनै नीगि निरैदुडने ।  
पुरगैया दुपोरुदु मनंत सुगं ॥७८१॥

अर्थ—शुभाशुभ कर्मों के द्वारा आने वाले संसार-सुख को त्याग कर आत्म-भावना में मग्न होकर उन कर्मों को चार प्रकार के धर्मध्यान (आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थान विचय) के द्वारा कर्मों का नाश करने से अनंत आत्मसुख की प्राप्ति होती है। ऐसा विचार किया।

भावार्थ—धर्मध्यान के दस भेद इस प्रकार से हैं:—

दसण्हं धम्मभङ्गणारणं । दशानां धर्मध्यानानामपायविचयोपायविचय-विपाकविचय, विरागविचय- लोकविचय- भवविचय- जीवविचय- आज्ञाविचय- संस्थानविचय- संसारविचय लक्षणानाम् । तत्र विचयः परीक्षा । (१) सन्मार्गान्मिथ्यादृष्टयो दूरमेवापेता इति चिन्तनमपाय-विचयः । मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र्येभ्यो वा जीवस्य कथमपायः स्यादिति चिन्तनमपायविचयः । (२) दर्शनमोहोदयादिकारणवशाज्जीवाः सम्यक्दर्शनादिभ्यः पराक्मुक्ताः इति चिन्तन-मुपायविचयः । (३) कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् द्रव्य-क्षेत्र-भव-कास-भाव-प्रत्ययं फलानुभवणं प्रति

प्रणिधानं विपाकविचयः । (४) संसारदेहविषयेषु दुःखहेतुत्वानित्यत्वचितनं विरागविचयः । (५) ऊर्ध्वधोमध्यलोकविभागे नानाद्यनिघनादिस्वरूपेण वा लोकस्वरूपचितनं लोकविचयः । (६) नरकादिचतुर्गति-भव-चितनं भवविचयः । (७) संति (विद्यमान) जीवा उपयोगस्वभावा अनाद्यनिघना मुक्ते नररूपा इत्यादि जीव-स्वरूप-चितनम् जीवविचयः । (८) सर्वज्ञागमं प्रमाणीकृत्यात्यंतपरोक्षार्थविधारणमाज्ञाविचयः । सर्वत्र ज्ञातार्थसमर्थनंवा, हेतुसामर्थ्यम् । (९) अधोमध्योर्ध्वलोकस्य शराववज्रमृदंगाद्याकारचितनं संस्थान-विचयः । (१०) स्वोपात्तकर्म-विपाक-वशादात्मनो भवान्तरा वासिसंसारः । तत्र परिभ्रमण् जीवः पिता भूत्वा पुत्र पौत्रश्च भवति, माता भूत्वा दासो भवति, दासो भूत्वा स्वाम्यपि भवति— इति चितनं संसारविचयः । एतेषां द्वादशसंयमप्रभृतीनां दशधर्म्यंघ्यानपर्यतानामनुष्ठाने यः कश्चित् क्रोधादिवशाद् वसिको दोषो जातस्तत्रालोचनां कर्तुमिच्छामि ।

धर्मघ्यान के चार भेद के साथ २ दशभेद भी हैं:—

१. अपायविचय, उपायविचय, विपाकविचय, विरागविचय, लोकविचय, बहुविचय, जीवविचय, आज्ञाविचय, संस्थानविचय तथा संसारविचय भेद से दश प्रकार हैं ।

१. सन्मार्गान्मिथ्यादृष्टयो दूरमेवमुपेता इति चितनमपयविचयः ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव सन्मार्ग से दूर है, उन्हें वह पद किस प्रकार प्राप्त होगा, यह चितन करना अपायविचय है । मिथ्या दर्शन ज्ञान चारित्र्य से समन्वित जीव का कैसे सन्मार्ग में प्रवेश होगा, यह चितन अपायविचय है ।

२. दर्शन मोह के उदय होने के कारण जीव सम्यक्दर्शनादि से पराङ्मुख हो रहे हैं । यह चितन करना उपायविचय है ।

३. ज्ञानावरणादिक कर्मों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव प्रत्यय फल के अनुभव प्रति प्रणिधान विपाकविचय है ।

४. संसार शरीर विषयों में दुःख के कारणभूत अनित्यत्व का चितन करना विराग विचय है ।

५. ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, और मध्यलोक के स्वरूप का चितन करना लोकविचय है

६. नरक, निगोदादि चारों गतियों में होने वाले दारुण दुःखों का चितन करना भवविचय है ।

७. उपयोग स्वभावी अनादि निघन मुक्ति श्री से इतर अन्य जीव स्वरूप का चितन करना जीवविचय है ।

८. सर्व ज्ञास्त्रों को प्रमाणित करके अत्यन्त परोक्षार्थ अवधारण आज्ञाविचय है । अथवा हेतु सामर्थ्य से सर्वज्ञ ज्ञानार्थ का समर्थन करना ।

९. अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक के मृदगादि आकार (स्वरूप) का चितन करना संस्थान विचय है ।

१०. पूर्वभव में अपने द्वारा किये गये सद् असद् कर्म विपाक के वश से आत्मा का भवान्तर में जन्म धारण करना संसार है । उस अपार संसार सागर में परिभ्रमण करता हुआ

जीव पिता हो जाने के बाद पुत्र पौत्र होता है, माता होकर भगिनी भाव्या और कन्या होता है, स्वामी होकर सेवक होता है, यह चिंतन करना संसार विचय है ।

इन बारह प्रकार से संयम आदि तथा दश प्रकार के धर्मध्यान पर्यंत अनुष्ठान करने में जो कोई श्रौवादि वश से दैवसिक दोष उत्पन्न हो गया हो उसकी आलोचना करने की इच्छा करता है ॥७८१॥

मुडि विल्लवु मुन्नमु मेन् कणदर् ।  
 दूडंयाम् धिनंयै तधनोदि इनिर् ॥  
 दूडंवन् निनि यौवरसन् नोनया ।  
 वडिवेल वन् वज्जिर वायुदन् मेल् ॥७८२॥

अर्थ—इसलिये मेरे अंदर अनादि निधन ऐसे आत्मस्वरूप को न समझ कर मैं अनेक पाप कर्मों का उदय करता हुआ संसार में भ्रमण करता आया हूँ । इस कारण मैं इन बंधे हुए कर्मों की निर्जरा करके जिनदीक्षा लेकर अपना कल्याण करने की मेरी भावना है । इस प्रकार वह चक्रायुध राजा वैराग्ययुक्त होकर अपने पुत्र वज्ज्रायुध को बुलाकर कहने लगा ॥७८२॥

मुडियुं पडियुं मुदला धिनवं ।  
 तडं वेलरसन् नपराजित नाम् ॥  
 वडिविन् मुनि वन् नडिमामलरं ।  
 मुडिहन् ननिया मुनियधिनने ॥७८३॥

अर्थ—हे वज्ज्रायुध ! अनादि काल से मैंने स्वपर का ज्ञान न करके तथा अपने आत्म स्वरूप को न जानकर बाह्य पंचेन्द्रिय स्वरूप में मग्न होकर विषयांध होकर मैंने मेरा समय व्यर्थ ही बाह्य वस्तुओं में गंवा दिया । अब मेरे आत्मा में इन पंचेन्द्रिय सुखों से विरक्त होकर आत्म-कल्याण हेतु जिन दीक्षा लेने की भावना है, अब तुम इस राजभार को सम्हालो । तदनन्तर राजा ने पुत्र का राज्याभिषेक किया और कहने लगा कि जैसे मैंने अब तक राज-भार सम्हाला है, उसी प्रकार तुम भी धर्मध्यान पूर्वक आत्म-कल्याण हेतु अपने पुत्र को राज्यभार देकर जिन दीक्षा लेना । यही मनुष्य जन्म का सार है । ऐसा उपदेश देकर उसने चक्रायुध अपराजित नाम के मुनि के पास जाकर भक्ति पूर्वक नमस्कार किया और गुरु से प्रार्थना की कि मेरी आत्मा का इस संसार से उद्धार करो । मुनि महाराज ने तथाऽस्तु कहा और विधि पूर्वक जिन दीक्षा दे दी ॥७८३॥

चक्रायुधनु योगि तादे तन्पादं सांडुं ।  
 भिक्कमा मुनिधनागि वेळ्ळिळडे यादि योगि ॥  
 निक्कुं वेव्विनंग नींग विरापगल् पडिम निडुं ।  
 पक्कनोन् पिरदि योडु भावनं पडंडुं सेंडान् ॥७८४॥

इस प्रकार उस चक्रायुध राजा ने अपराजित मुनि से त्रिन दीक्षा ग्रहण की और तीनों काल अर्थात् प्रातः, मध्याह्न तथा सांयकाल में योग धारण करने वाले हो गये । वह पक्षोपवास, मासोपवास करते हुए धर्मध्यान से युक्त तपश्चरणा करने लगे ॥७८४॥

नेरिबळि येंगुम् सेल्लुमीळ्चि नर् पडचि निड्र ।

शेरिबि निर् पुरिगळारं सेरित्त शैयमत्तनागि ॥

येरुवगै काय मौबि येरुळ् पुरि येडकत्तोडुं ।

मरुतर वेरियुं सिदै वळुवर तळ्ळिबि निड्रान् ॥७८५॥

अर्थ—वे चक्रायुध मुनिराज अपने आत्म-चित्तन में समय को व्यतीत करते हुए स्पर्श, रस, गंध आदि विषयों को रोकते हुए, सम्यक्चारित्र में रत होकर षट्काय जीवों के संयम का पालन करते हुए आत्म गुण की वृद्धि के लिये आने वाले कर्मों का नाश करने के लिये धर्म-ध्यान में लीन हो गये ॥७८५॥

वेळ्कैर पसियि नोड्ल् बेंडलिर पेरांमं तन्निर ।

काक्षि ई लिरुत्तल् पोदल् किडत्तलि लुडामं तन्निर ॥

काक्षिई लरिबिन् ज्ञान मिन्मैर् कलंगि चित्त ।

माक्षियै शलाव कत्तु परिषे पन्मूडुं वेंड्रान् ॥७८६॥

वेण्पमुं कुळिहं मासुं शिपंमुं तुरलुं वेंजोर् ।

सेण्पलं कोलयुं तिड्रल् कुत्तलुं तीय ऊरुं ॥

तुण्पुरळ् वाई नादं तोडचियां परिषे युळ्ळिट् ।

दोण्पिला पुरत्तु निड्रु ओंबदु मोरुंगु वेंड्रान् ॥७८७॥

अर्थ—वे मुनिराज आत्म-भावना की स्थिरता तथा सम्यक्ज्ञान के बल से बाईस परीषह को जीतने वाले हो गये । बाईस परीषहों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) क्षुधा (२) पिपासा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंश मशक (६) नग्नता (७) अरति (८) स्त्री (९) निषद्या (१०) चर्या (११) शय्या (१२) आक्रोश (१३) बध (१४) याचना (१५) अलाभ (१६) रोग (१७) तृण स्पर्श (१८) मल (१९) सत्कार-पुरस्कार (२०) प्रज्ञा (२१) अज्ञान (२२) अदर्शन । ये परीषह मोक्ष मार्ग के साधन में आने वाले कष्टों को देने वाली हैं । यह परीषह पूर्वोपाजित कर्मों के उदय से होती हैं ॥७८६॥७८७॥

चेतन मिदरभायुं शेल्वन निरुं वायु ।

मेदुच्चि नियल्बि नागुं विकारियाय् विकारि इड्रि ॥

योदिय उरुव मागि इतरमा युलग मागि ।

नोबि यार् पोरुळ्ग निड्रु निले मै ये निनेत्तु निड्रान् ॥७८८॥

अर्थ—जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे इन छह द्रव्यों में से जीव तो जीव द्रव्य है और बाकी पांचों अजीव द्रव्य हैं। जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य इन दोनों के मिलने से गमनागमन की शक्ति उत्पन्न होती है और धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य हैं सो स्थिर हैं। यह परस्पर सहकारी कारण होने से प्ररूपते हैं। व्यवहार नय से जीव और पुद्गल द्रव्य विभाव पर्याय रूप हैं। और धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अविकारी हैं। और उसमें पुद्गल द्रव्य वर्ण, स्पर्श, रस और गंध से युक्त हैं। उसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अमूर्तिक हैं। यह प्रत्येक द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त है। इस प्रकार चक्रायुष मुनि मन में भेद ज्ञान से विचार कर कि इससे भिन्न यह आत्मा है। ऐसा समझ कर अपने आत्म-स्वरूप में मग्न हो गये ॥७८८॥

अनुविना लळक्क मूङ्गु कयंगिय पदेशमागु ।  
मनुविनुक् केग मागु मनंद मा काय वेश ।  
मिनेला काल मूङ्गा मेट्टिळि वाय नंदम् ।  
पणिए विसा भवंग रूपोपाद मूचनं निनेतान् ॥७८९॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य परमाणु वाले हैं। और अपने प्रदेश से तीन लोक में फैलते हैं। यदि तीन लोक में इनके नाप की जावे तो जीव, धर्म, अधर्म, इनके असंख्यात परमाणु होते हैं। पुद्गल परमाणु और काल प्रदेश इनका एक प्रदेश होता है। आकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं। यह छह द्रव्य परस्पर विरोधरहित आपस में मिले हुए रहते हैं। निश्चय परमाणु द्रव्य काल व्यवहार पर्याय की अपेक्षा से भूत, भविष्यत् और वर्तमान ऐसे काल तीन प्रकार के हैं। और उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, ये दोनों काल अनादि से चले आये हुए हैं। गर्भ, उपाद और सम्मूर्च्छन ये तीनों जीव के जन्मस्थान कहलाते हैं। इसमें कौनसा छोड़ना है और कौनसा ग्रहण करना है—इन सारी बातों पर विचार करके हेय उपादेय का विचार कर जो पदार्थ, उपादेय था उसको ग्रहण कर लिया ॥७८९॥

उदयक्कि सुपशमत्तिर् केटिर् केटविष्णु तन् कट् ।  
पवभोत्त परिणामत्ताम् पचं पावत्तं युंत्त ॥  
इवमुत्ति इवकुं पाय मिरदन तिरयन् तीय ।  
मव मवर् कुपायं तन्ने इव मिन्मं मनत्तुळ् वंत्तान् ॥७९०॥

अर्थ—ऐसे हेय उपादेय के बारे में जानकर उपादेय को ग्रहण कर वह मुनिराज ने २१ प्रकृतियों में से कर्म प्रकृति के उदय से सेनी पंचेंद्रिय जीवों को काललब्धि के निमित्त से ७ प्रकार के दर्शन मोहनीय और चारित्र्य मोहनीय को उपशम करके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय कर्म के क्षय और क्षयोपशम परिणाम से उत्पन्न होने से पांच प्रकार के परिणामों को अपने मन में ध्यान करके मोक्ष सुख को प्राप्त करने में सामर्थ्य रखने वाले सम्यक्-दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनों को व्यवहार और निश्चय नय के सम्बन्ध में भली भांति समझकर मोक्ष हेतु धर्मध्यान को धारण किया ॥७९०॥

धिनयेट्टि नुदयसागुं विकारंगळ् विपाक मेंडु ।  
 मनं वेंत्तुमुनिवन् सोल्ल वज्जरायुधनं भोगं ॥  
 तनें विट्ट मनत्तनागि सेदयं चीरडिइर् सेल्लु ।  
 मन मुक्कु मिरव मालं यार वत्ति नरिबिर् पोंडार् ॥७६१॥

अर्थ—घाठों कर्मों के उदय से विकारी भाव यह सब कर्म के विपाक हैं—ऐसा मन में विचार करके अपने पिता वज्जरायुध मुनि जिस प्रकार वैराग्य से युक्त तपस्या करते थे उसी प्रकार वज्जरायुध ने भी अपने मन में वैराग्य लाकर स्त्री, पुत्र, वैभव आदि को त्याग कर दिया ॥७६१॥

भोगित्त भोगन ताने पुदिय वं यागि तोंडि ।  
 भोगत्तं पेरुक्क लल्लान् मुडिबंदा चेतव मायुं ॥  
 मेगत्तिन् मिन्नन् मोयु मिवट्टं नामुन्नं नीगि ।  
 नागत्तं वोटं नल्लु नट्टवं पुरिदु मेंडान् ॥७६२॥

अर्थ—राजा वज्जरायुध ने सोचा कि भोगोपभोगवस्तु ही मुझे प्रिय दीखती है इनको अनादि काल से मैं देखता आ रहा हूँ। भोगोपभोग वस्तु ही सारी देखता आया हूँ। वास्तव में आत्मा का स्वरूप ही एक सच्चा है। आज तक भोगोपभोगवस्तु को ही भोगते हुए अनेक प्रकार का अनुभव किया और इस सम्पत्ति को मैंने मेरी समझ कर भोगा। वह आकाश की बिजली को चमक के समान क्षणिक है। इसलिये यह सारी पुद्गल वस्तुएं क्षणिक हैं। सभी मर्यादा पूर्ण होने पर आत्मा से अलग होने वाली हैं। इसलिए यह सब वैभव आदि मुझको छोड़े इससे पूर्व ही मैं इनको छोड़ दूँ तो ठीक है। अतः अखंड मोक्ष सुख को उत्पन्न करने वाले मोक्ष मार्ग को ग्रहण करने की मन में भावना उनके उत्पन्न हुई अर्थात् दीक्षा लेने की भावना जागृत हुई। ॥७६२॥

इरव नायुदनें कूवि म्डिघिने ईंदु वेवन् ।  
 विरमना मनत्त नागि वेळ्कइन् वीळ्डु पोगि ॥  
 नुरंपुना वगैर् पिन्ना लक्कर विडत्तिर् पाव ।  
 निरंना लुदयं शेय्य निड्डिडुं तुंव मेंडान् ॥७६३॥

अर्थ—इस प्रकार वज्जरायुध ने वैराग्य से युक्त होकर अपने पुत्र रत्नायुध को बुलाया और उसको राज्यभार सम्हला दिया और कहा कि यदि तुम इस संसार में लीन होगे तो पूर्व कर्म के उदय से इस सारी सम्पत्ति का नाश होकर अनेक प्रकार के सुख दुख भोगने पड़ेंगे। इसलिये इस सम्पत्ति में मोहित न होकर परम्परा मोक्ष प्राप्ति हेतु की भावना से पंचेन्द्रिय विषयों में मूर्च्छित न होकर भगवान् जिनेन्द्र के कहे हुए मार्ग में रुचि रखकर यथाशक्ति अपने जीवन को सुधारने की उत्कंठा रखो ॥७६३॥

तिरुमलि यार मालं तिळ्ळक्कुं तिन् पुयत्तरागि ।  
 युरुमलि क्कळिदि नुच्चि योंगिय कुडई नीळल् ॥

वरुमवर् मुन्बु तास् से नल्बिने मायंद पोळ्बि ।

नेरि गुरु तिरुवि नोन्नार् कुळ् यरा ईयल् वर् कंडाय् ॥७६४॥

अर्थ—हे राजकुमार सुनो ! मोती का हार माला, अनेक प्रकार के रत्न आभरण आदि को धारण कर हाथी पर बैठकर सफेद छत्र को धारण कर नगर में घूमने वाले राजा लोगों के पूर्व जन्म में उपार्जन किये हुये पुण्य ही का यह सब फल है । यदि अशुभ कर्म का उदय आ जावे तो सभी संपदा का क्षणभर में नाश हो जाता है । और राजा भी पराधीन हो जाते हैं । चक्रवर्ती के पास कितनी संपदा होती है । इस बारे में आचार्यों ने त्रिलोकसार में गाथा ६८२ में कहा है:—

“चुलसी दिलक्खभाहिभरहा हया विगुणणवयकोडीओ ।

सावण्णिहि चोद्सरयणं चक्किक्खीओ सहस्सच्छण्णउदी ॥

चौरासी कल्याण रूपी हाथी हैं, चौरासी लाख रथ हैं, अठारह करोड़ घोड़े हैं । अह अतु योग्य वस्तु का देने वाला कालनिधि है । भोजन पात्र का दायक महाकालनिधि है । अन्न का दायक पांडुनिधि है । आयुध का दायक माणवकनिधि है । वादित्र का दायक शंख निधि है । वस्त्र का दायक पद्मनिधि है । आभूषण का दायक पिगल निधि है । नाना प्रकार की रत्न निधियां हैं । ये नौनिधि हैं । चक्र अस्त्र छत्र, दंड, मणि, चमर, काकिणी, यह सात अचेतन और गृहपति, सेनापति, गज, घोडा, शिल्पी, स्त्री, पुरोहित ये सात सचेतन, ऐसे चौदह रत्न हैं । छिमानवें हजार स्त्रियां हैं । ऐसी चक्रवर्ती की संपदा है । इतना होने पर भी चक्रवर्ती की तृप्ति नहीं हुई । यह सभी पूर्व जन्म के पुण्य का उदय है परन्तु इनको संसार का कारण तथा क्षणिक समझकर चक्रवर्ती भी इसको त्याग कर जिन दीक्षा ले लेता है । इस प्रकार हे पुत्र ! तुम भी प्रजा का न्यायपूर्वक पालन करते हुए धर्मध्यान करना और भविष्य में तुम भी अपने पुत्र को सदुपदेश देकर राज्याभिषेक करके जिन दीक्षा धारण करना ॥७६४॥

पचनल्ल मळि इन् कट् परुमणि पवळत्तिन् काळ् ।

मंजिन् मेलन् सोलार्गळ् वरुडमा पोट्टु इंडार् ॥

मुन्बुतास् शंद तीमं मुळैतुळि कनत्तिन् वेराय् ।

तुंजि नार् पोल माले तुगनिल तुरैवर् कंडाय् ॥७६५॥

अर्थ—हे कुमार ! अत्यंत मृदु शय्या पर सोने वाले श्रीमंत भी पूर्व जन्म के पुण्य संचय के बाद जब पाप कर्म का उदय आ जाता है तो उनको भी कंटकीय भूमि पर सोना पड़ता है और महान नीच से नीच कर्म करना पड़ता है । यह प्रत्यक्ष में देखने में आता है ।

॥७६५॥

कडस् विळयमर्दं मल्ल कवळं तुर् कळत्तिर् कामत् ।

तुडि इडं मगळि रेंद तुयर् मुट्टु रिदि नुंडा ॥

रुडय कल् कंयी नैदि यूर् तोरं पुक्कु पेट्टु ।

वडगिने यमरं दुवांगळ् नल्बिने येविद काले ॥७६६॥



अर्थ—श्रीर समुद्र के पानी के समान अत्यंत मधुर, दूध आदि भोजन सामग्री को लाकर एक सोने के पात्र में रखकर उनकी स्त्रियां अपने पति को देते समय उनकी इच्छा न होने पर भी उन स्त्रियों की भावना को पूर्ण करने के लिये वे भोजन करते हैं। पर पूर्वजन्म में पाप कर्म के उदय से मारी संपत्ति वैभव होने पर भी उसका भोग नहीं कर सकते हैं। राजा होने पर भी तीव्र पाप के उदय होने पर निश्च कर्म करके घर २ जाकर भीख मांगना पड़ता है। फिर भी पेट नहीं भरता। महान दरिद्रता आने पर भी वह मरने की इच्छा नहीं करता है। अनेक कष्ट सहता है। यह सब पाप कर्म का उदय है ॥७६६॥

नुरं इनुं नुय्य वाय कंडुगि लुडुप्पि नोडु ।  
करंभ थोनरळु मल्गुर् कर्पग बल्लियेन्नार ॥  
तेरु द्विडे कीळुवु तीडां शिलतुनि युडुप्पर् शेल्व ।  
मोरुवर् कन् नेडु, मिळ्ळा कुरुदि कौडोळुगु गेड्डान् ॥७६७॥

अर्थ—अत्यंत मधुर रेशम के वस्त्रों को पहनने वाली स्त्रियां कितना मोह करती हैं। यह सब पुण्य कर्मों के उदय का कारण है और तब तक ही भोगता है। पाप कर्म के उदय आने पर वे ही फटा हुआ मैला कपडा पहन कर गुजर करती हैं। ऐसी यह क्षणिक संपत्ति है, जो वैश्या के समान है। आज इसकी बगल में कल उसकी बगल में है। इस कारण धर्म ध्यान करो। इसी में सुख सांति है ॥७६७॥

इनेयन् पलबुं शोल्लि बज्जरायु वनुं पिन्ने ।  
तने यने बिडुत्तु पोगि चक्करायुवने शारं कु ॥  
मुनिवनर् कमल मन्न बडिइ ने मुडिइर् द्रीटि ।  
विनइन् पयन् कडंमे वेरुविन नडिग केड्डान् ॥७६८॥

अर्थ - इस प्रकार धर्मोपदेश अपने कुमार को राजा चक्रायुध ने दिया और उस पुत्र रत्नायुध को राज्यभार देकर उसका राज्याभिषेक किया और अपने पिता मुनि चक्रायुध के पास जाकर प्रार्थना की कि हे भगवन्! अनादिकाल से संसार रूपी समुद्र में डूबता तैरता आया हूँ। मेरा इस जगत से उद्धार करो। ऐसी प्रार्थना की ॥७६८॥

पुले मगरेणिनं शाल पुयबलि युडेय रागिन् ।  
निले मगट् किरंभ रागि निडिडुं तिरुवु मंगे ॥  
मले इन कुलत्त रेनुं पुयबदिम मायं व पोळ् विर् ।  
दुले निल नुरुत्ति योन्नार् ताळनें तुळैय रावार् ॥७६९॥

हे भगवन् ! नीच जाति में जन्म लिया हुआ जीव पूर्व जन्म के पुण्योदय से राजसुख के भाग भोगता है। और श्रेष्ठ कुल में जन्मा जीव यदि पूर्व कर्म का पापोदय आ जाय तो वह नीच लोग के समान धाचरण करता है ॥७६९॥

विने वसमा यविद वोरिला वाट्के तन्ने ।  
 निनेदोरु मुळिल निड् नडुगिड् मडगि नोड् ॥  
 विने गळे वंडिट्टेड्डन् बिळुक् गुणं पोरुंवि मोळा ।  
 निनेवरु मुलर् मैव निनेवियान् वंद देड्डान् ॥८००॥

अर्थ—कर्म से उत्पन्न होने वाले इस भयानक ससार में यदि मन में आत्म-कल्याण का विचार न किया जाय तो हमेशा संसार में वह रुलता ही रहता है । और उसको अपने प्रकार के शोक द्रव्य उत्पन्न होते हैं इसलिये संयम पूर्वक जिन दीक्षा लेकर पूर्व जन्म के किये हुए कर्म का तपश्चरणा द्वारा नाश कर मोक्ष सुख को प्राप्त करने की मेरी भावना हुई है । मैं आपके पवित्र चरण कमलों की शरण में आया हूँ । ऐसे अपने पिता चक्रायुध मुनि से वज्रायुध कुमार ने प्रार्थना की ॥८००॥

समं तमसु शांति कांति वम्या मालिंवि याकं नोकि ।  
 यमं वरं तोळिल रंङ्गि येळ्ळंग लेळ् मिंङ्गि ॥  
 नमर पिररेंब विंङ्गि थोळिवल् मादव मिदामे ।  
 अमेग विंङ्गिरेंवन् सोल्ल वरंतवन् तीडगि नाने ॥८०१॥

अर्थ—इस प्रकार मुनि चक्रायुध ने वज्रायुध कुमार की प्रार्थना सुनकर पुनः धर्मोपदेश दिया उस उपदेश को सुनकर वह अत्यन्त प्रभावित हुआ और उत्तम क्षमा धर्म को धारण कर वह कुमार पंचेन्द्रिय विषयों को त्याग कर सम्यक्चारित्र्य को प्राप्त कर, आत्मा का स्वरूप समझ कर षट् काय के जीवों की रक्षा करने वाले होकर सात प्रकार के भयों से रहित हो गया । और अपने मित्र, बंधु, बांधवादि स्त्री, पुत्रादि पर समता भाव होकर सर्व कुटुम्ब का परित्याग करके उस कुमार वज्रायुध ने मुनि चक्रायुध से जिनदीक्षा ग्रहण की ।  
 ॥८०१॥

अरियन् शैय बल्ला रांङ्गुव रंङ्गियारे ।  
 वरिशंङ्गन् मधन् मैदनुं मैदनुं वेम्यं तन्नं ॥  
 योरुडुगळ् पोल विट्टा रुलगेला मिरेंज निड्डा ।  
 रिरविरे यंङ्गि निड् बिरुळ् कडिबे लल्लु मंडो । ॥८०२॥

अर्थ—सज्जन लोगों के आचरण में कितने भी कष्ट हों, उसको वे झुंझा नहीं छोड़ते, पूरा ही करते हैं । और वे ही उसका फल भोगते हैं । यही सज्जनों का लक्षण है । इन्हीं को सज्जन कहते हैं । इस प्रकार सद्गुणों को प्राप्त हुए राजा अपराजित (मुनि) उनका पुत्र चक्रायुध मुनि और चक्रायुध का पुत्र (मुनि) वज्रायुध ये तीनों ही तपश्चरणा भार को धारण कर एकत्व भावना में स्थिर हो गये । जिस प्रकार सूर्य अन्धकार का नाश कर देता है । उसी प्रकार वे तीनों महामुनि सद्गुण से युक्त अपने अज्ञानांधकार को नाश करने वाले हो गये ॥८०२॥

सिक्कय मलं पोल सिद्धने तिरुति चिन्ना ।  
 लकंन् बंदुबयसुचिच्च यडे बदे पोल बंदु ॥  
 चक्क रायुदनुं पिन्ने तडवरं मुडिये शारंदु ।  
 सुक्किलध्यानं तन्नास् बिनेयिह वूर्कसुट्टान् ॥८०३॥

अर्थ—जिस प्रकार महामेरु पर्वत के चारों ओर दिग्गज पर्वत रहते हैं, उसी प्रकार कुछ समय तक संघ के साथ बिहार करते हुए ध्यानाध्ययन में समय व्यतीत करते हुए वे चक्रायुध मुनि जिस प्रकार सूर्य उदय होकर बारह बजे मध्य में आता है और तीव्र प्रकाशमान होता है उसी प्रकार वे संघों का परित्याग कर एक पर्वत की चोटी पर विराजमान होकर शुक्ल ध्यान के बल से कर्म शत्रु का नाश करने लगा ॥८०३॥

वरिशार् सुक्किल वैय्य दुच्चियार् वडिबु तन्ने ।  
 पुरुवसि निडेन् मूकि नुनि इट्टान् पोखं वैयतु ॥  
 तिरिविद योगि नोडुं सेंडु वंदाडुस् सिदे ।  
 पुरुव नट्टि वने युन्न विनेगळे लुडेव वंडु ॥८०४॥

अर्थ—वे मुनि शुक्लध्यान के बल से बंध का कारण होने वाले परिग्रहादि को मन-पूर्वक त्यागकर त्रिगुणित धारक हो गये। और सच्चे सुख को प्राप्त किये हुए सिद्ध परमेष्ठी की नाशादृष्टि से अपने में स्थापना करके ध्यान करने लगे। इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरत, प्रमादे और कषाय यह चारों जो बंध के कारण हैं इनका नाश कर आत्म-भावना में लीन होकर स्व-संवेदन ज्ञान से अनुभव में आने वाले सिद्धों के समान निश्चय रत्नत्रय स्वरूप की भावना करते २ दर्शन मोहनीय की सात प्रकृतियां अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्-प्रकृति, अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ इस प्रकार सातों प्रकृतियों का नाश कर दिया ॥८०४॥

मोगण यत्ति नोडुं मुप्पत्तेळ् पगडि वीडा ।  
 वेग योगसो डोडु वेळुं व शुक्किल ध्यानं ॥  
 वेग योगत्ति नोरेन् पगडि वीळ वळुं वेय्योन् ।  
 मेग योगत्तिन् वीटिन् विरिवन वनं व नानमै ॥८०५॥

अर्थ—उन मुनिराज ने पृथक्त्ववितर्कवीचार वाले शुक्ल ध्यान से ज्ञानावरणी की पांच, दर्शनावरणीय की नौ, मोहनीय की अट्ठाईस, अंतराय की पांच, नरक गति, तिर्यंच गति, एकेंद्रिय आदि चार जाति, पांच संस्थान, पांच संहनन, अप्रशस्त वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, नरक-गत्यानुपूर्वी, तिर्यंच-गत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ दुर्भंग, दुःस्वर, अनादेय अयशकीर्ति, नरकायु, असाता वेदनीय नीच गोत्र, ऐसे चौरासी प्रकृतियों का नाश किया। जिस प्रकार सूर्योदय होते ही मेघपटल दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार उसी क्षण में चक्रायुध मुनि ने घातिया कर्मों का नाश होते ही अनंत सुख

अनंतवीर्य अनंतदर्शन और अनंतज्ञान ऐसे अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर लिया ॥८०५॥

वेय्यव नेळलुं बैय्य व्यापारि पदनं पोल ।  
 वंय्य मिलनंद नान्मं येळुंदववकनत्तु धानोर् ॥  
 मंयरु विशिंबे येळ्ळा मरैत्तुडन् वंडु सूळडु ।  
 पुय्यरु तवस्ति नानं पुगळंदडि परव लुट्टार् ॥८०६॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही संसारी प्राणी अपने २ कार्य में लग जाते हैं, उसी प्रकार अनादि काल से लगे हुए धातिया कर्मों का नाश होते ही आत्मा में रहने वाले अनन्त चतुष्टय उसी क्षण में प्रकाशित हो गये। और चतुर्णिकाय देवों ने आकर चक्रायुध केवली भगवान की भक्ति पूर्वक पूजा, स्तुति करके नमस्कार किया ॥८०६॥

गाति नान्मं कडंबोय् नो कडई नान्मं यडंबोय नो ।  
 वेव नान्गुं विरित्तोय् नो विकल नान्मं विरित्तोय नो ॥  
 केव नान्मं केडुत्तोय् नो केडिलिब कडलोय निन् ।  
 पाव कमथं पणिवारे युलगं पणिय बरुवारे ॥८०७॥

अर्थ—वे देव चक्रायुध केवली भगवान को विनय से भक्तिपूर्वक नमस्कार तथा उनकी स्तुति करके कहने लगे कि हे प्रभु! ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चारों कर्म रूपी शत्रु अनादिकाल से लगे हुए हैं। इन धातिया कर्मों को आप ही नाश करने वाले हो। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुपयोग इन चारों योगों के प्रतिपादन करने वाले आप ही हो। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय चारों ज्ञानों को प्राप्त करने वाले, अनन्त सुख, को प्राप्त करने वाले तथा शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक और स्वाभाविक इस संसार के दुखों के कारण होने वाले पापों का नाश करने वाले आप ही हो। जितने प्राणी आपके चरण कमल की स्तुति करने वाले हैं, वे ही जीव आपके समान पद को प्राप्त कर लेते हैं। भाग्यवान के अलावा आपके चरण कमलों की पूजा स्तुति अग्य को प्राप्त नहीं होती है ॥८०७॥

पविनें कुट्ट मरिडोय् नो परम नान्मं यडं डोय नो ।  
 इव मंय्यु इरुकु मळिपोय् नो इष्ठा विरवि योरिडोय् नो ॥  
 कदमं मदमं कामनयं कडंडु कालर् कडंबोय् निन् ।  
 पव पंगयड् गळपनिवारे युलगं पणिय बरुवारे ॥८०८॥

अर्थ—क्षुत्पिपासादि बाईस परीषह को जीतने वाले, एकेंद्रियादि षट्काय जीवों को अभयदान देने वाले तथा संसार रूपी दावानल को नाश करने वाले आप ही हो। क्रोध, भान, माया, लोभ इन चारों कषायों को जीतकर कालरूपी यमराज को नाश करने वाले

आपके चरण कमलों की जो भव्य जीव भक्ति व स्तुति करते हैं वे आपके समान हो जाते हैं ।

॥८०८॥

शिदिप्परिय गुणत्तोय् नी देवरेत्तुं तिरलोय् नी ।  
 पंदसु परियुं मेरियोय् निन्पाद् कमलं पनिवारुक् ॥  
 कंद मिळा विबंत्तै येळित्तु मुत्ति येगत्तिरुत्तु ।  
 मेंदै पादं पनिवारिव्वु लग पणिय वरुवारे ॥८०९॥

अर्थ—अनन्त गुणों को प्राप्त करने वाले, चतुर्णिकायिक देवों द्वारा पूजनीय आप ही हो । कर्म बंध को नष्ट करने वाले रत्नत्रय धर्म रूपी मार्ग को प्राप्त करने वाले आप ही हो । आपके चरण कमलों की पूजा भक्ति करने वाले भव्यजीव मोक्ष प्राप्ति करने वाले तथा आपके समान अनन्त चतुष्टय को प्राप्त होते हैं ॥८०९॥

मलर् मळै पोलिदु मारि मुगिलेन वंदु वानो ।  
 रलं कडन् मुगिलोडोंडि मुळंगुव रनेय्य देस ॥  
 उल्लगुडै इरेवन् पाद मुळ्ळ मैमुळि यीडोंडि ।  
 निलै ला पिरवि नौंगु नेरियिनार् ट्टु दिगळ् सोझार् ॥८१०॥

अर्थ—इसी प्रकार चतुर्णिकाय के देवों ने केवली भगवान के पास आकर जैसे मेघों की वर्षा होती है, उसी प्रकार उन्होंने पुष्प वृष्टि करते हुए भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति की ॥८१०॥

आइडै येवत्तंजु विनें केट्टु वक्कनत्ते ।  
 पोयुलगुच्चि पुक्कान् पोरुवि यन् गुणंगळोडुम् ॥  
 तूय वान् मलर् सोरिदु तुदित्तिडन मनर् पोनार् ।  
 माय् मिरवत्ति नान् वज्जि रायुव तूवनगि पोनान् ॥८११॥

अर्थ—चतुर्णिकायिक देव उन चक्रायुध केवली भगवान की स्तुति करते हुए क्षांतिया कर्मों का नाश किए हुए, अनन्त ज्ञानादि गुण तथा सिद्ध पद को प्राप्त हुए, उन भगवान की वे देव परिनिर्वाण पूजा करके पुनः भगवान को स्तुति स्तोत्र पाठ पढ़ करके वहां से लौट कर अपने इष्ट स्थान को चले गए । माया कषाय से रहित चक्रायुध केवली भगवान की निर्वाण कल्याण की पूजा समाप्त करके तपोवन की तरफ चले गये ॥८११॥

बनिगनाय घरुम मेवि मन्नाय् माधवत्ता ।  
 लिनैला केवच्चेत्तु नमर ना इंगु वंदु ॥  
 तण्णिविला तवत्तिन् माट्टे येरिदु चक्ररायुवन् पो ।  
 इनैला उल्ल पुक्कानिदु वरत्तियर् कै यामे ॥८१२॥

अर्थ—पूर्व जन्म का वरिष्क भद्रमित्र श्रेष्ठी का जीव श्रावक व्रत को धारण कर भगवान द्वारा कहे हुए वचनों के अनुसार पूजादान आदि वट् क्रिया में आचरण करने वाला होने के कारण अपनी माता व्याघ्रणी के द्वारा भक्षित किया हुआ जीव उन राजा सिंहसेन महाराज की पटरानी रामदत्ता देवी के गर्भ में आकर जन्म लिया । नामकरण संस्कार करके सिंहचन्द्र ऐसा नाम रखा गया । आगे चलकर घोर तपश्चरण करके उसके फल से नवशंभेयिक नामक अहमिद्र कल्प में देव उत्पन्न हुआ । वहां देवगति के सभी सुख भोगकर आयु के भवसान पर कर्म भूमि में आकर अक्रायुष होकर धर्मभ्रान्त पूर्वक चातिया कर्मों का नाश करके मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया । जैन धर्म की यही महिमा है ॥८१२॥

सातवां अधिकार समाप्त ॥



## ॥ अष्टम अधिकार ॥

✽ ब्रह्मायुध का अनुत्तर विमान में जन्म लेना ✽

अरस नाय नल्लरव नायु दन् ।  
 पिरस मार कुळर् पिनेय्य नारुंडु ॥  
 वरं शै तोळवन् मगिळ्वं वार्तेये ।  
 युरे शैवन् निनि युरगराजने ॥८१३॥

अर्थ—हे धरणिंद्र सुनो ! राजा रत्नायुध अपनी पटरानी सहित विषय भोगों को विष के समान समझ कर उसको त्याग दिया । इस संबंध में मैं विवेचन करूंगा । लक्ष्य पूर्वक सुनो ॥८१३॥

वाम मेगलं मेलं शायलार् ।  
 काय कोटियुट् कळुमुं कादलार् ॥  
 सेम नल्लरं सेप्पिट्टि इडे ।  
 यार्मे पोलव नवल मंडुमे ॥८१४॥

अर्थ—कंठ में रत्नमयी स्वर्ण मोती युक्त आभरण धारण करने वाली स्त्रियों में अनेक प्रकार के विषय भोग में लवलीन रहने वाले उस राजा से यदि कोई व्यक्ति जैन धर्म की बात कहे तो जैसे कछुआ किसी आदमी को देखते ही घबरा कर पानी में घुस जाता है, उसी प्रकार वह राजा रत्नायुध अंतःपुर में जाकर बैठ जाता था । अर्थात् उनको यदि जैन धर्म की महिमा कोई बताता तो आंख लाल हो जाती थी । जब तक जीव को देशनालब्धि प्राप्त नहीं होती तब तक जैन धर्म को धारण करने की रुचि उत्पन्न नहीं होती ॥८१४॥

अरसु भिवंमुं किळयु मायुधुं ।  
 वरिं से तारवन् वीयु मेडुं नान् ॥  
 रिरं यडुत्त विप्पडि भिशंदन् ।  
 तरसु निरप दे याम वेन्नु में ॥८१५॥

अर्थ—अत्यन्त सुगंधित फूलों के हार को धारण किये हुए राजा रत्नायुध को राज सुख, बंधु, मित्र, स्त्री, पुत्र में मुझे शांति है और ये ही सदा शाश्वत रहेंगे—ऐसे यह विचार सदैव ही बने रहते थे । किन्तु यह राज संपदा, वैभव, मालखजाना, बंधु-बंधव हमेशा स्थिर रहने वाले नहीं हैं । ऐसा विचार उनको कभी नहीं होता था ।

भावायं—अंधकार कहते हैं कि इन्द्रिय सुख में मग्न हुआ जीव सदैव इसीको सुख समझता है । दूसरी बात में कोई ध्यान जाता ही नहीं है । कहा है कि एक राजा रात्रि के

समय पड़े २ यह विचार करता है कि मेरे समान संसार में कोई सुखी नहीं है ।

“चेतोहरायुवतयः सुहृदानुकूलाः ।  
सद्-बांधवाः प्रणयगर्भगिरश्च-भृत्याः ॥  
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरंगाः ।  
सम्मौलने नयनयोनंहि किंचिदस्ति ॥

अर्थ—मेरे पास मन को हरने वाली अनेक सुन्दर रानियां हैं, मित्र वर्ग सभी अनुकूल हैं, भ्रातृ वर्ग सभी अच्छे हैं, सेवक हमारी आज्ञा में सदा तैयार रहते हैं और द्वार पर हाथी, घोड़े आदि वाहन गर्जना करते रहते हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त तीन चरणों की रचना शयन कक्ष में लगे हुए श्यामपट्ट पर करके राजा सो गया तत्पश्चात् कोई संस्कृत का विद्वान राजमहल में चौरी करने के लिये धुसा था उसने जब इस श्लोक को देखा तो चौथे चरण की रचना इस प्रकार की कि राजन्! तुम्हारे नेत्रों के बन्द हो जाने पर तुम्हारा कुछ भी नहीं रह जाता । अर्थात् आंखों के मुंद जाने पर प्राणी का कुछ भी नहीं रहता । प्रातः काल राजा ने जब श्लोक के अन्तिम चरण को देखा तो उसकी आंखें खुल गईं और उसने अपने धन वैभव को क्षणिक मान लिया । इस प्रकार पंचेंद्रिय विषयांश जो मनुष्य हैं उनको धर्म कर्म का विवेक नहीं रहता है । अतः वह राजा विषयभोगों में मग्न होकर अचे के समान विचारता था ॥८१३॥

पोरिइन् भोगमुं पुष्पिण येत्तिन् वन् ।  
बुरुव वेंड्रेना नुंब रिबमुं ॥  
मरुविल् वोडु मट्टिंनै मायंब वर ।  
पिरवि यं मिले येंडु पेशुमे ॥८१६॥

अर्थ—संसार को उत्पन्न करने वाले इन्द्रिय विषय भोग पूर्व जन्म में उपाजित किए हुए पुण्य पाप के फल से इस भव में सुलभता से मिलते हैं । यह ज्ञान राजा रत्नायुष को विदित नहीं था । वह अपने मन में विचार करता है कि नरक, स्वर्ग, मोक्ष आदि ये सब भूँटे हैं । मरा हुआ मनुष्य लौटकर संसार में कभी नहीं आता, इसलिए पाप पुण्य कोई वस्तु नहीं पुण्य संचय करके प्राणी देवगति को गया, स्वर्ग में गया, यह कहना सभी भूलंपना है क्योंकि ऐसा किसी ने देखा न सुना है । ८१६॥

कद्र मावं राय् काम शल्वत्तिर् ।  
पेट्ट विवर्त्त मिळक् विट्टु पोय् ॥  
मट्टु मिबं मेल्वर वरंडुव ।  
सुट्टु वनरी विट्टुवोक्कुमे ॥८१७॥



अर्थ—पुनः रत्नायुध यह विचार करता है कि संसार में धर्म कोई वस्तु नहीं है। अपने द्वारा पंचेंद्रिय सुख को भोगना, खाना, पीना यह ठीक है। मरकर वापस दूसरी पर्याय धारण करना कायकलेश तप करना धर्मध्यान करना यह सब पागलपन व मूर्ख है। देवलोक में जाना और मरकर वापस आना यह किसने देखा है ? यह सब मूर्खता है। ऐसा वह मानता था। और कहता था कि जिस प्रकार एक कुत्ता रोटी का टुकड़ा लेकर नदी की ओर जाता है और प्रपनो परछाई पानी में देखकर यह समझता है कि दूसरा कुत्ता पानी में और है उसकी रोटी पकड़ने को प्रपना मुँह खोलता है तो वह अपने मुँह की रोटी भी पानी में गिरा देता है। इसी प्रकार वह विचार करता है। संसार में वर्तमान परिस्थिति को न सुधार कर आगे का विचार करना मूर्खता है ॥८१७॥

सौवत्तार तुंबं तुइत्तल्लदु ।  
 तुंबत्ता यिल्लं लुइक् वेणणुद ॥  
 लंबिर् कांछिर् माकि मांगणी ।  
 तित्त् कुट्ट ववर सिदं वण्णामे ॥८१८॥

अर्थ—तपश्चरणा से उत्पन्न होने वाले दुख को ही अनुभव करता है। सुखलेश मात्र भी नहीं है। देवगति मिलना, विषय सुख का त्याग करना अथवा विष से अमृत मिलना ऐसी भावना वह रत्नायुध करता है और मानता है ॥८१८॥

विनेगळ् वेरुपट्टुदयं शेदला ।  
 सिनेम्य सिदय नागि शेन्नान् ॥  
 मुनिवन् वज्ज वंतन् मुइ मलर् ॥  
 वनमनो गरम् वंदु नास्सिनाम् ॥८१९॥

अर्थ—इस प्रकार मिथ्यात्व कर्म के उदय से राजा नास्तिक मत के अनुसार विषय सेवन को प्रतिपादन करता था। उसी समय नगर में वज्जदन्त नाम के मुनिराज मनोवेग नाम के उद्यान में चतुर्विध संघ सहित आकर विराजमान हुए। वे अत्यन्त गंभीर निस्पृही थे। सिंह के समान धीरवीर तथा पराक्रमी थे। सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य इन तीन आराधनाओं में रात दिन पुरुषार्थ करने वाले थे। ऐसे मुनिराज रत्नायुध राजा के उद्यान में पधार ॥८१९॥

मेरुमालवन पत्तिरालत्तुल् ।  
 वारणं मलं शूल निद्र वुं ॥  
 धोर माववर् शूल मत्त वन् ।  
 तारकं मदि तानु मोत्तनन् ॥८२०॥

अर्थ—अत्यन्त निर्दोष व्रत सहित तप करने वाले वे मुनि जिस प्रकार मेरु पर्वत के चारों ओर नंदनवन तथा दिग्गज पर्वतादि होते हैं, उसी प्रकार उन वज्जदन्त मुनि के चारों

श्रीर निर्दोषव्रत तथा चारित्र को पालने वाले मुनि, प्रायिका, श्रावक, श्राविका आदि सब बैठते थे । देखनेवाले भव्य जीवों को ऐसा दीखता था जैसे चंद्रमा के चारों ओर नक्षत्र प्रकाशित होते हैं । उसी प्रकार उन वज्रदन्त मुनिराज के चारों ओर क्षुत्लक, क्षुत्लिका, श्रावक, श्राविका आदि शोभायमान होते थे ॥८२०॥

पिरवि माकडल पेयकुं माट्टला ।  
लिरंख नन्नव नेंदु कोळ्ग यान् ॥  
मरुविन् मादवन् वैय्य मूंङ्गिनु ।  
मुरवि निङ्गवा रोद वंङ्गि नान् ॥८२१॥

अर्थ—संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिये सम्यक्त्व के बल से भगवान के समान सम्यक्चारित्र को प्राप्त किये हुए मुनि वज्रदन्त इस लोक में जीव के जन्म और मरण के संबंध में प्रतिपादन करने वाले त्रैलोक्य प्रज्जित नाम के ग्रंथ का स्वाध्याय करते हुए अपने संघ के त्यागियों को उपदेश देते थे ॥८२१॥

श्रींङ्गि रंडोरु मूंङ्गु नालें वाय ।  
निङ्गु वैंबोरिने रिइन् वाळ्ळइ ॥  
रोंङ्गु नीर मर निल नेरुप्पु कार् ।  
टूंङ्गि काय मंदेदि वाळ्ळमे ॥८२२॥  
नंदु शिप्पि शकांदि नावन ।  
कुंद रेंबु कोपादि मूंङ्गुन ॥  
वंडु तुंबि वंडादि नालवंन् ।  
तिदियं पशु नरर् नरगर् देवराम् ॥८२३॥

अर्थ—उस संघ के त्यागियों ने प्रश्न किया कि शास्त्र में प्रतिपादन किया हुआ विषय कौनसा है तो आचार्य कहते हैं कि संसारी जीवों के मुख्य दो भेद हैं । एक स्थावर और दूसरे त्रस । एकेंद्रिय, दोहन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेंद्रिय जीव इनकी मार्गणा से अर्थात् स्थावर पांच हैं, और त्रस चार हैं । पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक यह तो पांच स्थावर हैं और दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेंद्रिय ये चार त्रस हैं । लट, शंख, सीप, कीटक आदि दो इन्द्रिय जीव हैं । चिऊंटी छटमल, बिच्छु आदि तेइन्द्रिय जीव हैं । भ्रमर, मक्खी, मच्छर, पतंगा आदि चौइन्द्रिय जीव हैं और पशु, पक्षी, मनुष्य, नारकी, देव आदि पंचेंद्रिय जीव हैं ॥८२२॥८२३॥

उळ्ळल कल्लुदलडंत लोडुकाय् ।  
तळल्गळावि मण्णु इर्गळ्ळ मायं विडु ।

सल्लं याद्रुद लवित्त लावि यास्त ।  
तल्लुडवन् तानु मायुमे ॥८२४॥

अर्थ—हलम चलन से, कूदने फांदने से, आग जलाने से पृथ्वीकाय जीव को बाधा होती है, और वे मर जाते हैं। पानी में उठने वाली तरंगों से तथा अनछूना पानी को गर्म करने से अथवा पानी पृथ्वी पर डालने से जलकायिक जीवों का सात होता है ॥८२४॥

तिरं यल्लेप्यं वुं तीहर् काचडं ।  
तरं ननेप्यडं शांक नी रुहर् ॥  
वरं योडिद्रुं वट्ट मादिगळ् ।  
पोरुं वात कायंगळ् पोंडु मे ॥८२५॥

अर्थ—गर्म पानी में ठंडा पानी या ठंडे पानी में गर्म पानी मिला देने से, अग्नि के बुझाने आदि से अग्निकायिक जीवों को बाधा होती है। हवा चलने, पंखा हिलाने आदि से वायुकायिक जीवों को हानि पहुँचती है ॥८२५॥

वेयिलुं मारियुं मिक्क वातमु ।  
सइल् शावि पडे तीयोडादियार् ॥  
पइर् मरं मुदल् पशिय कायमा ।  
मुइर्ग नोंदु वेंतुयर लुक्कु मे ॥८२६॥

अर्थ—अधिक धूप पड़ने, अधिक जल वृष्टि तथा आंधी व वायु के वेग से तथा धान को आयुधों द्वारा काटने आदि से वनस्पति काय के जीवों को महान दुख होता है। और उससे वृक्ष खेती आदि नष्ट हो जाती हैं ॥८२६॥

माल्कडर् पिरंवालु माववेन् ।  
मेले वेविनं निकुं माय् बिडिन् ॥  
बाल् बळे मकरगळ् शिप्पि मोन् ।  
काल नन्नवर् केइन् मायुमे ॥८२७॥

अर्थ—शंख, सीप आदि अनेक प्रकार के दो इन्द्रिय जीव समुद्र में उत्पन्न होते हैं उनका रक्षक कोई नहीं रहता। पाप कर्म के उदय से भीवर लोग जाल को पानी में डालकर जीव को पकड़ लेते हैं और मार डालते हैं। इससे जीव की हिंसा होती है और जिन्होंने इस जीव को मारा है। वे भी अनन्त काल तक दुख की सहते हुए संसार में परिभ्रमण करते हैं।

॥८२७॥

मलयुं वाचियुं कानुमेवियुं ।  
 वलयुं विल्लुं वान् पोरियु मादिया ।  
 यलं संवारगळु कंजि नेजंळिन् ।  
 तुलं विलाय वेंतुयर् वेळ्ळकुमे ॥८२८॥

अर्थ—तिर्यंच गति में उत्पन्न हुए पशु पर्वतों में सरोवर के निकट जंगल में, पानी की नाली में रहने वाले जीव हिंसकों के द्वारा मारे जाते हैं । बसवान पशुओं के द्वारा उनका भक्षण होता है और महान दुख सहन करना पड़ता है ॥८२८॥

ऊन कारुं पोसें वीरुं ।  
 तीडर् वेळ्वियुं तीय देवमु ॥  
 मीन मानव रादि यंदुवर् ।  
 तानुडंविडुं शारुं व जातिये ॥८२९॥

अर्थ—मांसभक्षी मनुष्य योद्धा लोगों के द्वारा भ्रजन से तथा भ्रजानी लोगों के द्वारा करने वाले यज्ञ, चांडाल आदि नीच जाति तथा अनेक पापी मनुष्यों के द्वारा, हरिण, बैल, भैंसे आदि की बलि दी जाती है । इससे भी उन जीवों को महान कष्ट भोगने पड़ते हैं ॥८२९॥

कूरिंवि नार् कुडुमि पोळुं ।  
 भार मेट्टुं पाधं यापुं ॥  
 चारणं तुयरेदु मट्टय ।  
 वेरु मूवियु मेरुं नैय्युमे ॥८३०॥

अर्थ—अत्यन्त बड़े शरीर को प्राप्त हुए हाथी को अंकुश मारने तथा पांवों में लोहे की सांकलों से बांधे जाने से उनके दर्द होने से तीव्र तथा असह्य दुख सहना पड़ता है । तथा घोड़े, बैल, ऊँट आदि जीवों को गाडी में जोता जाता है । हल चनवाया जाता है । समय पर दाना पानी नहीं मिलता है और इस कारण उन जीवों को महान बाधा व दुख भोगना पड़ता है ॥८३०॥

इप्पडि विलागिर् पिरप्पार् कडा ।  
 मेप्पडि पट्टु वेरेंडि येविडिन् ॥  
 मै पडत्तुर वाहु विल्लुत्तव ।  
 सोप्पिन् मायत्ति नोडुळ् चार्गळुं ॥८३१॥

अर्थ—पहले कहे अनुसार पशु पर्याय में कौनसे जीव उत्पन्न होते हैं ? बाह्य और अर्थात्तर परिग्रहों को मनःपूर्वक जिन्होंने स्थाप नहीं किया और निश्चय जेव को धारण कर मायाधार करने वाले को पशु शरीर धारण करना पड़ता है ॥८३१॥

मोग मोडु मिच्चोदयत्तालु मर् ।  
 ट्रेग मागि नांगिल् विलंगा इडं ॥  
 काग मेयन कारगे यार् मनत् ।  
 सागु मायं बिलांगि नै याकुमे ॥८३२॥

धर्म—अत्यन्त तीव्र चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से दर्शन मोहनीय, मिथ्यात्व कर्म के उदय से एकैन्द्रिय पर्याय में और मिथ्यात्व से मंदतर औदयिक परिणामों के उदय से दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचैन्द्रिय इन चार जातियों में तथा परिणामों के अनुसार तिर्यंचगति में जन्म लेता है । और स्त्रियों में अत्यन्त मोहित रहने के कारण मायाचार सहित होने के कारण तिर्यंच गति में जन्म लेता है ॥८३२॥

उळ्ळं मेमुळि योंडु बलु निला ।  
 वेळ्ळं मान्दचं बीळ्वर विलंगिडं ॥  
 तळ्ळ वारं शेयातनं तेडुमक् ।  
 कळ्ळ नैजिनर् बीळ्वगति युमिदे ॥८३३॥  
 मंड्रि निडु पिरं पोरळ् वांगुवार् ।  
 तिडु तेनोडु कट् पुलसिर् शेल्वार् ॥  
 निडु नोदि केडुत्तय सार् मनं ।  
 योंडु वारळ लुंगति युमिदे ॥८३४॥

धर्म—मन, वचन, काय इन तीनों में से एक २ के आधीन होने वाले अज्ञानी जीव निचनीय पशु गति में जन्म लेते हैं । इस प्रकार मनुष्य गति को प्राप्त होकर अपने करने योग्य धर्म कार्य को न करके कपटाचार तथा, मायाचार करने से जीव तिर्यंच गति में जन्म लेता है । न्यायालय में जाकर झूठ बोलना, झूठी गवाही देना, झूठा काम करना, दूसरे के द्रव्य को अन्याय से शक्ति पूर्वक हरण करना, अपने बल से दूसरे को आधीन कर लेना, पैसा लेकर झूठी गवाह देना, दूसरे को ठगना यह सभी मायाचार कहलाता है । और मद्य, मांस, मद्यु को सेवन करने वाले, अहिंसा धर्म को नाश करने वाले, अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़कर पर-स्त्री सेवन करने वाले तिर्यंच गति में जन्म लेते हैं ॥८३३॥८३४॥

वंडुला दुइरिळ्ळें येनच्चोला ।  
 निडुती नेरि इर् शेरिवार्गळु ॥  
 मोंडु नल्बळक्कोर दुडं बानुळं ।  
 वेंड्रि याकु नर् बीळ्वगतियुं विदे ॥८३५॥

धर्म—इस जगत में परमात्मा एक ही है दूसरा कोई नहीं है, ऐसा कहने वाले तथा सास्त्रों की रचना करके प्रचार करने वाले, उसी के अनुसार चलने वाले, प्रतिवादी के अनुकूल

होकर उनके माफिक झूठो गवाह देना, उनके अनुकूल मुकदमा जीतना ऐसे जीव तिर्यंच गति में जन्म लेते हैं ॥८३५॥

इल्लं नल्विनै तीविनै इन्नुइ ।  
रिल्लये इरंदार्गळ् पिरत्तलु ॥  
मिल्लये तुरकत्तोडु वीडनुं ।  
सोल्लिनार् सुळलुं गतिषु मिदे ॥८३६॥

अर्थ—पुण्य पाप को उत्पन्न करने वाला कोई द्रव्य नहीं है । जीव द्रव्य भी नहीं है । जो जीव है वह शून्य है । मरा हुआ मनुष्य पुनः नहीं जन्म लेता और देवगति मनुष्य गति मोक्ष आदि का प्रतिपादन करना मिथ्या है । इस प्रकार नास्तिक लोग झूठा प्रचार करने वाले तिर्यंच गति में जाते हैं ॥८३६॥

अरस नीति थैळित्तवं मन्ननु ।  
मरस रीति यळित्त वमंचनु ॥  
पुरंनार् पिररं पुनर् तीप्पेनुं ।  
निरंय नैय्दि विलंगि निपरे ॥८३७॥

अर्थ—राजनैतिक में राज किया हुआ राजा, मंत्री आदि मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से अपनी स्वस्त्री को छोड़कर परस्त्री के ऊपर दृष्टि रखने वाले अथवा लग्न की हुई स्त्री दूसरे पुरुष पर दृष्टि रखने वाली, उग्र परिणाम रखने वाली यह सब नियम से नरक में जाते हैं । तथा मंद परिणामी होने से भी नरक में जाते हैं ॥८३७॥

अरद नायुदन् ट्रन् मेग विजय माम् याने यंदप् ।  
पिरसमार् वनत्तिरुदं पेरुंदवन् विलंगिन् वाट्के ॥  
युरं शैदा निदने केळा पिरप्पिने युनरं दिट्टु निन् ।  
विरविय कवळं कौंडा वौळिदुं वं तुइत्तं वंडुं ॥८३८॥

अर्थ—इस प्रकार पहले कहे हुए मनोहर नाम के सुन्दर उद्यान में घोर तपश्चरण करने वाले वज्रदन्त मुनिराज अपने चतुर्विध संघ को तिर्यंच गति में जन्म लेने वाले विषय का प्रतिपादन करते थे । जहां मुनिराज उपदेश दे रहे थे उससे कुछ दूरी पर उस रत्नायुध नाम के राजा का भेष विजय नाम का हाथी बंधा हुआ था । उस हाथी को मुनिराज के उपदेश से आति स्मरण होकर देशनालब्धि उत्पन्न हो गई । उस हाथी का महावत उस हाथी को मांस मिश्रित चारा सामने रखकर खिलाने लगा तो उस हाथी ने उसको सूझा भी नहीं, वैसा का वैसा वह चारा पडा रहा ॥८३८॥

पिरर् मनं पिळित्त नैजिर् पेरियव नोरुवन् पोल ।  
निरं मवं पुलरं वु नंडु नीचनेन् संदे नैडु ॥

मर मुळिदुरुषि योषि कवळगळ् वांगा नींग ।

वरं कळ लरसर कोडि यरिदव रुनति नारे ८३६॥

अर्थ—इस प्रकार घृती पुरुष नीति विरुद्ध ऐसी अन्य परस्त्री के साथ भोग करके, विषयभोग भोगने के बाद मन में पश्चाताप करके खड़ा होकर अपनी आत्म-निन्दा करते हुए ऐसी प्रतिज्ञा करता हो कि मैं आगामी ऐसा काय नहीं करूंगा । उसी प्रकार वह हाथी मनुष्य के समान अपने निन्द्य आचरण करने के संबंध में विचार करता है कि मैंने निन्द्य तिर्यच गति में जन्म लिया है । वह आत्म-निन्दा करते हुए तथा अब आगे मैं इस प्रकार का कोई पाप कर्म नहीं करूंगा ऐसा निश्चय करके वह हाथी खड़ा रह गया । उस समय वहां महावत ने मांस मिश्रित रखे हुए आहार को हाथी द्वारा न छूने पर यह सारी बातें उस महावत ने राजा रत्ना-युध को जाकर कही कि वह हाथी चारा नहीं ले रहा है ॥८३६॥

मध्नं वंदमञ्च रोडु मरुंदरि पुलवर् तम्मै ।

येभिद्वर् कुट्टदेन्न बियादि मट्टि याडु मिल्लै ॥

मिन्नुमिळुं विलुंगुम् पूनोय् विलगम् पोनिडुं वेळ ।

मुन्निनार् पिरप्पु नद्वं व दुःखु मिळ्वुड्दपि नैडार् ॥८४०॥

अर्थ—यह समाचार सुनकर राजा रत्नायुध तथा मंत्री और वैद्य आदि हाथी के पास आये और वैद्य से मंत्री ने कहा कि इस हाथी को कौनसा रोग हो गया ? तब वैद्य ने हाथी के रोग की चिकित्सा की । चिकित्सा के बाद वैद्य कहता है कि इस हाथी को कोई रोग नहीं है और यह दीर्घ श्वास लेता है । मेरे समझ में इस हाथी को पूर्व जन्म का जाति स्मरण हो गया है । ऐसा इसके देखने से प्रतीत होता है ॥८४०॥

अयोडु धादपित्तं विकारत्तं यडैदं विल्लै ।

मंछलुं वेय्य दोंडु माट्टि द्द कुट्ट विल्लै ॥

कमले इवन् कं पुनिर्दु कवळगळ् वत्त पोळ्दि ।

नेय्य मोंडिडि वांगि नरिदवु पिरप्पे यैडार् ॥८४१॥

अर्थ—वह वैद्यराज उस राजा से कहते हैं कि इस हाथी को कोई रोग नहीं है । और कोई विषधारी जीव ने भी इस को नहीं काटा है । मेरे विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी पूर्व जन्म का जाति स्मरण हो गया है यदि इसकी परीक्षा करनी है तो मांस रहित भोजन देकर परीक्षा करनी चाहिये ॥८४१॥

तेनुलां तारि नानु मप्पडि शंग वेन्न ।

ऊनि लायत्तूय नल्ल कवळग लुळयर् ॥

मानमा वांगक्कंडु मन्ननु विघडु पिन्ने ।

काणिन् मायुनिवम् ट्ठम्ने कंडडि प्पिन्नु सोन्नान् ॥८४२॥

अर्थ—तब वैद्य के वचन सुनकर रत्नायुध ने हाथी के महावत को बुलाकर आज्ञा दी कि इस हाथी को मांस रहित आहार देना । तत्पश्चात् महावत ने परिशुद्ध आहार लाकर हाथी के सामने रखा । उस आहार को देखते ही तुरन्त हाथी ने खा लिया । ऐसा देखकर राजा ने आश्चर्यचकित होते हुए अपने मनोहर नाम के उद्यान में बज्रदन्त मुनिराज के पास जाकर नमस्कार करके हाथी के संबंध में प्रश्न किया ॥८४२॥

मकर याळ वल्लभेद नोरुवनं कंडूमट् ।  
पुगर् मुग कळिट्टिन् मन्नन् मुनिवनं वनंगि पिल्लं ॥  
शिगरभाल् यानं कुट्ट वरुळुग वेंडु सेप्प ।  
निगरिला पोदि यार् पार् तरस नी केनयु वेंडान् ॥८४३॥

अर्थ—जिस प्रकार वीणा के मधुर शब्द को सुनकर मृग अधीन होता है उसी प्रकार रत्नायुध का हाल हो गया । वह बज्रदन्त मुनिराज को अत्यन्त विनय के साथ नमस्कार करके कहने लगा कि हे प्रभु ! मेरा यह हाथी प्रतिदिन देने वाले मांस मिश्रित आहार को न खाकर के चुपचाप खड़ा रहता है और मांस रहित चारे को देने से वह खाने लग जाता है । इसका क्या कारण है ? इस पर महातपस्वी बज्रदन्त मुनिराज अपने अवधिज्ञान के द्वारा कहने लगे कि राजन् ! उसका कारण मैं विस्तार से कहता हूँ सुनो ! ॥८४३॥

मट्टिद भरदत्तिन् कणत्तिन पुरत्तिन् मन्नर् ।  
पेट्टि यार पेरिय मन्नम् पिरदि वहिर नेन्वा नाम् ॥  
वेट्टि वेल् वेंदन् ट्टेवि वसुंदरी विलगेल् पोलुं ।  
कपिनाळ् पुदल्वन् प्रीति करनें वानोरुव नानान् ॥८४४॥

अर्थ—हे राजन् ! इस भरत क्षेत्र में हस्तिनापुर नाम का नगर है । उस नगर में प्रीतिचन्द्र नाम का राजा राज्य करता था । उनके शीलवान अति सुन्दरी नाम की पटरानी थी । इन दोनों के अति सुलक्षण और चतुर प्रीतिकर नाम का पुत्र था ॥८४४॥

चित्तिर मदि येंवानाम् मंथिरि तुनेवि तीन् सोल् ।  
मुत्तिनि मुदवर् सैव्वाय् कमल वाम् कमलै योप्पाळ् ॥  
विस्तग पुदल् वन् ट्रानुं विचित्र मति येंवानां ।  
मत्तमाल् कळिट्टु वेंदन् मगनुक्कन्डोरुव नानान् ॥८४५॥

अर्थ—उस प्रीतिचंद्र राजा के चित्रमति नाम का मंत्री था । उस मंत्री के कोमल शरीर वाली सर्वगुण सम्पन्न कमला नाम की स्त्री थी । इन दोनों के विचित्रमति नाम का पुत्र था । इस प्रीतिकर राजकुमार और चित्रमति दोनों के अनिष्ट मित्रता थी और अनेक पूर्वक समय को स्मृति करते थे ॥८४५॥



अरुमणि यार मावँरिरुवरु मनंग नन्नार् ।  
 मरुविय पुलत्तु चिदं भाशुन मन्न नीरार् ॥  
 वरुम नल्लुर्हाचि येन्नुं सादुविन् पावं सेरंदु ।  
 तिरुवरु मरुळ केटोर् पुलंगन् मेल् वेरुमु चेंडार् ॥८४६॥

अर्थ—इस प्रकार समय को व्यतीत करते हुए वे दोनों यौवनावस्था को प्राप्त हुए । कई दिनों के बाद उस हस्तिनापुर नगर के समीप के उद्यान में धर्मरुचि नाम के मुनिराज विहार करते थे । मुनिराज के आगमन के समाचार सुनकर इन दोनों ने वहाँ जाकर भक्ति पूर्णक नमस्कार किया और मुनिराज ने इन दोनों को धर्मोपदेश दिया । उन दोनों ने धर्मोपदेश सुनकर संसार के सुख को क्षणिक समझा और भोगोपभोग से विरक्त हो गये ॥८४६॥

माट्टिरें सुळट्टु मट्टिर् पुलंगन् मेल् मट्टि वट्टे ।  
 याट्टुवं तुरक्क माट्टिन् सुळट्टिय तगलु मागिर् ॥  
 काट्टि यम् मनत्तु मट्टे कडला तेळिवै याकु ।  
 माट्टल साल् तुरवेंडोडु मरु मरुंदळिक् वेंडार् ॥८४७॥

अर्थ—तदनन्तर वह प्रीतिकर राजकुमार और मंत्री का पुत्र विचित्रमति ने मुनिराज को नमस्कार करके पूछा कि हे प्रभु ! मद्यपान किया हुआ मनुष्य जैसे उसके नशे में मगाने आचरण करता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व कर्म के उदय से पंचेन्द्रिय सुख के लिये हेयोपादेय वस्तु को न समझकर इस संसार में यह जीव भ्रमण करता है । उस मिथ्यात्व को त्याग करके सम्यक्त्व को धारण कर जिन दीक्षा ग्रहण करके तपश्चर्या सहित ध्यान अग्नि से कर्म का क्षय करने से हेयोपादेय को जानने योग्य विशुद्ध परिणाम की प्राप्ति होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसलिये आप जिन दीक्षा देकर हमारा उद्धार करो, ऐसी दोनों ने प्रार्थना की ॥८४७॥

मादव नरुळि चित्ति वरुकमट्टि वर्गट्टु केन्ना ।  
 पोदनि कुंजि वांग पुनरंदु मादवत्तिर् सेंडार् ॥  
 रावरम् पम्नु नाम तरसिळं कुमरन् पालिन् ।  
 माविरं पिल्गु नल्लु वार्ते मामुनिव नानान् ॥८४८॥

अर्थ—उस समय धर्मरुचि महाराज ने दोनों को स्वात्मलब्धि धर्मवृद्धि ऐसा आशीर्वाद दिया । और राजा तथा मंत्री के पुत्रों को दीक्षा दे दी । दीक्षा ग्रहण करने के बाद यह प्रीतिकर मुनि अत्यन्त निर्मल तपश्चर्या के फल से लोगों के अत्यंत प्रिय हो गये । ये प्रिय क्यों हो गये थे क्योंकि उनको श्रद्धा प्राप्त हो गई थी ॥८४८॥

मुनि इळ कळिह पोल वार्, मुगिळ् मुलै तडंगट् शैवाय् ।  
 वनिदैय रोडुं वानोर् मडंदैयर् मगिळ् माड्य् ॥

विनिदइन् पुरत्तु विट्टार् वैविल्लं कुमर नाय ।

वनगः मममुनिवन् पुक्का नन्गगर् सत्तिगें केंड्रे ॥८४६॥

अर्थ—पंचेंद्रिय विषय सुख से वैराग्य प्राप्त करके ये दोनों मुनि जहां स्त्री, पुरुष, पशु आदि न थे, वहां नगर के समीप एक उद्यान में जाकर किराजे । वहां ऋद्धि को प्राप्त हुए प्रीतिकर मुनिराज ने चर्या के लिये जाते समय ऐसा नियम लिया था कि मैं आहार उनके हाथ से लूंगा, जो व्रती हो, कुल जाति से शुद्ध हो, सम्यकदृष्टि भावक हो, भगवान् जिनेंद्र के प्रति पूरा श्रद्धाधी हो, नवधाभक्ति सहित, पृण्यपुरुष हो, ऐसे श्रावक के हाथ से आहार लूंगा ८४६॥

काट्टेदिरेड्डि मन्निर् कण्णुमत्तळव् नोकि ।

माट्टिन् येस्सियं नुळ् अळ् वाय् पिडि नडप्पदे पो ॥

वेट्ट नन् मीनोडेगुं पिरं मन विद्दुंदोरं ।

माट्टिन् वेन् तुय् सं तोर मरुंयुवान् पोत्त पुक्कान् ॥८५०॥

अर्थ—इस प्रकार नियम लेकर आहार के लिये जाते समय हवा बड़े जोर से चला रही थी । उस वायु के वेग को देखते हुए कोई जीव जन्तु मेरे पांव के नीचे न आ जाये व ईर्या समिति पूर्वक एक पैर छोड़कर जिस प्रकार हाथो मंद र गति से जाता है या कोई तीक्ष्ण तलवार की धार पर चलता हो, उसीके समान वे मुनि अत्यन्त धीरे र सावधानी से आहार के लिए जा रहे थे । वे किस प्रकार जा रहे थे ? आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वह मुनिराज उस रास्ते में श्रावकों के घर देखते र चले जा रहे थे जैसे व्याधियस्त मनुष्य दवा लेने के लिये राजवैद्य का घर तलाश कर रहा हो, उसी प्रकार उच्च वंश, नवधा भक्ति सहित सम्यक्-दृष्टि आहार देने वाले को ढूँढ रहे थे । यह आहार देना श्राविक के समान है । यदि कोई सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा व्रती कोई आहार दे देवे तो मैं उसी श्रावक के घर आहार लूंगा । ऐसा विचार करते र श्रावकों के घर के बाहर से जा रहे थे ॥८५०॥

काट्टे कडिगें बुद्धिसंने तन्ममत्तं शारं ॥

माय मिरवत्ति नाने बंदेबिर् कौळ्ळ मट्ट ॥

वेयन तिरंभ तौळाळ् विळ्ळिमिय दानं शंभ्यर् ॥

केयु नक्कुलत्तु तौडु केवु वेन् निरंभ बेंड्राळ् ॥८५१॥

अर्थ—इस प्रकार प्रीतिकर मुनिराज ने गली र में चर्या के लिये जाते समय देखा कि वह एक घर बुद्धिसंने नाम की वेश्या का था । उसके घर के सामने से जाते समय उसने उस मुनि को देखकर उनके सामने हाथ फैलाकर उनको रोक लिया और वह वेश्या प्रार्थना करने लगी कि हे प्रभु ! मुनि आदि सत्पापों को दान देने के लिये हमको कौनसा आचरण प्रस्तुत करण करना चाहिये ॥८५१॥

सःने निदित्तल् तक्कोर् पळ्ळिण्णुवल् दया बोडोडु ॥

इण्णुयिर् करुळे इवल् पुत्तं सुतेन कळ्ळिन् मीडु ॥१॥

मन्त्रिय सुगति निद्रुत् माय निन् मनस रादस् ।

पन्नरं कुत्तत् पन्नं पान् मैक्कु निमित्त मेंडान् ॥८५२॥

अर्थ—तब मुनिराज मौन छोड़कर बुद्धिसेना वेश्या को उपदेश देने लगे कि देवी ! सबसे पहले मुनिराज को आहार देने के लिये उत्तम कुल में जन्म लेना पड़ता है । सत्य और असत्य का निर्वण्य करना पड़ता है । पाप के द्वारा उपाजन किया हुआ कर्म और पाप को मैंने बिना जाने अज्ञान से किया है । इस कारण पाप कर्म के उदय से निवृत्त पर्याप्त धारणा की है । यदि तुम्हारी वेश्या वृत्ति रूपी पाप छोड़ने का विचार हो जाय तो सच्चे गुरु के पास जाकर आत्म-शुद्धि का प्रायश्चित्त लेना चाहिये । पंच परमेष्ठी का स्तोत्र पाठ आदि भक्ति सहित करना चाहिये । मद्य, मांस, मधु का त्याग कर देना चाहिये । सम्यक्दर्शन पूर्वक भगवान् जिनेंद्र द्वारा कहे हुए ब्राह्मण की पढ़ना चाहिये और मायाचार से रहित होकर चारित्र्य का पालन करना चाहिये । इस प्रकार पालन करना यह उच्च कुल का कारण है ॥८५२॥

अस्तंबनुरत्त विन् सोलर वमिर् दार मांडि ।

तिरुंबिय गुगति नाळु पुलंसुत्तेन कळिळ नोमि ॥

पोरुंदुष शील मट्टु माट्टु व पमिदु कौंडाळु ।

तिरिदु पोडमुनिवन कानिन् विचित्र मदियं शेरंदान् ॥८५३॥

अर्थ—इस प्रकार प्रीतिकर मुनिराज ने उस बुद्धिसेना वेश्या को उपदेश दिया । उस वेश्या ने यह उपदेश सुनकर प्रण किया कि आज से मैं मधु, मांस, मद्य सेवन नहीं करूंगी, पापाचरण नहीं करूंगी । शीलव्रत धारण करूंगी । इस प्रकार उस प्रीतिकर मुनि के पास उस वेश्या ने प्रतिज्ञा ली । उस दिन मुनिराज मौन धारण करने के बाद वन में जहां विचित्रमति मुनिराज थे वहां वापस लौटकर आ गये ॥८५३॥

विचित्र मत्तिपुं वीर विळित्त देन् कोलेन्न ।

म्वित्तिर मुनिर् पुं पडंबोर् कण्णे यार् पट्टु वेळ्ळाम् ॥

विरित्तुड नुरेप्प केट्टु वियंदु वै तुडुत्तु वेटकं ।

मुत्तेळ विष्कै नाम मुक्क भुम् तेरिय केट्टान् ॥८५४॥

अर्थ—इस उद्यान में विराजित विचित्रमति मुनिराज ने प्रीतिकर मुनिराज से पूछा कि हे वीर्याचार को निरतिचार पावन करने वाले मुनिराज आहार लेकर आने में आपकी इतनी देर किस प्रकार हो गई । वे प्रीतिकर मुनि कहने लगे, हे विचित्रमति सुनो ! आहार के लिये आते समय गली में एक वेश्या बुद्धिसेना का घर था । उसके घर के सामने से जिस समय मैं निकला तो उस वेश्या ने मुझे रोक लिया । वह वेश्या अनेक आभूषणों को पहने हुए तथा सब प्रकार के शृंगार से सजी हुई थी । उसने मुझसे कई प्रश्न पूछे और मैंने उनका धर्मोपदेश के रूप में आगमनानुसार उत्तर दिया । उसने उपदेश सुनकर पांचों पापों का त्यागकर, पांच अशुभ्रत ग्रहण किये । इस प्रकार विचित्रमति मुनि को वह प्रीतिकर कह रहे थे । विचित्रमति के

## मेरु मंदर पुराण श्री महावीर जैन अरिहंस

विचारों में विकार की उत्पत्ति हो गई। अतः विचित्रमति पूछते हैं कि उस वेश्या के हाव भाव शृंगार कैसा है? कैसा उसकी सुन्दरता है? ॥८५४॥

विनईन् देळुच्चि तन्नाल् वेदनं वससनागि ।  
मुनि यवन् दृनियनागि पारनैककेंद्रु पोनान् ॥  
दृन दिडं कुरुग कंड तैयला लुबंदु साल ।  
चिनर्यात्ति केटाल् विरडत्तिन् फलनं यद्दे ॥८५५॥

अर्थ—क्योंकि बाल अवस्था से जिनको संसार से विरक्तपना हो गया था और पंचेन्द्रिय विषय भोगों से लालसा हट चुकी थी। बचपन से ही जिन्होंने घोर तपस्या की थी। परन्तु कर्मगति बलवान है। संसार चक्र में कब कौन कैसे फंस जावे, कहा नहीं जा सकता। उसी प्रकार विचित्रमति मुनिराज ने हाव भाव शृंगार आदि सारे वेश्या के जान लिये। और मायाचार से उस विचित्रमति ने प्रीतिकर मुनि से कहा कि मैं आहार के लिये नगर में जा रहा हूँ। वह मुनि अयोध्या नगरी में आकर जिस गली में वह बुद्धिसेना वेश्या रहती थी उसी के घर के बाहर होकर चर्या के लिये जाने लगे। उन मुनिराज को देखकर उस वेश्या ने नमस्कार किया और प्रार्थना की कि कल जो मुनिराज पधारे थे उनसे जो मैंने पंचागुप्त ले लिये हैं। उन व्रतों से मुझे कौन से फल की प्राप्ति होगी। ८५५॥

भोग रागत्त वाय कर्बे गळे मुनिवन् सोल्ल ।  
भोग रागत्त वाते पुदियनु मुनिव नेद्रु ॥  
नाग रागत्तिर् केट्टार् कर्बेगळे नबिद् पिन्नुं ।  
वेग रागत्तनाग भेल्लि येल वेरुप्प सोल्लाळ् ॥८५६॥  
येलुंबु तीलिंरुळ् वेन्नं सून् कुडर् मलं कन् मूळ् ।  
कळव नैत्तोर नरंबु वळुप्पि वैरु कंडाल् ॥  
विलगि सैरसिद्धि बेरुत्तुमिळ् दु वतु पोवार् ।  
कलंदिवै किडंब कुप्पे कंडु कामुरव वेत्तो ॥८५७॥

अर्थ—वह वेश्या कहने लगी कि हे मुनिराज ! यह शरीर मांस रक्त से युक्त है। इस में तिल भर भी सार नहीं है। इसलिए ऐसे निच शरीर पर आप मोह मत करो और ऐसे मोह का त्याग करो। तीन लोक में प्राप्त होने वाले मनुष्य जन्म को पाकर उत्तम कुल में जन्म लेकर संयम धारण किया है। ऐसे संयम को त्यागकर अशोभित की ले जाने वाले गंदे विचार अथवा पाप विचार जो आपने किया है यह आपके लिये दुःखदायक है। ऐसे विचारों का त्याग करो। क्योंकि किसी कवि ने कहा है—

नारी संग यौवन गया, द्रव्य गया मद पान ।  
प्राण गये कुसंग में, तीनों गये निदान ॥

शीघ्र सफल सतन नर्म, हाथ सफल प्रभुसेव ।  
पाद सफल सतसंगते तब पावे कुछ भेव ॥  
सत संगति में मति बडे ज्यों बौम्मे में घास ।  
रज्जब कुसंग न बैठिये, होय बुद्धि का नाश ॥

नारी की संगति करने से यौवन का नाश होता है, मद्य पात करने से द्रव्य नष्ट होता है, कुसंगत से प्राणों का नाश होता है, इस प्रकार इन तीनों का नाश होता है। मस्तक की सफलता साधुओं के नमस्कार करने में है। प्रभु की सेवा करने में हाथों की सफलता है। गुणीजनों की संगति से पैर सफल होते हैं और तभी कुछ भेद पा सकता है। अच्छे श्राद्धमियों की संगति करने से बुद्धि इस प्रकार बढ़ती है जैसे घास का बोझा होता है, और कुसंग में बैठने से बुद्धि का नाश होता है।

इसी प्रकार मनुष्य को सत्संगति न मिलकर कुसंगत मिलने से बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥८५६॥८५७॥

उनर् वोडु वार्ते पार्तलुवत्तलु मुनिवुं कामत् ।  
तुने बं तुडरं तु निडाल तूयबे यागु मंडि ॥  
पिनमिदु पिनते सेरं दास् पिळत्त देन् पेरिय विब ।  
मने पुमे लेन्न शाल सुळित्तवळ् बेरुत्त पोनाळ् ॥८५८॥

अर्थ—इस काम विकार को उत्पन्न करने के लिये स्त्री पुरुष को विकार से देखना, विकार भाव की तथा खोटी प्रश्लील बातें करना ये सब काम भोग के कारण होते हैं। प्रेम की बातें परस्पर में काम भोग के लिये कारण होती है। स्त्रियों के काम वासना न होने पर भी बलात्कार करने पर वह प्रेम के साथ सेवन करने के समान उत्सुक होती हैं। इस प्रकार उन मुनिराज को उस वेश्या ने वैराग्य पूर्वक बातें कह कर विकार भाव दूर करने की कोशिश की। तब वह मुनिराज कहने लगे कि यदि मुझे के साथ भी विषयभोग किया जावे तो अधिक आनन्द आता है। ऐसा सुनकर तुरन्त ही उस वेश्या ने अपना मुंह दूसरी तरफ मोड़ लिया।

॥८५८॥

मालं शावेन्नं सुन्नं मंजन वान कलिगस् बेरा ।  
शाल नाळिरुक्कि नुंबस् गुणं सेळ्वि येळिविडाया ॥  
मुनुला मुडवं सेरं वा लोरु कनत्तळियुं वण्णुंम् ।  
वानसाम् वनंगुम् तीस माय्द लेन्नाडु सोन्नान् ॥८५९॥

अर्थ—पुष्पहार, चन्दन, अच्छे सुगंधित द्रव्य, अनेक प्रकार के सुगन्धित चूर्ण, रेशमी बहुमूल्य वस्त्र एक स्थान पर रहने से इसका नाश नहीं होता है। और वही वस्तु शरीर का स्पर्श होते ही एक क्षण में नाशमान हो जाती है। इन सभी विषयों को वेश्या के समझने पर भी उन मुनिराज ने अपने महाव्रत धारण किए भेष को छोड़ दिया। तत्पश्चात् उस वेश्या

को कहने लगे कि हम दोनों परस्पर स्पर्श करें। ऐसा कहकर वे प्रयोग्य जाते उस वेद्यम से कहने लगे। इस संबंध में एक कवि जन पूजावलि में कहता है:—

विषयासक्तचित्तानां, गुणः को वा न नश्यति ।  
न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥

जो मनुष्य विषयभोग में प्रासक्त हो जाता है उसके सभी गुणों की इतिश्री हो जाती है अर्थात् ऐसे मनुष्यों में विद्वत्ता, मनुष्यता, कुलीनता और सत्यता आदि एक गुण भी नहीं रहता।

“परारोधनजात् देन्यात्, पेशून्यात् परिवादतः ।  
परमभवात् किमन्येष्यो, न विभेति हि काष्ठुकः ॥

जो प्राणी विषयभोगों में प्रासक्त हो जाता है उसके क्रमशः वह अपनी दीनता, चुनली, बदनामी, अपमान आदि की चर्चा नहीं करता।

वाकं त्यागं विवेकं च, वैभवं मानितापि च ।  
कामार्त्ताः खलु मूर्च्छन्ति, किमन्यैः स्वर्च्च जीवितम् ॥

कामासक्त प्राणी भोजन, दान, विवेक, धन, दौलत और बहूपन आदि का जरा भी विचार नहीं करते, और औरों की बात क्या? भोग विलास के पीछे वे अपनी जान पर भी पानी फेर देते हैं। ८५१॥

भोगसाल् मुडे युडबिन् नाट्टत्ते मुनिबालिद्रि ।  
भोगसाल् कळुमि निकुं पुल्लरि बाळरागुं ॥  
भोगर् कामुडे युडबै शैर्वन् मदींङ्क म्मिंङ्कट् ।  
सागसा निनेक्क भाटो तरुवत्त् तिळिडु निङ्गान् ॥८६०॥

अर्थ—मोहनीय कर्म के उदय से इस अशुचिमय शरीर को देखकर प्रासक्त होना इस का निराकरण न करते हुए इस शरीर की काम वासना में लवलील होना यह अज्ञानी मूर्ख जीवों को ही प्रिय है। परन्तु ज्ञानी जीव इसके प्रति घृणा करते हैं। बड़े २ अश्रुवर्ती तीर्थकर सुख भोडकर इस अशुचिमय शरीर के द्वारा मोह छोड़कर मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। परन्तु अज्ञानी जीव मोहों की तीव्रता, पंचेन्द्रिय विषय वासना का गाढ प्रेम होने के कारण इसी में सुख शान्ति समझकर छोड़ना नहीं चाहता है। इसी प्रकार इस मूनि की दशा है। यह चारित्र्य मोहनीय कर्म का उदय ही यह कार्य कर रहा है। मांस भक्षी जीव भक्षण करने योग्य इस निष्ठ शरीर (मांस) में सुख समझने वाले ऐसे पापी जीव मोहांध जीव बार २ निष्ठ गत में से आने की भावना करते हैं। इस प्रकार वह विचित्रमति मुनि अपने महाव्रत से च्युत हो गये।

॥८६०॥

पुळु कुलं पोदिद याकं पुण्णिद नेन पोहंदिनेन् मुन् ।  
 नळु कुडंबिदन् कट्चंद्रं धार् वत्ता लेंडु तन्नं ॥  
 इळित्तिडा दळुक्कु चोरु पुळुक्कुल दिच्चं तन्नाल् ।  
 वळुक्कि नान् माट्टं याट्टं केडुक्कु मातवत्तिन् मादो ॥८६१॥

अर्थ—कृमि, कीटों से भरे हुए इस दुर्गंधमय शरीर के सम्पर्क से अपवित्र हुआ यह आत्मा अनाद काल से इस शरीर के मोह से ही आज तक संसार में दुःख का अनुभव करता आ रहा है। ऐसी अपने मन में भावना न करके अनेक निध और दुर्गंध युक्त मलों से भरे हुए शरीर पर मोहित होकर तपश्चरणा से वह मुनि पतिस हो गया ॥८६१॥

पोरि पुळत्तेळुंद भोगदासयं पोगच्चिट्टु ।  
 वेरुत्तेळु मनत्तरागि वीटिवय् विळयु मंड्रि ॥  
 मरुत्तेदि राग सेल्लिन् माट्टिडं सुळल्व रेन्नु ।  
 तिरत्तिनै निनैत लिळ्ळान् शीलत्ति निळिडु सेड्डान् ॥८६२॥

अर्थ—यह मानव प्राणी पंचेन्द्रिय भोग सम्बन्धी रागद्वेष को त्यागकर शुद्धात्म स्वरूप में एकाग्रमन से शांति से मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार न होने से इसके विरुद्ध विषयभोगों में राग करने वाला होता है। इस प्रकार भगवान के मुख से निकला हुआ श्रुतज्ञान व आगम को वह मुनि अनुभव न करके अपने धारणा किये हुए शीलगुण तथा तपश्चरणा से च्युत होकर विषयभोग में मोहित हो गया ॥८६२॥

उंडु नाम विट्टु वल्ला उरु विल्लै युलगत्तिन् कन् ।  
 वडुलाम् कूबलागि मासेलां तिरडं दंड्रि ॥  
 कंड वीडिल्लै कामं कन्नि नै पुर्वत्त काल ।  
 तंडु नाम् विट्टु वासे युवट्टु मेंडु नवि लादान् ॥८६३॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन, चेतना स्वरूप मेरा आत्मा है। इसका अनुभव न करते हुए आत्मा से भिन्न पंचेन्द्रिय विषय मेरा है, यह जड पुद्गल से युक्त शरीर ही मेरा है, ऐसी भावना करके इस संसार में अनेक प्रकार के दुःख का भोगने वाला कारण हो गया। इस शरीर के संबंध में भली भांति विचार करके देखा जाय तो अनेक प्रकार की कृमि कीटों का स्थान इन स्त्रियों का शरीर अत्यन्त निध है। ऐसा विचार करके यह मूढ जीव अपने सच्चे स्वरूप की पहचान न होने के कारण दुर्गंध से भरे हुए शरीर के मोह से अघोगति में पडकर अनेक दुःख से भरा हुआ संसार समुद्र में भ्रमण करता है। यह चारित्र्य मोहनीय कर्म की विचित्रता है। चारित्र्य मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से वह विचित्रमति मुनि कामांश होकर पशु के समान हिताहित का विचार न करके अपने पद से च्युत हो गया ॥८६३॥

विलंबिता प्राप्त माले दूमताल् वेधं कूबर् ।  
 दूर्ण ईतिन् दिच्छिन्न काळं ताम् दूरंबिद्वे पोल् ॥  
 मलं मन तवत्तु धेद कंदमुन् वसंगि माउ ।  
 निले निन् दिच्छिय पिन्ने नेरिळं इगळ् विट्टाळ ॥८६४॥

अर्थ—अत्यन्त सुगंधित फूलों को स्त्रियों के माथे पर धारण करने से वे पुष्प एकदम दुर्गंधित होकर मुरझा जाते हैं और मुरझा जाने पर वे स्त्रियाँ उनको फेंक देती हैं । और एक बार फेंक देने पर कोई उसको ग्रहण करने की इच्छा नहीं करता है । उसी प्रकार बुद्धिसेना नाम की वेश्या ने मुनि को घर के बाहर देखकर नमस्कार किया था । जब इनके मन में सम्यक्ज्ञान का अभाव देखा और वह देखा कि यह मुनि पद से चकृत हो गये हैं तो अपने मन में उस वेश्या ने ऐसा विचार करके उन मुनिराज को धिक्कारा ॥८६४॥

पुगळ् बरंबाये बुध्दि शेर्न याम् तोगे तन्ने ।  
 इगळवन् केळुं व कोवत् त्रिसैव सीगत्तीडेनि ॥  
 तगे नेडुं कुळलि माळं सारला मषामं तेडि ।  
 यगनग रेडुं पुवका नाव वीडिसामिं काना ॥८६५॥

अर्थ—तत्पश्चात् वहाँ विचित्रमति मुनि, उस वेश्या के द्वारा की जाने वाली विद्या को देखकर मन में बुराई का विचार ठान लिया कि इस वेश्या के साथ विषयभोग करने का उपाय सोचना चाहिये और वह घर उबर आकर सन्न ॥८६५॥

कईवन पुरुत्तु वेदन् गंधमित्तिर नैवाना ।  
 मुडल् सुवे त्तुं शेल्वा नुवप्प दोर् पडियि तूने ॥  
 मडेधनाय् समेत्तु काटि मद्रं व मसनालत् ।  
 तुडि यिडे बुध्दि शेर्न तन्नपं बुध्दि नामे ॥८६६॥

अर्थ—वह मांस भक्षण लोलुपी एक गंधमित्र नाम का राजा था । हेय उपादेय के विचार से शून्य हुआ वह विचित्रमति मुनि मन में विचार करता है कि इसी राजा के द्वारा मेरी इच्छा पूरी हो सकती है । इस कारण इस राजा को अपनी ओर आकर्षित कर लेना चाहिये । ऐसा विचार करके वह राजमहल में पहुँचा । और उनके रसोइया के साथ मिलकर वह मुनि अत्यन्त मधुर स्वादिष्ट मांस को लाकर उसको देने लगा । तब वह राजा रुचिकर मांस लाने वाले उस मुनि पर अति प्रेम करने लगा । वह राजा उस पर प्रसन्न होकर कहने लगा कि तुम इस मांस लाने के बदले में कुछ इनाम मांगो, तुम्हारी इच्छा की मैं पूर्ति करूँगा । यह सुनकर वह मुनि कहने लगा कि तुम्हारे नगर में जो बुद्धिसेना नाम की वेश्या है, उससे मेरी विषयभोग करने की इच्छा है । आप उसको पूरा कीजिये । ऐसा सुनते ही राजा ने तुरंत उस बुद्धिसेना वेश्या को बुलाकर आज्ञा दी कि तुम इस विचित्रमति के साथ विषयभोग करो । तब राजा की आज्ञा मानकर वह वेश्या उस मुनि को अपने घर ले गई ॥८६६॥



मौवलं कुळलीक्कागं मयंगि मादवत्तं विट्टुं ।  
 सेठिव ये काटि तीट्टु सेरिविट्टु पांक्क तन्नात् ॥  
 औ उडल् विट्टु वंदवो वल्लिय निष्वाणो याना ।  
 निष्वनत्ति यांङ्गि लोम पचत्ति इयंबस् केळा ॥८६७॥

अर्थ—सुन्दर रूप से युक्त उस वेश्या के साथ मुनि ने अपने पद से अमृत होकर विषय भोग करते हुए तथा मांस भक्षण करते हुए कुछ समय बाद ही आर्तद्व्यान से मरकर हाथी की पर्याय में जन्म लिया ॥८६७॥

अपिर परिट्टु नोविट्टवल्ल मुट्टुळ्ळि इंङ्गु ।  
 से पड उनरु तोंडु विरव शोत्त वाय ॥  
 द्विष्पच्चित्ति दंङ्गन शंगे येंदिल्ल मुलें नार्द ।  
 तुप्पुरळ् तोंडें सेव्वाय पयनिट्टु सोळ्ळि निङ्गात् ॥८६८॥

अर्थ—इस प्रकार वह हाथी अपनी इस पर्याय में पूर्व जन्म में किये हुए पाप के उदय से स्मरण कर आत्मा में श्लानि कर रहा है । और श्लानि होने को अपने निचः मांस मिश्रित भोजन को न खाकर चुपचाप खड़ा हुआ है । यह पूर्वजन्म में वेश्या के साथ मोहित होने के कारण मद्य सेवन करके दुर्ध्यान से मरकर हाथी हुआ है । ऐसा मुनि वज्रायुध ने कहा ।  
 ॥८६८॥

विरित्तिरं वेलिक्काल क्कवल्लर् पिळ्ळुम वेधो ।  
 येरि पुरे नरगसंङ्गि वीळ् विट्टार् तुंब वेळ्ळ ॥  
 तिरं पोरु कडलें नींगि तुरंङ्गुडन् सेरिट्टु नोर् पिन् ।  
 वड्ढेद्विर् कोळ्ळ वीडुं वानड दलगु मन्न् ॥८६९॥

अर्थ—पुनः वह मुनिराज कहते हैं कि हे राजा, रत्नायुध ! यह जीव अपने आत्म-स्वरूप को भली भाँति न जानने के कारण पञ्चेन्द्रिय विषय में लीन होकर अन्त समय में विषय कषायों के तीव्र परिणामों से मरकर अग्नि के समान रहने वाले घोर नरक कुण्ड में जाकर अनेक दुखों को भोगता है । इससे देवगति व मनुष्य गति प्राप्त नहीं कर सकता है । इसलिये हे राजन् ! जन्म मरण रूप संसार को त्यागकर मनः पूर्वक प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम धारण कर बारह प्रकार के तप, आदि करने से ही देव पद व मोक्ष पद की प्राप्ति इस प्राणी को हो सकती है ॥८६९॥

विले ला मनिये विट्टु कासेले मेघ संङ्गि ।  
 तत्तेव नाल् ताये विट्टु तन्नाटि याळ् योवस् ॥  
 तिलेइला भोग मेवि निङ्गु नल्लरत्ते नींग ।  
 तिले कुला मकर पैबु नेदु तोळ् बेंड वेङ्गात् ॥८७०॥

अर्थ—हे अत्यन्त सुन्दर नवरत्न आभूषणों से सुशोभित राजा रत्नायुध ! इस संसार में शाश्वत रहित पंचेन्द्रिय सुख को भोगते हुए अत्यन्त श्रेष्ठ आत्म स्वरूप को भूल जाना ऐसा है जैसे एक मनुष्य अपने हाथ में रखे हुए रत्न का मूल्य न जानकर एक कौबे को उड़ाने के लिये वह रत्न फेंक देता है । उसी प्रकार मनुष्य जन्म को गंवा देता है ।

भावार्थ—इस संबंध में शुभ चंद्राचार्य ने अपने ज्ञानार्णव ग्रंथ में श्लोक १२ में कहा है ।

“अत्यन्त दुर्लभेष्वेषु देवाल्लब्धेष्वपि क्वचित् ।  
प्रमादात्प्रच्यवंतेऽत्र केचित् कामार्थलालसाः ॥  
सुप्राप्यं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे ।  
हस्ताद् भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे ॥

मानव जन्म, उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इन्द्रियों की पूर्णता, बुद्धि की प्रबलता, साता-कारी संबंध यह सब अत्यन्त दुर्लभ है । पुण्ययोग से इनको पाकर भी जो कोई प्रमाद में फंस जाते हैं व द्रव्य के और काम भोगों के लालसावान हो जाते हैं वे रत्नत्रय मार्ग से भ्रष्ट रहते हैं । इस संसार रूपी समुद्र में रत्नत्रय का मिलना मानवों को सुगमता से नहीं होता है । यदि कदाचित् अवसर आ जावे तो इत्थंश्रय धर्म को प्राप्त करके रक्षित रखना चाहिये । यदि सम्हाल न की तो जैसे महा समुद्र में हाथ से गिरे हुए रत्न का मिलना फिर कठिन है उसी तरह फिर रत्नत्रय का मिलना दुर्लभ है ॥८७०॥

कडलन् तोंडु नोलथकानले नीरेंडोडि ।  
युड लिळं वुळं पोल उरुदि योंडोर्व विडि ॥  
इडरिर्नेईनु मिष्ठा पइल् पुलत्ति वोर चंड्रेन् ।  
पडुतुयर् नरगं लसिर् पवंपनो थडिगळेंड्रान् ॥८७१॥

अर्थ—राजा रत्नायुध इन सब बातों को मुनिराज से सुनकर जैसे हरिण अपने से बलवान व्याघ्र को देखकर चौकता है, उसी प्रकार चौंक कर जैसे हरिण गर्मी से तापकर इधर उधर भटकता है उसी प्रकार राजा रत्नायुध अपने मन में संसार संबंधी विषयों से अत्यंत विरक्त होकर विचार करने लगा कि आज तक मैंने अपने पास रहने वाले आत्म-सुख को न समझते हुए मिथ्या ताप ऐसे क्षणिक इन्द्रिय सुख में मोहित होकर संसार में अग्रण किया । इस प्रकार मन में पश्चात्ताप करते हुए मुनिराज के शरणों में पड़कर प्रार्थना करने लगा कि हे भगवन् ! मैंने पंचेन्द्रिय सुखों को ही शाश्वत सुख समझा इससे मेरी आत्मा मलिन व दुखी हो गई है । सुख क्षण मात्र भी नहीं मिला है ॥८७१॥

धेरि इडं पवंगम् पोंडु मिळ पिडि कळिरु मोंडुम् ।  
करिमद वळिये पोंडुम् कानत्ति नसुनं पोंडुम् ॥  
विरगिनार् टुडिर् पोम्नं विळंगि मीने पोंडुम् ।  
तेरिविडि नुगरं व वेळ्ळाष् तीर यान् टूरप्प मेंड्रान् । ८७२॥

अर्थ—पुनः रत्नायुध राजा कहने लगा कि हे प्रभु ! जिस प्रकार पतंग दीपक में मग्न होकर अपना प्राण गंवा देता है, हाथी स्पर्शन इन्द्रिय के अधीन होकर तथा मछली रसना इन्द्रिय के अधीन होकर मर जाती है, भौरा घ्राण इन्द्रिय के वश होकर प्राण खो देता है, हरिण कर्णोन्द्रिय के विषय के अधीन होकर अपने प्राण खो देता है । इस प्रकार जब जोव एक २ इन्द्रिय भोगों के अधीन होकर अपने प्राण खो देते हैं, तब जो मनुष्य पंचेन्द्रिय विषयों को भोगता है, उसकी क्या हालत होगी । इसलिये हे प्रभु ! पंचेन्द्रिय सुखों के लिये जो पाप कार्य नहीं करते थे वे मैंने किए । मैं अब महान्त दुखी हूँ । मेरी आत्मा महान कष्ट भोग रही है । अब इस संसार में परिभ्रमण न करूँ, इस कारण जिन दीक्षा धारण करने की उत्कंठा मेरे मन में जागृत हो गई है । आप मेरे पर अनुगृहीत होकर मुझे दिग्म्वरी जिन दीक्षा देवें । ऐसे मुनि के चरणों में पडकर प्रार्थना की ॥८७२॥

धिनं पयन् द्रेन्नं वेंगै मुन विडंपोल वंजि ।

शिनक्कळिर् द्रु ल्ळवन् शेंवोन् मुडियिनं मगनुक्किा विट् ॥

तिनत्तिडे नींगि पोपु मारेन वेंदु कोर्गं ।

मिनर् कोडि कुळात्तु नींगि मीळंडु पोय् वनं पुक्काने ॥८७३॥

अर्थ—मुनिराज ने जिनदीक्षा की सम्मति दे दी । तब वह रत्नायुध अपने नगर में आता है और अपने पुत्र को बुलाकर उसका राज्याभिषेक कर देता है । और पींजरे में बन्द पक्षी जैसे पींजरा खुलते ही तुरन्त उड़ जाता है उसी प्रकार वह रत्नायुध मुनिराज के चरणों में आ गया ॥८७३॥

इडे परावेट्ट कालत्तीयु मोर् मुगिले पोलुं ।

वडिवुडे तडक्कं वेदन् वज्र दंतन् पादम् ॥

मुडियुर वनगि मुवार् तोळु वेळु वडिवं कोडा ।

निडि मुरसधिरं व येंगु मेत्तोत्ति परं व दंडु ॥८७४॥

अर्थ—वह रत्नायुध वज्रदन्त मुनि के चरणों में दोनों हाथ कमलों की कली के समान जोडकर विनीत भाव से नमस्कार करके प्रार्थना करता है कि हे स्वामी ! तीन लोक में सम्पूर्ण जीवों के लिये पूज्य ऐसी योग्य जिन दीक्षा ग्रहण करने की मेरी इच्छा हो गई है । वह दीक्षा मुझे प्रदान करें । मुनिराज ने प्रार्थना सुनकर तथाऽस्तु कहा और जिन दीक्षा की स्वीकृति दे दी । दीक्षा लेने के समय अनेक प्रकार के मंगलाचरण बाजे आदि बजने लगे ।

॥८७४॥

वरने इरुंक्कु वज्ररायुषं द्रु रं वन्ना ।

सरदम माले मैवन् कादला लगत्ति रंवा ॥

ळुरेइ तुक्करिय वन्नुं भगनोडुं तुरंबिट्टु ल्ळं ।

पुरंयला नींगि निडु पुगलं वरं व तोट्टाल् ॥८७५॥

अर्थ—जिस समय रत्नायुध की दीक्षा हो रही थी उस समय उसकी माता रत्न-माला जो राजमहल में बैठी थी तुरन्त ही उसने भी मुनिराज से दीक्षा ग्रहण करली और उसने अनेक प्रकार के व्रत उपवास करके अपने शरीर को कृश कर दिया ॥८७३॥

कच्चनि मुलै नार् पार् कावल् पोद्वत्तिन् कष्णं ।  
मेच्चिय मनत्तनागि वेइलिनं यादि योगिन् ॥  
पच्चुदि इंड़ि निड्डु कालंगळ् पलवु नोद्विर् ।  
तच्चुद कर्प पुक्का नरवन मालै योडुं ॥८७६॥

अर्थ—तत्पश्चात् रत्नायुध जैसे राजमहल में रहते समय पंचेंद्रिय विषयों में आनंद भोगता था उससे भी अधिक आनंद दीक्षा लेने पर तपश्चर्या करते समय भोगता था । और निरतिचार पूर्वक तपश्चरण करते हुए अन्त समय में सल्लेखना विधि से रत्नायुध मुनि और उनकी माता रत्नमाला दोनों ने सन्यास विधि से शरीर छोड़ करके दोनों अच्युत नामक कल्प में देवपद को प्राप्त किया ॥८७६॥

इरुवत्तीराळि कालत्तिरुवत्ति रायिरसान् ।  
डोरुवित्तान् ममुद मुन्ना वुंवरिन् पत्तं युट्टार् ॥  
मरुवित्तान् योगि निड्डान् वज्जरायुधनु पिन्लं ।  
नरगत्ताळ् उंरविन् शं गं नविट्टु वत् नरगर् कोवे ॥८७७॥

अर्थ—आदित्य देव कहने लगा कि हे धरणींद्र सुनो ! इस प्रकार अच्युत कल्प को प्राप्त हुए वे दोनों जीव बाईस सागर आयु से युक्त और बाईस हजार वर्ष में एक बार मानसिक आहार लेने वाले हो गये । इस प्रकार वे देवगति के सुख को अच्छी तरह से अनुभव करने लगे । इधर वे वज्रायुध मुनि आत्म योग में लवलीन थे । अब पीछे कहे हुए नरक में रहने वाले सर्प के जीव के विषय में कहूंगा । उसकी लक्ष्य पूर्वक सुनो ॥८७७॥

परुमित्त कडल्गळ् पंक प्रयेर् पत्तुं पेट्टु ।  
नरगत्ति नरिद्विर् पोंदु नाळ् वगै याळि कालं ॥  
तिरत्तावरतीर् सेंडु तीयवान् तुयर् मुट्टु ।  
भरवत्तिर् कच्चं येन्नुं पुरत्तिन् वेइ नानान् ॥८७८॥

अर्थ—उस सर्प का जीव पंकप्रभा नाम के चीथे नरक में उत्कृष्ट दस हजार वर्ष की आयु का अनुभव कर वहां से आयु पूर्ण कर त्रस स्थावर पर्याय में जन्म लिया । और वहां अनेक दुखों का अनुभव करने के बाद इस भरतक्षेत्र संबंधी एक देहात में भील होकर उत्पन्न हुआ ॥८७७॥

ताकरा किररा नेन्नुं वेइन् टन् मनैवित्ताळ् ।  
वारिनै यनैयक कोगै मंगि तन् सिखवन् निषक ॥

तारुण नागि तोंडि तलेला ताळतुंडम् ।

कुरेरि कवरंद दुप्पान् कोडुमयार् कनखि योप्पान् ॥८७६॥

अर्थ—उस भील का नाम तारुण किरण था । उसकी स्त्री का नाम मंगी था । उन दोनों के अतिसार नाम का पुत्र हुआ । उस पुत्र का शरीर अत्यन्त काला था । वह सदैव दुष्ट कार्य किया करता था ॥८७६॥

पाबंता नुरुवन् कोडं वुइरेयुं पडुक् वेडि ।

चापं शंज चरंगळेंदि तिरिगिडु तनैयान् वंडु ॥

कोबंता नाखि युळ्ळान् कोलं इला नंदत्तोडुं ।

वेपंता नुडर् गट् काकि बिलंगन् मेलेरि नाने ॥८८०॥

अर्थ—वह अतिसार क्रम से बढ़तेर यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ । वह अत्यन्त क्रूर व दुष्ट स्वभाव का हो गया था । वह निरपराधी प्राणियों की हिंसा किया करता था । अन-तानुबंधी क्रोध से युक्त था । ऐसा वह भील हिंसानन्द में आनन्द मानने वाला था । एक दिन हिंसा करते २ वह उसी पहाड पर चला गया ॥८८०॥

वरंनिशं योगि निडु वज्रायुध नै काना ।

वेरियन बिलित्तु बेरत्तेळुं व दोर् कोवति याल् ॥

वरं नै मूखकु वान् पोर् कनत्तिडं वंडु कूडि ।

तेरिबिलान् सैंदि तीये शेप्पुवर् करिय वोंडु ॥८८१॥

अर्थ—उस पर्वत पर जाने के बाद पर्वत की चोटी पर प्रतिमायोग में स्थिर उन वज्रायुध मुनि को देखते ही उस भील ने उनके पास जाकर अत्यंत क्रोध से उपसर्ग करना प्रारंभ कर दिया । उस समय वह भील किस प्रकार मुनिराज पर उपसर्ग कर रहा था—वह कहने में नहीं आता ॥८८१॥

कूर् नुनं पगळि कोंडु शेबिइडें कुडैयुं कुत्तुं ।

कार् मुगं कोंडु निडु मत्तगत्तडिक्क कैंयिर् ॥

कूर् मुळिन् शलागं येंटु कुरंगिडं कोडिये सुट्टि ।

मोर् बिलक् कडैयुं पावत्तडिक्क नोइन् मुळं ये निडुं ॥८८२॥

अर्थ—उस भील ने अति तीक्ष्ण बाण को अपने हाथ में लेकर उस वज्रायुध मुनि के घुटने में मारना शुरू किया और अपने हाथ में धनुष लेकर उनके सिर पर मार दिया । तीक्ष्ण आयुध को शरीर में घुसाना, कांटेदार लकड़ी से मारना, शरीर को घसीटना आदि २ अनेक प्रकार के उपसर्ग किए । महान उपसर्ग करने से मुनि के शरीर से इस प्रकार रक्त बहने लगा कि जिस प्रकार पहाड से पानी की धारा बहकर नीचे गिरती है । पुनः उस कांटेदार लकड़ी को लेकर उन मुनिराज को मारना प्रारंभ कर दिया ॥८८२॥

अच्छु मुळ् कौड् सुट् मळित्तिडुं वर वाणि ।  
 युच्चि यट् कुडेंत्तिळुत्ति तोडि पंगेरियुं कल्लत् ॥  
 कंथिले कनेयं कोत्तु कावळ वेव वाणि ।  
 येच्चुर तौड् मिव्यारिडुंवे कळनेगं शंवान् ॥८८३॥

अर्थ—उस भील को इतने उपसर्ग से शांति नहीं हुई तब बड़े २ कांटेदार डंडों से मुनिराज को मारने लगा और कांटे मस्तक पर चुभाना, परधर बरसाना, कंकर फेंकना इत्यादि उपसर्ग करते हुए उन पर बाणों की वर्षा करने लगा । इस प्रकार अनेक प्रकार के घोर उपसर्ग उन मुनिराज पर किये ॥८८३॥

येरि सोरिवट्ट वष्ण मिचन् शंद विडुंवे यल्लान् ।  
 सैरिय वौड्ढिडि निड् मुनिचन्नु पीरुत्तु शिदं ॥  
 वरम नट्टि यानुं तोडुं सेंड् तन्नुडुंबु नीगि ।  
 तिरुमलि युसगतुच्चि सेव्वट्ट सिध्व पुक्कान् ॥८८४॥

अर्थ—उस भील के द्वारा किए गए उपसर्गों की ओर ध्यान न देते हुए वह वज्रायुध मुनि अपने आत्मध्यान में लीन होते हुए, आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, सस्थान विचय ऐसे चार प्रकार के धर्म्यध्यान को अपने में भाते हुए अपने शरीर को त्यागकर के वह अर्हमिद्र देव हो गये ॥८८४॥

मुप्पत्तु मूड् तन्नाल् मुरणिय वाळि कालं ।  
 मुप्पत्तु मूड्दि यांथा इर मिडें विट्टु मुष्ठा ॥  
 मुप्पत्तु मूड् पक्क मुडर् पिडें मुडिबु पेट्टान् ।  
 मुप्पत्तु मूड् विच्चारिनें ला मुनिचन् ट्राने ॥८८५॥

अर्थ—सर्वदोष प्रायश्चित्त विधि को निरतिचार रूप पालन करने से वह वज्रायुध मुनि सर्वार्थसिद्धि नाम के अर्हमिद्र स्वर्ग में देव हो गये । उनकी आयु तीस सागर की और तैतीस पक्ष में एक बार श्वास निःश्वास लेते थे । तैतीस हजार वर्ष में एक बार मानसिक आहार करते थे ॥८८५॥

अवथि तन् विमानत्तिन् कोळ् नाळिगै येळुं सेड्डु ।  
 भुवदि गळ् यादुभिडि योप्पिला उर वसाळे ॥  
 शिवमत्ति यारैप्पोल विवत्तु शरीविडुंबान् ।  
 ट्रवनेरि निड् बीरन् ट्रन्मै या ररिय वल्लार् ॥८८६॥

अर्थ—उस सर्वार्थ सिद्धि कल्प में रहने वाले देवों को अपने विमान से नीचे रहने

बाले त्रस नाडी तक के जीवों को अपने भ्रवधिज्ञान द्वारा जानने की शक्ति होती है। और वे सिद्ध परमेष्ठी के समान रागरहित होकर बीतराग भावना से युक्त होते हैं। और स्त्री रहित बाल ब्रह्मचारी रहते हैं। पूर्वजन्म में अच्छे दुर्बल तपश्चरण करने समय उस भील के द्वारा घोर उपसर्ग को सहने वाले वीर पुरुष वषायुष मुनि के समान कोई दूसरा नहीं है ॥८८६॥

कून् शिलै पगळि कोत्तु कोडिय वन् कुळय वांगि ।  
 मान्गळं मरेयुं बीळत्तु मुनिवने वरत्तिप्पावि ।  
 तान् शिल नाळि लेळा नरगत्तै शौरिदु काटिर् ।  
 देन् सुडुतीयनी पोर् दिगैत्तु पोय् नितत्तु बीळ वान् ॥८८७॥  
 बीळ् वंब कनत्तु वंडाल् विळ्प्पर वदुक्कि इट्टु ।  
 सूळ् देव रुक्कु शेविन् कुट्टु व तुंडंबु काटिट् ॥  
 टाळ् व वन् दुन्नै वांगि शक्कि सिट्टैर् सिट्टाट्टु ।  
 सूळ् वं भुळ्ळिळ्ळव मेट्टि तुयरेगळ् पल्लैर् शेवार् ॥८८८॥

अर्थ—वह पापी भील जंगल के पशु पक्षियों को मारकर खाया करता था। इस तीव्र पाप के उदय के कारण से थोड़े दिनों में मरकर वह सातवें नरक में गया।

उस नरक की भूमि में उस भील का जीव जाकर पड़ते ही वहाँ के पुराने नारकी महान घोर दुख देने लगे। ताम्बे को गर्म करके गलाकर प्रमृत बताकर उसके मुँह में डालते। जिस प्रकार घाणी में तिनों को डाल कर तेल निकाला जाता है, उसी प्रकार उसको घाणी में पेलने लगे। अत्यंत तीक्ष्ण काटेदार वृक्ष पर चढ़ाकर उसको ऊपर से नीचे गिराते थे। नीचे गिरते ही जैसे बर्गर पानी के मछली तडफडाती है, उसी प्रकार वह नारकी तडफडाता था। इस प्रकार घोर दुख सहता था। उस नारकी की आयु तेतीस सागर की थी और पांच सौ वनुष ऊँचा उसका शरीर था ॥८८७॥८८८॥

पावै तान नडि पंदिर पाविवान् पुनेडै यूट्टे ।  
 योविला वेळुंनु बीळ् वेड्युव विल् मुयर्दु वंपार् ॥  
 ट्राविला तुंब मुट्टाम् तभिल्लै तळ्कोन्नाद ।  
 वायु वा सांगु पेट्टु वाळि कालत्तै येड्दाय् ॥८८९॥  
 आरवत्ता लोरुव नानै यायिना नोरुव निडु ।  
 वेरस्ता नरगसाळंब विळंबिय विलार्गं लि व ॥  
 भारत्तै मुडिय सेंद्रार् पन्नर् किरैव पारा ।  
 यार्ब शेट्टुं लिडि पने नयक्किन्नं कंडाय् ॥८९०॥

अर्थ—वह भील का जीव नारकी पहले भव का सत्यघोष नाम के मंत्री का जीव था। इस प्रकार अप्रसन्न राग परिणति से सिंहासेन राजा का जीव हाथी की पर्याय में हुआ

या । उस सिंहचन्द्र मुनि महाराज के साथ बैर भाव धारण करने वाले सत्यधोष नाम के मंत्री ने कई बार नरक में जाकर अत्यन्त दुःख भोगकर जन्म मरण किया ।

उस समय में राग द्वेष परिणति से रहित वह जीव कर्म से मुक्त होकर संसार बंधन को तोड़कर अनन्त सुख को प्राप्त हो गया । इसलिये भवन लोक के अधिपति हे धरणींद्र ! इस कर्म बंध का कारण एक बैरत्व ही इस जीव का है । और कोई नहीं है । इसलिये आप भली प्रकार से मनन करके विचार करो ऐसा आदित्य नाम के देव ने धरणींद्र से कहा ॥८८६॥८६०॥

इति वज्रायुध मुनि सर्वाभिसिद्धि नाम के विमान में जाने  
वाला आठवां अध्याय पूर्ण हुआ ॥





## ॥ नवम अधिकार ॥

✽ बलदेव का स्वर्ग जाना ✽

मंदिर् मघन् ट्मिन् मारुमारागि कीळ्मे ।  
 विविद्य भेंकु शेळ्ळु येळ्ळे ये म्मुडिय चंद्रार् ॥  
 दंडवर् तम्मिर् कूडु मळवि निघ्न ट्ठिलय नाय ।  
 भेंदनुं तागु मुट्ट माट्टिनी युरेक्क लुट्टेव ॥८६१॥

अर्थ—सत्यघोष मंत्री व राजा सिंहसेन इन दोनों में बँर होने के कारण तथा मंत्री का दुर्गुणी होने के कारण मंत्री का जीव सातवें नरक में गया और सिंहसेन राजा सद्गुणी होने के कारण सर्वार्थसिद्धि में गया । इस प्रकार उन शुभाशुभ गुणों के अनुसार उनको गति का भी बंध होता है । प्रत्येक जीव अपने परिणामों के अनुसार शुभ अशुभ गति को प्राप्त होता है । पुनः मंत्री व राजा का जीव मध्य लोक में आकर जन्म लेगा और उनकी पटरानी रामदत्ता देवी तथा सिंहसेन राजा का छोटा राजकुमार और वह रामदत्ता पटरानी इन दोनों की कथा ब्रामे कहैगा । ऐसः आदित्य देव ने धरमोद से कहा ॥८६१॥

धोडोडु तोळर्गळ्, शेट्टि पोरिवंडुम् नैमिरं पाड ।  
 ताडोडु म्मुक्कळ् वीयुं घातकी युडैय वीप ॥  
 मोविय पुगैग नान्तुशयिर मुळ्ळ गंडु ।  
 वेविगं हरंडिर् चक्क वाळ्ळतिन् विळंगु निड्डे ॥८६२॥

अर्थ—भरत क्षेत्र में घातकी खंड नाम का द्वीप है । उस द्वीप का चार लाख योजन विस्तार है । उसके चारों ओर वैरा हुग्रा लवण समुद्र है । उसके बाद चारों तरफ कालोदधि समुद्र है । इन दोनों समुद्रों से घिरा हुग्रा वज्रवेदी के समान और चक्रवाल गिरि के समान कृत्ताकार रूप से वह द्वीप प्रकाशमान है ॥८६२॥

मंवर मिरंडु यांड कुलमल्ले पन्निरंडि ।  
 मंवरत्तारु नाले लामव नगत्तु कीळ्वान् ॥  
 मंवर मवकुं मेल्वारु शीकुर्व वडकरे कट् ।  
 कांवल्ले यन्न नाडु कायकं तगय दुंडे ॥८६३॥

अर्थ—प्रथकार ने इस घातकी खंड द्वीप का वर्णन किया है । इस द्वीप में गंगा सिंधु सीता सीतोदा आदि आदि प्रठाईस नदियाँ हैं । वहाँ बहने वाली सीतोदा नाम की नदी के किनारे वर गंधिला नाम की एक नगरी है ॥८६३॥

विलम्बल् धीळार बि वेळ मुम्मंभ तेरल् वेरि ।  
 कलंबुरन् शोड्डु माध कयंबल्ले पट्टु काले ॥  
 संजलं पिरिंभ काव्लार, तमैक्कंड पोळ्ळि ।  
 ललंगलं कुळलिनार् कोल मर् बि नो बोळ्ळु नादुळ् ॥८६४॥

अर्थ—उस घातकी खंड द्वीप में रहने वाले ऊंचे २ पर्वतों पर से पानी के झरने नीचे बह २ कर छोटे २ तालाब आदि के रूप में बहते हुए सरोवर में मिल जाते हैं। इस प्रकार सर्व प्रकार शोभने वाली गंधिला नाम की नगरी है। उस नगरी के बहकर जाने वाले पानी में जिस प्रकार छोटे २ शंख, मोती आदि बहते जाते हैं और उनकी आवाज होती है उसी प्रकार उस नगर में रहने वाली स्त्रियों के जाते आते समय उनके पांव की पैजणियों के मधुर २ शब्द सुनाई देते थे ॥८६४॥

कदळि इन् कुलै गळ् शेंपोर् कुळुं कनि कांडु, नांडु ।  
 मवल्ले यं शेंरिंभ वट्टं मईल्लन्न चाय लार्त्तं ॥  
 कुवल्ले यम् पुदल्वर्कुल्ल कोडुत्तेडुत्तुवक्कुं शेंधन् ।  
 मवल्लेय माड मूदुरयोदि मानगर मामे ॥८६५॥

अर्थ—उस गंधिला देश के मुख्य २ नगर सुन्दर और सोने के वर्ण के समान शोभायमान हैं। उक्त देश में कदलीफल, ताड़ वृक्ष के फल अनेक प्रकार के पेड़ चारों ओर महान सुशोभित होते थे। वहाँ के लोग कदली के गुच्छे, सुपारी के गुच्छे, ताड़ के गुच्छे लाकर अपने २ घरों में हमेशा बांधे रखते थे। घर में रहने वाले छोटे बच्चे जब उन गुच्छों को देखते थे तो उनको लेने के लिये रोने लग जाते थे। तब उन बच्चों को उनके माता पिता उन गुच्छों के फल फूल दे देते थे ॥८६५॥

इरबि पोट्टाब दीपत्तिळैवर् ववन मेन्नु ।  
 मरबिंभ मलरत्तोडु, मरसन् दानरुयदासन् ॥  
 धरं पुरं माड मूदूर् मट्टिबर् किरैवन् ट्रेबि ।  
 सुरि कुळर् चैव्वाय तोगे सूववे येंबाळ्ळाम् ॥८६६॥

अर्थ—उस नगर में बड़े २ महल शोभायमान होते थे। उस गंधिला देश से संबंधित अयोध्या नाम की नगरी थी जिसका अहंदास नाम का अधिपति था जो अत्यन्त प्रतापी था। जिस प्रकार सूर्य उदय होते समय अपने प्रकाश से कमलों को प्रफुल्लित कर देता है उसी प्रकार वहाँ का राजा अपनी प्रजा को तथा अपनी स्त्री को सुख देने वाला था। उसकी पटरानी का नाम सुरता था जो सर्व गुण-सम्पन्न महान सुन्दर थी ॥८६६॥

अञ्जुवे किरैव नाय वरदन माले येद ।  
 कच्चरिण मुल्ले नाटकु पुदल्वनाम् पिरंभ काले ॥

मन्धु बेल् बेंदर कंजियभवर नडुंद वैयत् ।

बिष्णे ये निरंस्तु वीतभय निवनेडु सोमार् ॥८६७॥

अर्थ—उस अच्युत कल्प में देव हुमा रत्नमाला प्रायिका का जीव वहां के देवगति का सुख का अनुभव करके वहां से च्युत होकर अयोध्या का अधिपति राजा अर्हदास की पटरानी सुरता के गर्भ में प्राया और नवमास पूर्ण होने के बाद उसने पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्रोत्पत्ति की खुशी में राजा अर्हदास ने अत्यन्त आनन्दित होकर उस देश के यात्रकों की इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार के दान दिये। और उस पुत्र का नाम संस्कार करके वीतभय नाम रखा ॥८६७॥

मदुंब मभन् द्रुबि बडिनुनं पगलि वाट् कट् ।

शिद्रिडं परबे यल्गुर् शिनदत्ते शिरुव नागि ॥

सुद्रिय कावलाल बंदि रतनायुंदनुत्तोडु ।

बेट्टि बेल्वीरन् पेडं बिबीड नेंडु सोमार् ॥८६८॥

अर्थ—उस अर्हदास की दूसरी रानी और थी जो सर्वगुण सम्पन्न थी और उसका नाम जिनदत्ता था। उस जिनदत्ता के गर्भ में पूर्व जन्म के रतनायुध राजा का जीव जो तप करके अच्युत स्वर्ग में देव हुमा था, वह वहां देवलोक का सुख भोगकर आयु के अवसान पर इस जिनदत्ता रानी के गर्भ में प्राया और नवमास पूर्ण होने के बाद पुत्ररत्न को जन्म दिया। और नाम संस्कार करके उसका नाम विभीषण रखा गया ॥८६८॥

राम केशवर् गळ्ळगि येळिन् यदि नीळ मेग ।

तरा तळ तिळिब पोल्वारु बरुयम् पुगळुं पोंडुम् ॥

करामलि कडलिनोद मदि योडु पेरुगुं वण्णम् ।

पराभवं पगेवर् काकुं यडियिनाल् वळलु सेंडाल् ॥८६९॥

अर्थ—वह विभीषण अत्यन्त सुन्दर शरीर वाला था। जिस प्रकार नीले रंग का बादल नाचे उतर कर प्राया हो। ऐसे वे वीतभय (बलराम) और विभीषण (केशव) पूर्ण-मासी के चंद्रमा के समान प्रकाशमान मालूम होते थे। क्रम से ये दोनों वृद्धि को प्राप्त हुए। ये महान बलवान तथा शत्रु राजाओं को परास्त करने वाले थे ॥८६९॥

कुल मल्ल इरंडु पोल कोट्टुव कुमर रोंगि ।

निल मगट् निरंब राग निडु तंपगवन् बेंबि ॥

मल्ले मिमै परुदि योडु माल् कड लिरंडु वंदु ।

निलमिशे पोरुळ पोंडु निडु पोर् तोडंगि नारे ॥८७०॥

अर्थ—ये दोनों पराक्रमी कुमार कुलगिरि पर्वत के समान उन्नत होकर भली भांति प्रजा के प्रति वात्सल्य भाव रखकर राज्य करते थे। इस प्रकार न्यायपूर्वक राज्य करते र

देखकर उनके विरोधी वासुदेव और प्रतिवासुदेव तथा धीतभय और विभीषण ये दोनों हाथी पर बैठकर सेना सहित युद्ध स्थल की ओर प्रस्थान करने लगे ॥९००॥

सुरंगं कडिरंगळान् पुरा वेरि वीर राणात् ।  
करि मगरंगळान् कावर पडे कडल दाग ।'  
पोर पडे वीरर् कौवाळ् पुरंडळ् मीमा लाग ।  
करै शेरि नाबाय् तेराय् कावलर् कामराणात् ॥९०१॥

अर्थ—युद्ध करते समय दोनों ओर के योद्धा अपने २ घोड़ों पर बैठकर परस्पर अपने प्रायुधों का प्रयोग करते थे । जिस प्रकार समुद्र में मगरमच्छ इधर उधर भागते हैं उसी प्रकार योद्धा लोग रणभूमि पर दौड़ धूप करते थे । जिस प्रकार हाथी को रथ में जोता जाता है और वह हाथी उस रथ को खींचता है उसी प्रकार योद्धा परस्पर एक दूसरे को घसीट कर ले जाते थे । वे सैनिक योद्धा अपने २ हाथों में शस्त्र लेकर युद्ध करते समय ऐसे प्रतीत होते थे, मानों समुद्र में छोटी २ मछलियां उछल कूद कर रही हों । उस समय यदि उस रथ को देखा जाय तो वे रथ समुद्र में बहकर जाने वाले बड़े २ जहाज के समान प्रतीत होते थे । इन राजाओं को देखा जाय तो उस दल में छोटी २ मछली के समान प्रतीत होते थे ॥९०१॥

विलोडु विल्बंदेट् वेलोडु वेल्बंदेट् ।  
मल्लोडु मल्ल लेट् वाट् पडे वाळोडेट् ॥  
पोल् कलि याने योडु तेर्गळुं तम्मिलेट् ।  
मल्लळं पुरवि योडु पुरवी नाट् शैव पोरे ॥९०२॥

अर्थ—ये दोनों राजा युद्ध करते समय में अपने-अपने हाथों में शस्त्र, बल्लम, चाके आदि लेकर परस्पर में घनघोर युद्ध करते थे । जैसा प्रतिपक्षी राजा अपने हाथ में शस्त्र लेता था उसी के समान दूसरी ओर के राजा भी वैसे ही शस्त्र लेकर लड़ते थे । और हाथी के ऊपर बैठकर युद्ध करते समय जो प्रायुध वे रखते थे उसी के समान दूसरे पक्ष वाले भी शस्त्र रखते थे । इस तरह घमासान युद्ध करने लगे ॥९०२॥

काळपोर कवलि कालं कलि कुडन् मडिबदे वीर ।  
कोल् पोर् कोडिड् मीडं कुडे योडु मड् वीळंब ॥  
वेल् पोर् कुरुवि कुंवि कुमिळि विट्टेसुंद नील ।  
माल्वरै शैवर् ट्राविन् कुमिळि बंदेळुं व वीडे ॥९०३॥

अर्थ—उस युद्ध में जिस प्रकार बड़ी भारी कांथी या सूकान उठने पर जंगल के बड़े २ वृक्ष उखड़ कर गिर जाते हैं, उसी प्रकार युद्ध में शस्त्र के द्वारा परस्पर में सज्जदम का भी आस होता था । उन प्रायुधों के प्रयोग से हाथियों के शरीर में बाण चुभाते थे । और उनके

शरीर में से रक्त की धारा इस प्रकार निकलती थी मानों नीलमणि के पर्वत के अंदर से पानी की धारा निकलती हो ॥६०३॥

विपंडे शरंगळ् बीळं दु मेगंगळ् पोल मायं व ।  
मरुपडे युडन् टूळं दु मडंगळ् पोर पोरुदु मायं व ॥  
विपंयं पिळं व वंवा लेळिलिइन् मिन्ने पौड् ।  
कोट् वर कुडेग लोडि नडंदुकरुवि धारे ॥६०४॥

अर्थ—वर्षा काल में जिस प्रकार जल वृष्टि होती है उसी प्रकार दोनों राजाओं के दल में सिंह के समान बाणों की वर्षा होती थी। इस प्रकार परस्पर घमासान युद्ध हो रहा था। उस समय शस्त्रों के द्वारा हाथियों को छिन्न भिन्न कर दिया अर्थात् महान तीक्ष्ण शस्त्रों से हाथियों के टुकड़े २ कर दिये। वे शस्त्र बिजली की चमक के समान चमकते थे। नदी के प्रवाह के समान उन हाथियों का रक्त निकलकर बहता था। उनके खून में मरे हुए योद्धा बह २ कर जाते थे ॥६०४॥

काल् पोर पेन्न नेटि कनिगळ् पोर् टूलं गळ् बीळं व ।  
कोल पोर कुळित्त यानं करुवि शेर् कुंडु मोत्त ॥  
वेल् पोरविकडंड वीरर् वेर्गन्गर् विळुम नोइन् ।  
माल् पोरविकडंड नैजिन् मैवर् पोन् भयंगि नारे ॥६०५॥

अर्थ—युद्ध के समय ऐसा प्रतीत होता था मानों ताड़ वृक्ष के फल पककर जोर की हवा चलने से गिर जाते हैं। उसी प्रकार उस भीषण युद्ध में से योद्धाओं के मस्तक कट २ कर गिर जाते थे। कई शस्त्रों के प्रहारों से मूर्च्छित होकर गिर जाते थे ॥६०५॥

उरुमिडि पुंड नील मले यन उरुंड वेलन् ।  
वरैमिशै परुदि पोल मन्नवर बंदु बीळं वार् ॥  
करं पोरु कलंगळ् पोल तेर तोगे विळुं दु पोन् ।  
पुरविगळ् करये शारं व तिरै यन पोरुदु मायं व ॥६०६॥

अर्थ—जिस प्रकार नीलमणि पर्वत पर गिरने पर पत्थर चूर २ हो जाता है उसी प्रकार बाणों के लगकर गिरने से हाथियों के टुकड़े २ हो जाते थे। पर्वत के ऊपर जैसे प्रनेक राजा लोग बैठे हों उसी प्रकार राजा लोग हाथी पर बैठकर युद्ध करते थे। युद्ध में हजारों शत्रु की सेना मर जाती थी। जिस प्रकार समुद्र से जाने वाले जहाज कहीं टकरा कर समुद्र में डूब जाता है उसी प्रकार उस राजा के रथ आदि वाहन युद्ध की मार से टुकड़े २ होकर नीचे झुक जाते थे ॥६०६॥

कोट् वेन् मन्नर् वेळ कुंबत्त तलुवि बीळं वार् ।  
वेटि पोर कोडिइन् कोगे मेविनार तम्मै योत्तार ॥

अट्ट वीर केडकककं कौविय नरिक्काडि ।

पट्टिय कुरळि शेल्वाडन् मुगं पातं पोलं ॥६०७॥

अर्थ—हाथी के ऊपर रहने वाले राजा लोग तीक्ष्ण शस्त्रों से घायल होकर नीचे पड़ते समय हाथी के मस्तक को ऊपर से जिस प्रकार जयश्री के स्तन को पकड़ कर काभी लोग आनन्द को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार राजा लोग घायल होते समय हाथी के वक्ष स्थल को पकड़ कर नीचे गिर जाते थे। उन कटे हुए हाथियों को उस समय गीदड़ अपने मुख में चमकीले शस्त्र सहित जाते समय उसका मुख शस्त्र में ऐसा दीखता था जैसे कोई दूसरा गीदड़ ही जा रहा हो ॥६०७॥

विळुंबुडन् किडं वेलं विट्ट मूर्चनं गळ् पांडळ् ।

सेळुं कुमें शिरिदु पोंदु शिरुंब दोक्कुं पोरि ॥

नळिबुडन् किडं वीर ररुगु सेन्नरियं कंडु ।

मुळंजिडं युरंगु शिगं मुनिवदे पोन् मुरंडार् ॥६०८॥

अर्थ—उस युद्ध में सैनिकों के अवयव छिन्न भिन्न होकर पड़े हुए थे। पड़े हुए घायल हाथी भ्रास इस प्रकार छोड़ते थे मानों कोई एक बड़ा अजगर सर्प अपने विल से बाहर आकर फुकार कर रहा हो। उसी प्रकार हाथी भ्रास निःभ्रास लेते थे। उस समय घायल पड़े हुए सैनिक लोग जब बैरी लोग उनके सामने से चले जाते थे तब मरते समय भी पड़े २ गर्जना करते थे ॥६०८॥

वासिग लुलक्क वाळि पाय् विड मनं कलंमि ।

वीसिन पादमेलाय् विळुंबं वरुडे पोंदु ॥

पूशलिर् पोंदु सु वीरर् तुर्क् मा मेळुं पोय्नु ।

सासंयार् पोरुदु वीळंबा ररंबंय रार्बंताले ॥६०९॥

अर्थ—उस युद्ध में अनेक छोटे मरण को प्राप्त हुए। उस लड़ाई में प्राण छोड़ते समय थोड़ा ऐसा मन में विचार करते थे कि यह मरण हमारे लिए शुभ है क्योंकि युद्ध में वीर पुरुष यदि मरण करता है तो वह देवलोक में जाकर पैदा होता है। ऐसा मास्त्रों में कहा है। हमको मरना ही है। परन्तु युद्धस्थल में भगवान् का स्मरण करते हुए प्राण छोड़ने तो हम देवगति में जाकर अन्म लेंगे और वहाँ अनेक अप्सराओं के साथ सुख से जीवन बितायेंगे

॥६०९॥

कडल् कवरं देळुं दु येयं कारण सावं काडु ।

पडुकनं मारि कंजि पलंकेड पलं बंदडु ॥

कुडरडे कुडवि योष्ठा दडलेनुं कोळुंधर साये ।

पडे म्मुत्तुळु दु वेंचोर् कुलं पोंदु शेव संवाय् ॥६१०॥

अर्थ—उस युद्ध में प्रतिवासुदेव द्वारा प्राण को छोड़े हुए दैत्य वासुदेव की सेना पीछे

भाग जाती थी। उन बाघों को देखकर बलदेव वीतभय ने अपने हलायुध को लेकर उस भूमि को मांसमयी रक्तमयी बना दिया ॥६१०॥

काट्टेरि कडलिर् पोंगी कार पडै युडयक्काना ।  
माट्टवन् कुट्टसु पोल वडि नुने पमळि वुरि ॥  
तोट्ट नान् तोट्ट्, वीरर् तोडु पडै विट्ट्, तत्तंसु ।  
कार्प यन् कौडु पोनार कावल् रवने काना ॥६११॥

अर्थ—वासुदेव का शत्रु प्रतिवासुदेव था। उनकी सेना घबडाकर ऐसे पीछे भाग गई जैसे घांघी चलती है और घांघी के वेग से समुद्र की लहरें चलती हैं। उसी प्रकार गिरते पडते बैठते सारी सेना भाग जाती थी। इसको देखकर प्रतिवासुदेव बाघों की वर्षा करने लगा। वासुदेव की सेना घबडा कर पीछे हट गई। इसको देखकर केशव थोड़ा घबराया ॥६११॥

येरियुक् मेघ शीरि इडंजिलै येदु मेल्लै ।  
सुरि युळ् मोंगट् पेलुवाय् शीय तौडु बेरि ॥  
वरि शिलै कुलिय वण्णु मारियप्पन् पडैत्तान् ।  
शेरुविसं तुडैव वीरर् शेणि मेन् विनेगलोत्तार् ॥६१२॥

अर्थ—उस समय बलदेव अपने हाथ में धनुष की धारण करते समय वहां रहने वाला एक देवता उनके पुष्प के प्रभाव से वहां आकर खडा हो गया और उसने सिंह रूप धारण कर लिया और कहने लगा कि मेरे ऊपर तुम चढकर युद्ध भूमि में बाण वृष्टि करो। वह बलदेव उस देवता पर बैठकर चलने लगा। उसे देखकर प्रतिवासुदेव की सेना जैसे कोई मुनि कर्म निर्जरा करके क्षणक श्रेणी चढता हो उसी प्रकार प्रतिवासुदेव की सेना पीछे हटने लगी ॥६१२॥

पासुमेर् परं वेंगुस् परिदि युं करंबवने ।  
शेरु पट्टळर् वागि सेरुक्कल् शोल्लनीग ॥  
मारैविरं ववने काना मरिव तन्सेनेक्काना ।  
शीरिनन् गरुडनेरिसैडु, केशव मेदिवात्तान् ॥६१३॥

अर्थ—युद्ध में मरे हुए लोगों के मांस को देखकर गिद्ध पक्षी आकाश में मंडरा रहे थे। उस समय वासुदेव प्रति वासुदेव ने अपने गरुड पक्षी पर चढकर युद्ध में प्रवेश कर पुनः युद्ध प्रारम्भ कर दिया ॥६१३॥

अरुक्कन् वंजुवय मेर् मदि वीळि वविव वै पोर् ।  
द्विरुक्कळर् गरुडन मेल् केशवन् टौडु सिदि ॥

वेरुवकोंडु शेनें योड धीळंदोळि मदिई निड्डा ।  
 नुरुत्तेळु कालन् पोल उडंडु चक्करत्तं विट्टान् ॥६१४॥  
 पडेनडु कडलिर् शेत्तुं परुदि पोलाळि शेळ् ।  
 मुडि मधर् नडुंगि इट्टार् मुदुगिट्टु वरशर् शेनें ॥  
 पडे मध रातेळुंदार् माट्टवन् पक्कत्तुळ्ळार् ।  
 मिडेगति राळि मेरु सूळ्वरुं परुदि पोल ॥६१५॥

अर्थ—इस प्रकार युद्ध प्रारम्भ होने के बाद जिस प्रकार सूर्य पूर्वाचल से उदय होकर पच्छिम को जाते समय चंद्रमा का प्रकाश क्षीण दीखता है उसी प्रकार वासुदेव की सेना एक दम शिथिल होकर भाग गई। पुण्यहीन प्रतिवासुदेव अतिक्रोध से अपने हाथ में रहने वाले चक्र को वासुदेव पर चलाया। जिस प्रकार सूर्य समुद्र के बीच में होकर जाता है उसी प्रकार वह चक्र इस सेना के बीच में होकर आते देखकर वासुदेव घबड़ाया और उनकी सेना भी पीछे हट गई। उस समय में प्रतिवासुदेव के सैनिक लोगों ने जयघोष किया। उस प्रतिवासुदेव के द्वारा चलाया हुआ चक्र आयुध वासुदेव के पास आकर जैसे पहाड़ की परिक्रमा देते हैं उसी तरह वह चक्र उनकी तीन प्रदक्षिणा कर उनके चरणों में गिर गया ॥६१४॥६१५॥

केशवन् टुन्ने सूळंडु वल पक्कं केळुम कंडु ।  
 पेशोना वगैनाळि पिडित्तवन् टिरित्तु विट्टान् ॥  
 मूसु तेम कवसन् कोंडु मुडवरं मार्गु पुक्कुत्त ।  
 देशर दुरुवि मोडि दिशं विळक् कुरुत्त देडे ॥६१६॥

अर्थ—चक्रायुध के परिक्रमा देकर चरणों में गिरते ही वासुदेव ने यथायोग्य उसकी पूजा करके हाथ लगाकर दाहिनी तरफ ले लिया। अपना विरोधी जो प्रतिवासुदेव था तुरन्त उसी पर वह चक्र छोड़ दिया। वह चक्र सीधा जाकर प्रतिवासुदेव के सीने में जाकर घुस गया और तत्काल वह मरण को प्राप्त हो गया। वह चक्र प्रतिवासुदेव के लगा और उसे मारकर पुनः वासुदेव के पास लौटकर आ गया। और उसने दया करके वहां रख लिया।

॥६१६॥

करु मुगिलुरुमि नोडि केशवन् के नाळि ।  
 धुरु मिडि पुंड नील मलई लोन्नाने वीळ्प ॥  
 विरुळ परंविट्टु देंगुसु यावरुं नडुंगि धीळ्वा ।  
 रोहवरगं निड्डु दुंडो तिरुवेन उरं तिट्टारे ॥६१७॥

अर्थ—विभीषण के हाथ से वह चक्र जाकर प्रतिवासुदेव को लगा और वह मर गया। मरते ही उसकी सेना में हाहाकार मच गया, और सैनिक लोग मूर्च्छित हो गये। वहां पर साधारण लोग मह चर्चा कर रहे थे कि यह लक्ष्मी एक स्थल में बास नहीं करती। जब तक



पुण्य रहता है. लक्ष्मी रहती है । जब पुण्य समाप्त हो जाता है तब एक क्षण भी वहाँ लक्ष्मी नहीं ठहर सकती ॥६१७॥

मलमिश्रं मविय नोळर् परुवि पोन् मत्त याने ।  
तले निशे कुडयि नोळल् तरणीये मुळुदु मांडार् ॥  
निलविशं इंडु कावं निडुव रिळे येनुं ।  
तले वने तानिन्वाळि तडिवदु कोडिवि वेंडार् ॥६१८॥

अर्थ—प्रतिवासुदेव के मर जाने के बाद वासुदेव जिस प्रकार उदयाचल में सूर्य का प्रकाश दीखता है, उसी प्रकार वह वासुदेव महान बड़े हाथी पर बैठकर अपने घर धवल छत्र को धारणकर जब वापस आया तो उस राजधानी के लोग कहते थे कि यह लक्ष्मी वैभव पुण्य के प्राचीन है । एक जगह स्थिर नहीं रहती । यह शरीर भोगोपभोग आदि सब क्षणिक है । प्रतिवासुदेव का पुण्य समाप्त होते ही वह उसी का चलाया हुआ चक्र वापस जाकर उस ही को मार दिया । यह पुण्य पाप का फल है । ऐसी चर्चा नगर में हो रही थी ॥६१८॥

गरुडने इळिदु कैमाविसै वंदु पुरोवन् काट ।  
कुरवरमळरयुं कोडि शिले वलं ववेवी ॥  
पेरियव निडु पोळ्विन् वेंडर विजयर्गळ विघोर ।  
तरु तिरै योडु वंदु ताळ्वंडि परवि नानं नारे ॥६१९॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह वासुदेव गरुड पर से उतर कर हाथी पर बैठ गया और वहाँ जो राज पुरोहित थे उनके कहने के अनुसार महान तपस्वी तथा कौटशिला रूपी पर्वत की प्रदक्षिणा की । तदनन्तर वहाँ रहने वाले विद्याधर राजा, भूमिगोचरी, व्यंतर देवों के अग्नि-पतियों ने अपनी २ शक्ति के अनुसार उनको भेंट दी और राजा की स्तुति की ॥६१९॥

मत्तरेन मलयै येवि वंसवन् मल्लर् सुळ ।  
वलर कदिराळि पिन् पोय् विशै यडि पोडुत्तु मीळुवु ॥  
निल मगडिलगं पोलु मयोविया पुरत्तु नी ।  
मले योडु मवीयं पोल मल्लवर् तुळि नारे ॥६२०॥

अर्थ—तदनन्तर वह विभीषण अपने भुज-बलों के द्वारा जिस प्रकार एक फूल की हाथ में लिया जाता है उसी प्रकार उस कौटशिला पर्वत की अपनी अंगुली से उठा लिया । वह विभीषण अपने बड़े भाई वीतमय सहित अनेक राजा महाराजाओं को साथ लेकर दिग्विजय की गया । जाते समय वह चक्र उनके आगे २ चलता था । इस प्रकार वे सभी राज्यों पर विजय पाकर अयोध्या नगरी में आये ॥६२०॥

मडि वीडु करीय येगं कंडमा कडले पोल ।  
पुदियर् कावल् पुगं पात्तिवर पुक्क पोळ्विन् ॥

बिदि यरि पुलवर् सृळ्ळु वेद्रि शीयासनोत्तु ।  
मदियन्न कुडयी नीळल् बैत्तु शायरगळ् बीस ॥६२१॥

अर्थ—जिस प्रकार पूर्णमासी के चंद्रमा तथा मेघ मंडल को देखकर समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार वीतभय और विभीषण को देखकर अयोध्यानगरी की जनता अत्यन्त आनन्दित हुई। वहां के राजपुरोहित द्वारा वीतभय को राजसिंहासन पर विराजमान कराया।  
॥६२१॥

पार् कडर् तेन्नोर् परुदियिन् वडिय कुंभ ।  
माद् वायिरसोरेट्टि नमररा बेंद पट्ट ॥  
तूर कडल् केळ्ळि यार् कनुनित्त मंदिंरंगळ् सोळ्ळि ।  
येट्टवा राटिनार् गळेटिनार् पात्ति वैवर् ॥६२२॥

अर्थ—वासुदेव को राज्यसिंहासन पर आरूढ करने के पश्चात् जिस प्रकार भगवान के अभिषेक के लिए १००८ गण बुद्धों से तथा रत्न घटों से क्षीर सागर से पानी लाते हैं, उसी प्रकार अनेक घटों से वासुदेव का राज्याभिषेक किया गया, और सभी अयोध्यावासियों ने तथा कई राजाओं ने स्तुति की ॥६२२॥

मुडिय इन् पिन्ननिंदार् मुरशेकन् मुरशेकन् मुळवग मुम्मे ।  
पडिमिशै येरस रीरेन्नायिर् पनिय विजं ॥  
सडवरं यरस रैवत्तजि नुक्किरट्टि ताळ ।  
पडरोळि परप्प वेन्ना इरवर् बिनोर् पनिंदार् ॥६२३॥

अर्थ—राजा वासुदेव का राज्याभिषेक करते समय अठारह प्रकार के वाद्यों की गर्जना हुई और जयघोष की ध्वनि हुई। तीन खंड के सोलह हजार मुकुटबद्ध राजा तथा विजयाद्वै पर्वत पर रहने वाले विशाघर सभी ने मिलकर तथा आठ हजार गण बुद्धों ने उनको नमस्कार किया ॥६२३॥

याने इन् द्रोगुवि नार्पत्तिरंडु तूराइरंतेर् ।  
यान मद्रु बे वासि योवदिन् कोडि कालाट् ॥  
कानु कार्पत्तिरंडु कोडि तानवर् कडेवर् ।  
तानमानंग लेन्नाइर् मरु पडैइवाये ॥६२४॥

अर्थ—उस समय रामकेशव के पास बियालीस लाख हाथी, बियालीस लाख रथ, नौ करोड़ घोड़े, बियालीस करोड़ योद्धा तथा आठ हजार विशाघर आदि सभी जिलाकर खड़े प्रकार की सेना उनके पास थी ॥६२४॥

आळि वेल् तंडु शंग मरु मणि विल्लु वंधा ।  
 लेळु मा लिरत नंग लेळायिर् ममरर् काप ॥  
 माळे मेरवलन् मादे वियरेन्ना इरत्ति रोट्ट ।  
 वेळ् मेट्टिर् कौडेंदुं नाडु मेल्रलत्त दामे ॥६२५॥

अर्थ—उन केशव और वासुदेव के पास चक्रायुध, बेलायुध, दंडायुध जयशस्त्र जयखंड मणि आदि २ सात प्रकार के आयुध रत्न रहते थे । इनमें एक २ आयुधों की रक्षा के लिये सात हजार व्यंतर देव रहते थे । और स्वर्ण, मोतियों आदि से निर्मित किए हुए आभूषणों वाली सोलह हजार रानियां होती हैं । तथा राजा को भेंट देने वाली अनेक रानियां केशव के होती हैं ॥६२५॥

मालें बंड मोग वाळि कलप्पयि पलन वागुं ।  
 नालु नल्लि यक्कर नाला इरवर् कापि यट्टि शेल्व ॥  
 रेल वार् कुळलिन् मादे वियरु मेन्ना इरवर ।  
 मेलु लाम् मविय पोलुं मेवि यान् विरुव पट्टार् ॥६२६॥

अर्थ—मणियों के दण्डायुध, अतिशक्तिशाली बाण, हलायुध, रत्नों के अनेक प्रकार के आयुध यह सभी वीतभय के पास रहते हैं । इनकी चार हजार यक्ष यक्षिणियों द्वारा रक्षा की जाती है । और चंद्रमा के समान पटरानियां उस बलदेव के थीं ॥६२६॥

कंदिले नाटु कंड मूडि निर् कामर् शेल्व ।  
 तिट्टु वानुवलि नारो डिब नीर् कडले याडि ॥  
 येद रत्तिरं वन् पोल वांडुगळ् पलवुं शेड्डार् ।  
 वेत्तिरर् कळिट्टु वेंदन् विवोडनन् वियोग मानान् ॥६२७॥

अर्थ—उस गंधिल देश में तीन खंड की संपत्ति को प्राप्त हुआ वह विभीषण नाम का अर्द्ध चक्रवर्ती उसका भोग भोगते हुए आनंद रूपी समुद्र में लीन हो गया था । और दोनों भाई सुख पूर्वक भोगोपभोग के साथ आनंद सहित काल व्यतीत करते थे । समय पाकर वह तीन खंड का अधिपति विभीषण मरण को प्राप्त हुआ ॥६२७॥

अरुमणि यिळ्द नागम् पोर् पलनलं वंदाट्ट ।  
 पेरुगिय पेरुगिय तुयर् मुट्टु पिरविये वेरुवि पिन्नान् ।  
 मरुविय पोरुळुं नाडु मैदर गक् कौडु माट्टे ।  
 विरगिना लेरियुं वीतराग मा मुनिव नानान् ॥६२८॥

अर्थ—विभीषण के मरण को देखकर, जिस प्रकार नागफण में से रत्न चला जावे और उस रत्न के चले जाने से नाग को महान दुख होता है, उसी प्रकार बलदेव को

महान दुःख उत्पन्न हुआ । और उसने पापमय संसार से डर कर अपने राजकुमार को राज्य-संपत्ति सम्हलाकर वैरागी होकर जिन दाक्षा ग्रहण करली ॥६२८॥

बलं बुरि वण्ण नारादने इना लुडंबु विट्टिट् ।  
 तिलांतव कर्पं पुक्कान् यानव निड्ढु वंदेन् ॥  
 पुलंगण् मेर् पुर्रिड्ढु नीद केशवन् पुक्क देश ।  
 मिलंगि पोय् ईर यानं नरगिर् कंडिडरं युट्टेन् ॥६२९॥

अर्थ—शंख वरुण के समान वह रहने वाला नवीन दीक्षित बलदेव सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, चारित्र्य और तप इन चार प्रकार की आराधनाओं की भावना से इस शरीर को छोड़कर लांतव कल्प के विमान में जो देव हुआ था उस देव का जीव मैं ही हूँ । और संजयंत मुनिके केवलज्ञान अथवा मोक्षकल्याण की पूजा करने के लिये मैं यहां आया हूँ । धरणींद्र सुनो! धरणींद्र ने पूछा कि आदित्यदेव क्या आप ही संजयंत मुनि के मोक्ष कल्याण की पूजा के लिए आए हो ? यदि हां तो यह बताओ कि पंचेंद्रिय विषयों में लीन हुआ विभीषण नाम का वामुदेव मरकर किस क्षेत्र में गया है । देव ने कहा कि मैंने अवधिज्ञान से जान लिया है वह दूसरे नरक में गया है । अब उसके नरक में से निकलने का धर्मोपदेश करूंगा सो सुनो ।

॥६२९॥

इति बलदेव स्वर्ग जाने वाला नवा अध्याय  
 समाप्त हुआ ।



## ॥ दशम अधिकार ॥

✽ नरक में रहने वाले विभीषण को आदित्य देव द्वारा धर्मोपदेश ✽

चक्कर प्रभं तन्पानिर्, षडर्, कार्बं वंत्तु ।  
 चक्कर प्रभं तन्पा निड् वन् टन्नें काना ॥  
 भिक्क वेन तुयर मुट्टे नवन् ट्यर्, नींग वेन्नि ।  
 येक्क नत्तवने कूडि येरवि वेन्ने वंड्नेन ॥६३०॥

अर्थ—उस शर्करा नाम के दूसरे नरक में उत्पन्न हुए नारकी विभीषण को देखकर अन्य नारकी लोग उसको दुख देने लगे । तब उसके दुख को दूर करने के लिए वह लांतव देव वहां जाकर धर्मोपदेश करने लगा कि हे नारकी ! सुनो, आपको मालूम है वह नारकी जीव का पहले जन्म में कौन था ? सुनो ! ॥६३०॥

मदुरं यानाग वेंवाइल् वारुणि मगळाय् नीपिन् ।  
 सदुर मे वत्तं यानेन पूरचंदिर नानाय् ॥  
 विदियिना नोट्टेन्नोड्डु मासुक्कं पुक्कु विजं ।  
 पवियिर्, शीवर याने नेन् मगळि सोदरे युमानाय ॥६३१॥

अर्थ—हे नारकी! मैं कई भव पहले मदुरा नाम की ब्राह्मणी स्त्री पर्याय में थी और तुमने मेरी कुक्षी से वारुणी नाम की पुत्री होकर जन्म लिया था । वहां से आयु पूरी करके सिंहेसेन राजा की पटरानी रामदत्ता हो गई । उस रामदत्ता देवी के गर्भ से तूने छोटा पुत्र पूर्णचंद्र नाम होकर जन्म लिया । वहां पूर्णतया मेरे साथ अच्छे व्रताचरण का पालन करके शुभ आचरणों के फल से महाशुक्र के कल्प में देव पर्याय धारण की । वहां देवगति के सुख भोगकर आयु के अवसान पर वहां से चयकर विद्याधरों के लोक में श्रीधरा नाम की राजश्री होकर जन्म लिया । उस श्रीधरा के उदर से पूर्वजन्म के भव भवांतर के संबंध के कारण यशोधरा नाम की लडकी उत्पन्न हुई ॥६३१॥

कंदियाय नोट्टेन्नोड्डुं काविट्टु कर्पं पुक्कुं ।  
 वंदिया निरव माले मन्निन् मेलसाग नीयु ॥  
 मंदरत्तिळि वेन् मैव नरवना युवनु माणि ।  
 शिर्दं मातवत्तोड्डोड्डि येक्कुंद शेंडु, मीळंडोष् ॥६३२॥

अर्थ—घतदन्तर आपने मेरे साथ आयिका दीक्षा लेकर उत्तम तपश्चरणा करके उस पुष्य के फल से काविष्ठ नाम के कल्प में देव पर्याय धारण की । वहां से आयु पूर्ण करके मध्य

लोक में कर्मभूमि में आकर रत्नमाला नाम की राजश्री होकर जन्म लिया । रत्नमाला की कुत्री से रत्नायुध नाम का पुत्र हुआ । तदनन्तर रत्नायुध व रत्नमाला धर्मध्यान सहित तपश्चरणा करके उस पुण्य के प्रभाव से अमृत स्वर्ग में देव हुए । वहाँ के देवसुख का अनुभव करके तुम इस मध्य लोक में आये ॥६३२॥

धातकी तीविर् कीळं कंदिलं ययोधिना ।  
नेदनि लिराम नानि केशवना इरंविष ॥  
बेवनी नरगत्ताळ् वाय् विल्लुवध संबसि लांतस् पुषके ।  
नोदिया लुन्ने कडिड् गुरुदिया नुरेक् ववेन् ॥६३३॥

अर्थ—धातकीखंड द्वीप में गांधिल नाम का देश है । उस देश में अयोध्या नाम की नगरी है । उस नगरी में दोष रहित ऐसा मैं बलराम हुआ और तुम वासुदेव हुए । अब तुम मरण करके दूसरे नरक में आये और मैं तपश्चरणा करके लांतव नाम के कल्प में देव हुआ हूँ । मैंने अबधिज्ञान द्वारा जाना कि तुम्हारा दूसरे नरक में जन्म हुआ है तो मैं आपके प्रेम के कारण यहाँ आकर आपको शीघ्र इस नरक से मुक्त हो जाने का धर्मोपदेश देने आया हूँ । ॥६३३॥

येंडुलु मिरंद मेले पिरविग लरिविट्टेन्ने ।  
वंदुडत् वनंगि वीळ्दु मयगिना नवने पेट्टि ॥  
इन्दिर विभव सेनु निड् वीङ्गि याकुं मिङ्गे ।  
बेन् तुयर् नरगिन् वीळा वुधिर्गळ् मिङ्गे येङ्गेन् ॥६३४॥

अर्थ—उस वासुदेव को आदित्य देव द्वारा दिया हुआ उपदेश सुनकर भवस्मृति हो गई और देव के चरणों में गिर पडा । देव ने धैर्य बंधाया और कहा कि हे नारकी ! सभी जीवों को देवगति प्राप्त नहीं होती और नरक में जाकर किसी ने सुख नहीं भोगा हो, ऐसा कोई जीव नहीं है ॥६३४॥

माट्टिडे सुळ्ङ्ग वाळ् मुईर् कट्कु वंनु शेत्वं ।  
तोट्टिन तोडरन माय्द लियेल्लु नी कवल वेंडा ॥  
मट्टुवर् केरिय तुंवम् पेिर देङ्गु मयंग वेंडा ।  
माट्टुवर् केळिवु कीळ् नरगत्तो वियल् वरिदाल् ॥६३५॥

अर्थ—गतियां चार होती हैं । देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति और नरकगति । मनुष्य को सुख संपत्ति आदि का मिलना तथा नाश होना यह अनादि काल से चला आया सब पूर्व जन्म के पुण्य पाप का फल है । मैं पूर्व जन्म के पुण्य के फल से देवगति में जन्म लेकर वहाँ सुख भोग रहा हूँ । तू नरक गति में आकर नरकों के दुख भोग रहा है । परन्तु इस प्रकार की चिंता बिल्कुल मत करो कि मेरा भाई तो स्वर्ग में गया है और मैं नरक में आकर जन्मा हूँ । इस दूसरे नरक में तुमको अधिक दिन तक दुख का अनुभव करना पड़ेगा ऐसा मन में विचार

मत करो। क्योंकि जिस नरक में तुम रहते हो उस नरक के नीचे नरक में रहने वाले नारकियों को तुम से भी अधिक दुख है। यदि ऐसा मन में विचार कर लेगा तो इससे तुम्हारा दुख कम हो जायेगा। अब तुम से नीचे के नरकों में रहने वालों के संबंध में संक्षेप में वर्णन करता हूँ ॥६३५॥

येळुळ नरग नाम भिरव नम् चक्क बालु ।  
 वाळिय पंकम् धूममं तमंतम तमत्त मांगु ।  
 पाळि इन्दगन्गळ शेरिण पगित्त कदोप्प बंद ।  
 वेळिनुं पुगवेन्वत्त नांगु लक्कंगळामे ॥६३६॥

अर्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महा-तमःप्रभा, इस प्रकार सात नरक हैं। इन नरकों में श्रेणीबद्ध होकर रहने वाले पुष्प, प्रकीर्णक आदि २ सभी मिलकर चौरासी लाख बिल रहते हैं ॥६३६॥

वंडू मून्डूंदु मैळु मौवदुं पत्तोडोंदु ।  
 निडु मूंडोडु पत्तु निरेयत्तु पुरैगळ् मेन्मे ॥  
 लोंडू मूंडेळु पत्तु मोरु पत्तेळिरु पत्तीरि ।  
 निडु मूंडोडु मुष्पानाळि कीळ् पुरे तोरायु ॥६३७॥

अर्थ—सातवें नरक में पांच बिल हैं। छठे नरक में पांच लाख कम एक लाख बिल है, पांचवें नरक में तीन लाख व चौथे नरक में दस लाख बिल हैं। पन्द्रह लाख बिल तीसरे नरक में है। तथा दूसरे नरक में पच्चीस लाख व पहले नरक में तीस लाख बिल हैं। इस प्रकार एकके ऊपर एक बिल रहते हैं। पहले नरक में रहने वालों की आयु उत्कृष्ट एक सागर की होती है। दूसरे नरक की उत्कृष्ट आयु तीन सागर होती है। तीसरे नरक की उत्कृष्ट आयु सात सागर तथा चौथे नरक की दस सागर की उत्कृष्ट आयु होती है। सत्रह सागर की आयु पांचवें नरक की और बाईस सागर की उत्कृष्ट आयु छठे नरक की तथा सातवें नरक की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर की होती है। इस प्रकार के क्रम से नारकी जीवों की आयु होती है ॥६३७॥

मुदला नरगत्तिव् मुदरु पुरैयिरु ।  
 पवि नाइरु मांडुगळां शिरुमे ॥  
 विवि यान् मिगेया युग मेळन कीळ् ।  
 पवियार् परमा युग मल्लन वाम् ॥६३८॥

अर्थ—पहले पटल में रहने वाले नारकी जीवों की आयु नब्बे हजार वर्ष की होती है। दूसरे पटल के नारकियों की आयु ६० लाख वर्ष, तीसरे पटल में रहने वालों की असंख्यात पूर्व कोटि वर्ष की होती है। चौथे पटल में एक सागर की आयु में से दसवें भाग में एक भाग रहती है। पांचवें पटल में दस भाग के दो भाग आयु रहती है। छठे पटल में एक सागर के तीन भाग आयु होती है। सातवें पटल में एक सागर में चार भाग आयु होती है। आठवें पटल

में एक सागर का पांचवां भाग, नवें पटल में एक सागर का छठा भाग, दसवें पटल में एक सागर का सातवां भाग, ग्यारहवें पटल में एक सागर का आठवां भाग व बारहवें पटल में एक सागर का नवां भाग होता है। तेरहवें पटल में पूर्ण एक सागर प्रमाण तक उनकी आयु होती है ॥६३८॥

मुळ मूङ्गु यर् वा मुब्लाम् पुरइन् ।

मुळ मूङ्गु विञ्जेळ् विरला रुळकी ॥

सेळ् वाइवेंङ्गुर् विञ्जं वळवुं ।

वळुवा विरुवोर मिरत्ति यवाय् ॥६३९॥

अर्थ—पहले नरक के प्रथम पटल में रहने वाले जीव का उत्सेध तीन हाथ रहता है। उसके बाद प्रथम नरक के अन्तिम पटल में उत्सेध सात धनुष, तीन हाथ, छह अंगुल होता है। दूसरे नरक में अन्तिम पटल में क्रम से बढ़ते २ पंद्रह धनुष, दो हाथ, बारह अंगुल उत्सेध है। तीसरे नरक में अन्तिम पटल में क्रम से बढ़ते २ इकत्तीस धनुष, एक हाथ उत्सेध है। चौथे नरक में बासठ धनुष, दो हाथ है। पांचवें नरक में एक सौ पच्चीस धनुष है। छठे नरक में दो सौ पच्चास धनुष है। सातवें नरक में नारकियों का उत्सेध पांच सौ धनुष रहता है। बीच में रहने वाले नारकी जीव तथा ऊपर रहने वाले नारकियों का उत्सेध इससे दुगुना रहता है।

॥६३९॥

पुगं येंकु मुवर्, पुरं पुषक वरवा ।

मुगं यार्, विळुवा रुळवा युव्वेलां ॥

पुगंये लोडेन्धूरु विल् कावव मून् ।

दुगं यार्, विळुवार्, मुवलिट्टि तूळार् ॥६४०॥

अर्थ—प्रथम पटल में रहने वाले नारकी जीव पांच सौ योजन नीचे से ऊपर गेंद के समान उछलता उडता जाता है और वहां से उडकर पांच योजन से नीचे गिर जाता है। प्रथम पटल से तीसरे नरक तक रहने वाले नारकी जीव पांच सौ धनुष ऊपर उडकर फिर ऊपर से सर नीचे और ऊपर पांव करके नीचे गिर जाते हैं ॥६४०॥

वेळुवा यदिरट्टि इरट्टिय वाय् ।

वळुवा विरुवाय् पुरं वोरं वरा ॥

वेळुवा नरग तिथल् वा यवेंङ्गु ।

टोळिया दूविळुं तेळमोजनये ॥६४१॥

अर्थ—इस प्रकार प्रथम नरक में जितने नारकी ऊपर उछलते हैं, उसके १५२ योजन तक ऊपर उछल कर नीचे गिर जाते हैं। इस प्रकार वृद्धि होकर सातवें नरक में रहने वाले जीव ५०० योजन ऊपर उछल कर नीचा सर करके गिर जाते हैं। इसी प्रकार उनकी आयु है। तब तक इस नरक में रहना पडता है। उस वक्त तक ऐसा ही दुख भोगना पडता है। वहां मुख लेश मात्र भी नहीं है ॥६४१॥



येरि वें पडेया लिवर्, बीळं वे लला ।  
 रुळु वेंतुथरल्ल दुडंबु विडार ॥  
 करुवागि कडुं परिणाम मिडे ।  
 येरिया वगैया पुष याट् लिने ॥६४२॥

अर्थ—उस नरक में रहने वाले सभी नारकी जीव तीक्ष्ण प्रायुध को लेकर जिस समय नया नारकी नीचे गिरता है उस समय उस प्रायुध से गिरने वाले नारकी जीव पर प्रहार करते हैं और उस नये नारकी का शरीर चूर २ हो जाता है । इस प्रकार नारकी जीवों का शरीर खंड २ होकर पुनः जिस प्रकार पारा खंड २ होकर जुड़ जाता है, उसी प्रकार उसका शरीर पुनः जुड़ जाता है और दुख भोगता है ॥६४२॥

विनये तुयरत्तं विळं प्पव लाल् ।  
 निने वा शेयल् मदिल्ले नीडुयिरं ॥  
 मुने मूदुवर्, कीळुळ देवरिवन् ।  
 उनं मुच्चिन शंदन नेडु ड या ॥६४३॥

अर्थ—उस नरक में रहने वाले नारकी जीव पूर्व जन्म में किए हुए कर्मों के उदय से पुराने नारकी जीव नवीन नारकी को दुख देते हैं । कोई यह नहीं कहता कि तुमको दुख अभी नहीं दिया जायेगा, इनको मारो मत, इनकी रक्षा करो, ऐसा कहने वाले कोई नहीं मिलेंगे । और भवनवासी देव उस नरक में जाकर आपस में कलह कराते हैं । वैर भाव की याद दिलाते हैं और आपस में लडाते मिडाते हैं ॥६४३॥

कनमुं मिडे इन्डि येळुं पशिया ।  
 सुन वेंडुन वंदुलगत्तुळ नन् ॥  
 सिने दल्लेन कायं द विरुं वि ने नी ।  
 ररायुं बडिया लनया वडुमे ॥६४४॥

अर्थ—उन नारकी जीवों को अरयन्त तीव्र भूल लगती है । उनकी खाने की तीव्र इच्छा होती है तब सभी नारकी जीवों को चारों ओर विष घोर तपे हुए लोहे की कढाई में गर्म पानी डालकर उस पानी को स्पर्श कराते ही सारा भ्रम व हाथ पांव जल जाते हैं । वह आदित्य देव कहने लगा कि हे श्यामवर्ण शरीर धारण किये हुए नारकी सुनो ! ॥६४४॥

मेरु नेरिरुप्पु वट्टं इट्टवकनत्ति नुळ्ळे ।  
 नीरेन उरुक्कुं शीत वेप्पंग मिडु कीळ्मे ॥  
 लावं मीलरिवन् द्रवं नूलिने वाव तन्निर् ।  
 काद् मुगिल् बण्ण शीत वेप्पंगळिडु कंडाय् ॥६४५॥

अर्थ—उस नरक भूमि में इतनी उष्णता रहती है कि यदि एक लोहा का भारी गोला डाला जावे तो वह लोहे का गोला भी गल जाता है। इतनी वहां उष्णता रहती है। और उसके नीचे की भूमि महान शीत भूमि है। चौथे नरक में उष्णता रहती है। पांचवे नरक में शीत उष्ण दोनों रहती हैं। छठे और सातवें नरक में केवल शीत ही रहता है।

॥६४५॥

बेंडिय बडक्कु मार विगुवनं येदु मेय्यिन् ।

मान् विल दोंडु नम्मं मारु मुन् शेय्य वंदन् ॥

कोंडिय पावत्तालेळ् नरगत्तु मिरट्टि कीळ् कीळ् ।

मंडत्ति मरुगित्ति में मरुगुं तीमि विनंगळाले ॥६४६॥

अर्थ—नरक में नारकी जीवों की इच्छा के अनुकूल कोई वस्तु नहीं मिलती है। बल्कि उनकी इच्छा के विपरीत ही मिलती है। आठ प्रकार के वैक्रियिक उन नारकियों को दुख देते हैं। वहां के नारकी जीव पाप कर्म के किये हुए कार्यों को याद दिला कर परस्पर कलह निर्माण कर पुराने नारकी उनका तमाशा देखने खड़े हो जाते हैं। उनके किये कर्म के अनुसार इस प्रकार दुख का अनुभव करते हैं ॥६४६॥

ईयल्वि नास् तुंब मेंडु मेळ् नरगत्तु नींगा ।

मयरिगळ् शैव वेलां वंदु वंदुट्टु नींगुम् ॥

पुय लुरु तडक्कं वेंदे पुलसु तेन् कळ्ळं युंडा ।

लुयरुला वगैर् शवं युरुक्कि वाय् पैगिड्डारे ॥६४७॥

अर्थ—हे नारकी ! पूर्वजन्म में तू विभीषण नाम का राजा था। तूने रागद्वेष द्वारा पाप संचय करके इस नरक में जन्म लिया है। इसलिये हे नारकी ! इन सात नरकों के दुखों से ये नारकी जीव मुक्त नहीं होते हैं। जितना २ उन्होंने बांधा है उतना २ भोगना पडेगा। पूर्वजन्म में मद्य, मांस, मधु के सेवन करने के फल से इस नरक में पैदा होने वाले जीवों को पुराने नारकी जीव अत्यन्त घोर कष्ट व वेदनाएं देते हैं ॥६४७॥

अरमरि बडक्क मान्मं कुडि पिरप्पडिय वंदिर् ।

पिरर् मनं नलत्तिर् शेरंदार् पेरळर् कुट्टु तमिन् ॥

मुरग वेंदुरुगं सेप्पु पावं ये मयंग मूचित् ।

धरिर्थाळिदलं वंदाट्टा तरट्टु गिड्डार्ग लैया ॥६४८॥

अर्थ—हे नारकी सुनो ! ज्ञान, संयम, उत्तम कुल, उत्तम जाति को नाश करके दूसरे की स्त्रियों के साथ भोग भोगने से उस पाप के फल से यह पाप के कारण लोहे के स्तंभ को गरमकर उससे आसियन कराते हैं। उसके दुख के कारण वह महान शोक करता है।

॥६४८॥

कून् सुबे तुहवि योरा वळळ्त्तिर् कोडिय रागि ।  
 कून् शिसं कनेयोडेवि कोलें तोळिल् पुर्विबु वंवार ।  
 तान् सेलबिट्ट नाय् पोर् कडिय नाय् कबर वंजि ।  
 बान् शिसं इलव मेट्टि वंबु वीळ् वरट्ट्, गिड्डार् ॥६४६॥

अर्थ—ग्रहिसा घत को नाश करके अपने हाथ में लिये शस्त्र बाण, धनुष के द्वारा जीवों की हिंसा तथा घात करने से, उस हिंसा में संतोष मानने से और उन जीवों का मांस खाने से, खाने की अनुमति देने से, मांस आदि की बिक्री करने इत्यादि पापों से यह जीव नरक में उत्पन्न होते हैं । और वह नारकी जीव कुत्ते का रूप धारण कर नारकी जीवों को काटता है । कांटेदार वृक्ष पर चढ़ता है । और वहाँ कांटे चुभने पर वह नीचे आकर गिर जाता है ।

॥६४६॥

मनं यरम मरंबु मंङ्गि निङ्गु, बान् कुडिकनेयत् ।  
 धनं बलि यदानिन् वांगि शालबुं तळरवु शंवार, ॥  
 नुनं मुडिविलाद मुळिल्ळन् महिगं पुडिय नुंगि ।  
 निनं वरु तुयरं तुयित्तु नेडिडुयिर् पागं लंया ॥६५०॥

अर्थ—हे नारकी सुनो ! अर्हत भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म को न ग्रहण कर अधर्म को स्वीकार कर दूसरे की संपत्ति को बल द्वारा छीन लेना वाला जीव इस पाप कार्य के कारण नरक में जन्मता है । कांटे से युक्त डंडों से, लोहे के धन से उस नारकी जीव के सिर में मारते हैं । उससे नारकी जीव का मस्तक चूर २ हो जाता है और उसको महान दुख होता है ॥६५०॥

बलइ लुइर् वार्यदन् मारुविलं कोंडार् ।  
 निसंय गळ् वरिनीनं बंदोळुग निड्डार्, ॥  
 विलइन् मुडें कोंडुनलं येविनगळ् कंडाय् ।  
 निसंइल् पेकं शीर्कुळिर निङ्गु, वळल् गिड्डार्, ॥६५१॥

अर्थ—जाल को नदी में बिछा कर मछली को पकड़कर मारकर उसको बेचकर जो प्राणी घनाब घान आदि खरीदता है उस जीव को वे नारकी जीव शूल स्तंभ का निर्माण कर उस पर बिठा देते हैं । ऐसे वह नारकी जीव अत्यन्त पूर्वजन्म के पाप के कारण दुख सहता है । पूर्वजन्म में मांस को प्रेम से जो खरीदता है, खाता है, बेचता है उन प्राणियों को वे नारकी नरक में महान दुर्गंधित खड्डे में डालकर दुख देते हैं ॥६५१॥

इड्डीं युइर् वल्विनं इरं वर, पिरप्पेन ।  
 तोळ्ळिनवर, सेवुरुक्कि वाइर्, पंबुइर् वार्, ॥  
 कल्बि योडु पुनरंबु कडें नल्लीळुक् मेन्बां ।  
 रेड्डीइल वेंतुयर् मेवि युळल् गिड्डार्, ॥६५२॥

अर्थ—जीव नाम की कोई वस्तु नहीं है, पाप पुण्य नहीं है, स्वर्ग मोक्ष नहीं है, एक बार जीव मरने के बाद उसका पुनर्जन्म नहीं है—ऐसा कहने वाले नास्तिक जीवों को नरक में तांबे को गलाकर उनके मुख में डाल देते हैं। और भगवान के द्वारा कहे हुए आगम का तिरस्कार करके सम्यक्त्व हीन होकर अधर्म का प्रचार करने वाले तथा सम्यक्चारित्र्य भादि कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले को नारका जीव अवर्णनीय दुख देते हैं। ६५२॥

पौयुरे पुनेवु पोरुळ् वांगि नवर्गळ् कंडाय् ।  
 कंयुगिरि तूशीय चै कायंद शेरिप्पुंवार् ॥  
 वंयं पुगळ् मादवरं वंदनर्गळ् कारी ।  
 नंयुरुक्कि वायिर पेय निड् सुळ्ळर्गैड्कार् ॥६५३॥

अर्थ—असत्य वचन को बोलकर दूसरे की संपत्ति को हरण तथा उपार्जन करके आजीविका करने वाले लोगों को नरक में पुराने नारकी छोटी २ सुइयों को गर्म करके उनके नाक में चुभा देते हैं। महातपस्वी मुनियों की भक्ति-स्तुति करने वालों की निंदा करने वालों को नरक में नारकी जीव उनका रक्त और विष को उनके मुख में डालकर उनको मार डालते हैं ॥६५३॥

वोळु किकने येळित्तुड नळुक्कुरणार् वुरंसार् ।  
 तुळुक्कन लिय पुडे पुडेत्तु विळ् गिड्कार् ॥  
 वळु किकनवर् नन्नेरि यिन् महिगै येडुत्तु ।  
 विळ्प्पर ववुक्क विनेये कोडिय वैवार् ॥६५४॥

अर्थ—सम्यक्चारित्र्य को नाश कर कुमति, कुश्रुति ऐसा धर्म का प्रचार करने वाले जीवों को नरक में नारकी जीव उनके शरीर में शस्त्रों से घाव करके अनेक प्रकार के छोटे २ कीड़े उत्पन्न करके उनको अत्यन्त दुख देते हैं। सत् शास्त्र तर्क भादि प्रमाण द्वारा सिद्ध आगम की निंदा करने वाले उस दुराचारी के शरीर को खंड २ करके महान कष्ट देते हैं ॥६५४॥

मिक्क येगुळि कनली इट्टु नगर पुट्टार् ।  
 सेक्कुर लिडंपल तिलत्ति नेरि नेड्कार् ॥  
 चक् कर सडैव पिन् नरत्तिने मरंदा ।  
 रेक्कत्तुने मिक्क तुयरत्तिडे युळ्ळंपार् ॥६५५॥

अर्थ—अत्यन्त क्रोध से दूसरे का घर जलाना, घास के डेर को जलाना भादि पाप के कारण जैसे घाणी में तिल को पेल देते हैं उसी प्रकार नरक में घाणी में डालकर पसते हैं। राजा की आज्ञा भंग करके इतर लोगों की संपत्ति हरण करने वालों को असह्य बेबनाए देते हैं ॥६५५॥

कोलं कळवु पौ पोरुळि नाश इन् मगिळ्ंदा ।  
 मलइन् मिशं वेट्टेन उरुट्टु विळ्ळुंकार् ॥

कुलनल कुडिप्पेरिय कपंळिय मेवुं ।

पुलं मगळिर् कार कळिर् पुळ्ळकळ्ळेन पोरिवार् ॥६५६॥

अर्थ—जीव का बध करना अथवा हिंसा करना, दूसरों की वस्तु चुराना, असत्य बोलना, अति परिग्रह का संपादन करना, अधिक की आशा करना ऐसे जीवों को नरक में वृक्ष पर चढ़ाकर उसे नीचे गिरा देते हैं। इससे उनकी महान दुख या कष्ट होता है। अपने पति को छोड़कर अन्य पुरुषों के साथ विषयभोग करने वालों को वे नारकी जीव जैसे अग्नि में पड़ा हुआ जीव तिलमिलाता हुआ दुखी होता है उसी प्रकार नरक में अग्नि डालकर जल को जला देते हैं ॥६५६॥

तोलिनं उरित्तिडु निनत्तडि सुवेत्तार ।

सोलि पुग नी नियुं सोरिय उरिगिड्डार् ॥

मालं कुडं मन्नवरं वंजनं शंदमच्चर् ।

शालककळ्ळु निरत्ति लुरत्तामं कने तिरुप्पार् ॥६५७॥

इनेय तुयरेन्नरिय उडैय वेळु निलत्तिल् ।

विनई लिरंडा नरगिन वीळ्द उने मीटल् ॥

मुनिवरिरे तनक्कु मरिदाय उळ्ळवागुं ।

इनि येनुरै येन्निनु मिदं शिरि दुरैप्पेन् ॥६५८॥

अर्थ—जीवों के शरीर के चर्म को खींचकर खाने वाले मनुष्य को वे नारकी जीव जब वह चलता फिरता है तब उस पर आग बरसाते हैं। उस अग्नि से उस नारकी जीव का चर्म जलाते हैं। इससे वह अत्यन्त दुख पाता है। उस दुख का वर्णन करना यहां अशक्य है। मानव प्राणी को रक्षण करने वाले राजा के साथ द्रोह करना इत्यादि कपट बुद्धि से किये हुए अत्याचारी को नरक में दुख देते समय वह नारकी जीव हाहाकार मचा देता है। उस समय वहां के नारकी कहते हैं कि इस पाप कर्म के फल से तूने नरक में जन्म लिया है। अब तुमको इस नरक से छुटकारा कराने के लिये गयाधर अर्हंत भी शक्य नहीं है। कोई से भी साध्य नहीं है और इसके सिवाय कोई धर्मोपदेश करने वाला भी नहीं है। इसलिए हे वासुदेव! इस समय तेरी धर्म मार्ग को ग्रहण करने की इच्छा है तो मैं दूसरा मार्ग बता देता हूं। तुम मुनो ! ॥६५७॥६५८॥

पोरि पुलं वेरुत्तेळु तवत्तमर नागि ।

मरत्तोडु मलिबोळिर् माळि मन्न नागि ॥

पोरि पुर मिशै पोलि मनत्तोडु पुनरं वाय ।

करुत्तु मुडै मेनि नरगत्तिडु गण मानाय ॥६५९॥

अर्थ—हे नारकी ! पंचेन्द्रिय विषयों को त्यागकर वैराग्य को प्राप्त होकर तूने देवलोक में जन्म लिया। तत्पश्चात् वहां से चयकर मध्यलोक में कर्मभूमि में आकर चक्रवर्ती

पद को प्राप्त किया । अबवान ग्रहंत देव के पथार्थ स्वरूप को न जानकर पंचेन्द्रिय विषयों के कारण तुने नरक में जन्म लिया है ॥६५६॥

अरस्तोडु पुनरं वमर लोम मडे वायो ।

मरस्तोडु भलिबेळ् निलत्तु मुरं वायो ॥

तिरस्ति निम्बि रंड्यु निनेत्तुरदि सेरि ।

नरप्पोर पोळ्ळुरैप्प नुन वल्लु कंडु वरणं ॥६६०॥

अर्थ—अब दया रूपी धर्म के आचरण करने से तुमको सद्गति प्राप्त होगी । इसके अतिरिक्त नरक से छुटकारा पाने के लिये कोई दूसरा उपाय नहीं है । यदि तुम इससे अधिक क्रोध करने वाले होंगे तो इस नरक के मुकाबले में दुख अन्य ठिकाने पर नहीं है । इन दोनों के फलों को भली प्रकार देखो और आत्मा में सुख उत्पन्न करने वाले मार्ग को ग्रहण करो । मैं आपको दुख के नाश करने वाले उपदेश को कहूँगा । सुनो ! ॥६६०॥

मुनेत्तुन् मिशं वंवर कन् मेन् मुनिव लिडि ।

निने तिडिडु मुन्ने यन्नि पयन वैडु ॥

मनस्तिन् मरमेविन् मिगु पावम् वरम् वंदा ।

लुने पिने विलंगि निडे युयित्तिडरे याकुं ॥६६१॥

अर्थ—हे नारकी ! इस नरक में तुम्हको दुख देने वाले नारकी जीव तुम्हारे ऊपर क्रोध न करें, तुमको कष्ट वेदनाएं न दें—ऐसे मार्ग का तुम प्रागे के लिये आचरण करो । इस समय तुमको मन में ऐसा विचार करना चाहिये कि मेरे पूर्वजन्म के किये हुए पापों का फल है । जो मुझे ही भोगना पड़ेगा । यह मेरे द्वारा किए हुए हैं । इसको सहन करने का साहस होना चाहिये । इसको भोगे बिना मेरा छुटकारा नहीं होगा । इसके अलावा और कोई उपाय नहीं है । कर्म के नाश करने का धर्म के अतिरिक्त और कोई अन्य उपाय नहीं है । ऐसा आदित्यदेव ने विभीषण को कहा ॥६६१॥

अरिचन् मोवलेवर् शरणं पोगदियायिर् ।

पिरवि मव सुळिडन् वळि येळ्ळुगुवल् पिळ्ळैति ॥

करवु शेरि उरुव लोडु वत्तु वं येळ्ळिता ।

लिसवि इल् पल् तीविने कळैवि येडु निडु ॥६६२॥

अर्थ—पंचपरमेष्ठी की पूजा स्तोत्र आदि को सदैव अपने मनःपूर्वक करते रहने से तारे चारों गति के भ्रमण के दुख का नाश होगा । तुम अपने क्रोध के द्वारा आत्मा के गुण का यदि नाश करोगे तो पुनः २ तुमको संसार में भ्रमण करना पड़ेगा ॥६६२॥

वीटिने विल्लैकु नल काळिने विट्टि ।

मोडु नर कस्तुपर, मुळंगळलिन वीळ् वाय् ॥

मोडु नरगत्तिरं विळाव वगै वेळ्ङिर् ।

काक्षितलै निङ्गोळुगु कादन मुव नीते ॥६६३॥

अर्थ—मोक्ष को प्राप्त करने वाले सम्यक्त्व को छोड़कर हमेशा अग्नि के समान आत्मा को जलाने वाली यह संसार रूगी दावाग्नि है। उस दावाग्नि में जन्म लेकर अनादि काल से दुख भोगते आये हैं। इस कारण पुनः नरक में अब मैं कभी न आऊँ ऐसी यदि तुम इच्छा रखते हो तो अन्य द्रव्य की अपेक्षा से रहने वाले बाह्य और अम्यन्तर परिग्रहों को त्याग करके भगवान् जिनैन्द्र देव के कहे हुए वचनों पर श्रद्धा न करो तत्पश्चात् हेय उपादेय को ठीक समझकर हेय पदार्थ को तजकर, उपादेय को ठीक ग्रहण करने वाले बनो ॥६३॥

वेगळु मव मायें मिगै पट्रलिवें विनैकुप् ।

पुगुदुं वळि नळु वल पोरें वळेंवु शम्मै ॥

नगै योडु वंतिद लिवें नलिव नैकु वाय्दल् ।

पगै युरवु पणिवु तेळि विन् वंगळै पयक्कुं ॥६६४॥

अर्थ—क्रोध मान, माया और लोभ ये चार प्रकार के कषाय पाप कर्म के आस्रव के उत्पन्न करने वाले हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और उत्तम ब्रह्मचर्य इन दस धर्मों तथा आगम पर श्रद्धा भक्ति स्तुति आदि करना। दातारों के सात गुणों से तथा पुण्य के उदय से दिग्भ्रमर मुनि ऐसे उत्तम सत्पात्र को दान देना, यह सभी पुण्य का कारण है। इसको भली प्रकार जानकर इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम इन दोनों संयम, अभ्युदय नाम के निःश्रेयसपद अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त कराने वाले हैं ॥६४॥

येङ्गि गदि नौगु वदेनङ्गे व मुरवेडां ।

निङ्गु विनै नौगिय कनत्तिदवु नौगु ॥

मंङ्गित्तुयर् नौगु वदर् कर्ब मेळु मागि ।

लोङ्गु मुनै लिङ्गु विनै योरुक्कु मिनि मिक्के ॥६६५॥

अर्थ—यह नरक के दुख मुझ को छोड़कर कब जायेंगे—इसका दुख तथा चिंतवन मत करो तथा आर्तध्यान मन में मत करो। इस प्रकार विचार करने से संसार के दुख उत्पन्न नहीं होंगे। इसलिए तुम नरक के दुखों को शांति से सहन करो। सारे दुख समाप्त हो जायेंगे ॥६५॥

सेङ्गु डुनदायुग मुम् सेरिदु पेरि दोळिय ।

निङ्गु पेरंतुय रिदवु नौगु शिल नाळिल् ॥

वेङ्गु वर तमर नेरि इन् मै युनरु काक्षि ।

योङ्गि योळि गुण् कन् विनै येदुदु मुडन् केडुक्कुं ॥६६६॥

अर्थ—तुम्हारी नरक की आयु बहुत बीत चुकी है अब थोड़ा समय और बाकी है यह भी पूरा जायेगा, चिंता मत करो। इसलिये तुम आगे सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और

सम्यक्चारित्र को प्राप्तकर अर्हत भगवान द्वारा कहे हुए धर्म को मन में धार कर धर्मध्यान का स्मरण करते रहो । इस प्रकार करते जाओगे तो थोड़े ही दिनों में आत्मा में लगे हुए कर्मों का नाश होकर इससे शीघ्र ही मुक्ति पा लोगे ॥६६६॥

बळरि युळुवे वाइन् मदकरि कं यी नंजिर् ।  
 शूळेरि यगत्तिर् पोरिर् सुरा वेरि कडलिर कानि ॥  
 नीळर नागि निकुं नितरयत्तु विळामर काकुं ।  
 केळिनि येरत्तं पोल किडेप बौड्डिळै कंडाय ॥६६७॥

अर्थ—दुष्ट मृग, सर्प, व्याघ्र, सिंह आदि और मदमस्त हाथी आदि को जंगल में चारों ओर यदि आग लग जावे तो बीच में रहने वाले जीवों को, युद्ध भूमि में योद्धाओं को तथा समुद्र में रहने वाले जीवों को संकटकाल में धर्म ही शरण है और कोई शरण नहीं है । उसी प्रकार नरक में पड़े हुए जीवों की रक्षा करने वाला भी धर्म ही है । ऐसा जानकर अब तुम भी यही भावना करो कि धर्म ही सच्चा साथी है अन्य कोई नहीं है । ऐसी धृष्टा रक्ष-कर धर्माचरण करो । अब उस धर्म के स्वरूप को मैं कहूंगा ॥६६७॥

उंवर तं मुलगि त्तुयीकु मुलगिनु किरं मे याकुं ।  
 वैविय पिरप्पिन् धांगि वीटिन् कन् वक्कु मये ॥  
 नसधि नल्लरत्तं पोलुं तुने इल्लै नमक्कु नाडिन् ।  
 कंयमि निलै में यगि त्तिरु बरं केकोळ्ळेंड्रेन् ॥६६८॥

अर्थ—अर्हत भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म को धारण किये हुए जीव को देवगति का सुख मिलता है और अन्त में मोक्ष सुख भी इस धर्म के प्रभाव से मिलता है । इसनिधे हे मेरे भाई ! तुम्हें आत्म-सुख को देने वाले इस धर्म के प्रसादा और कोई नहीं है । ऐसा तुम स्वीकार करो ॥६६८॥

येड्डु मिरप्पवेन् कनलत्तु विघ्निलत्तु वदिन् ।  
 ट्रोड्डला उरुदि सुन्निरं मोळि बळि निल्लेने ॥  
 निड्डन नेड्डु मिद निरयेत्तु नांग लिड्डि ।  
 येड्डव निरेज नंड्रेड्डि यानेन कुलगं पुक्केन् ॥६६९॥

अर्थ—इस प्रकार धर्मोपदेश उस नारकी जीव को कहते ही वह नारकी पुनः इस प्रकार हाथ जोड़कर कहने लगा कि हे स्वामी ! तुमने मेरे प्रेम से देवगति से आकर मुझे नरक से उद्धार करने के लिये धर्म का उपदेश दिया है । यदि आपके द्वारा दिये उपदेश के वचनों का उल्लंघन करके चलूंगा तो पुनः मुझे और कहां सुख मिल सकता है ? उस नारकी ने चरणों में पडकर नमस्कार किया । तत्पश्चात् मैं उसको धर्म का उपदेश व सद्धर्म वृद्धि हो ऐसा कह कर अपने स्वस्थान को आ गया ॥६६९॥

इति आदित्यदेव द्वारा विभीषण को नरक में उपदेश देने वाला दसवां अध्याय समाप्त हुआ



## ॥ ग्यारहवाँ अधिकार ॥

✽ शीतभय और विभीषण का मोक्ष जाना ✽

निरं पोरं शांति योषि निद्रु दौद्रिन् में सिद्धि ।  
तरिवन् शरणा मूळ्गि यारुइर् कवळि येवप् ॥  
पिरवि मोह विच्छिन्न विरं व येयिंरुबिर् पेद्र ।  
वर नेरि यवयिन् वदिग कर सिळं कुभर नाना ॥१७०॥

अर्थ—इस प्रकार वह आदित्य देव विभीषण को उपदेश देकर पुनः देवगति में आ गया । वह नारकी जीव क्षमा आदि परिणाम को धारण करके प्राणि संयम और इन्द्रिय संयम को निरतिचार पालन करते हुए संसार का सुख प्राप्त नहीं है-ऐसी मन में भावना करते हुए अर्हत भगवान का स्मरण करते हुए जिस प्रकार सिद्ध रस में लोहा गलाने से स्वर्ण बन जाता है उसी प्रकार वह नारकी जीव अपनी आयु पूर्णकर वहां से च्यकर उसने मध्य-लोक में एक राजा के घर राजपुत्र होकर जन्म लिया ॥१७०॥

मद्रिब बीपत्तिन् कनिरेवस वयोति याळ् ।  
कोट्ट वन् शिरिवन् भाविन् कावलो सुसी में कौविन् ॥  
वेद्रि याळ् वइद्रु शीवामावेनुं शिरुव नानि ।  
कोट्टवर् कुलंगळेन्नुं कुल मल्लं विळं वळं थोस्तान् ॥१७१॥

अर्थ—वह नारकी जीव इस मध्यलोक में जम्बूद्वीप से संबंधित अयोध्या नगरी के श्री वर्मा नाम का जो राजा राज्य करता था जिनकी पटरानी का नाम सुषमा देवी था, उसके गर्भ में आकर पुत्र रूप में जन्म लिया, उसका नामकरण संस्कार करके सुदामा ऐसा नाम रखा गया । वह सुदामा अपने वंशके लिये दीपक के प्रकाश के समान प्रकाशमान हो गया ॥१७१॥

विने येसिन् मुनिव नुत्तु विजइन् वळरं वीर ।  
निने वत्तु तोव वेवर् निले केवुत्तरसु मेवि ॥  
कनमोत्तयो वइरकु मौकु कमल पून तडत्तु वय्योन् ।  
ट्रं योत्तु मरे मुगत्तार् तम्मुले तोयियर् पट्टाण् ॥१७२॥

अर्थ—वह सुदामा राजकुमार वीर २ वृद्धि को प्राप्त हुआ और संपूर्ण शास्त्र व शस्त्र कला में अत्यन्त प्रवीण हो गया । और सर्वगुण सम्पन्न होकर अपने विरोधी शत्रुदल को जीतने की शक्ति प्राप्त करने वाला हो गया । जिस प्रकार मैघ गर्जना करके जगत के जीवों को शांति करने के लिये पानी वृष्टि करता है, उसी प्रकार वह सुदामा अपने राज्य में नरिब

जनता को दान देने वाला हो गया और कमल पत्र के समान अत्यन्त सुन्दर कन्या के साथ उसका लग्न हो गया ॥६७२॥

अळलिङं वंदमैव नौ बळ रणियु मेष्ट्रे ।  
निळलिङं इरुप्पवे पो निरयत्तु तुयरं तीर ॥  
कुळलन मोळिई नादं कुवि मुलै तडत्तु वैगि ।  
पळवि ने तुनिकू पान्मै वंदुवित्त नाळाल् ॥६७३॥

अर्थ—जिस प्रकार एक मनुष्य गर्मी के दिनों में घूप में जाते समय उस घूप के ताप से अत्यन्त व्याकुल होकर वृक्ष की छाया के नीचे बैठकर विश्राम करता है, उसी प्रकार वह सुदामा राजकुमार पूर्वजन्म में अनुभव किये हुए दुखों को भूलकर पंचेंद्रिय सुख में मग्न होकर अपनी पटरानी के साथ अनेक प्रकार के विषयभोगों में रत हुआ, काल व्यतीत करने लगा । उस समय में इस प्रकार इन्द्रिय भोगों में लीन होने पर भी पूर्वजन्म के तीव्र पुण्योदय के कारण आत्मा में जागृति थी ॥६७३॥

अंतमिल् मिल् विनेकु मारा मनंबमा मुनिवन् पांब ।  
वंदवन् वनंगि माद्रिन् वडिवेला मुडिय केटिट् ॥  
डिदिर विभवं तन्नं येरि युह शरुगि नींगि ।  
वेतिरस् वेदर् वीरन् मेत्तव दरस नानान् ॥६७४॥

अर्थ—कर्म नाश करने के लिये उच्चत सम्पत्त्व से युक्त महा तपस्वी व्रतधारी एक दिगम्बर मुनि बिहार करते २ आशे और अयोध्या नगरी के उद्यान में विराजे । मुनिराज के आगमन के समाचार सुनकर उस सुदामा राजा ने उन मुनिराज के पास जाकर नमस्कार किया और उनके द्वारा कहे हुए आत्मतत्त्व के उपदेश को सुनकर बेरागी होकर जिन दीक्षा ले ली । ६७४॥

योगं कन् मूङ्गु म सिदै युडन् सेल वडंगि मुट्टु ।  
मोगड् कन् मुदुगिट्टोड मुनिमे वै मुगडु कौडु ॥  
नागंग नडुंग नोट्टु रावनै नान्नि नींगि ।  
भोगगळ् पुगळ लाट्टा पोम्मनर् कर्प पुक्कान् ॥६७५॥

अर्थ—जिन दीक्षा के ग्रहण करने के बाद वह सुदामा मुनि मन, बचन, काय को अपने वश में करके इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम का पालन करते हुए मोहनीय कर्म का संवर करने वाला हो गया । इस प्रकार सुदामा मुनिराज के तपश्चरण के महत्त्व को समझकर स्वर्ग से देव भी आकर भक्ति पूजा करने लगे । इस प्रकार वे मुनि और तपश्चरण करते हुए समाधि मरण करके ब्रह्मलोक में देव पर्याय चारण की ॥६७५॥

तन्नुळ्ळे निङ्गु तन्नं तानरगत्तु लुङ्गकुं ।  
 तन्नुळ्ळे निङ्गु तन्नं तानररगत्तु वेंक्कुं ॥  
 तन्नुळ्ळे निङ्गु तन्नं तान् द्रुडु माट्टु सुङ्गकुं ।  
 तन्नुळ्ळे निङ्गु तन्नं तान् सिद्धि यगत्तु वेंक्कुं ॥६७६॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन से युक्त आत्म द्रव्य अशुभ योग में अशुभ परिणाम होकर भ्रमण करने से वह जीव नरक में जाता है । उससे रहित शुभोपयोग रूप अपने स्वभाव में परणति होने से देवगति को प्राप्त कर लेता है । और शुभ अशुभ परिणति से देव, मनुष्य नारकी और तिर्यंच गति को प्राप्त कर लेता है । वह जीव शुभाशुभ परणति को त्यागकर के शुद्धोपयोग में परणति होने से स्वगुणोपलब्धि अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है ॥६७६॥

येन्नु मिम्मुळ्ळिकि लक्काय वंदन मिदने कंड ।  
 पिन्नु मल्लरत्तं तेरार् पेदै में यादि मारगळ् ॥  
 पन्नगर् किरेंव पंचानुत्तरं पुक्क पेंवार ।  
 मन्नन् वज्ज रायुवन् कान् वंडु संज यन्तनानान् ॥६७७॥

अर्थ—इस प्रकार अर्हत भगवान के द्वारा कहे हुए आगम के अनुसार मेरे न चलने से अब तक इस संसार में परिभ्रमण करता आया हूं । इस जैन धर्म के महत्व को समझने के बाद भी इस मोहनीय कर्म के उदय से यह जीव अज्ञान दशा को प्राप्त होता है । यह कर्म महा बलवान है । हे धरणिंद्र सुनो ! अर्हमिद्र कल्प से उत्पन्न हुए सिहसेन नाम का जीव विदेह क्षेत्र से संबंधित हुआ जीव गंध मालनी नाम के देश में वीतशोक नाम के नगर में संजयंत नाम का राजा होकर तपश्चरण करके मोक्ष सुख को प्राप्त हुआ ॥६७७॥

पागत्त मुळ्ळि नारो द्विवत्तु पंडिडु शोवा ।  
 मागर् पत्तिळ्ळिडु मैदन् शयंदनाय् वळ्ळरंडु माय ॥  
 भोगत्तु किवरि सित्ति पुगुडु नरकाक्षि भोग ।  
 नागत्तु किरें मं पूड नंवि निन् वरवि वेंडान् ॥६७८॥

अर्थ—सुदामा नाम का जीव अच्छे तपश्चरण के फल से ब्रह्मकल्प में जन्म लेकर वहां की आयु को पूर्ण करके जयंत नाम का राजपुत्र होकर कई दिन के पश्चात् संसार से विरक्त होकर जिन दीक्षा ग्रहण कर ली और घोर तपश्चरण करते हुए उस धरणिंद्र की संपत्ति के समान मुक्त को भी संपत्ति मिलनी चाहिये ऐसा विचार करके निदान बंध कर लिया और समाधिभ्रमण करके भुवनत्रय कल्प में देव हुआ और वह जीव तू ही है । इस प्रकार आदित्यदेव ने धरणिंद्र से कहा ॥६७८॥

सेणोत्त मनत्त वेडन् द्रीविने तुरप्प सेंडु ।  
 मागवि पेट्ट वंद वायुवं कळ्ळिडु मन्मेल् ॥

नागत्तिर् टोंडि मूंडा नरगत्तु पुष्कुत्ति में ।  
वेगत्तिल् बिलंगि लेंदु पोरि युळ्ळु सुळ्ळु सेल्वान् ॥६७६॥

अर्थ—हे धरणींद्र सुनो ! यह अत्यन्त निष्ठ पाप कर्म को किया हुआ वह भील मर-  
कर सातवें नरक में गया । और वहां से चयकर सर्प योनि में जन्म लिया और वहां से मरकर  
तीसरे नरक में गया । इस प्रकार पर्याय को धारण करके एकेंद्रिय आदि अनेक पर्याय को  
धारण करने वाला हुआ ॥६७६॥

वंदिदं भरदत्तिन् कन् भूतर मन वनत्ति ।  
नंदरत्तनिइर् सेल्लुं नदि ययि रावदिइन् ॥  
ट्रन् करं तापदकुं तलं वन् कोभृंगन् पन्न ।  
मन्दनसेर् संगि मैदन् शिरुगस् शेर् मिरुग नानाम् ॥६८०॥

अर्थ—इस प्रकार वह जीव अनेक पर्यायों को धारण करता हुआ जम्बू द्वीप संबंधी  
मध्यलोक में भूतारण्य नाम के जंगल में होकर जाते समय ऐरावत नाम की नदी के किनारे  
पर तपस्था करने वाले उन तपस्विधियों में एक क्रोसिह नाम का अधिपति था , जिसके शंखिणी  
नाम की एक स्त्री थी , उसके गर्भ में आकर उसने जन्म लिया । इसका नाम मृगसिह रखा  
गया ॥६८०॥

परल् मिशं किडंडु मुळ्ळिन् पलगेर् ट्रु यिडु सु पंज ।  
वेरि नडु पगलि निडु मिरावडां वरुंड पुक्कुं ॥  
करे युडे मडेर् सेरं दु कलेन् पिन्नोडि काम ।  
तुरे युडे युवरिर् शीत कुडंगळं तळुवि तोळाल् ॥६८१॥

अर्थ—वह मृगसिह नाम का तापसी एक कठिन शिला पर बैठता और लोहे के कांटों  
पर सोता, पंचाग्नि तप को तपता, वर्षाकाल में खडा रहता, शीतकाल में तालाब में बैठता,  
ऐसा वह तापसी तप करता था ॥६८१॥

तूंगुरि किडंडुस् नल्लार तोळिनै पुनंदुं त्रयमे ।  
दांगि यतवत्तिर् सेल्वान् वानत्तोर् विजै वैदन् ॥  
तोंगिला विजु मालि तिबित्तिलगत्तु नादन् ।  
आंगु वंदवनै कडांगन्ने तानिदानम् शैवान् ॥६८२॥

अर्थ—स्त्रियों के भुजों को आलिंगन करता, हेय उपादेय तत्व से रहित, इस प्रकार  
मिथ्या तप को करते समय, एक दिन पृथ्वी तिलक नगर का अधिपति विद्युन्माली अपनी  
विद्या के बल से आकाश में जा रहा था । उस समय उस मिथ्यात्वी तापसी ने यह निदान वंघ  
कर लिया कि ऐसी विद्या मुझको प्राप्त हो जाय तो ठीक है ॥६८२॥

मद्रिवन् द्रनकु पोन द्रवस्तिन् मेलेनक्कु वंदि ।  
 चुद्रमुं शेलवु वेंदुम् तोक्कुड निक वेंडि ॥  
 पेद्रि यं निनेत्तु सेंडु पिरैपिन् कनीगि वेळ्ळि ।  
 वेपिन् कन् वडाक्किर् सेडि कनग पल्लवस्तु वेंदन् ॥६८३॥

अर्थ—उस मृगसिंह नाम के तापसी ने कौन सा निदान बंध कर लिया? उसने यह निदान बंध कर लिया कि मुझे अच्छे २ बंधु मिले, आकाश मे गमन करने की विद्या प्राप्त हो जाय, चक्रवर्ती पद मिल जावे। मैं जो तपस्या करता हूँ इसके फल से मुझे उक्त सब मिल जावे। इस निदान बंध से वह तापसी मर गया विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी से संम्बन्धित कनक पल्लव नाम के नगर में वज्रदन्त नाम का राजा था ॥६८३॥

वज्जिर दत्तनुक्कुं मादर् वित्तु प्रभंक्कु ।  
 मिच्चयार् टोंडि वित्तुवंत नेंडियेव पट्टाण् ॥  
 वज्जिर पिळवु पोसुं वेरत्ताल् वंवपाव ।  
 तिच्चं गे मुनिक्कु निवनंब वमच्चन् कंडाय् ॥६८४॥

अर्थ—उस राजा की पटरानी का नाम वित्तुप्रभा था। उस रानी के गर्भ में आकर वह तापसी पुत्र हुआ। उस पुत्र का नाम विद्युद्दंष्ट्र रखा। वह अनन्तानुबंधी क्रोध के उदय से संजयंत मुनि को देखते ही क्रोधित हुआ सिंहसेन राजा के समय शिवभूति नाम का मंत्री अर्थात् वह सत्यघोष नाम का मंत्री था। उस समय का किया हुआ बैर यहां तक नहीं छूटा, बल्कि प्रत्येक भव में उपसर्ग करता आया है। ऐसा समझना चाहिये। इन प्रकार मैं कहने वाला तुम को मालूम हो गया क्या? इस तरह उन्होंने पूछा ॥६८४॥

वेरत्ताल् वेंदर् केंडुं वगैवनाय वेय्य तुंव ।  
 भारत्तै मुडिय चंड्रान् पगैव नाय तनकुत्ताने ॥  
 वेरत्तै वेरु मिडि वेदनुं कीटिळिब ।  
 भारत्तै मुडिय चंड्रान् पन्नगर् किरैव वेंड्रान् ॥६८५॥

अर्थ—इस प्रकार आदित्य देवने घरसोंद्र की तरफ देखकर कहा कि हे घरसोंद्र सुनो! एक भव में सिंहसेन राजा पर किया हुआ शिवभूति द्वारा बैर इस भव तक तीव्र क्रोध के रूप में शत्रु भाव से अब तक आ रहा है। तीव्र बंध करके अनेक नरक गति आदि अशुभ गतियों में दुख प्राप्त करने वाला तू हो गया। शुभ परिणाम को धारण किये हुए सिंहसेन राजा ने शुभ गति को धारण कर आगे चलकर मोक्ष गति को प्राप्त कर ली ॥ ६८५ ॥

सांदिरि नांग मापिन् वानरत्ति नागं ।  
 बेंतेरि नरगन् मिक्क मासुन् नरगन् वेडन् ॥

अदमा नरगन् नाग मारुत् नरगन् मद्रुम् ।

मैदन् संगिकम् विसुदन्तं दृन् वरविशामे ॥६८६॥

अर्थ—उस शिवभूति मंत्री ने अपनी पर्याय को छोड़कर आगंध नाम की सर्प पर्याय को धारण किया । पुनः वह शरीर को छोड़कर चमरी मृग हो गया । उस चमरी मृग की पर्याय को छोड़कर पुनः अजगर सर्प हो गया । उस पर्याय को छोड़कर चौथे नरक में गया । वहां से नरक की आयु पूरी कर इस मध्य लोक में भील ही गया । भील की पर्याय छोड़कर तीसरे नरक में गया । उस नरक में से निकल कर मृगसिंह नाम का तापसी हुआ । वहां की आयु पूर्ण करके मरकर निदान बंध कर लिया कि मैं चक्रवर्ती बन जाऊँ । ऐसा बंध करके वह विश्व हृष्ट नाम का विद्याधर हो गया ॥६८६॥

मन्नबन् मत्तयाने शासारणं विजं वैदन् ।

पिन्नं काविट्ट देवन् पेरिय वज्जरायुवन् पिन् ॥

पन्नदं तवत्तिर् पंचानुत्तरत्तमरन् पार् मेल् ।

मन्निय पुगळि नान् संजयदन् दृन् वरविशामे ॥६८७॥

अर्थ—राजा सिंहसेन मरकर के अन्ननीकोड नाम का हाथी हो गया । तत्पश्चात् वह हाथी पंचाणुव्रत को धारण कर मरकर सहस्रार कल्प में देव हुआ । तदनन्तर वहां से आकर विद्याधरों में किरणवेग नाम का राजा हुआ । तत्पश्चात् इन्द्रिय भोग भोगकर वहां से विरक्त होकर अन्त में दीक्षा लेकर घोर तपश्चरणा करके समाधिपूर्वक मरण कर कापिष्ठ कल्प में देव हुआ । वहां से चयकर वज्रायुध राजा हुआ । वहां के राजभोग को भोग अन्त में वैराग्य को प्राप्तकर तपश्चरणा करके पंचानुत्तर विमान में अहम्भिद्र देव हुआ । वहां से मनुष्य लोक में आकर संजयन्त मुनि होकर तपश्चरणा करके मोक्ष चले गये ॥६८७॥

वैरत्तं योरुवर काकि युरुवर काकि युरुवर्कुं पिरवि दोरुं ।

तुयरत्तं किलैत्तल् सोम्ना तिवरगळे सोन्न वैडाम् ॥

मयरि कन् मरत्ति नौगि नाग पासत्तं चांगि ।

युइरोत्तिगिबनो दोडि योळुगुनी युत्तम् कोवे ॥६८८॥

अर्थ—हे धरसेन्द्र सुनी ! परस्पर आपस में विरोध होने के कारण अनेक भव २ में दुख सहन करना पड़ता है । यह बात तुम्हारे अनुभव में प्रत्यक्ष में आई होगी । इस समय सिंहसेन महाराज और शिवभूति मंत्री इन दोनों का चारित्र ही बर्णन किया है । ये दोनों ही कथा नायक हैं । इस कारण अब तू विश्वहृष्ट पर क्रोध करना छोड़ दो और उनको बंधन से मुक्त करो और उन पर दयाभाव रखो ॥६८८॥

यैडुलु मिरैवन् द्रेन्नरगत्तु लिडुंबे तीर्ता ।

इन्दु मिव्पिरवि येल्हा निडुवारेनक्कु सोलि ॥

बेङ्गवररत्तिर् काशि विमल महाग सैवा ।

येडन किरैव तोये इन्न मुंडरुळि सैवन् ॥६८६॥

अर्थ—इस प्रकार आदित्यदेव द्वारा कहा हुआ सुनकर धरगेंद्र आदित्यदेव से कहने लगे कि हे स्वामी ! मैं पूर्वजन्म में नरक में जब पडा था, तब तुमने वहां मुझे धर्मोपदेश दिया था। उसको सुनकर तुम्हारी कृपा से मैंने इस समय चक्रवर्ती होकर जन्म लिया है। अब तुम मेरे ऊपर प्रत्येक भव में उपकार करते हुए आये हो, और मुझ में सम्यक्त्व उत्पन्न किया है। इसलिए आप मेरे गुरु हैं और आगे किए जाने वाले जो कार्य हैं उनको अब कहूंगा ॥६८६॥

विजैडन् बलियिर् पोगि मेद्वकोर् तम्मै वव्वि ।

नंचिरै वेकुं वित्तु दंतन् ट्रन् कुलत्तु मिषक ॥

विजये परित्तु वीळ्द शिर गुडं परवे पोल् ।

विजैमा नगरत्तुळ्ळे इरुत्तुष निवरं इंडे ॥६८७॥

अर्थ—विद्या बल से आकाश में गमन करने आदि की जो शक्ति विद्युद्दंष्ट्र को प्राप्त है वह प्रागे के लिये विद्या रूप न रहे। जिस प्रकार पक्षी के पंख टूट जाने के बाद वह पक्षी उड़ नहीं सकता उसी प्रकार यह विद्याधर कहीं विद्या के बल से भाग न जाय, ऐसा करेंगे ॥६८७॥

येडिडा उरैप वावित्ताव निष्पळं पोरेन्न ।

पोडिडा रवेद कुळादि वर्गं लेन्वेगुळि नींगा ॥

दोडिडा उरैत्तु मेना निरैव निन्नरुळि नाले ।

मंड्रुलां कुळलि नाकै माविजं पनिशंगेड्रान् ॥६८८॥

अर्थ—इस प्रकार धरगेंद्र की बात सुनकर आदित्य देव कहने लगा कि हे धरगेंद्र ! इस विद्याधर द्वारा कहे हुए अपराध को क्षमा करो। इस पर धरगेंद्र कहता है कि हे स्वामी सुनो ! मैं इनके द्वारा किये हुये अपराध के बारे में बिना प्रायश्चित्त दिये नहीं छोड़ूंगा और विद्याधर की महाविद्या कभी भी इनको साध्य न हो, बल्कि ये विद्याएं स्त्रियों को साध्य हो इस विद्याधर को साध्य न हो। और इसके अतिरिक्त इस पंचम काल में ऐसी विद्या किसी को भी साध्य न हो ऐसी मेरी इच्छा है ॥६८८॥

इव्वन्नं शैविट्टेने तिरुट् पिळं पिरंडु मिन्नु ।

कव्विय तनैय मेनि कडैयर्तन् कळिप्प नाले ॥

येव्वळियानु मोडि येळिय वर तम्मं येळ्ळाम् ।

कव्वै गळ् पलवुं शैवर् मेल्वरुं कालत्तैड्रान् ॥६८९॥

अर्थ—पुनः वह धरगेंद्र कहता है कि यदि मैं इस प्रकार नहीं कहूंगा और विद्याधर

को यदि संतोष से छोड़ दूंगा तो भगले काल में पुनः यह किसी दूसरे के साथ उपसर्ग करेगा ॥६६२॥

मोवलंकुळलि नासंमा विजं यडिप्पडुप्पार ।  
शंविद्यां सजि येदन् टिरुवडि कमलं सरं वन् ॥  
कौविद्य मिडिनिडु शिरप्पयरं दोबि नल्ला ।  
लेठवगं विजं येनु मेदिर् घर लोळिग बेंडान् ॥६६३॥

अर्थ—विद्याधरों के लोक में सुन्दर २ केशों वाली स्त्रियां हैं । वे सभी संजयंत मुनि के चरण कमलों को मन, वचन, काय से स्मरण करती हैं । सभी ये विद्याएं स्त्रियों को प्राप्त होंगी । यदि उसी श्रद्धा से पुरुष इस विद्या को साधेंगे तो वे सफल नहीं होंगे ॥६६३॥

तरं मगडिलग मन्न तडवरं इदन् कन् मेनाट् ।  
पिर मरि मुदल विजं येडि पड पिनय नारु ॥  
किरि मंदानिककुलत्तु मैदर कागेंडि तन्वे ।  
रिरिमदं मैडोर् कुंडि निरेव नालयं समैत्तान् ॥६६४॥

अर्थ—इस प्रकार धरणेंद्र के कहने के बाद जिन संजयंत मुनि ने जिस पर्वत पर मोक्ष प्राप्त किया था उस पर्वत पर जाकर उपवास करने वाली स्त्रियों को ब्राह्मी आदि महाविद्या सिद्ध होंगी । इस विद्युद्दंष्ट्र के वंश में उत्पन्न होने वाले को यह विद्या सिद्ध नहीं अतिरिक्त कुछ नहीं होगा । यह मुनि जिस पर्वत पर से मोक्ष प्राप्त किया हो उस पर्वत का होगी । इसके नाम हीमंत रखकर उस पर्वत पर एक मंदिर का निर्माण करा दिया ॥६६४॥

मंजुलामलं मेलमलि मानगर ।  
पजनन् मणि योडु पशुं पन्नार् ॥  
सजयंत भट्टारक शेट्टगं ।  
नजुगर् किरैवन् शैदु नाटि नान् ॥६६५॥

अर्थ—तत्पश्चात् धरणेंद्र हीमंत पर्वत पर संजयंत नाम मुनि के तपश्चरण के स्थान पर मंदिर बनाकर उसमें संजयंत मुनि की प्रतिमा स्थापित कर दी ॥६६५॥

मुळवु तन्नुमै मुंदे मुळंगिन ।  
मुळं मळ इन मुरंङ्ग वलंबुरि ॥  
मुळल निडुळं तिट्टन् कागळ्ळु ।  
कुळलोडेंगिन वीरुं कुळांगळे ॥६६६॥  
निरैव किन्नरर् गीत निल मिसं ।  
येरं वै येरुमिन्नि नेगनो माडि नारु ॥



सुरेव कादलिर् सोदृळ कागनर् ।  
करं कुवित्पुरगर् किरं येत्तिनान् ॥६६७॥

अर्थ—मंदिर का निर्माण कराके प्रांतस्था सहित मूर्ति विराजमान की और अनेक प्रकार के वाद्य वीणा बांसुरी आदि बाजों के शब्द जिस प्रकार समुद्र में घोष होता है, उसी प्रकार सदैव वीणा बांसुरी आदि वाद्य बजते रहे, ऐसा प्रबंध कर दिया। उस पर्वत पर अनेक किन्नरियों तथा देवियों ने आकर कई प्रकार बाजे बजाये तथा नृत्य किया। उस समय वह धरणींद्र संजयंत मुनि की अनेक प्रकार से स्तुति स्तोत्र आदि करने लगा ॥६६६॥६६७॥

कलं इला वरि वनी कलनिला वळुगु नी ।  
मलं विला मवनु नी मरुविला मवनु नी ॥  
युलगि नुळ् लायु नी युलगि नुळ् लायोह ।  
निलैला निलैये नी यागिलु मिरैव नी ॥६६८॥

अर्थ—मति, श्रुत, अविधि, मनःपर्यय इन चार ज्ञानों को छोड़कर एक ही समय में चराचर वस्तु को जानने की सामर्थ्य रखने वाले आप ही हैं। वस्त्राभरण आदि का त्याग करने पर भी शरीर से सुशोभित दिखने वाले आप ही हैं। मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने वाले आप ही हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वभाव को जानकर प्रतिपादन करने वाले आप ही हैं। यह तीन लोक आपके ज्ञान में सदैव झलकने पर भी आप उससे भिन्न हैं ॥६६८॥

अमल नी यरिव यरुग नी यचल नी ।  
विमल नी वीर ना वेर मिलोरुव नी ॥  
तुमिल नी तुरेव नी सुगत नी शिरबनु नी ।  
कमल नी करुणा नी कंबल चेल्व नी ॥६६९॥

अर्थ—निर्मल अथवा निर्विकार स्वरूप को प्राप्त हुए आप ही हैं। सम्पूर्ण वस्तुओं में आप ही योग्य हैं। चलन रहित आप ही हैं। निजात्म रूप को आपने ही प्राप्त किया है। अनन्त वीर्यादि गुण को प्राप्त हुए भी आप ही हैं। वैरभाव न रखने वाले आप ही हैं। आप ही अकार स्वरूप हैं। बाह्य अभ्यंतर परिग्रह से रहित आप ही हैं। अनन्त सुख को भी आप ही ने प्राप्त किया है। मोक्ष मंगल भी आप ही हैं। पद्मासन रूप भी आप ही हैं। रूपातीत भी आप ही हैं। कैवल्यरूप भी आप ही हैं। निश्चय आत्म द्रव्य स्वरूप होने वाले और कैवल्य लक्ष्मी को भी प्राप्त किये हुए आप ही हैं ॥६६९॥

इरेव वी ईश नी येगुणत्तलैव नी ।  
पोरि इला वरिव नी पूशने किरैव नी ॥  
मरुविला वरुव नी मादवत्तलैव नी ।  
शिरिय यानिन गुणं सेणुवर् करिय नी ॥१०००॥

अर्थ—नाथ भी आप ही हैं। आदि अन्त भी आप ही हैं। अनन्त ज्ञानादि आठ गुणों को प्राप्त किये हुए भी आप ही हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान रूप भी आप ही हैं। तीन लोक में रहने वाले जीवों के द्वारा पूजनीय भी आप ही हैं। आप ही स्वयंभू हैं। तपश्चरण करने वाले मण-घरादिकों में भी श्रेष्ठ आप ही हैं। इस प्रकार मेरे समान अल्पमति द्वारा आपके गुणों का वर्णन करना मेरे लिये अशक्य है। आप ऐसे गुणों को धारण करने वाले हैं ॥१०००॥

इनयन् तुदिगळ् सोल्लि इरुक्कयो इरंडु नान्गु ।  
मणमलि वनक्कंदोरु मूवर्ग सुळट्टि मान् विन् ॥  
विनय्यर वेरिद कोनें विन्नव रोडु मिन्नुं ।  
कनें कळ लुरगर्, कोमान् कंतोळु दिरेजि पोनान् ॥१००१॥

अर्थ—घातिया अघातिया कर्मों का शुद्धोपयोग द्वारा नाश किये संजयंत सिद्ध भगवान को चतुरिणकाय के देवों ने स्तुति और पूजा करके उस भगवंत को मन, वचन, काय से भक्ति आदि करके अर्हत, सिद्ध, साधु की गर्भ, उपपाद और संमूर्च्छन ऐसे तीनों शरीर के नाश करने के लिये तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया। इस प्रकार भक्ति सहित पूजा स्तुति करके वह देव अपने भुवनत्रय कल्प में लौटकर गया ॥१००१॥

मादक्क पोदवादि तावनुं विजे वेदन् ।  
मेदक्क तरुळ वेरस् विडतक्क वेडु मिक्क ॥  
कोपत्तं घुपशमिप्पित्तरुळि नें कोडु निकुं ।  
नोदक्क नीति युळ्ळानु बलुवर्, कळ्ळं वेस्तान् ॥१००२॥

अर्थ—तत्पश्चात् सम्यक्दर्शन प्राप्त हुआ वह आदित्य देव, विद्याधरों के राजा विद्युद्दंष्ट्र के क्रोध का नाश करना चाहिये इस बारे में पुनः कहने लगा कि मैं कुछ धर्म की बातें कहता हूँ सुनो ! ऐसा सुनकर उस विद्युद्दंष्ट्र ने धरणांद्र के चरणों में पडकर नमस्कार किया ॥१००२॥

मदक्करि मसगं पोलवार्, वसं वरल् वेय्य भूङ्गिर् ।  
कदि बदि यागु मागा विधि वशं वरुद सोडु ॥  
मदि पेरि दुडैय नीरार्, माट्टिडे इन्ब मेवार् ।  
विदियर्, वेरिय वेन्नुं विजयाल् विजे वेदे ॥१००३॥

अर्थ—आदित्य देव ने कहा कि डांस, मच्छर के समान धारण किया हुआ शरीर है। यह मानव प्राणी अपनी ज्ञान शक्ति तथा मनोबल से मदमस्त हाथी को अपने उपयोग से अपने वश में कर लेता है उसी प्रकार यह मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त होकर सुकल-ध्यान द्वारा इस तीन लोक का अधिपति होने योग्य सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है। इसलिये सम्यक्दर्शन को प्राप्त हुआ जीव इस पंचेन्द्रिय विषय ऐसा क्षणिक सुख का नाश करने के लिये सदैव इच्छा रखते हैं। परन्तु संसार सुख में मग्न नहीं होते ॥१००३॥

कोपति कुडैय घोडि नरगत्तं कुरुगि पल्काल ।  
 वेवत्तिन् वेदुंभि निडुं विलंगिनु सुळुंङ्गु वंदाय् ॥  
 तापत्तं सनिक्कु नोळल् पोलु नल्लरत्तं मैवि ।  
 थापत्तं यगट्टि इन्ब मूर्ति नोयाग वेड्डान् ॥१००४॥

अर्थ—इस कारण आपके इस विषय को न जानते हुए इस प्रकार क्रोध करके अनेक बार नरक में जाना पडा। इसके सिवाय क्रोध पाप बैर के कारण अनेक तिर्यच, पशु आदि पर्यायों में जाकर दुख भी भोगना पडा। अतः इस दुख का नाश करने के लिये कर्मों का नाश करके अनन्त सुख को धारण करने वाले हो जावो ॥१००४॥

अळलिडै मलयै येंदि वंदव नम्मलक्कीळ् ।  
 निळलिडै पेट्टिविब नोर् पिडु पैक निवम् ॥  
 सुळलवु मुळुबे निर्प तळिरि नं करित्तु मेळ्ळु ।  
 मुळं थुरु मिबम् पोलुविलंगुरु मिब मेड्डान् ॥१००५॥

अर्थ—हे विद्युद्दंष्ट्र सुनो! इस संसार के सुख दुख कैसे हैं सो बतलाते हैं। एक मनुष्य अपने मस्तक पर भारी पर्वत को धारण कर उसी को छाया में खडे होने के समान है। और एक हरिण जंगल में चारों ओर सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर प्राणियों के भ्रमण करने के बीच में कोमल घास खाने के समान यह संसार सुख है ॥१००५॥

अरुळिलार् किल्लं इन्ब मार्गलि युलत्तिन् कट् ।  
 पोरुळि लार् किब मिल्ला वारुरोर् पोन् कोळ् वारिर् ॥  
 टेरिविलार् किल्लै येंडु तीनेरि शेळ्ळु नीगन् ।  
 मरुळिला मनत्तं याय् नो मनैयर् मरुवुगेंडान् ॥१००६॥

अर्थ—एक कवि ने कहा है कि:—

असल् लिल्लारक्क अल्लुग मिल्लई रुल् इल्लारक्क ।  
 इव्वुलगा विल्लई ॥

इस जगत के मानवों के पास यदि संपत्ति नहीं है तो उनको तिलमात्र भी सुख नहीं है। एक कवि ने पुनः कहा है:—

“माता निदति नाभिनंदति पिता भ्राता न संभाषते ।  
 भृत्याः कुप्यति नानुगच्छति सुता कांता च नालिगते ॥  
 अर्थस्यार्थंन शंकयात् कुरुते, स्वालापमात्र सुहृत् ।  
 तस्मादर्थमुपाश्रय शृणु सखे ह्यर्थेन सर्वे वशाः ॥

इस प्रकार विचार करके देखा जावे तो इस जगत में मनुष्य को बाह्य सुखों से कोई सच्चा सुख नहीं मिल सकता; परन्तु यह अज्ञानी प्राणी इस पंचेन्द्रिय सुख को ही सब सुख मानकर ससार में दुख भोगता आ रहा है। इससे भिन्न ऐसे सद्धर्म के सार को जब तक न समझे तब तक इस जीव को सुख का मार्ग स्वप्न में भी उनके ज्ञान में नहीं आयेगा। इसलिये हे विद्युद्दंष्ट्र ! अहत भगवान द्वारा कहे हुए धर्म को समझकर उस पर विश्वास करो। इसके अतिरिक्त इस आत्मा को सच्चा सुख देने वाली और कोई वस्तु नहीं है इसका परिपूर्ण पालन करो। ऐसा आदित्य देव ने कहा ॥१००६॥

अरसन् संजयंदनाग ववकुं नी यमच्चनाग ।  
पेरिव मादेवियानेन् पिन्नय भवंगडोरुं ॥  
मरुविनाम् मगिळ्दु शेंद्र पिरुप्पु मद्रदनु कप्पा ।  
लोरु वरा लुरैक् लागा बुलंदन पिरवि मेनान् ॥१००७॥

अर्थ—हे विद्युद्दंष्ट्र सुनो ! वह संजयंत भगवान पूर्वजन्म में सिंहसेन राजा की पर्याय में थे। तुम उनके शिवभूति अपर नाम सत्यघोष नाम के मंत्री थे और मैं उनकी रामदत्ता नाम की पटरानी थी। तत्पश्चात् हम कई २ जन्म लेकर अनेक प्रकार के सुख दुख भोगते आये हैं और इसी प्रकार पीछे अनादि काल से कई २ बार जन्म मरण करते आये हैं। उनका वर्णन शक्य या साध्य नहीं है ॥१००७॥

इनयन केदु तन्नं इळित्तंद विद्युदंतन् ।  
मनमलि करुवु नींगि वानवन् द्रुन्नं वाळ्ति ॥  
कनेकळ लरसन् द्रुन्मेर करुविनार् पिरवि दोरुं ।  
निनैविलेन् शैदतीमै नींगु माररळु गेंडान् ॥१००८॥

अर्थ—इस प्रकार आदित्य देव द्वारा कहा हुआ वह विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर पूर्वजन्म से आज तक किये हुए कर्मों पर दुखित हुआ और पश्चात्ताप किया, क्रोध को त्यागकर आदित्य को नमस्कार करके कहने लगा कि सिंहसेन राजा के पहले भव से आज तक किये हुए कर्मों का नाश करने के लिये उसका उपाय बतायें। ऐसी प्रार्थना की ॥१००८॥

इरै वन युलग मेत विरुंद संजयंदन् पादं ।  
नरै युला मलगं डूवि वनेगन् नमो वेंड्रेति ॥  
योरिवि लेन् शंद तीमै पोरुक्क वेंड्रुवुनन् पोनान् ।  
उरुदि तिडुरैत वानो तुवंदु तन्नुलगं पुक्कान् ॥१००९॥

अर्थ—इस बात को सुनकर आदित्यदेव उस विद्युद्दंष्ट्र से कहने लगा कि सुनो ! इस भोक्ष को प्राप्त हुए संजयंत मुनि की अष्ट द्रव्य से पूजा करो व नमस्कार करो। यह सुनकर उस विद्याधर ने तीन बार नमस्कार करके भगवान की अष्ट द्रव्य से पूजा की और उन भगवान

की मूर्ति के सामने खड़े होकर प्रार्थना करने लगा कि हे नाथ ! मैंने भव २ में आप पर अनेक प्रकार के उपसर्ग किये हैं । आप उनको क्षमा करें । और लौटकर अपने नगर में गया और प्रादित्यदेव अपने पवन लोक में गया ॥१००६॥

करुषिना लोरुव नेंडु म् कडु नवं नरगि नाळ्बान् ।  
 पोरैना लुसवन् पुत्ते लुलगं दि वीडु पुक्कान् ॥  
 करुवोडु पोरइ नाय पयनिवै कंडु पिन्नुं ।  
 पोरै योडु सेरविलावार् पुल्लरि वाळ रंडु ॥१०१०॥

अर्थ—क्रोध परिणाम से शिवभूति मंत्री के जीव ने अनेक नरकादि दुखों को भोगे । क्षमा धारण करनेवाले सिंहसेन राजा ने देव सुख को प्राप्त करके जिन दीक्षा लेकर दुर्द्धर तप करके मोक्ष प्राप्त किया । इसलिये क्षमा भाव से तथा शांत भावना से उत्तम होने वाले फल का ज्ञान होने के बाद भी यदि जीव के मन में क्षमा भाव नहीं उतरता है तो वह संसार में ही दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता है ॥१०१०॥

। ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।



## ॥ बारहवां अधिकार ॥

### ✽ भगवान का विहार ✽

घातियं कडिदु वेंदन् कैवल शत्व नानान् ।  
वेदिय नमच्चन् विजे वेंद नाय् विर्यंदु पोतान् ॥  
पोवनी कुळलि नाळुं पुवल् वनुं देव रागार् ।  
याविनी इवर्गळ् शंगे यंड्रिडि लियंब लुट्रेन् ॥१०११॥

अर्थ—सिहसेन राजा ने अन्तिम भव में संजयंत मुनि होकर घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान को प्राप्त किया, और अघातिया कर्मों का नाश करके मोक्ष में चले गये । शिवभूति मंत्री दुष्ट विद्याधर केवलज्ञान की पूजा को देखकर आश्चर्य चकित होकर अपने विद्याधरों में गया । रामदत्ता देवी अगले भव में भुवनेंद्र कल्प में आदित्य देव हो गया । राजा सिहसेन का छोटा पुत्र भवन लोक में अरणेंद्र होकर जन्म लिया । अब आगे चलकर इन दोनों का विवेचन कहूंगा, मुनो ! ॥१०११॥

वेदियं वेदंडत्तिन् विष्णुनान् वीकिट्टे पो ।  
लोव नीरुडुत्त मन्मेलुत्तर मदुरे येन्नुं ॥  
पोदुडु तळिर् कन् मिडि पोरि बंडुस् तेनुं पाड ।  
तावोडु मदुकळ् वीयुं तन् पने सोलै वुडे ॥१०१२॥

अर्थ—महा लवण समुद्र से घेरा हुआ इस भरत क्षेत्र में अस्यन्त सुन्दर नाना प्रकार के वन उपवनों से सुशोभित उत्तर मथुरा नाम का नगर है ॥१०१२॥

पगर् किडं कोडाव पेंबोन् माळिर्ग पाचं नल्ला ।  
रगिर् पुगे यगत्तु निड्दा रणिवरं मदने वृळ् ॥  
मुगिर् कोडि निम्नु पोंडु तोंडु बार कुळा मुळंग ।  
तुगि कोडि योडु मंजं तोडंगिय नडंग लोवा ॥१०१३॥

अर्थ—उस नगर में लगी हुई ध्वजा हवा से उड़ रही थी । उस ध्वजा से बंधे हुए घंटों (टोकरो) के शब्द मेघ की गर्जना के समान मालूम होते थे । उन शब्दों को सुनकर भयूर अस्यन्त आनन्द से घूमते थे । और उस नगर के अस्यन्त उन्नतशोल गोपुर थे । उस गोपुर के ऊपर आकाश में उत्पन्न होने वाले बिजली के समान आभरण करने वाले वहां की रहने वाली स्त्रियों के रत्नों के आभूषण आदि चमकते थे ॥१०१३॥

कामने कौब्धे सेवान् करिगळे निगळम् पैव ।  
 ताममे मेलियुं वन्मं संकरं शिपिं यकं ॥  
 शेषमार् शिरं पुनकं तीतोळिन् मरंय वकं ।  
 वाममे कलेनारे वशीय मन्नगरत्तुळे ॥१०१४॥

अर्थ—उस नगर में स्त्री पुरुष को कोई दुख नहीं देता था । केवल दुख देने वाला एक मन्मथ ही था, दूसरा कोई नहीं था । और लोहे की जंजीर ही उनके लिये बंधन का कारण थी और कोई नहीं था । धूप के ताप के अतिरिक्त और कोई शुष्क करने वाला उनको नहीं था । पानी को रोकने के लिये एक तानाब था । अग्नि से ब्राह्मण लोग होमादि के लिये उस अग्नि का उपयोग करते थे और कोई उपयोग में नहीं लाता था । पुरुष को वश में करने के लिये एक स्त्री ही थी अन्य कोई नहीं था ॥१०१४॥

सिनंदले निङ्ग वेदर तिन पुयम् शिदेत वीरर् ।  
 तमंद वीरिय नैवाना मन्नगर् किरेश नल्लार् ॥  
 मनंदोर मिहंद कामन् वन्मैयान् मारि योप्पा ।  
 ननंदले युलगि नुळ्ळ नवै यलाम् तीर निङ्गान् ॥१०१५॥

अर्थ—इस प्रकार अत्यन्त सुन्दर उत्तर मथुरा नाम के नगर में शत्रुदल का नाश करने वाला पराक्रमी अनंतवीर्य नाम का राजा था । वह राजा मन्मथ के समान महान सुन्दर था और मेघ वृष्टि के समान सारी प्रजाजनों की इच्छा पूरी करता था और याचकों को इच्छित दान देता था । उनकी राजधानी तथा देशों में कोई दुखी नहीं था ॥१०१५॥

वारि जादत्तं शारं द पवळत्तिन् कोळुंदै योपान् ।  
 मेरुमालिनी यैवां लौवेदन् मादेविमिवकाल् ॥  
 वारिवा यमिदं मन्ना लमिदं मामवि यैवाळाम् ।  
 कारौंदो डिरंडु मिन् पोर् काबलर् कळुवि निङ्गार् ॥१०१६॥

अर्थ—उस राजा को पारिजात वृक्ष में जैसे मणि को पिरोया जाता है, वता पर चढाया जाता है उसी प्रकार अत्यन्त सुन्दर उस राजा के मेरु मालिनी और अमृतमती नाम की दो पटरानियां थी, इन दोनों में मेरु मालिनी बड़ी पटरानी थी । अमृतमती छोटी पटरानी थी ॥१०१६॥

मगरवे रिरंडु तोळाल् वारि युट्टिरिव दे योमार् ।  
 शिगर माल् यानै यानहो विमार् पुयंग लाग ॥  
 निगरिला विव वैळ्ळ कडलिडे नौंदु नाळुळ् ।  
 पुगरिलार् वाणिन् वंदिळ्विद वकुं पुवल्व रानार् ॥१०१७॥

अर्थ—जिस प्रकार समुद्र में नर मगर मत्स्य अपने दोनों पंखों से छोटे मच्छर को अपनी बगल में लेकर घूमता रहता है। उसी प्रकार वह राजा अपनी दोनों पटरानियों को अपनी बगल में लेकर काल व्यतीत करता था। वह आदित्य देव और धरणींद्र के जीव दोनों ने एक २ पटरानियों के गर्भ में जन्म लिया ॥१०१७॥

मालिनि तन् कनादि तापनन् मामेह वानान् ।  
पालन मालि मविगट् भवनन् मंदरनु माग ॥  
वेल ये सेरिब धालि पोर्कळि शिरंदु बेंदान ।  
ज्ञालत्तु किडरैत्तीर नडक्कु कर्प गत्तं थोत्तान् ॥१०१८॥

अर्थ—मेरु मालिनी पटरानी की कुक्षि से आदित्य देव के जीव ने जन्म लिया। उसका नाम मेरु रखा गया और अमृतमति नाम की रानी की कुक्षि से धरणींद्र के जीव ने जन्म लिया उसका नाम मंदर रखा गया। यह दोनों राजकुमार कल्प वृक्ष के समान याचकों की इच्छा पूर्ण करने वाले हो गये ॥१०१८॥

संगयर् कोंगे यन्नुं कुवट्टि निन् दिळिळु नल्ल ।  
शिग पोदंगळ् पोल तविशिडे तवळ् दु शेडु ॥  
यंगयत्तलंगळ् पोलुं पवळ्चोरडियं पारा ।  
संगे तन् सेभि सूटि नडंबिडार् मालं याग ॥१०१९॥

अर्थ—ये दोनों बालक अपनी माता के स्तनों का दूध पीकर वृद्धि को प्राप्त हुए। सिंहनी के बच्चों के समान घुटनों के बल चलते थे। शनैः२ बे खड़े होने लगे ॥१०१९॥

नाविळमं कोंवि नल्ल कलं यल्लु नलत्तं युंडु ।  
माविळं कळिरु तेरवाळ् चिट्टोळिल् बल्लरागि ॥  
तेविळंकुमरर् पोल तेसोडु तिळक्कु मेनि ।  
कोविळंकुमरर् कामन् कुनिशिले किलक्क मानार् ॥१०२०॥

अर्थ—तदनन्तर ये दोनों राजकुमार चौसठ कलाओं में निपुण होकर अर्थात् राज्य कला, शास्त्र कला, शस्त्र कला, अश्व कला, हस्ति कला, आरोहण कला आदि २ अनेक कलाओं में प्रवीण होकर भीवनावस्था को प्राप्त हुए ॥१०२०॥

कडेंदं नल्ललगं वेन्न करुत्तिडे वेळुत्तु च्चळ ।  
मडंगल् पोन् मोडं विन् मनत्तिम्नं कनत्तळिक्कुम् ॥  
तडंगणम् पाग नल्लार् तमुविल् नानेट्टि तानं ।  
कडंगि निडुनंगन् मैवरुळत्तं येळिक्क सुट्टान् ॥१०२१॥



अर्थ—ये दोनों राजकुमार सिंह के समान तरुणावस्था को प्राप्त हुआ मन्मथ के समान तरुण स्त्रियों को अपने वश में करने के लिये कामदेव के समान सुशोभित होते थे । वे यौवनावस्था को प्राप्त होकर विवाह को योग्य हुए ॥१०२१॥

कंचिलै कुळय्य वांगि कनं मळं पोळिदु काम ।

विचचेयं मैवरुळ्ळ तेळुत माटाव नंगन् ॥

वज्जिरं पंजिर ट्रुया वडु पडु मेनुं काम ।

विचचेयं मैव रुळ्ळ तेळुत्तोना वैडु पोनान् ॥१०२२॥

अर्थ—इस प्रकार मन्मथ के तुल्य शोभने वाले मेरु और मन्दिर के ऊपर कामदेव ने प्रवेश किया फिर भी वे कामदेव के वश में नहीं हुए तब कामदेव निरुत्तर होकर चला गया ॥१०२२॥

कायत्ति नुवर्पुन् काम भोगत्तिन् वेरुपुस् माट्टाम् ।

मायत्तिन् वडिश्चु मेळ्ळान् नेनिप्पिला मनसि नार्गळ् ॥

नोपुत्त नुगच्चि शेल्व नुरे योत्त विळमै वेसु ।

कायत्तु विळ्ळै योत्त कामनुकिडमंगुंडो ॥१०२३॥

ये दोनों मन में विचार करने लगे कि यह शरीर अशुचि है, पंचेन्द्रिय सुख क्षणिक है । तथा इन्द्रिय सुख विष के समान है । इन पंचेन्द्रिय सुखों से आज तक तिल मात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं हुई । यह सुख आत्मा को व्याधि के समान है । यह राज्य संपदा, पंचेन्द्रिय सुख पानी के फेन के समान क्षणिक है । यह यौवनावस्था आकाश में हृद्द धनुष के समान क्षणिक है । ऐसा मन में विचार कर मेरु और मन्दिर दोनों कुमार संसार से विरक्त हो गये । इस कारण इन दोनों पर मन्मथ का कोई प्रभाव व असर नहीं पडा ॥१०२३॥

अनित्त मरणिन् मै युर बिन्मै पिरि बिन्मै ।

युनर् करिय माट्टु लग मूट्टु तरलुवर्पुं ॥

निनेप्पिस् वरुं सेरिप्पुर्दिच्चि पोवि पेर र्करुमै ।

मनत्तिन् वर निनेत्तु मनैयरत्तोळुगुं वळिमाळ् ॥१०२४॥

अर्थ—वे मेरु और मंदर दोनों राजकुमार अपने मन में इस प्रकार भावना भाने लगे कि यह शरीर अनित्य है । बंधु, मित्र कलत्र आदि कोई भी रक्षण करने में समर्थ नहीं है । सारी बाह्य वस्तुएं शरीर व आत्मा दोनों भिन्न हैं । यह मेरी आत्मा अनन्त गुणों से युक्त है । उसका लक्षण, ज्ञान, दर्शन तथा चेतना है । यह संसार आत्मा से भिन्न है और सार रहित है । इस लोक में रहने वाले आत्मा का ज्ञान, दर्शन, स्वभाव गुण है; फिर भी विभाव गुणों से उत्पन्न होने के कारण विभाव गुण को प्राप्त हुई आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है । इस आत्मा के विभाव गुण से रागद्वेष उत्पन्न होकर यह विभाव परलति को प्राप्त हो जाता है । शरीर संबंधी अशुचि को आस्रव उत्पन्न होने वाले संसार भावना तथा कर्मों का नाश करने

वाली निर्जरा भावना बोधि दुर्लभ भावना को भाने लगे । इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं को सतत अपने हृदय में भाते थे ॥१०२४॥

अमल नल बाडियगत्तान निळर् पोल ।  
तुमिल मिडे मूवुलगुं तोंडु मरि उडैय ॥  
विमलनेनु मरिधन् मलर् पोळिय विन्नोर् ।  
कमल मिसै पुलावियोरु कावग मडैवदन् ॥१०२५॥

अर्थ—इस प्रकार भावना भाते २ एक दिन तीन लोक की चराचर वस्तु को जानने वाले केवलज्ञान को प्राप्त हुए श्री विमलनाथ तीर्थंकर प्रहृत केवली भगवान का समवसरण इधर उधर विहार करते हुए उत्तर मथुरा नगरी के उद्यान में आकर विराजमान हो गया ।  
॥१०२५॥

अनगन् विनयगल वेळुंवरुळु मेनु मळविर ।  
कनग नवमण्णि मय मोर कमल नरुमल रो ॥  
शनें यगल मुडैय वद निवळ्ग डोरु मडवार् ।  
मन मगिळ नडन विल वानव रमैत्तार् ॥१०२६॥

अर्थ—कर्म मल से रहित उन विमलनाथ भगवान के भव्य जीवों के कर्मों का नाश करने के लिये समवसरण सहित विहार करते समय देवेंद्र ने अपने द्वारा भगवान के चरण-कमल के नीचे कमल निर्माण करके कमल की कर्णिका के ऊपर जैसे देव स्त्री नृत्य करती हैं ऐसा निर्माण किया ।

वास मलर् नागि नवन् मेवि इरै वानो ।  
रोजनें इरंडगंडु मंडव मुंडु मै ता ॥  
रीशनेळुंवरुळु मेन वेळिन् मणि पुन् मुत्ति ।  
नोजनें कन् मूंडुगंडु बोदियुड नमैत्तार् ॥१०२७॥

अर्थ—तीन लोक के नाथ विमलनाथ तीर्थंकर उस कमल पर चार अंगुल अक्षर विहार करने वाले ऐसा समझकर उस मुख्य मंडप का निर्माण किया और उसके लिये तीन योजन चौड़ी गली का निर्माण किया ॥१०२७॥

मारुदियुं वास मय नागि मंडव् बीसि ।  
पारिन् मलि नुंडुगळ् पारिदिड मुयंड्राय् ॥  
कारिन् मिसै वंडु वरुणन् कमल मादि ।  
वेरि मल कंमळु नरु तीतुं बले विट्टात् ॥१०२८॥

अर्थ—तदनन्तर वायुकुमार देवों ने वहां की धूल को साफ किया। वरुणकुमार देवों से सुगंधित पानी की वर्षा की ॥१०२८॥

इंदिरनु मेन्मे युल कांति यह मिरवन् ।  
 बंदेळुंद रुळुं पोळु वेंडुविर वनंग ॥  
 इंदिररतं कोणु मेळुंदा निरु निलत्तु ।  
 नंदरंग डीरं वरिवर् कियल् विदाने ॥१०२९॥

अर्थ—उस समय सौधर्म इंद्र तथा आठ प्रकार के लोकांतिक देवों ने भगवान के सम्मुख आकर नमस्कार किया। यह सभी अर्हत भगवान का अतिशय समझना चाहिये। ॥१०२९॥

इडि मुरसन् तिमिले कंडे काळमेळिर् शंकम् ।  
 तुडि मुळव मोदं तुन बंदन्नु मे शेगंडे ॥  
 कडन भुगिलि नोलि करंडु दिशिगळ् विम्म बोलित्त ।  
 तड मलरिन् विशै इरै वन् ट्रानोदुंगुम् पोळुदे ॥१०३०॥

अर्थ—वहां देवों द्वारा मेघ की गर्जना के समान अनेक प्रकार की जय, घंटा आदि दुदुमि होने लगी। अर्थात् भगवान अर्हत देव के विहार करते समय समुद्र में तूफान के समान ध्वनि होती है उसी प्रकार सभी तरह के वाद्य बजने लगे ॥१०३०॥

इक्षरंबिन् याळ् कुळल्गळ् बीणो मुवलेंदि ।  
 किक्षरियर् किळै नरबि नोदि नगळ् गीतं ॥  
 पोन्बेह मणि यमिबं मीङ्गु मलरेंदि ।  
 पक्षरिय वगई मिल सडंदे यविर पनिदाळ् ॥१०३१॥

अर्थ—किष्कर देव आदि बीणावाद, तंतुवाद, बांसुरी आदि सहित संगीत के रूप में भगवान की स्तुति करके भक्ति पूर्वक उस भूमि को सुवर्ण और रत्नों से सुशोभित करते थे। इस प्रकार स्तुति करके सम्पूर्ण प्राणी का हित करने योग्य जल आदि तथा पुष्पों से वृष्टि करते थे तथा भगवान के चरणों में नम्रोभूत होकर नमस्कार करते थे ॥१०३१॥

सुंदरियर् बंदरियर् तुरकत्तिळं पिडिय ।  
 रंदरे इनंदरत्तिन् वारिण नडं पयिङ्गार् ॥  
 मंदर नम्मलर् मळंगळ् बंडिनंगळ् शूळ ।  
 विदिरर् कोनेळुंबरुळुं बीदि बेंगुम् पोळिदार् ॥१०३२॥

अर्थ—ज्योतिष तथा व्यंतर देवों की स्त्रियां, कल्प लोक में नृत्य करने वाली स्त्रियां भगवान के सामने के मंडप में पृथ्वी से अक्षर खड़े होकर नृत्य करती थीं। भगवान अर्हत देव

जिन २ गलियों में होकर विहार करते थे वहां २ कल्पवासी देव कल्प वृक्षों को लाकर जैसे मेघ जल की वृष्टि करता है उसी प्रकार वे देव वृष्टि करते थे ॥१०३२॥

वाम नर् कन् मस्मिन् मरिदेळुं नडं पुरिदार् ।  
कामं बिल वग वरसर् करणन् सुळुन् द्रळुंवार ॥  
केमकर नामगळो रायिरत्तोरिदुं ।  
तामंगलं पाड वर्गळा विदिरर् पाडिदार् ॥१०३३॥

अर्थ—सुन्दर रूप को धारण किये हुए देवलोक आकाश में उडकर ऊपर अघर नृत्य किया करते थे । भवनवासी देव भी अत्यन्त सुन्दर नृत्य करते थे । कल्पवासी देव सम्पूर्ण जगत में रहने वाले जीवों की शांति प्रदान करने वाले भगवान की एक हजार आठ नामों से स्तुति करते थे ॥१०३३॥

शंकमल मुंडिरंङ्ग पंकय मलरंन्दन् ।  
वंकमलत्तरिधन् ट्रिर्वाडियिनं वंत्तळ विर् ॥  
ट्रिगळन कुडे मुम्मयुं मंडलमुं शेरिद ।  
पोंगिय वेन्शामरं गळ् पूमळे पुळिदार् ॥१०३४॥

अर्थ—एक लाल कमल के ऊपर मानों दो कमल उत्पन्न हुए हों । ऐसे प्रतीत होने के माफिक देवों के द्वारा निर्माण किया हुआ कमल, पुष्पों पर अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप ऐसे विमल-नाथ तीर्थकर अपने चरण रखते ही चंद्रमा के समान घवल वर्ण को प्राप्त हुआ तीन छत्र व प्रभामंडल सहित इन्द्रों के द्वारा चंवर ढोरते हुए भगवान के ऊपर पुष्प वृष्टि करते थे ॥१०३४॥

मादवर् गन् मलरडि पानिदुं पिनेळुदार् ।  
शोदमनो डेन्मे युलगांतर तोळुदेति ॥  
नाद नेदिर वंत्य मुगरागि मुसडदार् ।  
घाति केड वंदतिरु वोडु शाशि शेंडार् ॥१०३५॥

अर्थ—उस समवसरण में तपश्चरण करने वाले दिव्य मुनिगण भगवान के चरणों में नमस्कार करके भगवान के पीछे २ गमन करने लगे । सौधर्म इन्द्र के साथ आठ प्रकार के लौकिक देव भगवान को नमस्कार करके उनका मुख भगवान की तरफ करके पीछे २ चलते थे । उनको पीठ नहीं दिखाते थे । घाती कर्मों का नाश किये केवली भगवान के पीछे साथ २ शशी आदि देवियां विहार करती थी ॥१०३५॥

पूर कलशं भुदलेन् मंगलेंगळेंदि ।  
वेरि मलर् मडंदै योडु मेविन रिळुंवार ॥

कारिन् मोरिण कनगं पुळि या कमलं संगिन् ।

पेरुडय निधिवकरसर् पिन्ने मुन्नेळुंवार ॥१०३६॥

अर्थ—कई देवांगनाएं कुंभ कलश, अष्ट मंगल आदि २ लेकर भगवान के समवसरण में आईं। मेघ वर्षा के समान पद्मनिधि, शंखनिधि के अधिपति देव पुष्प वृष्टि करते हुए भगवान के साथ २ चलने लगे । १०३६॥

पन्नगर्गळ् पन्मणिगडिविगंगळाग ।

मुन्न मिरं पाद पणिदेगिनर् कन् मुरंयाल् ॥

वप्पिण मुडि वानर्गळ् शेनि मिशं वेत्त ।

पन्नरिय धूप कड पनिदेळुंवार ॥१०३७॥

अर्थ—भवनवासी देव अपने २ हाथों में रत्नों की दीप लेकर भगवान को पीछे २ चलने लगे। अग्नि कुमार देव अपने मस्तक पर अति सुगन्ध धूपघट को धारण करके भगवान के सम्मुख चलते थे । १०३७॥

इरविशाशो येन्नरिय तोक्कनय विरंवन् ।

ट्टिरु वुरुवि नोळि यळगु कंडु शिरंवेत्ति ॥

परुदि मदि पान्मंयुडं मांदर् मुरव मेन्नु ।

मरविदमंस् कुमुदंगळ् मरल बुड नेळुंवार ॥१०३८॥

अर्थ—एक करोड़ सूर्य एक करोड़ चंद्रमा का जितना प्रकाश होता है, उससे भी अधिक भगवान के परमौदारिक शरीर को देखकर भव्य जीव का मुख कमल प्रफुल्लित देखकर भगवान को नमस्कार करते थे ॥१०३८॥

कुडईनोडु कोडि परुदि मिन्नन् मिशं कुलव ।

वडि उडय वैजयंत्त वान् कोडि मुन्नेग ॥

वडियि नोलि यविय वेळि नांदि मु न्न येव ।

पडरुविने येरियु मरुळाळियु मुन्नेग ॥१०३९॥

अर्थ—छत्रत्रय तथा ध्वजा, सूर्य की किरण के समान चमकने वाले ऐसे भगवान के आगे २ बढ़ते जा रहे थे। श्रीर मेघों की गर्जना को जीतने वाले महान गंभीर मंगल स्तोत्र को अपने मुख से गाते हुए देव लोग भगवान के आगे २ चलते थे। आत्मा में उत्पन्न हुए कर्म मल को नाश करने वाला धर्म-चक्र भगवान के आगे २ चलता था ॥१०३९॥

वेसु विशं शिरं व दिशं युडय मडवार्गळ् ।

वास मलर् मळै पोळिडु मलरडि पनिंदार् ॥

काशिनिर्ई नीवि मुदलानव करंद ।

बीस नेळिल् वास मल रेरिय कनत्ते ॥१०४०॥

अर्थ—तीन लोक के अधिपति जिनेंद्र भगवान के देवों द्वारा निर्माण किये, कमल के ऊपर से जाते समय दिक्कुमरिकाएं भगवान पर वृष्टि होती देखकर अत्यन्त आनन्द मनाती थी । भगवान जहां २ विहार करते थे उन २ क्षेत्रों में अतिवृष्टि अनानृष्टि नहीं होती थी ।

॥१०४०॥

मूगर्, मोळिदार, बिडइन् मुडवर्क नडंदार् ।

शोग मुळिदा नेवरुं शेचिडर्, मोळि केटार् ॥

कोव मुळिवोर, कुबिदर, कुरुडर्, बिळिपेटार् ।

वेग मुळिदा रिघन वीर नेळुं वोळुदे ॥१०४१॥

अर्थ—विभाव पर्याय के उत्पन्न करने वाले मोहादि कर्म का जीतकर अनंतवीर्य प्रादि से युक्त स्वस्थान को प्राप्त हुए अर्हत भगवान द्वारा विहार करते समय गूमे लोग बोलने लगे, बहरे सुनने लगे, लंगडे चलने लगे, दुखी जीव सुखी होते थे, क्रोधी लोग कषाय का त्याग करते थे । अंधे लोग देखने लगते थे ॥१०४१॥

पिरवि युह पगं युडेंय पनिनकुल मोदला ।

बुरवि इर वाव उर वायव निलत्तु ॥

किरेव निर कादलोडु मंगगं दिर् कोंडार् ।

मरमलि बिलाळि युडें मघवनं वंदे ॥१०४२॥

अर्थ—जन्म से ही परस्पर वैर रखने वाले नेवला, सर्प, चूहा, बिल्ली प्रादि २ जीव भगवान के विहार करने के क्षेत्रों में मित्रता के साथ परस्पर खेलते थे और सभी जीव धर्म-चक्र प्राप्त हुए भगवान को नमस्कार करते थे ॥१०४२॥

वेळ्विनेगडीर विमलन् कमल मेर् कोन् ।

डिव्वगं येळुंवरुळि वंदविवं कंडान् ॥

कव्विय मिन् मैद रै यनेदु सिलर् शोन्नार् ।

मौ वन् मलर् त्तयवरुं मलरडि पणिदार् ॥१०४३॥

अर्थ—पाप कर्म को नाश किये हुये विमलनाथ तीर्थकर को देवों द्वारा निर्माण किये हुये लाल कमल पर विराजमान हुए जाते देखकर कई राजकुमार महाराज लोग भगवान के समवसरण के आने के समाचार सुनकर राजसिंहासन से उतरकर उनसे भगवान को नमस्कार किया ॥१०४३॥

येळडि येळुं दु वंवागि रं वने इरंजि येति ।  
 पाळि यान् वेवर् पल कल मवकुं नल्गि ॥  
 येळु यरुलगं तन्नु निरळ् केड वेळुं व कोविन् ।  
 शूळोलि यनेय पावं तोळु दु नामेळु ग वेडार् ॥१०४४॥  
 मुरंङ्गन शंक मेगुम् मुळंगिन मूरस निङ्गु ।  
 तुरंग ममेरियाने मेन् मन्नर् तोडयलेदि ॥  
 निरंदनर् नेळिव वंडु निलमगन् मुदुगु नीडु ।  
 करंदन कडिय वाय् कडविने कुळांग लगे ॥१०४५॥

अर्थ—तदनन्तर राजा ने समवसरण आने का समाचार सुनकर उस समाचार देने वाले बनपाल को अनेक वस्त्र आभरण वगैरह दे दिये । तदनन्तर भगवान के समवसरण की पूजा के लिये दुदुभि मेरी आदि बजवाई । इस मेरी को सुनकर प्रजाजन स्नान आदि से निवृत्त होकर शृंगार आदि करके अपने २ हाथों में अष्ट प्रकार के द्रव्य ले राज दरबार में एकत्रित हो गये ॥१०४४॥१०४५॥

शंदन कोळवि नारंद चंदिर कातं शेष्पुं ।  
 कुकुम कुळवु विम्मु मिरविइन् कुळवि चेप्पु ॥  
 मिदिर नील चेप्पु मगिर् पुगं पुमेत्त वैदि ।  
 मैव रं शूळुं दु निडार् मयीर् कुळास् पोल वंवे ॥१०४६॥

अर्थ—उस समय सभी राजा, महाराजा, पुरुष स्त्रियां सारे प्रजाजन अनेक प्रकार बाजे बाद्य लेकर जिस प्रकार आकाश में मेघ गर्जना करता है, उसी प्रकार वाद्यों की आवाज सहित भगवान के समवसरण की ओर धीरे २ गमन किया ॥१०४६॥

विशुंबुर विरिंदु नारुम् विरंमलर् मालं पैवु ।  
 पशुं पोनुं मरियुं मिन्नुं पडलिगं पल्लु मेदि ॥  
 येशुंबरा कडात वेळ तरसिळं कुममर् वंवार ।  
 विशुंविन् मेल विनेयुर् पाव मरुक्कर् ता मिरुबरोत्तार् ॥१०४७॥

अर्थ—उस समय सभी जनता एवं स्त्रियां आदि अपने २ सुगंध द्रव्य, पूजा पात्र ले लेकर उन राजा महाराजाओं के साथ जा रही थी । जाते समय वह शोभा ऐसी प्रतीत होती थी मानों आकाश से इन्द्र ही उतर कर आया हो । ऐसे आते हुए वे दोनों मेरु और मंदर भोगते थे ॥१०४७॥

। नारहवां अध्याय समाप्त ।

ॐ

## ॥ तेरहवां अधिकार ॥

### ✽ समवसरण का वर्णन ✽

योजने पन्नि रंडि नुबंर कोन् ट्वर् काना ।  
पेशोन् बगई निङ्ग पेरुमिद मळिद दियाकुं ॥  
मीशनै इरेजि नागं लंदिना रिरवन् कोडल् ।  
वीसु वेन् चामरोदि परिचंद मुळंदु विट्टार ॥१०४८॥

अर्थ—बारह योजन लम्बे समवसरण भूमि में भगवान के पास जाने के लिये चार वीथियां (मार्ग) हैं। एक २ वीथी में एक २ मानस्तंभ है। इस प्रकार चार मान स्तम्भों को दूर से देखते ही मानियों के मान गल जाते हैं। इस प्रकार मानस्तंभ को देखते ही मेरु और मंदर दोनों राजकुमार अपने २ वाहनों से उतरकर समवसरण के समीप आ गये ॥१०४८॥

यानई निर्लिदु मानांगणत्तिरु काद वीदि ।  
मान पीडत्तै माधि नळ बुळ मदिलं येदि ॥  
कानुरं कमल पोदिर् कंतोळु दिरेजि वाळ्ति ।  
यूनत्तिर् सुयत्तानाम् कनं पुक्कार् कोशं पोये ॥१०४९॥

अर्थ—क्रम से उन दोनों राजकुमारों ने धूलि नाम की शाला को छोड़कर वहाँ रहने वाली प्रासाद नाम की चैत्यभूमि में प्रवेश किया और उत्तर वीथी में रहने वाली मनुष्य के हृदय प्रमाण बलि पीठ के पास पहुँचकर उस बलिपीठ पर पुष्प चढ़ाकर नमस्कार किया और आगे चलकर प्रासाद नाम की चैत्य भूमि के मध्य भाग में प्रवेश किया ॥१०४९॥

प्रांगद नगत्तु वीदि नडुव नाकादि मोंगि ।  
पांगिन मा दिशं इर् पन्निरोचनें कारा निङ्ग ॥  
वांगु कांतम् पोल मानं वांगु नन्मानत्तवम् ।  
पांगिनार् टोरनं वेदि मंगलं पलघं सुळंद ॥१०५०॥

अर्थ—उस समवसरण की चारों दिशाओं की चार वीथियों में चार मानस्तंभ बारह योजन दूर से मनुष्य को दीखते हैं। और वह मानस्तंभ जैसे ओढ़ चुम्बक दूर पड़ी हुई मृई को खींच लेता है उसी प्रकार उसको देखते ही मनुष्य की भावना उसी ओर लग जाती है और भावना खिंचते ही मन गलित हो जाता है। उ के चारों ओर वेदियां तथा तोरण है। और चारों तरफ अष्ट मंगल द्रव्य हैं ॥१०५०॥



वईर नपडिगं वैडूर्यं मडि नडुव नुच्चि ।  
 युपरत्तिन् भाग मोक्कं पडिग मेर् कोळ वोक्कम् ॥  
 वेडुल् विडु तामरं कोळ् मेलाइरम् नडुवि रट्टि ।  
 तुयरिनं केडुक्कुं सित्त पडिमै नाट्टि शयु मामे ॥१०५१॥

अर्थ—उस मानस्तंभ का उत्तरेध चार कोस का है। वह वैडूर्य मणियों से निर्मित है। उस मानस्तंभ को दो कोस तक के विस्तार में बीच में स्फटिक मणि तथा रत्नों से निर्मित किया है। उस मानस्तंभ के ऊपर मेघाडम्बर (गुमटो) नीचे से एक कोस चौड़ा, बीच में दो कोस और ऊपर एक कोस निर्मित किया गया है। उन स्तंभों पर नीचे चारों ओर सिद्ध परमेष्ठी के जिनबिंब विराजमान हैं। बारह योजन दूर से उनके दर्शन होते हैं ॥१०५१॥

नानुग भूत दुच्चि पालिगे कमलंप्पोविन् ।  
 मेल् वैत शंबोर् कुबत्तुच्चि मेर् पलगे तन्निर् ॥  
 पानिर पगडु पालं पदुमै मेर पुळिय द्वे वि ।  
 मेन् मुडि पदुम राग मिरुबदोचनं विळक्कुं ॥१०५२॥

अर्थ—उस मानस्तंभ के ऊपर चतुर्मुखी यक्ष यक्षिणी की मूर्ति का निर्माण कर कलश रखा गया है। कलश पर फलक रखा गया है। फलक पर लक्ष्मी देवी की मूर्ति विराजमान की गई है। उस लक्ष्मी देवी के सिर पर दोनों आजू बाजू श्वेत हाथियों द्वारा अभिषेक करने का दृश्य दिखलाया है। इस लक्ष्मी देवी के किरोट लगे हुए का प्रकाश बीस योजन दूरी तक फैला हुआ है ॥१०५२॥

मणिमय माय शुक्कं नाडु मंगलगळेंदि ।  
 येनिपेर निडु नान्गा मंद मानस्तंबत्तं ॥  
 इनंला बलंकोडैति इरंजि पोय् कोस नील ।  
 मणि निल तगळि मावि नळ वुळ मदिले कंडार् ॥१०५३॥

अर्थ—उस रत्नमयी लक्ष्मी देवी के नीचे जो फलक है उसके काने में आठ मंगल द्रव्य हैं, जो उसके नीचे चारों ओर लटकते हुए हैं। इस प्रकार चारों ओर के मानस्तंभों की प्रदक्षिणा देखकर दोनों राजकुमार आगे बढे और उसके बाहर रहने वाली एक कोस चैत्य भूमि को तथा वहां को वेदियों को उलांघ कर दूसरी खातिका भूमि में प्रवेश किया ॥१०५३॥

आळमु निरंघु मुडे यागिलु मले यंबानि ।  
 लूळि पेरंवालुं पेरा विदने नानोळिप्प नैडिन् ॥  
 काळि बंदिरे वन् पाद मडेदु पूम पट्टे पोत्तुं ।  
 शूळुन् तान् किडंद वोत्तु तौडु मिप्परिगं येंडान् ॥१०५४॥

अर्थ—वह खातिका (खाई) परिपूर्ण पानी से भरी हुई है। उसको देखते ही ऐसा विदित होता है जैसे कोई दूसरा समुद्र ही हो। संसार रूपी तरंगों ने हमको नहीं छोड़ा तो भगवान को देखते ही मेरे मन की तरंगे हमें क्या छोड़ देगी? ऐसी भावना इन्होंने की। वह खातिका ऐसी दीखती थी कि उस पर फूलों से आवरण कर दिया हो। मानो यह भगवान मुझे छोड़ देंगे। ऐसी कल्पना उन दोनों राजकुमारों को उत्पन्न हुई ॥१०५४॥

परिणत्तेलित्तनय वारि वासवान् सुवय तारंदङ् ।  
कनगु वा काळंदु तौङ्गि यडेंदधर् तान् मट्टाणि ॥  
पनि उयर विलादु पोदिर् पडंङ् पेंवोन् शंवीदि ।  
मणियोळि परंदु वान विकळाय् मयंगु निङ्गे ॥१०५५॥

अर्थ—उस खाई में जैसे नीलरत्न का चूर्ण करके किसी ने डाला हो ऐसी शोभायमान होती थी। उस खातिका के पानी में यदि उतरकर देखा जाय तो उसमें घुटने तक का ही पानी था और वह भूमि के समान दीखता था। इस रत्न के प्रकाश से वह स्वर्ण से निर्मित वीथी ऐसी दीखती थी जैसे आकाश में पांच वर्ण वाला इन्द्रधनुष ही हो। उसी प्रकार देखने से मनुष्य को भ्रांति उत्पन्न करती थी ॥१०५५॥

कावत्ति नरैय गंडु रवातिगे कमलमादि ।  
पोदं कोय् तंगै येदि पोन् सैदों रणं कडंडु ॥  
मेदवक मणिइ नाय् पावत्त वीदिनिङ्गु ।  
वादि गोपु रत्ति नादि निलयळ वागि येपोन् ॥१०५६॥

अर्थ—वे दोनों कुमार उस खातिका में से पुष्पों को लेकर उस दो कोस वाली खातिका को उलांघकर साठे तीन कोस विस्तार वाली वीथी में रहने वाले उदयतर नाम के गोपुर में जो नीचे के भाग में स्वर्ण और रत्नों से निर्माण किया था—प्रवेश किया ॥१०५६॥

पालिगे मुदल वाय् परिचंद मुडय वट्टे ।  
मालयुं शादु मौदि वनंगिनरागि पोगि ॥  
शीलं पोर् शंपो निजिशिलंगळीरोंब वोंगि ।  
मालं पोर् शूळ कावमगल् वल्लिवनत्तं शेरं वार् ॥१०५७॥

अर्थ—उस गोपुर में निर्माण की हुई वेदियों का अठारह धनुष का उत्सेध था। उस को छोड़कर आगे चलकर एक कोस से युक्त लता भूमि में प्रवेश किया ॥१०५७॥

वल्लि मंडपंगळ् पंदर् वैर वालुगत्तलंगळ् ।  
विष्णुमीळ् दिलंगुम् भूमि विलुंद पूवनइन् वीर्यं ॥

पुल्लुं बंडोशं भूमि देव नं पाडल् पोलु ।

मेल्लै ई लिडंग लिब्वा रियंबुदर करिय दौड़े ॥१०५८॥

अर्थ—उस तीसरी लता भूमि में लता मंडप अत्यन्त सुन्दर व शोभायमान दिखाई पड़ते थे । लता मंडप के नीचे वज्र को चूर्ण करके जैसे एक ढेर लगा दिया हो ऐसा प्रतीत होता था । उस लता मंडप पर लगे हुए पुष्पों की सुगंध का रस खींचने वाले भ्रमर भंकार शब्दों से इस प्रकार के अत्यन्त मधुर शब्द करते थे मानो वे भगवान के गुणगान ही कर रहे हों । ऐसे उन शब्दों की मधुर ध्वनि कानों में सुनाई पड़ती थी ॥१०५८॥

मल्लिगं मुल्लै मौवन् मालदि माद विनर् ।

पल्लिवळ पत्ति पित्ति शवग कुरिचि वेच्चि ॥

सोल्लिय पिरवुं शेल्वि शूटेन सेरिय पूत ।

वल्लि नन् मलर्कै येंदि वंदु गोपुर मडेंदार् ॥११५९॥

अर्थ—उस लता भूमि में रहने वाले जाई जूही चंपा केवडा केतकी चमेली आदि के सुगन्धित पुष्पों को हाथ में लेकर वे दोनों कुमार उदयतर गोपुर में पहुँच गये ॥१०५९॥

काद मूडिरंडुयरंडु काद नीन्डगंडु वाय्दल् ।

कादमाय् शिरम्पु मुम्मं पडिने मुन्निलय दागि ॥

ज्योति युट कुळितु वाय्दल् जोदिड देवर् काप ।

पोदरुं पदागै शूळंद दुदय गोपुर मदामे ॥१०६०॥

अर्थ—वह उदयतर गोपुर तीन कोस उत्सेध वाला तथा चौड़ाई में दो कोस का था । उसके अन्दर जाने वाले द्वार की चौड़ाई एक कोस प्रमाण थी । उस द्वार पर अष्ट मंगल द्रव्य लटक रहे थे । उस द्वार के रक्षक ज्योतिष देव थे । और चारों ओर अत्यन्त शोभायमान ध्वजाएं फहरा रही थी ॥१०६०॥

विळ्ळुंड यूरगन् ड्रु यंदु वेळ्ळिया लियंड्रु शेळ्ळि ।

सोल्लिय वगै नाले सुरंगि पोर् सूटदागि ॥

वल्लि मुळिलै येट्टालै कोडि इडे मदिलि निडु ।

सोल्लिय गोपुरत्तै तोळ्ळुदु पूच्चदरि पुक्कार् ॥१०६१॥

अर्थ—उस गोपुर का विस्तार पांच सौ धनुष का था । इसके संबंध में विस्तार से आगे वर्णन किया जावेगा । इस गोपुर की ऊँचाई तीन खण की है । जिस पर अनेक रंग की ध्वजाएं हैं । उन दोनों राजकुमारों में उदयतर नाम के गोपुर में पहुँचकर फूल चढाये और पुष्पांजलि करके उस बन भूमि में प्रवेश किया ॥१०६१॥

पल निर पयिङ्ग भूमि परमण दरिषु पोल ।  
 उलगला मङ्गु मेनु मुळिल्लरु कादमागि ॥  
 निलबिय मविलिन् भूलं निङ्ग कुट्टियेग नांगिर् ।  
 पल वन मागि पंबोन् मविलिने शूळ्द दुंडे ॥१०६२॥

अर्थ—उस सुन्दर वनभूमि का विस्तार जिस प्रकार अर्हत केवली भगवान का विस्तार है, उसी प्रकार का था। कितने ही लोग उसमें समा जाय किंतु पता नहीं पड़ता था। ऐसी वह वनभूमि सभी जीवों को आकर्षित करने वाली थी। उस वन भूमि के चारों ओर उदयतर नाम की वेदिका है। उस वेदी के चारों तरफ प्रीतिधर नाम की दूसरी वेदिका है। और वनभूमि के बीच में और कौनों में अर्थात् एक २ कौने में चार-चार स्तूप हैं। उस भूमि में अनेक प्रकार के वृक्ष हैं ॥१०६२॥

कुट्टिय तिरुमरंगुम् गोपुर तुयर मागि ।  
 येट्टुळ तूबे निङ्ग विजिवकु लेट्टे यागुं ॥  
 वट्ट वेन्कुडय सेदि मरंग लेट्टि वट्टे शारं द ।  
 वेट्टुळ वपनुक्कादि पादव मिवट्टि निप्पाल् ॥१०६३॥

अर्थ—उस वनभूमि के कौनों के स्तूपों के दोनों बाजू में जितनी ऊँचाई में वे गोपुर हैं। उतना ही विस्तार उसके चबूतरे का है। एक २ चबूतरे के साथ दो-दो स्तूप हैं। इस प्रकार चारों चबूतरों के मिलाकर आठ स्तूप हो जाते हैं। और एक २ कौने में छत्रत्रय सहित दो-दो चैत्य वृक्ष हैं। सभी मिलाकर आठ चैत्य वृक्ष हैं। उन चैत्य वृक्षों की बाजू में एक २ कल्प वृक्ष है। इस प्रकार दोनों मिलकर आठ कल्प वृक्ष हैं ॥१०६३॥

धीविये सारंगु मुक्कोन् वट्ट नार् शेदुर मागि ।  
 नीविया निङ्ग वावि येट्टु मूङ्गि वट्टे येय्दि ॥  
 योदिय वगरं नोङ्गि कुळिल्लु वाय् प्शि योङ्गिर् ।  
 पोदु कौडोङ्गि मन्नोर् पनिवर् पोय्तूबं येप्व ॥१०६४॥

अर्थ—उस वन भूमि में महावीथी के कौने में जाते समय एक २ कौने में एक २ बावडी है। उसके आगे वृत्ताकार से युक्त एक और बावडी है। इस प्रकार एक २ कौने से संबंधित तीन बावडी हैं। कुल मिलाकर चौबीस तडाग (बावडियाँ) हैं। इन दोनों मेरु और मंदर राजकुमारों ने पहले कौने के तीसरे नम्बर के तडाग में जाकर स्नान किया और स्नान करके आगे वृत्ताकार नाम के तडाग में दांतुन आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर चतुष्कोण में रहने वाली पुष्प वाटिका में आ गये। और वहाँ से पुष्प लेकर स्तूप के पास गये ॥१०६४॥

तिरकरं कोसमोगि शिनेग कौडिशियु मोडि ।  
 परुदि योर् कोशमागि पड्डु कयं गत्त सोलं ॥

किरुमडि सुबरं व सोग मेकिलंबाळें शेंबगं ।

तिरुबळि मांबु कीळहिशीं मामरंगळ ॥१०६५॥

अर्थ—उस स्तूप का उत्सेध आधा कोस है । तथा उसका मध्य भाग उतना ही विस्तार वाला है । उसके पूर्व दिशा में अशोक वृक्ष तथा दक्षिण दिशा में चम्पक वृक्ष है । पच्छिम दिशा में नाग केसर का वृक्ष एवं उत्तर दिशा में आम्र वृक्ष है । इस प्रकार महान ऊंचे २ कल्प वृक्ष वहां सुशोभित होते हैं ॥१०६५॥

आडगतियन् रिरंहु गोपुरत्तकवुं सेंद्र ।

नाडग शाळे मूंडू निलेना लेट्टु पांजि ॥

यूडु शेड्डांडु नल्ला ज्जोतिडर् देविमार्गळ् ।

वीडिल पलवु निडु बोदिई निरुमरंगुम ॥१०६६॥

अर्थ—स्वर्णमयी उस वन भूमि की महावीथी के दोनों बगल के उदयतर नाम के गोपुर में प्रीतिकर नाम के गोपुर तक एक से एक बढ़कर तीन खण तक हैं । एक २ मंजिल में जाने के लिये आठ २ पंक्ति है । उन पंक्तियों में ज्योतिषवासी देवाङ्गनाओं द्वारा नृत्य करने की नाट्य शालाएं हैं ॥१०६६॥

पेंबोनुं मनिई नात्युं कुविडुं वे पाव वादि ।

सेपोन् मंगलंगळ् वेदि तोरणं सेरिदयावु ।

मुंबर् तं मुलगुं भोग मूमियु मोंडिनार् पोळ् ।

वं पोनि मुळइ नारु मंदेरु मळिव वेगुस् ॥१०६७॥

अर्थ—सोने और रत्नों आदि से निमिते चैत्यवृक्ष, स्तूप, अष्ट मंगल द्रव्य, वेदी के द्वार पर तोरण आदि अत्यन्त सुन्दर हैं । उस वनभूमि में देवाङ्गनाएं, देवपुरुष, देवकुम मनुष्य ये सभी वहां रहते हैं १०६७॥

कुइळिशो मुळर माग कौंविन मेर् ट्टुं विपाड ।

मइळ् नडं पइलु मेगुंस् वानवर् मड देनल्लार् ॥

पुयळियन् मिन्नुपोळ सोळं वाय् पोळ्पु तौडि ।

कयल् विळि पिरळ कामं कनिय निड्रांडि नारे ॥१०६८॥

अर्थ—उस वनभूमि में रहने वाले पक्षियों के द्वारा होने वाले शब्द अत्यन्त सुस्वर प्रतीत होते हैं । भ्रमरों के गुंजार शब्दों की ध्वनि और देवकुमार द्वारा होने वाले संगीत आदि को सुनकर जिस प्रकार मयूर अत्यन्त आनंदित होकर अपने दोनों पंखों को फैलाता है, उसी प्रकार देवाङ्गनाएं नृत्य करती थी ॥१०६८॥

कपंगमड नल्लगंगळ कामने शेखिवे पोर् ।  
 कपंग मरत्तं काममडल्लिगळ शेखिव कामर् ॥  
 विपई लोबियं कंडु वेदिगे येडु मीळ्वार् ।  
 तप्पुवट नडयिट्टाल्लबें लोळयिना ल्यर मेन्ता ॥१०६६॥

अर्थ—जिस प्रकार पतिव्रता स्त्रियां अपने पति से द्वार २ आलिंगन करती हैं, उसी प्रकार लताएं व कल्पवृक्ष परस्पर में लिपटे हुए थे। उस वनभूमि में रहने वाले मणियों के समूह के प्रकाश को देखकर वे मेरु और मंदर इसी प्रकाश को भगवान का मंदिर समझ कर जाते हैं; परन्तु भ्रम समझकर वापस लौटकर आ जाते हैं। ऐसी वह मणि चमकती थी। उस भूमि के प्रभाव से चलने में भ्रम भ्रम का कुछ भी पता नहीं चलता था। इसी से वह भूमि भ्रमायमान प्रतीत होती थी ॥१०६९॥

मधुकरं तुंबि वंडु वन् शिरं परबं मद्रुं ।  
 पोदिय विळ पोदिन् मीडू पोतंन पुगळ सार्ता ॥  
 मदि योळि परंब भूमि विदि युळि किडंबवड्धि ।  
 पोकुलिय पोदिन् मैडु पोर्ल कन् वांग लार्ता ॥१०७०॥  
 वनमिडु विधिई नैय्दि वाधिये शार्कु मैव ।  
 रिण मळरेंदि सोन्न वेट्टेडु मरत्ति नान्गु ॥  
 शिनंबोहं शेखिव शीय वनें मिशै देवर्कोमा ।  
 ननैय पुरपडिमं तूबं यरुचित्तु पिरिदि सेरंवार् ॥१०७०॥

अर्थ—जिस प्रकार चंद्रमा की किरणें चारों ओर फैल जाती हैं, उसी प्रकार वहां की विशाल वनभूमि में रहने वाले पुष्पों में निवास करने वाले भ्रमर आदि की ध्वनि चारों ओर गूंजती है। उसका वर्णन करना मेरी अल्प बुद्धि में अशक्य है। उस भूमि को देखने के पश्चात् और कोई दूसरी वस्तु देखने की इच्छा ही नहीं होती ॥१०७०॥

इरुनिदि इरुंब सेन्नि इमे यम् वंदिरेवन् पांब ।  
 मरुविय वेन्न सेंवोन् मयदाय वेळ्ळि शूडि ॥  
 युह मळि युदयत्तिकुं मिहमडि यागु पिरिदि ।  
 तरमेनु मिजि वंडु निळय्य तट्टाल्लेसागुं ॥१०७१॥

अर्थ—ऐसी वनभूमि में वे दोनों राजकुमार पहुँचे और वहां अत्यन्त सुगंधित पुष्पों को अपने हाथ से तोड़े। वहां आठ कल्प वृक्ष हैं। और आठ ही चैत्य वृक्ष हैं। एक २ चैत्य वृक्ष में चार २ शाखाएं हैं। एक २ शाखा में एक २ जिन बिम्ब हैं। उस चैत्य वृक्ष के पास पहुँचकर मेरु और मंदर दोनों राजकुमारों ने भगवान को पूजा की। वहां से आगे चलकर वनभूमि में रहने वाले प्रीतंकर नाम की वेदी पर पहुँच गये। वहां शंखनिधि और पद्मनिधि

ऐसी २ निधियां हैं। इन दोनों निधियों के अधिपति वहां के देव हैं। वहां रहने वाली उदयतर वेदी इतनी ऊंची है कि मानो हिमवन पर्वत ही यहां आ गया है, ऐसा प्रतीत होता था। उससे दुगुनी ऊंची पांच सौ धनुष वाली प्रीतंकर नाम की पांच वेदियां हैं ॥१०७१॥

कोडि मिडंगोपुरंग लोंगिन नांगु गात ।  
मिडि मुरसि छेव वानो रियट्टु मंजिर प्यो येयंद्र ॥  
पडि मेगळिसंद पंच निकगंळै पुडेंय पंबोर् ।  
कुडमुगं पदुमस् तेमागोत्तन कोनंदाने ॥१०७२॥

अर्थ—उस प्रीतंकर वेदी के कौने में अधिक से अधिक प्रकाशमान ऊंची ध्वजाओं से युक्त चार गोपुर हैं। वे गोपुर चार कोस उत्सेध वाले हैं। जिस समय वहां देवलोग भगवान की पूजन करते हैं उस समय मेघ की गर्जना के समान अनेक प्रकार के वाद्यों की ध्वनि होती है। भगवान के अभिषेक के लिये बडे २ सोने के घडों को वहां स्थापित करते हैं और उन घडों पर सोने तथा पुष्पों की मालाएं व पल्लव आदि से उन घडों को सुशोभित करते हैं।

॥१०७२॥

गोपुर त्तिरु महंगुम् कुडवरै यनय तोळार ।  
पागर प्रमै पोळ पडरोळि भवनवेदर ॥  
नागरु किरैवर् कोमानळं पुगक् व लंगळारं व ।  
वेदिरं पिडित्तु काकुं पुरत्तुळार कोडिइन् बीवि ॥१०७३॥

अर्थ—उन गोपुर के द्वारों पर अस्ताचल पर्वत के समान भुजाओं वाले सूर्य के प्रकाश से युक्त भवनवासी देवों के अधिपति चमर वैरचित नाम का भुवनेंद्र और देवेन्द्र आदि के अधिपति जो देव हैं वे भगवान की स्तुति व गुणगान करते हुए अपने हाथों में दण्ड तथा घोटों आदि को धारण कर खडे रहते हैं। उन गोपुर के अन्दर के भाग में जो ध्वजा भूमि है वह पांचवें प्रकार की महावीथी कहलाती है ॥१०७३॥

ऐदुंवीर चदुरमगि पायिर त्तैवदाय ।  
पंदिइन् वरुक्क माय मंडलं पत्तिन् भाग ॥  
मिगिवे तिरट्टि येग दिक्किनु कामि वट्टे ।  
मंगल तप्पिन् मार वंदव पंदिन् मोदू ॥१०७४॥

अर्थ—पांच प्रकार नाम की महावीथी के कौने में अर्थात् एक २ कौने में चतुष्कोण के रूप में क्रम रूप से एक हजार अस्सी, एक हजार अस्सी इस प्रकार दो हजार अस्सी और अस्सी पंक्तियां हैं। इन सब को मिलाकर गिनती करने से ग्यारह लाख, साठ हजार चार सौ हो जाती है। यह संख्या एक २ कौने की है। चारों कौनों में रहने वालों की संख्या छियालीस लाख, पैंसठ हजार छह सौ भेखला होती है ॥१०७४॥

मूङ्गु विट्टु शदुर मागि मुकुमरिण पीडत्तुच्चि ।  
 यूङ्गि विल्लेरंडु सुट्टा युरं दिरु काव पयं वु ॥  
 नीङ्गुवे पोङ्गु कम्मिनेळिन मरिण इरुंद तंडि ।  
 नाङ्गु पल्लिगै इनुच्चि पळगै मेळ् पदागै यामे ॥१०७५॥

अर्थ—तीन धनुष प्रमाण से युक्त रहने वाले चतुष्कोण की पीठ के ऊपर दो धनुष चारों ओर दो कोस उत्सेध वाले हैं। इनसे वह पीठ देखने में अत्यन्त सुन्दर व शोभायमान मालूम होती है। और उस पीठ पर एक फलक है ॥१०७५॥

शिग मालियानै मालै शिरिवयन्नं गरुड नेरु ।  
 पंकय मगर मालि पविगळाम् पदागै पत्तुं ॥  
 पोंगियां काय मेन्नुं पुनरि वेडिरे गळ् पोलुं ।  
 मंगलक्किळ वन् कोइस् मविले सूल् दाडु निङ्गे ॥१०७६॥

अर्थ—सिंह, हाथी, फूलों का हार, मयूर, हंस पक्षी, गरुड, वृषभ, कमल पृष्प, मगर-मच्छ व समुद्र प्रादि इस प्रकार के लक्षणों से युक्त घ्राठ प्रकार की ध्वजाएं समुद्र से उठने वाली जलतरंग के समान जिनेंद्र भगवान के समवसरण के आगे वेदी के चारों ओर ध्वजाएं फहराती हैं ॥१०७६॥

मुडिमरिण मुत्त मालं नान्ङु किंकिनि गळ् मोइत्त ।  
 कोजि निरे कोडि नांगो इरुपत्ता रिलक्कं कोमा ॥  
 नुडं यन वं वत्तारा इरमुङ्गि तुलावुगिङ्गु ।  
 पडियिदु काव म्ङ्गाय् पयोदि पोर् सूल् ददामे ॥१०७७॥

अर्थ—उस ध्वजास्तंभ के शिखरों में मोती के हार नृत्य करने वाली नर्तकियों के पावों में पैजनी के समान छोटी २ घंटियों सहित फहराने वाली ध्वजाओं की संख्या चार करोड छियासठ लाख पचपन हजार है। यह भूमि तीन कोस चौड़ी होकर समवसरण को घेरे हुए है ॥१०७७॥

पलभरिण पईङ्गु पत्ति पित्ति नर् पडिगम् पंबोन् ।  
 निल्लंगळं वागि निङ्गु नाटक शालं बोहं ॥  
 मुलयुं मेगलेयुं मुत्तमालेयुं कुलाव भिन् पोर् ।  
 पल नडं पैत्तुं भावरं भवनर् तम् पवळ वायार ॥१०७८॥

अर्थ—वहां अनेक प्रकार के रत्नों से निर्माण की हुई चार प्रकार की वेदियां हैं। उस धीधी में रहने वाली नृत्य शालाएं, मेखला भरण मोती प्रादि से युक्त भवन तथा देवांगनाएं नृत्य करती हैं ॥१०७८॥



पुळ्ळकं माबिट्ट मोळि याळानं पुनरंब वट्टिन् ।  
 तळ्ळच्चवि पोल वाडुं पदागे याम् तरणी तन्नं ॥  
 मळं कंमा वेंदर् वंडु मंगल मरदि नेदि ।  
 कुळ्ळेत्तेळुं पोळिले मूळ् कल्याण गोपुरत्ते सारं वार् ॥१०७६॥

अर्थ—जिस प्रकार हाथी को ठान में क्रम से बांध दिया और तब उस हाथी के कान जैसे हिलते रहते हैं उसी प्रकार ध्वजाएं वहां फहराती हैं। यह सम्पूर्ण ध्वजाएं ऐसी मालूम होती हैं, मानों सम्पूर्ण जनता को दान देने के लिये अपने हाथ फैलाये हुए हैं। इस प्रकार की ध्वजा भूमि को उलांघकर कल्याणतर नाम की वेदी में वे दोनों मेरु व मंदर पहुँच गये ॥१०७६॥

मुदनडु विरुदि कोश मूंडुरं यरंय कंडिट्ट ।  
 उदयत्तिन् मुत्ति योंगि तमणि येत्ति येडु नाना ॥  
 विदभणि येनिदु सेलि विडंड वेन् कोडिय दागि ।  
 मविलिन तगतट्टाळं मलिबं वेळ् निलत्तदामे ॥१०८०॥

अर्थ—उस कल्याणतर वेदी की चौड़ाई नीचे तीन कोस और बीच में डेढ़ कोस उसके ऊपरी भाग में तीसरा हिस्सा उत्सेध होकर उदयतर और कल्याणतर का पहला उत्सेध जितना प्रमाण है उतना ही परिमाण है। जिस प्रकार सिर में सुन्दर २ रत्न मोती तथा रत्न सोने से निर्मित पाउडर (स्त्रियों के सर पर माथे पर पीछे से अगले ललाट तक) धारण करती हैं। उसी प्रकार उस कल्याणतर नाम की वेदियों की सात प्रकार के भिन्न २ रूपों से सजावट की गई थी ॥१०८०॥

पत्तरं काव मोंगि पेंबोर् गोपुरंग नांगु ।  
 मुत्तमत्तुरक्क मेळं योत्त वेळ् निलत्तवागि ॥  
 पत्तु नामत्त वा मेळ् भवत्तोडर् पवनं काट ।  
 वेत्त कम्माडि वाय्दल् मरुगिरंडुडे यदामे ॥१०८१॥

अर्थ—बह स्वर्णमयी कल्याणतर गोपुर सात मंजिल की ऊँचाई में है, और पांच कोस चौड़ाई में है। उस गोपुर द्वार पर एक महान बड़ा काच लगा हुआ है, जिसमें वहां जाने वाले को सात भव तक का ब्योरा उस काच में दीखता है। अर्थात् पूर्व भव व आगे के भवों का हाल प्रत्यक्ष मालूम होता है ॥१०८१॥

उरंत्त नामत्त वाय पुरत्तमत्तुदयं पोल ।  
 पेरुत्त गोपुरंग नागु पेरुविले मनिय माले ॥  
 तरत्ति नार्, परत्तु ताळंडु शन शन वेन्नुं कंडे ।  
 परित्तु नाट्टिशंभु वीदि परुदि पोलुळिरु निड्रे ॥१०८२॥

अर्थ—इस प्रकार चारों दिशाओं में चार कल्याणतर गोपुर हैं। उन गोपुरों के अंदर सूर्य के समान अत्यन्त प्रकाशमान जयघंटा है। जिसकी ध्वनि दूर २ तक चारों दिशाओं में सुनाई देती है ॥१०८२॥

उरैत्त गोपुरत्तु वाय्वल् कापव हलग पालर् ।  
निरैत्त वळ् निलत्तवाय नाटक शाले इन्कट् ॥  
तरत्तिना निरैत्त मिश्रिट्टा नडं पुरियु मादर ।  
धिरित्तुना मुरैत्त देवर् मेवुमा देवि मारे ॥१०८३॥

अर्थ—उस कल्याणतर गोपुर के दोनों ओर अगल-बगल में लोकपाल नाम के देव रक्षण करते हैं। उस गोपुर में रहने वाली वीथी की अगल-बगल में सात मंजिल से युक्त नाट्य शालाएं बनी हुई हैं जिनमें लोकपाल देवों की स्त्रियां बिजली की चमक के समान प्रकाशमान होती हुई नृत्य करती हैं ॥१०८३॥

वडि वुडं पीडत्तिप्पाल् मरित्तिरळ् मलरं द नांगु ।  
विडवं कन् मिका विक्कं येळप्पन पोंडु शित्त ॥  
पडिमैगळिरुद सिद्ध पादवं पयिडु पोंडु ।  
कुडेइन् मदि निदु बोदि नांगिनुं कुलावु मिप्पाल् ॥१०८४॥

अर्थ—उस कल्याणतर गोपुर में रहने वाली वृक्षभूमि में चार दिशाओं में एक २ बलिपीठ है। उसके अंदर सिद्धायतन नाम के वृक्ष हैं। उन वृक्षों में चार शाखाएं हैं। उन एक २ शाखा में एक २ सिद्धों की प्रतिमा है। उस वृक्ष के फूलों के भगवान के ऊपर तीन छत्र हैं। वे सुन्दर प्रतीत होते हैं। उन फूलों का सुगंध तथा प्रकाश चारों दिशाओं में फैल जाती है ॥१०८४॥

अन्जुडरु विळंतूबै येरिवना लयत्तै सूळ् द ।  
मजुर निमिरं वु भाळ् तलंगळ् पन्निरडं बागि ॥  
येजंनं मले ये सूळ् द इदिमुरव मनैय नान्गाम् ।  
इंजि गोपुरगं नार् पालुडय वात् तडगं नान्गम् ॥१०८५॥

अर्थ—अनन्तज्ञान को प्राप्त हुए केवली भगवान के विराजमान होने का मंदिर है। जिसको घेरे हुए कल्याणतर वेदी और गोपुर में रहने वाले कल्पवृक्षों की वीथी में अत्यन्त प्रकाशमान बारह मंजिल से युक्त स्तूप हैं। जो आकाश को स्पर्श किये हुए हों ऐसे प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार नंदीश्वर द्वीप में चारों दिशाओं में अनंतगिरि दधिमुख आदि चार पर्वत हैं, उसी प्रकार वहां भी चार स्तूप हैं और चारों दिशाओं में चार बावडियां हैं ॥१०८५॥

नदं भप्रे शयंदे पूरनामत्त वावि ।  
वंद मादिक्क नान्गिल् वारिये तेळित्त पोळ् विल् ॥

मुंदय परप्पे योर्वा मुन् पिन्नेळ् भवत्तं कान्वात् ।  
शिदे शैव वट्टे पार्क तेल्लिकक नोयायुं तोहं ॥१०८६॥

अर्थ—उस नदीश्वर द्वीप की भूमि में रहने वाली बावडियों के नाम अर्थात् पूर्व दिशा में रहने वाली बावडी का नाम नंदा, दक्षिण दिशा की बावडी का नाम भद्रा, पच्छिम दिशा की बावडी का नाम जयंता और उत्तर दिशा में रहने वाली बावडी का नाम पूर्णा है ।  
॥१०८६॥

वास निडुं राव शोलं भदिळिन् दगत्तु मांड ।  
ओचने यगंडु देनु मुळगेळा मडंगिनाळु ॥  
मासं पोग लंगंडु तोडुं मरुमणि निळत्त वागि ।  
मासिला मणिडु नायमरंगळा शेरिदवेगुम् ॥१०८७॥

अर्थ—पूर्व दिशा की बावडी के जल को मनुष्य गंधोदक के रूप में अपने मस्तक पर डालते हैं, जिससे उसके आगे के और पीछे के दो भवों का ज्ञान हो जाता है । दक्षिण दिशा की बावडी के जल को देखने से आगे और पीछे के भवों को जान लेते हैं । पश्चिम दिशा की बावडी के जल को देखने से अपने मन में जो इच्छा होती है वह पूर्ण हो जाती है । तथा उत्तर दिशा की पूर्णा नाम की बावडी के जल को देखकर मस्तक पर डाल लेने से सम्पूर्ण व्याधियों का नाश हो जाता है ॥१०८७॥

पळ निरं पड्डु फळंगकुं शेरिदं शागे ।  
निळतळंबोशिय काना निरैय वन् शिरैय कींडि ॥  
मळ्ळर निरैविरुदं मट्टुं वागिनार् 'ट्रंगपारा ।  
मिळयेना मिळाव वकुं विरुदेळुडुडं तेनं ॥१०८८॥

अर्थ—उस कल्याणतर गोपुर में रहने वाले कल्पवृक्ष नाम की भूमि का चार कोस का विस्तार है । वह भूमि इतनी विशाल है कि तीस लोक के जीव आकर बैठ जाय तो सब का समावेश हो जाता है । वह भूमि बैठने में कम नहीं पडती है । वहां रहने वाले कल्पवृक्षों की रत्नों से सजावट की गई है । वह वृक्ष अनेक प्रकार के फल पुष्प आदि से भरे हुए हैं । फल व पुष्पों से उन वृक्षों की शाखाएं झुकी हुई हैं । उन फलों की सुगंध के अधीन होकर भ्रमर तथा अन्य पक्षी मधुर रस का आस्वादन लेते हुए उन्हीं में रहते हैं । वे पक्षी उन फूलों के रसों को खींच रहे हैं इसलिये कि उस वृक्ष का बोझ कम हो जावे । जैसे २ उन शाखाओं में से वे पक्षी मधुर रस को खींचते हैं वैसे २ फूल व शाखाएं मुरझा सी जाती हैं । वे शाखाएं झुकी हुई हवा से इस प्रकार हिलती हैं । मानों लोगों को बुलार कर दान दे रही हों । ॥१०८८॥

शिरप्पोडिगडेव देवर् शेरि पोकि लवनंचेरंदार ।  
डुर कर्त्त मरप्परेडुं सोळुव विनि येन्नंडिप् ॥

पिरप्पेरिट्टुदिसुंद वीरन् पेरुमयं सिरिदु काट ।

विरप्पवु मुयर्द देव राजना लियंडु वैडो ॥१०८६॥

अर्थ—तदनन्तर वे मेरु व मंदर दोनों राजकुमार उस समवसरण में रहने वाले कल्पवृक्ष की भूमि से अष्ट द्रव्य सहित आंगण वाली उस भूमि में प्रवेश करते ही ऐसा मालूम होता था जैसे कि देवलोक में प्रवेश कर रहे हैं। ऐसा आनन्द प्रतीत होता था कि उसके समान अन्य कोई स्थान ही नहीं है। उस भूमि वर्णन करना अवर्णनीय है। इस प्रकार भगवान के प्रतिशय को दिखाने वाले देवों ने समवसरण की रचना की ॥१०८६॥

पळिक्कु नट्टळमि देडु वावियुट्ट वैत्तु ।

कुळिक्क वोळ्द्वरं काना कळोट्टि सिरिप्पर् नोका ॥

पळिक्करे तळत्तं वेळ्क्परप्पेडु पात्तुं मीक्का ।

रुकिप्पिकं वीवट्टे पित्ति वैडु पो कट्टु निर्पात् ॥१०८७॥

अर्थ—वे दोनों कुमार उस रत्नजडित भूमि में रहने वाली बावडियों में अपने २ हाथ पांव धोने तथा स्नान करने उतरे इनको ऐसा करते देखकर वहां के रहने वाले लोग हंसने लगे। क्यों हंसने लगे? वास्तव में बावडियों में पानी नहीं था बल्कि स्फटिक मणि के समान वे जल पूर्ण बावडियां प्रकाशमान हो रही थीं। उसी को पानी समझकर वे नीचे उतरे थे। किंतु केवल प्रकाश देखकर ही तथा पानी न होने के कारण वे मेरु और मंदर वहां से वापस लौटकर और कहने लगे कि काच सा है पानी नहीं है ॥ १०८७॥

कविर मणि भाडन् सम्मं कन्नुवार् तस् सायै ।

यदिर् वरु चारं योप्प विडंदिडंवेगुं निर्बर् ॥

मडुरमास् तन् सोट्टामे तथक्केदिर् माट्टमाग ।

वेदिरेदिर् सोळिगिन् गिङ्गारोत्तिवं कुवरेणु मेंगुम् ॥१०८८॥

अर्थ—स्फटिक मणि से निर्माण किए उन मंदिरों की चमक से अपने ही प्रतिबिम्ब को उसमें देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे उसी के समान दूसरे आदमी का प्रतिबिम्ब हो ऐसा समझकर वे वहां से हट जाते थे। जब वे बोलते थे तो उनकी आवाज ऐसे मूर्खती भी मानों आदमी बोल रहा हो ॥१०८८॥

धरे पुरयु माळिगैइनिरेगळवे योरु पाळ् ।

परुदियोळि तेरुव पळ मंडपग लोरुपात्त ॥

मरुविनरु मरि वरिय माड निरै यरु पात्त ॥

परुमणिय तूनिरैय पाडळिडमुरुपाळ् ॥१०८९॥

अर्थ—उस कल्पवृक्ष की भूमि में बड़े २ पर्वतों के समान विशाल भवन थे। दूसरी

शोर सूर्य की किरणों को जीतने वाले अनेक मंडप थे । एक शोर बड़े २ स्तंभों से निर्माण की हुई संगीत शालाएँ थीं ॥१०६२॥

नाटक मंडयंरंगलाडुमिड मुडु पात् ।

आडवर्गळ वृडि विळैयाडुमिड मोरुपाळ ॥

कोडुयर्सै कुंड्रमबे निड् विड मोरुपा ।

लाडग नल्बेदिये य कूड मिड पोर् पाळ् ॥१०६३॥

अर्थ—वहाँ नृत्य करने वालों की नृत्यशालाएँ एक शोर हैं । पुरुषों के खेलने का स्थान क्रीडाशाला के रूप में एक तरफ है । निर्माण किये हुए कृत्रिम पर्वत एक शोर हैं । स्वर्ण से निर्माण किये हुए महल तथा दीवारें एक शोर थीं ॥१०६३॥

वान् करुविन ट्रीन्सुबैय वारिर्निदि योरुपाळ् ।

तेन् सेरिद पून् तडंगळ् शिरै पईं ड् वोरुपाळ् ॥

वाय् द मणितळंगळ् वल्लिमंडपगं लोरुपाळ् ।

सूकंद सैवोन् वेदिगय वागुस् शिळ् वोरुपाळ् ॥१०६४॥

अर्थ—उस कल्पवृक्ष की भूमि में इक्षुरस के समान माटे पानी की नदी है । दूसरी शोर फूलों और कमलों की लता से युक्त बावड़ी है । लता मंडप एक तरफ है तथा स्वर्ण निर्मित कई स्थानों पर कोट बने हुए हैं ॥१०६४॥

मंजमळि पंजमळि मुडेयविड मोरुपा ।

सुंजन मिशै येन् सोळव राडुमिड मोरुपाळ् ॥

पंजियनें यार्गंळोडु मैदरिड मुरुपा ।

ळिजियद नगत्तिनें ईयंविड वोनादे ॥१०६५॥

अर्थ—सोने के लिये मखमल के गद्दे, पलंग आदि एक शोर हैं । स्त्रियों के बैठने की जगह एक शोर है । स्त्रियों का झूला तथा पुरुष-स्त्रियों-दम्पतियों के बैठने का स्थान एक तरफ है । इस कल्पवृक्ष भूमि का वखान करना मेरे लिए अशक्य है ॥१०६५॥

मळं यनय निळं युडेय भादवर्ग कोरुपाळ् ।

विळैयमर वेरिदरुम विरोचनगं लोरु पात् ।

मळं विन् मोळि निळं युनळ मौनघर रोरुपाळ् ।

निले पनिइन वेयिन् मकई नींगळिळ रोरुपाळ् ॥१०६६॥

अर्थ—पर्वत के समान तपस्वियों की तपस्या करने के स्थान एक तरफ हैं । संसार में होने वाले दुःख का नाश करने, सद्गुणी उपाध्यायों के स्थान वहाँ एक शोर हैं । शोर प्रत

के धारण किए मुनि लोग एक तरफ बैठते हैं और सर्दी, गर्मी, बरसात में हमेशा समान रूप में रहने वाले मुनियों के स्थान एक ओर ही हैं ॥१०६६॥

उक्कतवर् तत्तवर् रोरुपाल् ।  
मिक्कतवर् धोरतवर् मेरुमिड मोरुपान् ॥  
तोक्कनळ काय मन वशिधळिगमेरुपाल् ।  
पक्कमुव नोन् बुड्य परम तव रोरुपाल् ॥१०६७॥

अर्थ—उग्र तप को प्राप्त हुए तपस्वियों के स्थान एक ओर हैं । दीप्त तप को प्राप्त हुए तपस्वियों तथा आयिका माताओं के स्थान अलग २ हैं । महातप व घोर तप को करने वाले मुनियों के स्थान एक तरफ हैं । मनोबल और वचनबल को प्राप्त हुए मुनियों का स्थान तथा पक्षोपवास, मासोपवास तप करने वाले मुनियों के स्थान एक ओर हैं ॥१०६८॥

मासुमळ बाय् तिचळ मूकुडय भंरुदान् ।  
पसरिय पेरंतवर्ग ळिरुंव विडमोरुपाल् ॥  
बासनरु नयमदु पाळमुदु चिन्मे ।  
ळासे पर् उरै शंमुळि येरंतवर्ग ळोरुपाल् ॥१०६९॥

अर्थ—अपने शरीर में होने वाले मलयुक्त मल्लीषधि ऋद्धिधारी, आमषौषधि, खेली-षधि, विडोषधि सबौषधि आदि २ ऋद्धिधारी मुनियों के स्थान एक तरफ हैं । क्षीर रस ऋद्धि, सर्पिः रस ऋद्धि, यानी घृतऋद्धिधारी मुनियों का स्थान एक ओर हैं ॥१०७०॥

मुवळिरुदि नडुव नोरु पवमदु कोंडन् तूळ् ।  
विदि मूकुदु मरिडर् शिळर् मूळ पव मेवि ॥  
मुदनडुवु मुडिय उनर् वार् सविन्न मदिकन् ।  
मविइन् पुगै पछि रंदिन् वरु मुळिग करिवार् ॥१०७१॥

अर्थ—जिनागम के प्रथम एक पद, अंत का एक पद, मध्य का एक पद को लेकर संपूर्ण आगम के जानने वाले कोष बुद्धि मुनियों के स्थान एक तरफ थे । प्रथम में एक पद को जानने वाले बीज बुद्धि मुनि तथा अपने स्थान से बारह योजन दूर रहने वाले शब्दों को भली प्रकार सुनने वाले तथा समझने वाले दूर श्रवण ऋद्धिधारी मुनि का स्थान एक तरफ है ।

॥१०७१॥

मविय बवि सुव मिरुदु विपुसमतिज्ञान् ।  
मदि शयर्ग लनगार केवली ळोरुपाल् ॥  
विदिरलनु मावि विगुवनै बलव लोरुपान् ।  
मवियिन् वरु धारण तन्मा मुनिव रोरुपाल् ॥११००॥

अर्थ—मतिजानी, श्रुतजानी, अविज्ञानी, ऋजुमति, विपुलमति मुनि तथा इतर केवलियों के स्थान एक ओर थे। आकाश में सूर्य के समान गमन करने वाले, चमने वाले चारण ऋद्धिधारी मुनियों के स्थान पृथक् थे तथा अणिमा, महिमा ऋद्धिधारियों के स्थान एक तरफ थे ॥११००॥

वेदमरु नांगैनयत्तं विनयत्तं मिगमेवि ।

योदुवद् केरपव ररप्पवर्निरुत्तर् ॥

वदियर्गळ् कट्टमर वावमयि योर कन् ।

मेवगंय शिबने कन् मेवुनगं लोर पाळ् ॥११०१॥

अर्थ—प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग को भली भांति पढ़ने वाले, मनन करने वाले सुनने वाले तथा मानव के प्रति उपदेश देने वाले, सुनकर उसको ग्रहण करने वाले और धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान वाले महामुनियों का स्थान एक ओर था ।

॥११०१॥

पुक्क विड सक्करन् द्दु पडे योदुंग पोदु ।

मिक्कतवर पानिमिशं मेयमिगे यडिसिळ् ॥

पुक्कुळ्ळग मुंडिडिनुं पोदु पगलेल्ले ।

तक्कतवर् सुवद् मुनिवर् शाट्ट मुडियारे ॥११०२॥

अर्थ—उस कल्पवृक्ष की भूमि को बाह्य से यदि देखा जावे तो ऐसा स्थान बहुत ही कम देखने में आता है। उस स्थान पर यदि चक्रवर्ती भी अपने दल सहित आ जावे तो वह भूमि कम पड़ती। उस भूमि में अक्षीण महानस ऋद्धिधारी महामुनि रहते हैं। जिसके घर में ऐसे मुनि आहार लेते हैं उसके घर में अक्षीण महानस ऋद्धि हो जाती है। और यदि चक्रवर्ती का दल भी वहां भोजन करने के लिये आ जावे तो कमती नहीं होता है ॥११०२॥

इनेयमुनि वन मिदनिन् वीदि इरुमरंगिर् ।

कनगमणि वेदिगे विल्लु उय कोडिवनिन् ॥

निनेव मळि निळ्ळळे यव्वेवर् पणिवेसि ।

येनगमन राइरंजि याशिर मडिबोर् ॥११०३॥

अर्थ—इस प्रकार उस कल्पवृक्ष की भूमि में ऋद्धि सम्पन्न मुनिराज रहते हैं। यह छठे कल्पवृक्ष की भूमि है। वहां स्वर्ण तथा रत्नों से निर्मित एक धनुष ऊंची वेदी है। ऐसी उस भूमि में रहने वाले मुनियों को नमस्कार करके वहां से आगे सातवें प्राकार नाम के गृहांगण भूमि की महावीथी में प्रथम श्रेणी में रहने वाले जयाश्व मंडप में वे दोनों मेरु और मंदर राजकुमार गये ॥११०३॥

कडिसळ बुळ्ळ नरंडगे ।

कोडि निरेस सयाशिरं कोशति ॥

नुडन कंडू दोरोचने योकमुम् ।

कडन दायदु काचद मागुमे ॥११०४॥

अर्थ—वह जयाश्रव मंडप बड़ी २ ध्वजाओं से तथा उसका अर्द्ध भाग छोटी २ ध्वजाओं से परिपूर्ण था । उस जयाश्रव मंडप की एक कोस की चौड़ाई है और एक कोस की ही ऊंचाई है ॥११०४॥

मादिरत्तेळु मामदि वान् कड ।

लोद मेर वुडन् पुगुमारु पो ॥

नावन् मानगर् मुंड्रिळिन् वाय्दळ् वाय् ।

पोदुवार् पुगुवार् कन्मिडेंदरार् ११०५॥

अर्थ—जिस प्रकार पूर्णिमा के चंद्रमा को देखकर समुद्र उमड़ पड़ता है, और छोटी २ नदियां उसमें प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार उस जयाश्रव मंडप संबंधी मंदर में रहने वाले भव्य जीव सदैव ही वहां निवास करते हैं । और उनको देखकर महान आनन्द होता है ।

॥११०५॥

सुंदरत्तरकं पवळत्तिरळ् ।

पंदि पंदि परंदन पार् मिशं ॥

इंदुचिन कवि रोडिर विवक दिर् ।

वंदु वालु गमायिन पोलुमे ॥११०६॥

अर्थ—उस जयाश्रव मंडप की जो भूमि है वह मोतियों और पत्तों में निर्मित है । उसको देखने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे चंद्रमा व सूर्य की किरणें तथा बालू मिट्टी की कणों हो ॥११०६॥

मरं तलत्तरं जोतिरमंडिलं ।

वरंत्त कुंकुम शंदन मंडिलम् ॥

निरंत्त शकमळंग निमकिशं ।

नरंत्तल तेळुतामरं पोलुमे ॥११०७॥

अर्थ—उस जयाश्रव मंडप को चंदन कपूर आदि का मिश्रण करके जमीन पर साधिया आदि से पूरा गया था । तथा सूर्य और चंद्रमा मांडे गये थे । उनको देखने से ऐसा प्रतीत होता था, जैसे पुष्कर द्वीप के बाहर रहने वाले ज्योतिषी देवों के रहने वाले सूर्य और चंद्रमा जिस प्रकार गमन रहित स्थिर रहते हैं वैसे ही प्रतीत होता था । वह मंडप कमल के फूलों से पूरा गया था । वह देखने में पुष्कर द्वीप के समान प्रतीत होता था ॥११०७॥

माळिगो निरं मंडप मल्लवु ।

माळि मानवर् देवरडेंदुळि ॥



नाळु नाळु नंल्लिवस् पयप्पन ।

शूळि याने ये शूळ् पिडि पोळ् वन् ॥११०८॥

अर्थ—उस जयाश्रय नाम के मंडप में अनेक प्रकार के महल कई मंजिल वाले हैं । उसको देखने से ऐसा मालूम होता था जैसे एक हाथी के चारों ओर कई २ छोटे २ हाथी हों । इस प्रकार कई मंजिल का वह मंडप था । उस ऊंची मंजिल में रहने वाले जीवों को अत्यन्त आनन्द उत्पन्न होता था ॥११०८॥

शिप्पि शैगे मुडियन् शैबिने ।

तुप्पुरुवै युरेप्पन तन्नेरि ॥

तप्पिनार् तडुमाट्टं विरिप्पन् ॥

विप्पडिय विवाट्टं मेनिप्पळ ॥११०९॥

अर्थ—उस मंडप में रहने वाले महल की मंजिल पर पूर्वजन्म में उपाजर्जन किया हुआ तथा संचय किया हुआ पाप और पुण्य का लेखा जोखा उसमें लिखा हुआ था और महाव्रत को धारण करके भ्रष्ट होना तथा मरण को प्राप्त हुए दुख को भोगना आदि अनेक त्रिषय वहाँ लिखे हुए थे ॥११०९॥

मंदिरत्तं येनिवुं पुर् शिडिगे ।

इन्दिरत्तु वस मिडं निडुंन ॥

शंदिरत्तिरळिन पुळगत्तिडं ।

वंदु नित्तिळ मालंग नाडुवे ॥१११०॥

अर्थ—उस जयाश्रव मंडप के अंदर स्वर्णमयी एक पीठ है । उस पीठ के मध्य भाग में इन्द्र ध्वज नाम की एक पताका है । वह ध्वजस्तंभ चंद्रमा की किरण के समान प्रकाशमान हो रहा था । उस स्तंभ के शिखरों को मोती आदि अनेक प्रकार के हारों से सुशोभित किया गया था ॥१११०॥

सुंदिरत्तिरन् मामणि सूडिन ।

मिन्न मिन् परप्पिन् मिळिरु विळ् वीसुव ॥

पेन् लुगिर् कोडि काळ् पोर् पापिन ।

मंदरत्तिडं याडुव पोळ् मे ॥११११॥

अर्थ—उस ध्वजा स्तंभ को अत्यन्त सुन्दर दर्पण से निर्माण किया हुआ शीशा के समान श्रेष्ठ रत्नों से जड़ दिया गया था । वे रत्न बिजली के समान चमकते थे । उस स्तंभ पर लगी हुई ध्वजाएँ जब हवा चलने पर लहराती हैं, उस समय ऐसा मालूम होता है कि जैसे हंस पक्षी अपने परों को फड़फडाता है ॥११११॥

कारिन् मेदुळ्ळुं कवलि कोडि ।  
 ताः मणिगळ् शेलिप्प थोलिप्पन् ॥  
 बारि मीदु वरु परित्तेरिडै ।  
 तार् मणियल् शेलित्तोलि पोलुमे ॥१११२॥

अर्थ—मेघ मंडल पर लहराने वाली पताकाओं के हलन चलन होने से ध्वजाओं पर रहने वाली फूल के समान उन घंटियों (टोकरें) के शब्द अत्यन्त मधुर होते थे । वे शब्द कैसे थे जैसे सूर्योदय होते समय सूर्य ऊपर आता है और छोटे २ घंटे आदि बजते हैं, उसी प्रकार शब्द होते थे ॥१११२॥

इंद वान् वान् कोडि यं कडंडेगलुं ।  
 वंदु तौड्रु मगोदय मंडपं ॥  
 सुंदरं मारणत्तु निरं यायिर ।  
 तेंदै कोडिन् मुगत्ति निरुंदवे ॥१११३॥

अर्थ—इस जयाश्रव मंडप को उलांघ कर जाते ही उसके सामने महोदय नाम का मंडप है । वह मंडप एक हजार स्तंभों से निर्माण किया हुआ है और भगवान के मंदिर के सम्मुख है ॥१११३॥

मट्टि मंडप तुन्मणि पोडिगं ।  
 सोर किलत्ति इरुक्क मुदक्कडन् ॥  
 मुट्टुम् वंदोरु मूर्ति कौंडालन् ।  
 पेट्टिया लिरुंदालं थलत्तिरिई ॥१११४॥

अर्थ—उस मंडप के अंदर रत्नों से निर्मित की हुई पीठ है । उस पीठ पर सरस्वती देवी की मूर्ति विराजमान है । श्रुतज्ञान नाम का समुद्र जिस प्रकार इकट्ठा होकर आया हो उसी के समान दिखाने वाली वह देवी थी । और उसके बाईं बाजू श्रुत है ॥१११४॥

सोर्विन् मादवर् सूल् मुदकेवलि ।  
 तारगं नडुचंदिरन् पोलववन् ॥  
 कार् पैविर् कुववुं बडि यालुडर् ।  
 कवि मिडि यरसं यलिकुमे ॥१११५॥

अर्थ—उस सरस्वती देवी के दाहिने भाग में अनेक मुनि बैठे हुए हैं और उनके बीच में एक श्रुतकेवली । जैसे मेघ बादलों से वर्षा करता है उसी प्रकार वे मुख कमल से भव्य जीवों को उपदेश करते हैं ॥१११५॥

मेरुविन् येद्वयु मेकिय ।  
 वारणं मलं पोलवन मंडप ॥  
 मेरु निपुल वेंडिसंयु मिदन् ।  
 नेर् मुञ्जिद् दोर् पीडिगे नंडरी १११६॥

अर्थ—उस महोदय मंडप के चारों दिशा में जिस प्रकार महामेरु पर्वत रहता है । उसी प्रकार बड़े २ मंडप हैं । उन मंडपों के सामने बलिपीठ है ॥१११६॥

वल्लिनन् मणि पोन्मय मागिय ।  
 वेल्लि पगलुं बलि येंवुमी ॥  
 देल्लि शैपिरं वन्नगर् वायोलुट् ।  
 शेल्लवल्लि कन् मंडप मेडुम ॥१११७॥

अर्थ—वह बलिपीठ योग्य प्रमाण से उत्सेध तथा चौडाई आदि योग्य प्रमाण से युक्त है । वह पीठ सोना और रत्नों से निर्मित की हुई है । उसकी बलिपीठ की भव्य जीव पूजा करने के लिये अंदर जाते समय सुगंधित एक लता मंडप है ॥१११७॥

पोदरा मणि पीडित्ति नप्पुरं ।  
 वाय्दल् वीदिये नोकिय मंडप ॥  
 नीदिया निधि कोक निरंदर ।  
 मीदल् मेविइरुप्प विरळ ॥१११८॥

अर्थ—उस रत्नों से निर्माण किये हुए बलिपीठ को छोड़कर आगे जाने पर एक महावीथी आती है । उसके दोनों ओर दो मंडप हैं । वे मंडप नवनिधि के अधिपति कुबेर के समान दान करने वाले ऐसे प्रतीत होते हैं ॥१११८॥

पाडळोडु पड्डिलं येंपळ ।  
 कूडि नीडु नीला वल्ले मिसने ॥  
 तोडु माडुव वच्चुर देविय ।  
 राडु माडग शाजयप्पालवे ॥१११९॥

अर्थ—उस मंडप को छोड़कर आगे की वीथी से भीतर जाते समय वहाँ सुन्दर २ आभरणों को धारण किए हुए कुबेर की स्त्रियों के नृत्य करने की नाट्यशालाएँ हैं । इस प्रकार वे दोनों राजकुमार उस समवसरण के वैभव को देखकर आगे बढ रहे थे ॥१११९॥

वेट्टि मुट्टु विविक्कनतुवंग ।  
 कुट्टु निडुने वोंगि योरोचने ॥

सुद्रु वेरुळ वेदिगै तोरणं ।

वेद्रि वेन् कोडि माळय मेळेलां ॥११२०॥

अर्थ—यहां तक सात प्रकार के गृहांगण भूमि में रहने वाली वस्तुओं का आधिक्य विशेषकर वर्णान किया गया है । उस गृहांगण भूमि के कोने में रहने वाले स्तूप हैं । एक योजन उत्सेध से युक्त एक स्तूप है । वह स्तूप सभी भव्य जीवों को अत्यन्त सुन्दर व मनोहर दीखता है । उसके चारों ओर वेदी है और स्तूपों पर चारों ओर सफेद ध्वजाएं हैं । और वे पुष्पों के हार मोती के हारों से युक्त है ॥११२०॥

अडिपि निर् पिरप्पिन् मनंयुत्तिडं ।

तुडिये बेंडु किरिमुळ विन्नळ ॥

अडिवं योप्पन वैय्यग तूव इप् ।

पडिपिनागुमद्रुळ्ळुं सोड्ढुवाम् ॥११२१॥

अर्थ—पहले कहे हुए स्तूप के विस्तार से होकर बीच में कमती विस्तार होकर बीच में मृदंग के रूप में रह गया है । उस गृहांगण भूमि के कोने में लोक स्तूप नाम का आदि स्तूप है । उसका स्वरूप आगे कहेंगे ॥११२१॥

अहिम लोमं मंदरत्तयुं ।

मोत्तवुं तुरक्क नकेंवं योप्पवुं ॥

सिद्धि शेव्वट्टुवुं सिद्धरुपियुं ।

पट्टियल् कलत्तेरं भव्य कूडमुं ॥११२२॥

अर्थ—मध्य लोक में एक स्तूप मेरु पर्वत के समान है, और स्वर्ग का स्तूप नवग्रह के समान है । तथा एक सर्वार्थ सिद्धि के समान स्तूप है । और एक राग को नाश करने वाला भव्य स्तूप है ॥११२२॥

वोत शोगमु मै मै विळक्कुमेन् ।

ट्रोवु नामत्त वंडि नोंडुळ्ळवाम् ॥

काव पाव मगंड्रु विळ्ळोंगिमे ।

ळेवमिल् वळकाळ् वट्टु मिगिदे ॥११२३॥

अर्थ—स्वभाव से ही प्रकाशमान शोक रहित एक बोधिनाम का स्तूप है । इस प्रकार स्तूप कोने २ में रहने वाले सभी वीथियों में क्रम से है । वहां प्रदक्षिणा में आने वाले जीवों को चार भागों में से एक भाग आने जाने के रास्ते के लिए है । बाहर की भूमि से वह स्तूप एक धनुष ऊंचा है ॥११२३॥

वानवर् कोन् मनत्तेलि चैदवन् ।

ट्रान्मिग विद्य पुरं तरणीं तन्मै यै ॥

यानिव बुरे पदर केळुंद मद्रिदु ।

बूनमे यागिलु मुळिय बल्लनो ॥११२४॥

अर्थ—देवेंद्र अपने मन में यह विचारता है कि इसी प्रकार के समवसरण की रचना करना चाहिये । कुबेर द्वारा तैयार किए हुए समवसरण को देखकर सभी लोग आश्चर्य करें ऐसा वर्णन करने में मेरी शक्ति नहीं है फिर भी मेरी श्रुत्य बुद्धि के अनुसार समवसरण का वर्णन करूंगा । सुनो ! ॥११२४॥

कोसमुं कोसमुं मिरंडु कोसमुं ।

कोस नान्गेट्टु मुन्नागि रेट्टु माय् ॥

कोसमोर् पत्तोडे लोंडु मुम्मविर् ।

कोसमो रारुपोय् कोई ठैदिनार् ॥११२५॥

अर्थ—उस समवसरण की दो कोस प्रमाण प्रासाद भूमि है । दो कोस विस्तार से युक्त खातिका भूमि है । चार कोस विस्तार वाली बलिभूमि है । आठ कोस विस्तार वाली उद्यान भूमि है । बारह कोस विस्तार वाली ध्वजा भूमि है । सोलह कोस वाली गृहांगण भूमि है । और महान विशाल वीथियां हैं । इस प्रकार समवसरण भूमि का उल्लंघन कर वे दोनों मेरु और मंदर कुमार भीतर रहने वाले नील नाम के मंदिर में पहुँच गये ॥११२५॥

कार्मुंग मुंडु मे लुंडु पत्तोडेळ् ।

कार्मुंग कुरेद मुम्मविलि नोकमुं ॥

कार्मुंग मीरायिर मुंडु माय पित् ।

मरियमा लुयर्द न निळकळववे ॥११२६॥

अर्थ—उस समवसरण में रहने वाली सात भूमि एक से एक बढ़कर ऊँची है । बाहर से अंदर आते समय उदयतर वेदी दो हजार दस धनुष ऊँची है । प्रीतंकर वेदी चार हजार धनुष ऊँची है । और तीसरी कल्याण कारक नाम की वेदी छह हजार धनुष ऊँची है । ॥११२६॥

वार मळि मुळं मावर् नडंगकुं ।

कमिळि कवळिक्कोडि ईटमुस् ॥

सेरविन् मद्रु सुरेत्तनन् सुंदर ।

मौरिनन् मदि यस्सिनै योदुमे ॥११२७॥

अर्थ—उनमें नर्तन करने वाली देवाङ्गनाओं की नाट्यशाखाएँ बनी हुई हैं । वहाँ पर रहने वाली ध्वजा पताकाओं के स्थानों के संबंध में विवेचन किया जा चुका है । अब अर्हत केवली भगवान के समवसरण में विराजमान लक्ष्मी मंडप का वर्णन करूंगा ॥११२७॥

मकर बन् कोडियबन् द्रुन्ने वेड्वन् ।  
नगरमुं तनदिड मागनाटि योन् ॥  
पुगररु पोन्नेयिळाम् पुट्टामरं ।  
शिगरमाम् तिरु निळि यमदि शेप्पुवाम् ॥११२८॥

अर्थ—मकरध्वज नाम के कामदेव को जीता हुआ जो स्थान है वह स्थान देवों के द्वारा निर्मित है। उस स्थान के विषय में जो स्वर्ग के कमलों से बनाया है उसके सम्बन्ध में विवेचन करूंगा ॥११२८॥

वेवर्, कोन टिसै दिशै कंडु सोप्पिय ।  
सूबुलग अरसर, गळादि सूदुरं ॥  
मेविय विवनें यात विळंब लुट्टु ।  
नावलर्, नगुवदीर्, वाइ लागुमे ॥११२९॥

अर्थ—देवेंद्र के द्वारा एक २ दिशा में जो इस प्रकार की रचना की गई है; इसके बारे में तीन लोक के नाथ जिनेंद्र भगवान के रहने वाले श्री निलय का वर्णन किया है। वे इसका वर्णन करने में अशक्य है। फिर भी अल्प बुद्धि के अनुसार वर्णन किया है। ज्ञानी लोग देखकर इसकी हास्य न करके इसमें जो रहने वाले विषय हैं उनको ग्रहण करें ॥११२९॥

इव्विड मिव्वल्ल मागि नंडुंनि ।  
लव्विड मव्वल्लवागि तौंडुडु ॥  
मिव्वड दिव्विड मळगि देंडुडि ।  
नव्विड तौव्विड मळगि दामे ॥११३०॥

अर्थ—उस सम्बन्ध में जाकर उस मकरध्वज नाम के कामदेव को जीतने वाले स्थान को देखकर प्रशंसा करते हुए आगे एक दूसरी भूमि में पहुँच गये, जो कि इससे भी अधिक सुन्दर थी ॥११३०॥

उच्चमे नीच माय् नीच मुच्च माय् ।  
इच्चेया लोरुव नुक् कियलु मारु पो ॥  
लुच्चने नीचमाय् नीच मुच्चमा ।  
इच्चे इन् पडियिना लेंगुप् तौंडु मे ॥११३१॥

अर्थ—उस मणिमय भूमि की चमक से उस भूमि का ऊँचा नीचा सम विषमपन मालूम नहीं पड़ता था। एक मनुष्य के अंदर जिस प्रकार उसकी इच्छा कमती बढ़ती हो जाती है, उसी प्रकार उस भूमि की ऊँचाई नीचाई मालूम नहीं होती थी ॥११३१॥

घोचनं मूङ्गु नरं यगङ्गु दोगिय ।  
 दोचनं नांगुमेर् कोश मेंदु कोळ् ॥  
 माशिला पोन्मरिण पत्ति रेद्विना ।  
 लाशं पोर् परं विल्ल वयवत्तवां ॥११३२॥

अर्थ—उसके मध्य में रहने वाला श्री निलय चौदह कोस विस्तार वाला है । उसका उत्सेध चार भोजन पांच कोस है और वह अत्यन्त मुन्दर रत्नों से निर्मित किया गया है ।

॥११३२॥

तलंदन मेर् शगधि कन् मूङ्गु तम्मिसं ।  
 इलंगु पट्टिग्यु मे तूरु विरकळे ॥  
 विलगं कङ्गु यरं वन वेरु वेरळि ।  
 मलर्दु विर् पयिङ्गु वज्जिर मयंगळं ॥११३३॥

अर्थ—चौदह कोस चौड़ाई ऐसी भूमि के ऊपर तीन जगती है । वह एक के ऊपर एक है ऐसे क्रम से है । वे जगती एक से एक बढ़कर पांच धनुष विशाल है । और यथा योग्य उत्सेध वाली होकर वज्र और रत्नों की किरणों से प्रकाशमान होती है ॥११३३॥

मार बळ वुयर्द पोन् वरंडगत्तिन् मेर् ।  
 कानुगं शोगधि इन् कवलि कट् किडे ॥  
 पार विर् पत्तिडे कूडष् कोटग ।  
 नोर्म यार् ट्नुमुप्पत्ति रट्टि नीडवे ॥११३४॥

अर्थ—उस जगती का स्थल मनुष्य के हृदय के प्रमाण है । और वहां एक धनुष का बीच में अंतर छोड़कर मंडप है । दस धनुष को छोड़कर राजमहल के भवन एक-एक धनुष के अन्तर से छोटे १ घर लोगों के बैठने के लिये बनाये हैं । वे साठ धनुष के अन्तर से हैं ॥११३४॥

तलमिरंडि धट्टिन् वाय्दल् कावला ।  
 निलय मंतराळत्तु निङ्गु वेंगणु ॥  
 तलयोळु तूरु मूर् शगविन् मूर् शगविन् मूर् ।  
 निरं इरडेळुवुवु नार्पत्तेट्टुमां ॥११३५॥

अर्थ—उस जगती स्थल के मंडप के ऊपर दो कुंभ हैं । पहली जगती के मंडप पर रहने वाले सात सौ बहत्तर घर हैं । दूसरी जगती के मंडप पर सात सौ चालीस घर हैं और तीसरी जगती के मंडप पर सात सौ आठ घर हैं ॥११३५॥

कूडत्ति नेसवे कोटगं कोडि ।  
 पोडत्ति निलुवत्तेळाइरंकळि ॥

तुडु मूडु तूद्वेषसोडु माय् ।  
नीडुदु मुबलवाम् शगदि निडुवे ॥११३६॥

अर्थ—इस प्रकार पहली जगती के मंडप के चारों ओर वरण्डक ध्वजाएं हैं । ये ध्वजाएं संख्या में सत्तर हजार तीन सौ इक्यासी हैं । ११३६॥

येळवत्तु नान्गै याधिरत्तु मारिय ।  
वुळुकुदु बिरंडु तूदु येलुवत्तंबुवु ॥  
मिलुत्तोरायिर तंबत्तारु माम् ।  
पलुवदु शगदिमेल् मेर्पदागे यामे ॥११३७॥

अर्थ—दूसरी जगती के मंडप के ऊपर चौहत्तर हजार दो सौ उन्नासी वरण्डक ध्वजाएं हैं । तीसरी जगती के मंडप पर सत्तर हजार छप्पन ध्वजाएं हैं ॥११३७॥

इरंडु तूद्रेलुव तेला इरत्तोडु ।  
किरंड तोळ्ळाइर तिरुवदा मुवर् ॥  
किरंड तूदुवत्ताइर तोडु ।  
निरंब नातूरु कन्नडु नडवु निडुवे ॥११३८॥

अर्थ—वहां रहने वाले घरों के ऊपर दो लाख सत्तर हजार अस्सी ध्वजाएं हैं । कुछ दूसरे मकानों पर दो लाख छियासठ हजार चार सौ ध्वजाएं हैं ॥११३८॥

सुन्ने एट्टेटु नांगेदिरंडिडे ।  
सोन्ने तानत्तिन् मूडावदिन् ट्रोगे ॥  
इन्न कूडत्त कोटगं तनमिशं ।  
सोन्न सोन्न वे येंगम् किरट्टि ये ॥११३९॥

अर्थ—तीसरी जगती मंडप पर दो लाख चौपन हजार आठ सौ अस्सी ध्वजाएं हैं । इस प्रकार वहां की ध्वजाओं का वर्णन किया गया है ॥११३९॥

पट्टि कंतलत्तिन् मेर् पेंबोर् कोइलि ।  
नेट्टु लातिशं मुगत्तिरुंद मंडव ॥  
तुट्टोलि तिरंडु कावद मोडो कमुं ।  
विट्टोलि तुळुव वेन् शुडरि निडुवे ॥११४०॥  
मकर वाय् मेडपत्तरेंय वायनार् ।  
शिगर वाय् जिनकरं शिवन् शै मूर्तिगळ् ॥



पगरोना तन परिवारमं तन्नोडु ।

पुगरिळा वानंदम् पोडुं तोडुं मे ॥११४१॥

अर्थ—ऊपर कही हुई ध्वजाएँ बीच में रहने वाले अर्हत भगवान के चारों ओर हैं । त्रिमेखला जगती के ऊपर रहने वाले मकान तथा ध्वजाएँ सूर्य के प्रकाश के समान प्रतिभासित होती हैं । वह मण्डप एक कोस ऊँचा है । उस मंडप में रहने वाले स्थान २ के चारों दिशाओं को छोड़कर उसमें रहने वाले चारों द्वारों से युक्त जो जिन चैत्यालय हैं उनके कौनों में छह चैत्यालय हैं । एक २ चैत्यालय के मध्य भाग में रहने वाले अनेक चैत्यालय और हैं । उनका वर्णन करना साध्य नहीं, ऐसे भगवान के प्रतिबिम्ब प्रातिहार्यों सहित हैं । वे काच के समान चमकदार देखने में प्रतीत होते हैं ॥११४०॥११४१॥

विल्लुमेळ दिडु मणि मिडेव मेनिय ।

नल्ल नामंगना लारु मेविन् ॥

शेल्व मुंतिन्मयु मरिवुं वेंडियु ।

नळ् गुव नाट्टिकु मुगमु नान्गवे ॥११४२॥

अर्थ—वह जिन प्रतिमा अत्यन्त प्रकाशमान चौबीस तीर्थकरों के नामों से प्रसिद्ध है । उन प्रतिमाओं के दर्शन करने वाले भव्य जीवों को संपत्ति, पराक्रम तथा ज्ञान आदि की प्राप्ति होती है । वहाँ के प्रत्येक प्रतिबिम्ब चतुर्मुखी हैं ॥११४२॥

नाव नुळ्ळुव नान् मुगं पोळु नळ् ।

वाय्द नान् कुडेमंडप नांगिनुट् ॥

आंत कुंभ मंजंगन् मैदुविल् ।

ळोडु मैबदु मोंगि यगंडुवे ॥११४३॥

अर्थ—उन चतुर्मुखी जिन बिम्ब चतुराननत्व के सामने वहाँ चार वीथी हैं । जगती तल मंडपों के चार द्वार हैं । प्रत्येक द्वार के बाहर चबूतरा है जिस पर स्वरण के कुम्भ लगे हुए हैं । इस चबूतरे का उत्सेध पांच सौ घनुष है । इसी प्रकार प्रत्येक वीथी में प्रत्येक द्वार पर चबूतरे हैं ॥११४३॥

मारि पोळ मुळेंगुव मजिन् मेळ् ।

भेरि नान्मुग शंख मिरंडुळ ॥

कारि नुन्मळि सूर्य नेर् पोनिन् ।

बारिन् वंबिळि कंडयु मागुमे ॥११४४॥

अर्थ—मेघ की गर्जना के समान अनेक प्रकार की भेरी शंख आदि बाद्य बजते रहते हैं । चबूतरे से नीचे उतरते समय बीच में एक जयघंटा है ॥११४४॥

कडिगंयं जाममं कलंद संदियु ।  
मुडिविनिर् कडं शंगगंल भंरिगे ॥  
इडियन तम्मिले मुळगि इन्नोलि ।  
पडुवदा मुप्य दोजनं परक्कुमे ॥११४५॥

अर्थ—चौबीस मिनट के बाद जयघंटा बजता है । तीसरी घड़ी में शंख बजता है । मध्याह्न में बारह बजे जयघंटा बजता है । इस प्रकार तीन प्रकार से वाद्य ध्वनि होती रहती है । इन वाद्यों के शब्दों की ध्वनि तीन योजन तक सुनाई पडती है ॥११४५॥

पेरुमलर मारिय मेरि यादिइन् ।  
टिरु निलै वाय्दल्ग लिह मरुंगिसै ॥  
मरुविय करुवि गलैदि कंउप्य ।  
वशसर्ग डेविमार् पाडलागुमे ॥११४६॥

अर्थ—यह बजने वाले वाद्य और देवों के द्वारा पुष्पों की वृष्टि से युक्त चैत्यालयों क दोनों ओर गंधर्व स्त्रियां वीणा आदि अनेक वाद्यों के संगीत करने के मंडप हैं ॥११४६॥

मंगल निरैयवे वाय्दल् तोरण ।  
पंदिई निरैयवे पडिमुडि वेला ॥  
मिगंला वाय्दल् काव लौवलिर् ।  
टूगि नार् सोद मीशान् लादरे ॥११४७॥

अर्थ—जगतीतल नाम की भूमि के चारों ओर अष्ट मंगल द्रव्य क्रम रूप से पंक्ति-वार स्थित है । द्वार में मकर तोरण से युक्त पंक्ति है । इस द्वार पर सौषर्म ईशान स्वर्ग के देव रहते हैं ॥११४७॥

इरवि येन्नरिय वाम् परिधि इन्निडं ।  
मरुविय देनमणि योलिसै मंडल ॥  
सुरुवरु पिबळवा योलियिर् ट्रोंड्रिडुं ।  
तिरु निलै येम्मेला तिरु निलयमे ॥११४८॥

अर्थ—असंख्यात सूर्य इकट्ठे होकर उनका प्रकाश होने के समान उन श्री निलयों में रहने वाले रत्नों का प्रकाश ऐसा होता है कि उनकी उपमा देने को अन्य कोई वस्तु नहीं है ॥११४८॥

पलनेरि योलिमनि पईडु पंडियु ।  
मिलदैयं बल्लियु मिरुंब कूडमूं ॥

बिलं यत्गुण् मडनत्तार् मेगलं गलु ।  
मुलं गलुं पुन्मय कुरुक्कु मुट्टु मे ॥११४६॥

अर्थ—इस जगतीतल के चारों ओर अनेक प्रकार के रत्नों से युक्त तथा नाना प्रकार के चित्रों से निर्माण किये हुए उन लता आदि चित्रकला को देखते ही ऐसा प्रतीत होता है मानों गणिका स्त्री मेखला भाभूषण धारण किये हुए हो ॥११४६॥

तुवर पशं नान्गिलार् किरं वन् टोनगर् ।  
सुवतले नांगिरु काद मोंगिमा ॥  
तवर् किरं नगर् सुवरलगलं पादमे ।  
सुवप्प मूंडो जर्न विरिदगड्दे ॥११५०॥

अर्थ—चार प्रकार की कषायों से रहित भ्रम्य जीवों के नाथ कहलाने वाले जिनेश्वर के समवसरण में लक्ष्मीवर मंडप की जो वेदी है उसका उत्सेध चार कोस का है । और उन चार भागों में एक भाग चौड़ा है । वह तीन योजन विस्तार वाला है ॥११५०॥

तलंगलि नुयर मामरुवत्तु नांगुविरु ।  
विलक्कुड नरुपत्तु नांगु वील्दंब ॥  
निलंगन् मुओट्टे लुव तोरं डु कील् ।  
तलंदन् मंडलगन् भूवाइ रंगळाम् ॥११५१॥

अर्थ—पिछली कही हुई वेदी पर उस गोपुर का उत्सेध चौसठ धनुष के आगे वह मेखला ऊँचाई तथा चौड़ाई में रहती है । उस मेखला के ऊपर एक के ऊपर एक तीन २ ऐसे पच्चीस मंदिर हैं । नीचे छोटी मेखलाओं पर छोटे २ चबूतरे हैं ॥११५१॥

आयवित्तलं बोहं मंडल मेट्टिनं ।  
माय् चंडोळि विचं वेट्टिन मेर् ॥  
ट्टुय मंडलत्तोर्ग इलक्क मैदिमो ।  
डाइर् मरुवत्तु नांगु मामे ॥११५२॥

अर्थ—इस प्रकार प्रथम स्थल में उससे ऊपर कम होते २ आगे जाकर तीन सी पिचहत्तर इन मंडिलों में आठ ही चबूतरें रह जाते हैं । ये सभी मिलकर दो लाख चौसठ होते हैं ॥११५२॥

कडित्तडत्तळ वुळ्ळ वरंडगम् ।  
पडियि नाट्टळि नान्गिर् परंदन ॥

कोडि निरंदन कोडि निलंगळे ।

मडनल्लार कले पोल थळेंववे ॥११५३॥

अर्थ—यहां तक कहे हुए निलयों में वरणक छवजाए चार धनुष छोडकर चारों ओर होती हैं । उनको यदि लक्ष्य पूर्वक देखा जाय तो स्त्रियों को पूर्णतया आभरण पहने हुए के समान प्रतीत होती हैं ॥११५३॥

देसुलां तिरुनिलं येत्तिन् मेनिलं ।

कोस नीडगंडु वज्जिर तडक्क माय ॥

मासिला मरिणगळान् मलिद तन् मिशं ।

कोश नान् गुयरंदु पुर् कौबु मागुमे ॥११५४॥

अर्थ—उस प्रकाशमान श्री निलय गोपुर के तीन सौ पिचहत्तर मंदिरों में एक कोस लवा उस पर रत्नों से निर्मित चार कोस का पूर्ण कलश है ॥११५४॥

इरवि वंदुदय मेरि इरुंदु पोलु मिद ।

तिरु निलं येत्तिनुच्चि सेंबोर शेंवर् कुंबत्तम शेन्नि ॥

मरुविय कमलत्तुद शम्मा मरिण पाद मोंगि ।

विरगिनार् कोशं पादं विरिंदु कीळ् सुरंगिट्टाम् मेला ॥११५५॥

अर्थ—उदयाचल पर्वत पर सूर्य के उदय होने के समान स्वर्ण से निर्मित शिखरों के कमलों में पद्म रागमणि रत्न एक कोस उत्सेध होकर एक कोस का चौथा हिस्सा अर्थात् एक पात्र कोस हिस्से के समान विशाल है ॥११५५॥

इत्तलतगत्ति नुळ्ळा लिन मरिण कुमुद वीट्टिन् ।

वैत्त पोर् कमलं सूळ्ळु कावद माय तन् पान् ॥

मुत्त मालेगळ् पोय् गंध कुडियिने मुळ्ळु सूळ्ळ्द ।

तत्तु नीर गंगे कूड तन्मिशं शंड्दंडे ॥११५६॥

अर्थ—इस प्रकार तीन सौ पिचहत्तर मंदिरों से युक्त ऐसे गोपुर में नीचे रहनेवाले मंडप में बारह कोस का महान विशाल तथा नीचे रहने वाले मंडप के मध्य भाग में कुमुद पुष्पों के समान स्वर्णमयी कमल एक कोस चौड़ाई से युक्त वृत्ताकार है । उस कमल पुष्प पर मोतियों के हार लटके हुए हैं । यदि लक्ष्यपूर्वक उसको देखा जाय तो जैसे गंगा नदी का पानी ऊपर से नीचे गिर रहा हो उसी प्रकार प्रतीत होता है ॥११५६॥

परुमरिण कूड मोंट्टिन् पक्कत्ति निरडं वट्टे ।

मरुविय विरडुं लूवै मंडलम् मट्टिदन् कट् ॥

पेरिय वेन्नान्गु मेट्टुं विल्लुयर्दगडुं तन् ट्टन् ।  
नरैयत्तन् नरैय निडु वंदर नुगम दामे ॥११५७॥

अर्थ—पीछे कहे हुए श्री निलय नाम के गोपुर के दो चबूतरे हैं। एक-एक चबूतरे पर रत्नों से निर्मित एक महल है। उस महल की बगल में गोल स्तूप है। उस स्तूप की बगल में छोटे बड़े दो स्तूप और हैं। उस महल के मध्य भाग का उत्सेध बत्तीस धनुष का है, और बड़ा स्तूप सोलह धनुष का है। उसकी चौड़ाई चार धनुष है। छोटा स्तूप आठ धनुष उत्सेध वाला और चौड़ाई में दो धनुष प्रमाण है, और मध्यभाग का स्थान खाली है ॥११५७॥

निलगंनान् किरड्डोड्रागि निडु माकूडभागि ।  
इलंगु मंडलं कडंब मिडै नुग मिरडं वागुं ॥  
मलिदु वेन् कोडिग निडुं मंडल मुंडि त्रुहं ।  
विलंगम् मेलेलुदवन्न वकुलात्तिनार् पत्तु नान्गां ॥११५८॥

अर्थ—उस चबूतरे के मध्यभाग के महल चार मंजिल के हैं। उस महल की बगल बगल में स्तूपों से ऊपर तक दो चबूतरों के समान उसका उत्सेध है। उस चबूतरे के बीच में खाली भूमि है जिसका उत्सेध दो धनुष है। उस चबूतरे की बगल में पर्वत पर उड़ने वाले हंस पक्षी के समान एक सौ चार श्वेत ध्वजाएं हैं ॥११५८॥

ईरट्टाइरमु मीरारिलक्कमुं कोडियेट्टुं ।  
वारत्तं येट्टार् कोडुन् मंडल कोडिरनीटम् ॥  
तेरट्टार् कोडुर् कीळत्तळत्तिन् मेल् वरंडगत्त ।  
वोरिट्टिन पादि योन्बा नेट्टुम् सेळ् दानत्ताळे ॥११५९॥

अर्थ—मोहनीय कर्म को सम्पूर्ण नाश किये हुए श्री जिनेंद्र भगवान के गोपुर में रहने वाले चबूतरे ध्वजाओं से युक्त है। वे ध्वजाएं आठ करोड़ बारह लाख तेरह हजार हैं। यह गोपुर कैसा है? मानों बड़े-बड़े रथों का निर्माण करके खड़ा किया गया है। नीचे के भाग में पिचहत्तर हजार आठ सौ चौरासी वरण्डक ध्वजाएं हैं ॥११५९॥

इरंडिनो डिरंडु त्रुह तलंबोरुं कुरेंडु सेप्पि ।  
इरंडिनो विरंडु त्रुहां तोगै योरु कोडि नार्पत्तु ॥  
तिरंडिलक्कं कनार् पत्तु तोराईर् मिवट्टि नोडु ।  
वरंडग पदागै तूट्टु नार्पत्तु नांगुमामे ॥११६०॥

अर्थ—अभी तक कहे हुए वरण्डक ध्वजा से ऊपर २ एक २ मंजिल में दो सौ दो कम होते २ ऊपर की मंजिल में तीन सौ पिचहत्तर ध्वजाएं हैं। इस तरह सभी ध्वजाएं मिलकर एक करोड़ बियालीस लाख इकतालीस हजार एक सौ चालीस हैं ॥११६०॥

नरंडगं मंडलत्तिन् वंदवक्कोडिडन् कुप्पं ।  
 इरंडयुं तोगुप्प कोइर् कोडिपिन दीटमांगु ॥  
 तिरंडु वंदिल्लियुं देवर् सित्तिर कोडन् काना ।  
 मरंडु निन्डु रैपर वंयत्तिलदो वडवि बेंडु ॥११६१॥

अर्थ—इस श्रीनिलय में रहने वाली तथा चबूतरे पर लगी हुई वरण्डक ध्वजाओं को वहां के देव देखकर अत्यन्त आनन्दित होते हैं। और यह कहते हैं कि ऐसी ध्वजाएं जगत में और कहीं नहीं हैं ॥११६१॥

देवरै वियप्पुरुक्कं सित्तिर कूंड शंधार् ।  
 कावद मिरंडु येव वाय्दल् गळगंडु काव ।  
 मूबुलगत्ति नल्ल मणि मुत्तिन् वंरत्ताय् ।  
 कावलर् मुडिगळ् पोलुं कुडुमिय कदव मेल्लां ॥११६२॥

अर्थ—उस विचित्र कूट नाम से प्रसिद्ध मंडप के अंदर बारह कोस का विस्तीर्ण तथा तीन सौ पिचहत्तर मंजिल से युक्त वह गोपुर है। उस गोपुर के द्वार का चौबट म्वर्गमयी है जो रत्नों से मोतियों से निर्मित है। वह एक कोस का विशाल होकर चक्रवर्ती के मुकुट के समान दिखता है ॥११६२॥

कदवु काल् कंदप्पट्टि कंदुगळ् वंरं नाना ।  
 विदमणि पडंडु पत्ति यायिर तगतु पेंबो ॥  
 निलत्तं वल्लिगळिनुळ्ळा लिहंद पत्तिरि कन् मुत्तिन् ।  
 कदलि कै कंबिनं पुर् कमलंगळ् सेरिद बट्टुळ् ॥११६३॥

अर्थ—उस गोपुर के दरवाजे के किवाड़ों के बीच के अडवे (चौखटे) (दो भागलों के बीच का फ्रेम) रत्नों से पंक्ति युक्त खिले हुए निर्माण किये हुए थे। इस प्रकार यह एक-एक हजार है। उनके बीच में सोने की लताएं तथा भिन्न २ छड़ें पट्टी से जकड़े हुए हैं। पुनः सोने के कमलों के पुष्पों से अत्यन्त सुशोभित किया है ॥११६३॥

मरुविय मरगदत्तिन् कोट्टं गळ् वंडुमट्टं ।  
 परुगुव पोलुं पेंबोर् कि पोरि इरुंद पांगिर् ॥  
 ट्टिरु मुवन मंगलंगट् सेरिवन शेबंगं मालं ।  
 यरमु मनंगन् विल्लुमाइडे परंद मादो ॥११६४॥

अर्थ—उस कमल में हरे २ रत्न हैं। वे रत्न दिखने में ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे कमल के बीच में रहने वाले भ्रमर उसका रसास्वादन ले रहे हैं। उस द्वार में मंगलमई तथा

मुशोभित अनेक प्रकार के सोने से निर्माण किये हुए चित्र हैं ॥११६४॥

पुल्लगमुं पिरयुं कवि नीलत्तिन् शशियु पोद्दा ।  
 रल्लगमु नुदलु नल्लार्, वदनमु मनय मोट्टिन् ॥  
 द्रळ्य विल्लताम मुत्तिन् द्रासंगळ् वैरत्ताम् ।  
 मिळवेइन् विरि पोद्दाम मिन्मिनिताम् ॥११६५॥  
 वंबु कोडेळुदुं कुळुंद मरिण योळि परंद वायद ।  
 रंबोडे इरुंदु यरंद मरिणय पोडत्तुच्चि ॥  
 कुंबंगळिरुंद वट्टिर् द्रू वंगळ् कोटपडादे ।  
 येवं रत्तेळुंदु दिक्कं परिम माकु निडुं ॥११६६॥

अर्थ—उस द्वार के बिलों के नीचे व ऊपर चंद्रमा के समान हरे रत्नों से जड़ाई की गई है। वह दीखने में ऐसा मुशोभित होता है जैसे स्त्री के नीले रंग के केश ही हों। वहां मोती तथा वज्र के हार टंगे हुए प्रातःकाल के सूर्योदय के समय पीले रंग के समान प्रतीत होते हैं। उन द्वारों पर लगे हुए रत्न आदि का प्रकाश उस समवसरण के बीच में बड़ा सुंदर चमकदार प्रतीत होता है। उसमें रहने वाले स्वर्ण की पीठ पर धूपघट हैं। उनमें सदैव धूप जलती है उसकी सुगन्ध चारों ओर फैली रहती है ॥११६५॥११६६॥

वोदिगळगंडु कादं वेदिगं इरंड वागु ।  
 मोदिय कुंभतिप्पा लोंबडु तूबे निकुं ॥  
 नीदिया टोरणं तवट्टि रै पत्तवत्तु ट्टिडे निडु वोप्पार् ।  
 पोदोडु बलिगळेंडुम् पोन् शे पीडंगळामे ॥११६७॥

अर्थ—उस द्वार के अंदर की महावीथी की चौड़ाई एक कोस है। उस महावीथी के कोनों को देखने जाने के लिये दो मार्ग हैं। उस द्वार पर रहने वाले अस्सी धूपघट हैं। उसमें चारों दिशाओं में पूजा करने योग्य चार बलिपीठ हैं ॥११६७॥

कोशमु वेदिर् गंद कुडिनं शूळ वंदु ।  
 मासिस्ता पडिग पित्ति मार्बळ उयरंदि रिट्टा ॥  
 लासे पोनिरे विलाद निलंगळ् पन्निरं रंड वागि ।  
 ईशन् भागणंग लीरारिक्ककै तानिक्कुमारै ॥११६८॥

अर्थ—पंद्रह कोस से प्रदक्षिणा देकर घूम करके आने पर कलंक रहित उस भूमि में एक कोट है। उस कोट में बारह सभाएं हैं जिनमें इतनी जगह है कि कितने ही भव्य प्राणी वहां आकर बैठें वह स्थान कम नहीं पडता ॥११६८॥

विक्रिक्कर मंकन् मूङ्गाय् विरियि वीरि यन् ट्रन् कोइर् ।  
चक्कर पीडं काद मिरंडगंङ्गु यर्वु कोमान् ॥  
ट्रक्कदन् नळवदाइ पोन्मणि मय मागि नाना ।  
पक्कम् मेर लागुं पडि पवि नारदामे ॥११६६॥

अर्थ—अनन्त सुखोत्सव, अनन्त लघुत्व व अनन्त विचित्र ऐसे गुराओं को प्राप्त हुए अनन्त वीर्य के धारक अर्हंत भगवान के रहने के स्थान में चर्म चक्र पीठिका है। उस पीठिका का बिस्तार दो कोस का है। और जितना भगवान का आकार है उतना ही इस पीठिका का आकार है ॥११६६॥

उरं शंब पीड तुंङ्गर् वलं क्रोन् मंडल मोर् कोस ।  
तरं नल्ल वरंड कत्त तगत्तळव देयाय् ॥  
विरं मलर् मारि मेला मुगत्तवाय् विळुंद पोदिन् ।  
ट्रयिन् वगत्तु नान्गु चडुभुग सूत मामे ॥११७०॥

अर्थ—अर्हंत भगवान के विराजने के स्थान पर जहां बलिपीठ है वह एक कोस का है। वहां वरण्डक नाम की छवजाएँ महान सुन्दर हैं। वहां देवों द्वारा पुष्प वृष्टि के स्थान में चारों दिशाओं में चार यज्ञ सडे किये हैं ॥११७०॥

चक्करं चावपोल तनुविळ्ळं युमिळ चेध्नि ।  
मिक्कमा मनिसे यारं विळंगु माइरत्तदागि ॥  
विककुसाम् पीळुडु काव नान्गदाय् शेरिविरुदांल ।  
विर्कन् मूङ्गाय् रप्पेराळि तान् विळंगु निड्रे ॥११७१॥

अर्थ—देवेंद्र के धनुष के समान चतुर्मुख ऐसे भूतों के शरीर अत्यन्त चमकदार हैं। उनके मस्तक की रत्नों से सजाया गया है। वह सजा हुआ मस्तक तथा किरीट चमकता रहता है। उसका प्रकाश चार कोस तक पडता है। समवसरण का जब चलना बन्द हो जाता है तब तीन कोस तक प्रकाश पडता है ॥११७१॥

मुन्नं पीडत्तिर् पादं कुरंदं कंङ्गु यंदं वारे ।  
येसमु महलु मिला बोक्कोडि पीडं तन्मेर् ॥  
सोन्नवा ह्यरंविट् तेंदु कोशमाम् तलत्तिन् मोडु ।  
मन्निय गदं कुडियिन् मंडपमं कादमामे ॥११७२॥

अर्थ—पहले कहे हुए प्रथम बलिपीठ की एक कोस की चौड़ाई है। उतना ही उत्सेध है। वहां की लगी हुई छवजाओं में हंस, मयूर आदि पक्षियों के चिन्ह अंकित हैं। यह छवजाएँ



बलिपीठ पर हैं। उस ध्वजा पीठ पर एक कोस चौड़ा गंध कुटी मंडप है। यह सभी मिलकर समवसरण में गंध कुटी का स्थान एक कोस विस्तार वाला है ॥११७२॥

धान् पळिगालि यंडु नालेंदु विल्लयर्द ।  
नान्गु तंबंगळेंद नवमणि मालें बाईर् ॥  
शूळदं तनडुवेन् मुत्तमालें गळ् पत्तु विल्लु ।  
ताळं दु शम्मुगिलि निडु सु तारें वंदिल्लिव पोंडु ॥११७३॥

अर्थ—उस गंधकुटी का मंडप स्फटिक मणि से युक्त है और भगवान की ऊंचाई से बीस धनुष ऊंचा है। उस समवसरण के चारों कोनों में चार स्तंभ हैं। मंडप में ऊपर से नीचे तक रत्नों के हार लटके हुए हैं। बीच में एक मोतियों का हार ऊपर से नीचे दो धनुष प्रमाण लटका हुआ है। यदि दृष्टि डालकर देखा जाय तो वह ऐसा प्रतीत होता है कि मानो आकाश से पानी बरस रहा हो ॥११७३॥

मूंडु विल्ल परंद गंडु मुळुमणि पीटं शीय ।  
मेंडु मे लेळुव पोंडु विसंदन वेंव पट्टु ॥  
तांडु पोन्नयु मसु पोन् धीसियु तुन् दुगिलु मेवि ।  
तोंडु मंडपत्ति नुळ्ळार् सुळरु मिळ्ळिरवि पोंडु ॥११७४॥

अर्थ—इस मंडप का मध्य भाग तीन भाग उत्सेध तथा यथा योग्य इसका विस्तार है। रत्नों द्वारा निर्मित पीठ है। वह पीठ ऐसी लगती है मानों सिंह को उठाकर ले जा रहा हो। उस सिंह के समान पीठ पर स्वर्णमयी बिछोना, रेशमी पट वस्त्र बिछा हुआ है। उस पर चार अंगुन अधर जिनेंद्र भगवान विराजमान हैं। वे सूर्य के समान प्रकाशमान होते हैं। ॥११७४॥

विल्लरै यगंडु यर्द विल्लु मणि पीड मेय ।  
वेळ्ळै निन् टिरु मरंगु मियक्क चामरै ईयक्क ॥  
नल्लेळिर् पीट मेवि नाग विदिररु नाना ।  
विल्लुमिळ् दिल्गु तोन् मेल् विल्लुं चामरयराणार् ॥११७५॥

अर्थ—उन अर्हत भगवान के विराजमान रहने को पीठ आवा धनुष चौड़ी है। उस के चारों ओर तथा भगवान के आजू बाजू यक्ष देव व भवनवासी देव चंवर डोरते हैं ॥११७५॥

तामरें तडत्तेळुंडु पोन्मलें तन्ने चूळ्द ।  
कामरु कलि येन्न कुळ्ळत्ति निन् नांगि लाद ॥  
चामरें तोगुवि नान्गु पत्तु त्तराइर तान् ।  
शोमरें वेळ्ळु मूडु कुडें इनान् बडैय वामे ॥११७६॥

अर्थ—पानी से भरे हुए कमल के तालाब को मानो पक्षी मेरु पर्वत को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार जितेन्द्र भगवान पर दोरे जाने वाले धवल चंदर चालीस लाख थे जो चंद्रमा को किरण के समान दोखते थे। मानों चंद्रमा को किरणों को जीत रहे हो, ऐसे वे श्वेत चंदर दोख रहे थे ॥११७६॥

करत्ति नालङ्गि वानोर् करत्ति नार् कडेवंडि ।  
युरेत्त मंडवत्ति नुंब लुरगोरु मूङ्गु पोल् ॥  
निरैत्त मुधिलत्तवा येन्नेदु विल्लोंगि योक्क ।  
तरै त्तलं कीळवगि यरैयरे मेल वागि ॥११७७॥

अर्थ—इस समयसरण की रचना देवों के अतिरिक्त किसी मनुष्य के द्वारा नहीं हो सकती है। जितेन्द्र भगवान की गंध कुटी के मंडप के ऊपर जिस प्रकार उर्ध्व लोक, मध्यलोक और अधोलोक की रचना होती है, उसी प्रकार गंध कुटी की रचना होती है। यह गंध कुटी तीन मंजिल की है। नीचे की मेखला की पीठ का उत्सेध बीस धनुष है। दूसरे नंबर की मेखला की पीठ का उत्सेध दस धनुष ऊंचा तथा ऊपर का उत्सेध भी दस धनुष ही ऊंचा है ॥११७७॥

पडिगळिन् पंढि वाय्दल् पर मन दुहवमंगम् ।  
कुडैय मुधिलंग न मुम्मं युलगिनु किरै मै योदि ॥  
इडं इहंदिरे वन् कोइर् किरै मै कोडिहंद दुळ्ळार् ।  
कडैला वरिवन् गंद कुडिय माळिगै इदामे ॥११७८॥

अर्थ—भगवान के गुणों को दूसरा भव्य जन जैसे समझा रहा हो इस भांति उस मंडप का निर्माण किया गया था। उस केवलो भगवान की गंध कुटी इस प्रकार की है।  
॥११७८॥

कुडत्तिशै कोडिनिरै पीडत्तिन् मिशं ।  
योडिनिलाय् पिडि विल्लरुव वोंगि मेर् ॥  
कडियुला मलर् मिडै कवडु केवमा ।  
कुडियिने सोळ्दु कुलावि निङ्गवे ॥११७९॥

अर्थ—ध्वजाओं से परिपूर्ण ध्वजापीठ के पच्छिम भाग में अशोक नाम का वृक्ष है। वह वृक्ष साठ धनुष ऊंचा है। उसकी शाखाएँ पुष्प तथा फलों से भरी हुई हैं। वह अशोक वृक्ष भगवान के चारों ओर से घिरा हुआ है ॥११७९॥

मुत्तमा माणि मुदन् मालै ताळ्दु पून् ।  
दोत्तु मेर् द्रदेवन् सुखु वंडु तेन् ॥  
द्रत्तिइन् पिरस मुडेळ्ळव तम्मोलि ।  
मौइत्तलार् कडन् मुगिन् मुळक्क मुगिन् मुक्कुमे ॥११८०॥

अर्थ—उस अशोक वृक्ष की शाखाओं में मोती, रत्न तथा पुष्पों के हार लटक रहे हैं और उस वृक्ष के फूल खिले हुए हैं। वे पुष्प अत्यन्त सुगन्धित हैं। उस सुगन्ध के मधुर रस का रसास्वादन करने के लिए भ्रमर अपनी इच्छानुसार रसास्वादन करके उड़ जाते थे, और उड़ते समय उनके भींकार शब्द कानों में ऐसे मनोहर लगते थे जैसे कि मेघ गरज रहा हो ॥११८०॥

तरुवलि तलनल तडत्तिन् मोदला ।

विरुदुवु मलर् मलरुड मलर् दिडे ॥

मरगत मणिगळाय् मुरिगळ् वाङ्गळि ।

ररुमणि यालि यंड्र रसोग निड्रदे ॥११८१॥

अर्थ—उस वृक्ष की शाखाएं अत्यन्त बलिष्ठ हैं। उस वृक्ष से षट् ऋतुओं के फल फूल भगवान के अतिशय के प्रभाव से सदैव उत्पन्न होते हैं। उस वृक्ष के पत्ते ऐसे सुशोभित होते थे मानों हरे रत्नों की मणियां चमक रही हों ॥११८१॥

मुत्तम वाय् शेरिदन् निरैद मुम्मदि ।

यौत्तु मू बुलगिनु किरं मे योदुव ॥

पत्तिइर् कुइं ड्रु निलाइरिदु मेर् ।

शित्तिमा वेदं मुक्कवि सेर् दवे ॥११८२॥

अर्थ—उस अशोक वृक्ष के चारों ओर मोतियों के हार लटके हुए थे, मानों एक के ऊपर एक चंद्रमा ही आया हो। अर्हत भगवान के ऊपर तीन श्वेत छत्र लगे हुए हैं जो रत्नों समान देदीप्यमान होकर चमक रहे हैं ॥११८२॥

पुंडरीगत्तोडु पुनर् द चायं पोर् ।

पिडियिन् कोळ् निळर् अम्ह मूर्तिडन् ॥

मंडलम् मलरडि वनंगि पिन्दनं ।

कंडवर् पिरवि येळ् कान् निड्रदे ॥११८३॥

अर्थ—उस वृक्ष के नीचे जहां जिनेन्द्र भगवान विराजमान है, पीछे की ओर प्रभामंडल है जैसे लाल कमल सहित कान्ति को प्रकाश करता हो। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में नमस्कार करके जो भव्य जीव प्रभामंडल को देखते हैं वे अपने पहले के सात भवों को जान लेते हैं ॥११८३॥

अंदमिलु वगीयरान वानवर् ।

बुंदुभि मुत्तवकोलि तोडर् द रावळ ॥

बंदुडन् वीळ् द वानवर् पे पुमळे ।

परियुं परवयुं पिरवु मागवे ॥११८४॥

अर्थ—अर्हत भगवान के चरण कमलों को भक्ति पूर्वक नमस्कार करके आनन्दित व संतोषित हुए वे देव अपने अनेक प्रकार के वाद्यों को बजाते रहते हैं । तथा वाद्य गर्जना व पुष्प वृष्टि करते रहते हैं ॥११८४॥

मादवर्, तुरक्क मादवर्, पुरियु भादर् ।  
जोतिडर्, वान वंदरर्, भवनर्, तन् तोर्गं येन्नार् ॥  
मेदगु भवनर्, वान वंदरर्, विळंगुर्, देवर् ।  
सोदमनादि वानोर्, मन्नर्, सोल्लरि विळंगां ॥११८५॥

अर्थ—१ मणधर देव अनेक प्रकार के ऋद्धिवासी आदि महामुनि, २ कल्प वासिनी देवियां, ३ ज्योतिषी देवियां, ४ भवन वासिनी देवियां, ५ व्यंतर देवों की देवाङ्गनाएं, ६ सोषर्मा आदि कल्पवामी देव, ७ भवनवासी देव, ८ व्यंतर देव, ९ ज्योतिषी देव, १० आर्यिकाएं, ११ चक्रवर्ती राजा महाराजा तथा मनुष्य आदि, १२ सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि अनेक प्रकार के तिर्यच जीव भगवान के उपदेश सुनने वालों की इस प्रकार बारह सभाएं हैं ॥११८५॥

पन्निरुगणभुं शूळ परुदिई नडुव नुच्चि ।  
मन्नियवरुक्क नुत्तुं मंदर मुलग मूङ्गिन् ॥  
तन्नडु विरुंद दोत्तुं तारर्गं नडुवट् सोम ।  
नेन्नधु मिरुंद कोमान् द्रुमिडं कुरुगि नारे ॥११८६॥

अर्थ—ऊपर कहीं हुई बारह सभाएं प्रदक्षिणा रूप में है जिस प्रकार चंद्रमा के चारों ओर तारे अर्थात् मध्यलोक में रहने वाले मेरु पर्वत को चंद्रमा और तारे घेरे रहते हैं, उसी प्रकार तीसरी पीठ में रहने वाले गंधकुटी में विराजमान भगवान अर्हत के पास वे दोनों मेरु और मंदर राजकुमार पहुँच गये ॥११८६॥

मेरुवं शूळ थोडुं विरिगति रिरंडु पोल ।  
वूर्कोन् मंडलत्तं यूक्कुं बलं कोन् मंडलत्ति नुळ्ळान् ॥  
मारि पोन् मलर्, सोरिदुं बलं थोडुं पाण्डु पुक्कार् ।  
तोरणं कडुंद पोळ्, विर्, द्रु, रविनु किरि वन् टोंडु ॥११८७॥

अर्थ—महामेरु पर्वत को दोनों मेरु और मंदर सूर्य और चंद्रमा जैसे मेरु की प्रदक्षिणा देते हैं, उसी प्रकार दोनों पुष्प वृष्टि करते हुए प्रदक्षिणा दे रहे हैं । इस प्रकार प्रदक्षिणा देते हुए भीतर रहने वाली गंधकुटी के पास आकर स्तूपों को दस प्रकार के तोरणों को छोड़कर भीतर जाकर अर्हत भगवान के मुख का दर्शन किया ॥११८७॥

करंगळ्, मुन् कुविदं दूळ्ळ कमलंगळ्, विरिदु कन्निर् ।  
सोरिवन् परंब रोमं पुळ्ळंगं इडित्त बाय सोल् ॥

सरिवन सुरंद कादलडि मुरं युडुव लोयं व ।

विरिवन विनंगळेला मिरवि मुन् निरुळं योत्ते ॥११८८॥

अर्थ—उस भगवान के मुखकमल को देखते ही दोनों हाथों को कमलों की कली के समान झोडते ही उनके मन में अत्यन्त आनन्द उत्पन्न होता है । आनन्द होते हुए इस प्रकार उनके हृदय कमल विकसित होकर दोनों नेत्रों में आनन्दाश्रु निकल पड़ते हैं । तब उसी समय उनके शरीर में रोमांच खड़े हो गये । उनके हृदय में जो आनन्द हुआ था उस आनन्द को हम वर्णन करने में अशक्य हैं, वे दोनों कुमार आगे न बढ़कर भगवान के सामने खड़े हो गये । खड़े होते ही ऐसा प्रतीत होता था मानों दोनों सूर्य चंद्र ही आकर उपस्थित हुए हों । इस प्रकार वहाँ पर प्रकाश होने से जैसे अन्धकार नष्ट होता है, वैसे इन दोनों कुमारों के हृदय में छिपा कर्म रूपी अन्धकार नष्ट होने लगा ॥११८८॥

तुंभ मारु नेमियान काक्षि नल्लोळुक्क भाय ।

शवंधन् मुन्बु निडु धरुम चक्करत्ति नुंवरु ।।

मंदेरा नवर्गळेरि धलं कोडारु चनइन् मुट्टि ।

तुंभि पोर् पण्णिदेळुं बु थाळुत्तु बु तोडंगि नारे ॥११८९॥

अर्थ—प्रकाश से परिपूर्ण ऐसे मंडप में क्षायिकज्ञान, दर्शन, चारित्र ऐसे आत्म स्वभाव गुण को प्राप्त और उनके सामने धर्म चक्र से युक्त रहने वाले केवली भगवान के पीठ के ऊपर चढ़कर ये दोनों राजकुमार आठ प्रकार की पूजा सामग्री से भगवान की पूजा की और साष्टांग नमस्कार कर खड़े हो गये, और खड़े होकर भगवान की स्तुति करना प्रारंभ कर दिया ॥११८९॥

कामादि कडंददुवुं कवलप्पेन् नडेददुवुं कमल पोदिरु ।

पूमारि पोळिय वेळुंबरुळि यवुं पोन्नेइन् मंडलत्त सोग ॥

तेमारि मल्लरु पोळिय शीय वनेयमरंददुवुं दवर् कोमान् ।

द्रामादि येनिदु पणिदेळुं ददुवुं तत्त्व मेडंगवु वेन्न ॥११९०॥

अर्थ—वे दोनों राजकुमार इस प्रकार स्तुति करने लगे कि हे भगवन् ! हे रागद्वेष परिषहों को जीतने वाले भगवन् ! आपको मोक्ष लक्ष्मी ने वर लिया है चतुर्लिकाय देवों ने आकर पुष्पवृष्टि की । देवेंद्र ने आपके चरण कमलों के नीचे दो सौ पच्चीस स्वर्ण कमलों की रचना की है । आप उनको स्पर्श न करके चार अंगुल अंतरिक्ष ऊँचे गमन करते हैं । जैसे पक्षी दोनों पांव समेट कर चलते हैं उसी प्रकार आप भी चलते हैं । और देवेंद्र तीन प्रकार की वेदी अशोक वृक्ष, मुरपुष्प वृष्टि, दिव्यध्वनि, मिहासन, भामंडल, चामर आदि तुम्हारे अतिशय सदैव रहते हैं । जब वे रहते हैं तब देवेंद्र आकर षोडश आभरणों से सुशोभित होकर नमस्कार करने योग्य आपको नमस्कार करता है ॥११९०॥

बोर मोळिय पदिनेट्टा युलगरीय चियंथियदु मोळि कोन् मूडिर् ।  
 ट्टिरु मरुवाय् तिगळ्गिङ्गिड् तिरुमूर्ती यदनळ्गुं देव निन्वान् ॥  
 मरुवि नकुं मल्ल वकुं मोत्तिरुदुम् अडेदु वकुं वात्तेननगुं ।  
 वेरुमयमु वतिशयमु पिराणि ये मूवुलगोर् पिरा नागिडाय् ॥११६१॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपकी दिव्यध्वनि एक प्रकार होने पर भी सात सौ महाभाषा और अठारह सौ क्षुल्लक लघुभाषा में परिणत होकर इस लोक में रहने वाले जीवों को आप आपकी भाषा में समझ लेते हैं ।- मन ज्योति, काय ज्योति, वाग्ज्योति से युक्त एक हजार आठ लक्षण को प्राप्त परमौदारिक दिव्य शरीर को प्राप्त हुये हे भगवन् ! आपके पास आये हुए भव्य जीवों पर और तुम्हारे पास न आने वाले मिथ्यादृष्टि जीवों पर दोनों पर समान भाव रखते हैं । अपने पास आये हुए भव्य जीवों को उपदेश देने की शक्ति स्वभाव से रखते हैं । इसलिये आप साक्षात् हितोपदेशी हैं । सम्पूर्ण राग नष्ट होने के कारण आप पूर्ण वीतरागी हैं । सम्पूर्ण चराचर वस्तु एक साथ जानने के कारण ही आप सर्वज्ञ हैं । यह सभी अतिशय कर्मक्षय होते ही स्वभाव से प्राप्त होते हैं । इसलिये आप इस लोक में रहने वाले समस्त जीवों के स्वामी कहलाते हैं ॥११६१॥

बिलंगरसन् बलिविलाक्कि वेर् पोळिदु विमल माय् वेळिवा युन्मे ।  
 बिलंगु पीरि याथिरत्तोट्टिरुंद लंगारं नविल्लनाट्टु मियल्बाइन् सोर् ॥  
 पुलं तनक्किन्नमुदागि वज्जिर पूण् शरिदानि थेरेंव यापा ।  
 इलंगु वडि वुडय् तिरु मूर्तीयल् पतिशय नेम्मिरेंव नीये ॥११६२॥

अर्थ—सिंह इतना पराक्रमी व क्रूर होने पर भी अपना बेरभाव छोड़कर आप की शरण लेकर हाजिर रहता है । आपके शरीर में रजोमल के अभाव से आपके शरीर में दूध के समान रक्त रहता है । और आपके शरीर में एक हजार आठ लक्षण होकर उपमातीत ऐसे अतिशय स्वभाव से होते हैं । इसकी भक्ति से श्रीदेवी आदि सदैव सेवा करने में तत्पर रहती है । आप सभी समवतुरल्ल संस्थान को प्राप्त होकर आपका शरीर वज्रवृषभ नाराच संहनन वाला है । इस प्रकार अनुपम गुणों को प्राप्त हुए, हे हमारे स्वामी ! ॥११६२॥

शामे पार्शथिमं पोळिदुं चदुमुगमाय् मेंथिरुगिरुवम् मळविर् केट्टु ।  
 काय मिशं युलवि नल कल्ले केल्ला मिरेंवनु माय् करुम केटि ॥  
 नोचनें नानूरगत्ति नुडर् कळिबु पार्शकळुब सरुक् नींग ।  
 तेशि नोडु तिल्लेत्तिरुंद तिरुमूर्ति यतिराय नेम् शेल्व नीये ॥११६३॥

अर्थ—छाया रहितत्व, निर्मुक्तित्व, निर्निषेधत्व चतुराननत्व को प्राप्त होकर समान नख केशत्व प्राप्त होकर इस धरती के ऊपर गमन न करते हुए आकाश में चलने वाले आप सर्व विद्येश्वरत्व को प्राप्त करने वाले हैं । आप जहां विराजते हैं वहां चारों तरफ चार योजन

तक अशांति नहीं होती है, अकाल और दुःखिभू नही होते हैं, अकाल वृष्टि नहीं होती है। आपके चार घातिया कर्मों का नाश होता है। आपके परमोदारि शरीर देखकर आपकी स्तुति करने की भावना होती है ॥११६३॥

तिरुमोळिइन् वियत्तगवु मनत्तुइ रिन् मैत्तिरि युन् तिवका काय ।  
 निरुमलमाय् चिळ् गुव लेविवरुदुयुं वंदुड निगळ् व निलत्तु पंगुळ् ॥  
 पेरुमे योजुमंगलर्ग लर वालि पूमारि नरुं काट्टुम् पोत ।  
 मरं मलरि निरै मोदल् वानवरिन् वरुमतिशय नम्मश्रनीय ॥११६४॥

अर्थ—आप की सभी को आश्चर्य करने योग्य वाक्प्रवृत्ति, सर्वजीवों में मैत्रीभाव, षट्कृतु के फलफूल, धान्यादि उत्पन्न होकर धान्य समृद्धि होना। अष्ट मंगल द्रव्य, पुष्पवृष्टि मंद २ वायु का बहना, सोने से निर्मित श्रेणी के कमलों का देवों द्वारा निर्माण होना। ये सभी देवकृत अतिशय हैं। ऐसे अतिशय को प्राप्त हे भगवन् ! आप हमारे लिये स्वामी हैं।

॥११६४॥

अळुंदु विनं पगं पुरं केडनं तुलगु मलोग मुवेन् मगस्ति नोमं ।  
 वळुंदरि विन् मुगत्ता लेप्पुरुळु मुन वगत्तडक्कि इरुंबोय् वंदु ॥  
 शेळुकुंबडु शेरिविंदु मुळुंगु मेळिन् मुगिल् पोल् विराग मिडि ।  
 येळुंदरुळि वंविंदे प्पोरुळु मरुळिय बैगळिरैव नीये ॥११६५॥

अर्थ—आत्मा के अंदर अनादिकाल से बंधे हुए चार घातिया कर्मों का नाश कर लोक और अलोक में रहने वाले सभी द्रव्य पर्यायों को अपने केवलज्ञान के बल से जानने की शक्ति को प्राप्त किये हे भगवन् ! आप आकाश से मेघ समूह पर्वत पर उतरकर गजना करने के समान है। और आपको किसी प्रकार का दुःख नहीं है। इस प्रकार आप किसी प्रकार कष्ट को न प्राप्त हो कर 'अमेखला पीठ में विराजमान होकर समस्त चराचर पदार्थों को आपकी पवित्र दिव्यध्वनि से कहने वाले हे भगवन् ! ॥११६५॥

शकंमल तुलवु मुंङ्गुन् दिरुंबडि ये निनसिडवे तित्ति यन्नु ।  
 मंगनं वंदवरं यड्विडै वदन् मेरु कोडेरंड्रा यरुळु नोंगि ॥  
 वेगंवमं कोडुं नै यडैया क्षोळिव वरु गणेडुंतु यरिन् वीळक्काना ।  
 वंग वर मेलरुळु पुरिवु मुनिवु भगन् दिरुंबनं येन्मिरैव मीय ॥११६६॥

अर्थ—लाल कमल के ऊपर विहार करने वाले आपके चरण कमलों को अपने मन में आदना कर आपके स्वरूप को जानकर आपकी भक्ति करने वाले जीवों को मोक्ष लक्ष्मी वरती है। परन्तु आप दुखी जीवों को देखकर दुखों को नाश करने की भावना नहीं करते हैं। और सुखी जीवों को अधिक भक्ति करने वाले समझकर आप उनसे प्रेम नहीं करते हैं। ऐसे समभावों के धारक हे भगवन् ! ॥११६६॥

पोदु वगियार्, पोरुल्लेला मोड्डे येड्डुळ्, शंद पोदुव साद ।

चिदि वगियार्, पोरुल्लेलावेरे येंडुन्विरंडु मोड्डे येंडुम् ॥

पोदुविरिदु पोरुनिगळ्, वाल् चिद्वेरा योंडु, मा मेंडा लुनु सोनु ।

मेदि फेरिदु मिलादाकुं मारागित्तोंडादो वानोर कोवे । ११६७ ॥

अर्थ—हे देवघिदेव भगवन् ! तुमने उपदेश दिया है कि सब ही जीवादि द्रव्य सामान्यरूप से एक हैं और विशेष गुणों से भिन्न २ हैं । ऐसा भव्य जीवों को समझाया है । अस्तित्व, नास्तित्व, स्वभाव पर्याय, विभाव पर्यायों से परिणामन करते हैं । इसी तरह अल्प ज्ञानी लोग आपके उपदेश को नहीं समझते हैं । अतः उन्हें आपके अनेकांत मन में विरोध आता है । जैसे कि समंतभद्राचार्य ने कहा है:—

अनेकांतोऽप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः ।

अनेकांतः प्रमाणस्ते स्यादेकांतोऽपि तान्नयात् ॥

अर्थ—अनेकांत भी कथंचित् प्रमाणनयों के निमित्त से अनेकांत है । अनेकांत समाप्त दृष्टि से कथंचित् अनेकांत रूप है । और विवक्षित नय दृष्टि से कथंचित् एकांत रूप है ।

॥११६७॥

भादिया याविला येंदमा येंदमिला यडेंया देदु ।

पोदि याय्, पोदिलाय् पुरत्तायप्पुरिळ्ळी निक्कुंमगत्ताय मूड्डु ॥

ज्योतिषाय् ज्योतिलाय् सुरुंगदाय् पेरुगादाय् तोंडामाया ।

नीदि घाय् नीदिलाय् निनेपरियाय् विनेप्पगै येम्मिरैवं नीय ॥ ११६८ ॥

अर्थ—ज्ञानदर्शन से युक्त स्वभावरूप आत्मस्वरूप को प्राप्त हुए हे भगवन् ! द्रव्याधिक नय के तन्मय से अनादि कहलाने वाले संसार का त्यागकर अन्तरहित तत्त्व को प्राप्त होकर शाश्वत रहने वाले आप ही हैं । इन्द्रिय सुख को त्यागकर अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त होने वाले आप ही हैं । अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान को प्राप्त हुए आप ही हैं । परपदार्थ आपके अन्दर न घुसने के कारण स्वपदार्थ को जानने वाले स्वयंभू आप ही हैं । सकलगुणों को ज्ञानानंद स्थिति को प्राप्त हुए आप ही हैं । शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य को प्राप्त हुए आप ही हैं । आत्म ज्योति को प्राप्त हुए आप ही हैं । आपके अन्दर आत्म-ज्योति के अलावा बाहर का अन्य कोई प्रकाश नहीं है । आपमें सभी गुण कभी कम ज्यादा नहीं होते हैं । द्रव्याधिकनय से जन्म-मरण रहित होकर नीतियुक्त आत्म स्वभाव से युक्त आप ही हैं । पर्यायाधिक नय से नीति स्वरूप से रहित होने वाले आप ही हैं । अचिन्त्य स्वरूप आप ही हैं । कर्म शत्रु के नाश करने वाले आप ही हैं । इसलिये आप ही हमारे स्वामी हैं ॥ ११६८ ॥

कामरु वुंभुभि करणं कडिमलर्, मामळे पुळिय कवीर योगं ।

तेमरु पूस् पिडि इस् कोळ्, मंडलस्, पोय् विसं कुसब तिगळ्, बट्टं ॥



तामर मूड़ेनेय मरिण मुबकुडे कोळ् भिकक बिनै युडेय सेल्लुं ।  
शेम मुडे नेरियरुळि सोय वने यमरं वने यम् शेल्बनीय ॥११६६॥

अर्थ—आपको किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, तो भी देवों के वाद्य हमेशा बजते रहते हैं। चतुर्लोकय देव पुष्पवृष्टि करते हुए छत्र चामर चारों ओर डोरते रहते हैं। सुगंधित पुष्पों से युक्त हारों को पहनते रहते हैं अशोक वृक्ष के फूलों की देवों द्वारा आप पर बरसाये जाते हैं। अपने प्रभामंडल के किरणों से चारों ओर फैले हुए हैं। मानों तीनों प्रकार के चंद्रमंडल खड़े हुए के समान तीन छत्र आप के ऊपर सदैव प्रकाशमान हैं। और अपनी दिव्य-ध्वनि से मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हुए, सिंहासन पर बिराजमान हे भगवन् ! आप ही शाश्वत संपत्ति को देने वाले हैं। इस प्रकार दोनों कुमारों ने भगवान की स्तुति की ।

॥११६६॥

इने यन् तुबिई नो डिरेणु मेल्ले इन् ।  
बिनैगळिन् वेयक्कळ् वेब मंदर कन् ॥  
मुनिम वडिविनै मुडिव निडु तम् ।  
बिनैगळे मुबत्तरल वेरिय वेन्नियार् ॥१२००॥

अर्थ—इस प्रकार उन दोनों कुमारों के भगवान की स्तुति करके भक्ति से नमस्कार करते समय कर्मपिंड का भार हल्का हो गया। इस प्रकार हल्का होने से उन दोनों कुमारों ने सर्वोत्कृष्ट वैराग्ययुक्त संसार शरीर भोग से विरक्त परिणाम होने से उन भगवान के पास निर्ग्रय दीक्षा धारण कर कर्मनाश करने का विचार किया ॥१२००॥

येत्तरं गुणत्तव तिरैव यामुडे ।  
गोत्तिरं कुलमिवै येरुळ् वाळिनि ॥  
नोटहं पिरबि नोर् कडलें नीवु नर् ।  
ट्टेपे याम् तिरुवुरु वेडिरिरं जिडा ॥१२०१॥

अर्थ—इस प्रकार मन में विचार कर कहने लगे कि गणधरादि मुनियों के अधिपति! हे स्वामी सुनो ! हमारा कुल उच्च है, इसलिये अत्यन्त दुस्तर संसार रूपी समुद्र से पार करने के लिये सेनुरूप मुनि दीक्षा का अनुग्रह करो। इस प्रकार भगवान से प्रार्थना की ॥१२०१॥

मुडिगळ् कडगमु मुत्तिन् पून्गळुम् ।  
कडि मिशै कांचियु नानु माडयं ॥  
वडिवुडे तडकैयाल् वांगि विट्टुवै ।  
विडु सुडर् विळक्कन् मुन् निमैतु वीळ् ववे ॥१२०२॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान ने इनकी प्रार्थना सुनकर तथास्तु कहा। तदनन्तर वे दोनों कुमार जैसे अपराधी दुष्ट आदमी को हद्द पारकर देते हैं, उसी प्रकार अपने शिर के

मुकुट, हस्तककण, मेखला (करधनी) अनेक प्रकार के राज्य चिन्ह रत्नों के आभरण, वस्त्र, शस्त्र आदि निकाल कर अपने हाथों से दूर फेंकने लगे ॥१२०२॥

कुरु नेरि पइं डेळु कुंजि येंजोलार् ।  
नेरिभयें परनेरि निनेप्प नीकुमेन् ॥  
ररिवन तडि मुदलेंबदं सोला ।  
नेरिमं यो नीकिनार्, नीडि तोळिनार्, ॥१२०३॥

अर्थ—तदनन्तर उन दोनों राजकुमारों ने पूर्वामिमुख पर्यङ्क आसन से बैठ कर ॐ नमः सिद्धेभ्यः इस प्रकार तीन बार बोलकर पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए विधिपूर्वक पंचमुष्ठी केश लुंचन किया ॥१२०३॥

मपुंयत्तार्, मयिर् वांगि निडुबर् ।  
कर्पग भिल्लै मलर्, कळंडु दुत्तनर्, ॥  
मट्टु वानवरंन मथिरं मालयार् ।  
सुट्टिवान् कळलिडं तोळु बिट्टार्गळे ॥१२०४॥

अर्थ—तत्पश्चात् दोनों कुमारों ने भगवान की साक्षी पूर्वक दीक्षा विधिपूर्वक ग्रहण की। दीक्षा लेने के बाद उन कुमारों के लुंचन किये हुए सिर ऐसे दिखने लगे जैसे कल्प वृक्ष की लता पतझड़ होने से स्पष्ट दिखाई देती है। इसी प्रकार सिरमुंडन के साथ दस प्रकार का मुंडन भी कर लिया। दस प्रकार के मुंडन निम्न प्रकार हैं।

मन मुंडन, इन्द्रिय मुंडन, चार कषाय मुंडन, वचन मुंडन, तन मुंडन, हस्त मुंडन, पाद मुंडन ।

तदनन्तर केश लुंचन किए हुए बालों को देवों ने भक्ति से उठाकर समुद्र में क्षेपण कर दिए ॥१२०४॥

शीलमुं वदंगळुं शेरिद वेल्लेइन् ।  
मालैयुं शांदमु मेदि वानवर ॥  
कोलमा दवर्, गुणं पुगळुं विरेंजिना ।  
रेलवन् पिरंबिये लडेंद वेंबवे ॥१२०५॥

अर्थ—उन दोनों मुनिराज की शीलाचार सहित महाव्रत को धारण करते समय देवों ने पुष्पवृष्टि करते हुए षष्ट द्रव्य से पूजा की। दीक्षा लेने के कुछ समय पश्चात् उन दोनों मुनिराजों को सप्तऋद्धियां प्राप्त हो गईं ॥१२०५॥

पोदि या रेंदुमा मरुंदुभादव ।  
नीदि नार्सुवें बलिकन् मूडिरन् ॥

डोदिं नार् कुरे पडा बुरेवु लूणिवं ।

यादियां मादव रिद्धि वण्णवे ॥१२०६॥

अर्थ—वह सप्तऋद्धियां निम्न प्रकार से हैं—

बुद्धिऋद्धि छह प्रकार की, औषधऋद्धि पांच प्रकार की, तपऋद्धि चार प्रकार की, रसऋद्धि चार प्रकार की, बलऋद्धि तीन प्रकार की, अक्षीण, ऋद्धि दो प्रकार की, विक्रिया ऋद्धि आठ प्रकार की ॥१२०६॥

तुवर पसे नान्गोडु तोडरं व पत्तुमा ।

सुवपुं नीरार् कळिई युळ्ळस त्त्यमा ॥

तनत्तवर पुरपत्तु मासु तन्नयु ।

मुवत्तल काय विलाभया लोरुवि नागळे ॥१२०७॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों से युक्त, मिथ्यात्व, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन चौदह प्रकार के परिग्रहों को अम्यंतर (वैराग्य रूपी पानी से मनःपूर्वक शुद्ध तप का आचरण करते हुए तथा बाह्य परिग्रह जो क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य सुवर्ण, धन, धान्य, दास, दासी, कुप्य, भांड इन बाह्य १० परिग्रहों को त्यागकर निष्परिग्रही बन गये ॥१२०७॥

बोळ्ळक नीर कुळित्तुडु तंवरति नै ।

वळुकिला मादवच्चांठु मट्टिया ॥

बिळ्ळुगुण मणि मैनि सेति नार् ।

तोळिर् ट्रोडे शील मा माले सुडिनार् ॥१२०८॥

अर्थ—सम्यक्चारित्र रूपी जल से स्नानकर आकाश रूपी अम्बर धारण करके महातप रूपी सुगंध चंदन, सम्यक्ज्ञान रूपी गुणाभरण को धारण किया । तत्पश्चात् शोला-चार को धारण किया ॥१२०८॥

विदि मनर् तमं बेल वंद केवलत् ।

तदि पदि तनक्कळ वरस राग नर् ॥

सुदमलि केवल पट्टं सुडिनार् ।

विदियिना लिरं वनें वंदिरंजिनार् ॥१२०९॥

अर्थ—कर्म रूपी वंरी को जीतकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए भगवंतों की युवराज पदवी धारण करने के समान ही वे ही गये अर्थात् वे दोनों मुनि श्रुतकेवली होकर भगवान के पास आकर उन्होंने नमस्कार किया ॥१२०९॥

इरैव निघ्नडि यडे धुलगियर्कयुं ।  
 पेरु पर लळवे युं पिळत्त नीदियुं ॥  
 मरविने मनमिग वरुवर् केवनुं ।  
 पिरविइन् विकर्पमुं वीटिन् पेट्टिवुं ॥१२१०॥

अर्थ—तदनन्तर वे दोनों श्रुतकेवली भगवान से करबद्ध प्रार्थना करने लगे कि हे प्रभु ! तीन लोक का स्वरूप, जीवादि तत्वों का प्रमाण, उन तत्वों की मिथ्यात्व के कारण बाधा आने वाले पाप कर्म, आत्मा के अन्दर आकर बंध के होने वाले कारण तथा संसार तथा मोक्ष के स्वरूप का प्राप विवेचन कीजिये ॥१२१०॥

अरुळेन धिरैजलु मरिण कट्टिरापुर ।  
 मुरसु निडुविरु वदि नेळुंदु केवल ॥  
 तिरुविडु तूदि पोल सेंजवल् वल्लिदान् ।  
 मरुविनान् मुनिवर् तस् मणतगतये ॥१२११॥

अर्थ—इस प्रकार बियालीस प्रकार के प्रश्न करने के बाद भगवान की दिव्यध्वनि ऐसी प्रगट हुई, जिस प्रकार मेघों की गर्जना होती है । उसी प्रकार गर्जना के समान भगवान के सर्वाङ्ग से दिव्यध्वनि के खिरने के बाद सम्पूर्ण भव्य जीव जो बारह सभाओं में बंठे थे, उन सब के ऊपर जलवृष्टि के समान दिव्यध्वनि खिरने लगी ॥१२११॥

ओरु तिरुमोळियुमे पदिनेन् पाडैयाय् ।  
 मरुविय वीजनै मिगुदि मंडल ॥  
 तरुगिडै मुडि वदनगत वरुकेला ।  
 मरुवगे यालिनि तायोलित्तदे ॥१२१२॥

अर्थ—उपमा रहित दिव्यध्वनि एक होने पर भी वह सात सौ अठारह भाषाओं में परिणत होकर भगवान विमलनाथ स्वामी के ६-६३ योजन विस्तार वाले समवसरण की बारह सभाओं में बंठे हुए भव्य जीव अपनी २ भाषा में एक साथ समझ गये ऐसी वह भगवान की बारी प्रगट हुई ॥१२१२॥

धिनविय पोरुळेलां विळुंगि मैत्तवर् ।  
 मनं वलि मोळिवाळि वांगि येप्पोरु ॥  
 वनित्तनियामं नार्पत्तिरंडदाय ।  
 मुनिवर्चैदु मामुणि वरु कोविनार् ॥१२१३॥

अर्थ—जिस समय भगवान की दिव्य ध्वनि खिरने लगी उस समय ये दोनों मेरु

व मंदर श्रुतकेवली, भगवान के द्वारा बाणी खिरी हुई को श्रुतज्ञान के बल से अंशरूप में जानकर उसको स्वरूप में गूँथ लिया ॥१२१३॥

मुडिचिडे यगलमायव मोंड्रेळ् मुळ ।  
चिडेइने कइरगंड्रेळ् नीळमा ॥  
यडिई नेळगंड्रेळ् नीडुयर मीरेळ् माय् ।  
वडि वुडे युलग मूवांत शूळ् वदे ॥१२१४॥

अर्थ—हे भव्य मेरु व मंदर मुनी ! इस लोक के शिखर में मध्य लोक में पूर्वापर विस्तार एक राजू है । तथा ब्रह्मलोक में पांच राजू चौड़ा व सात राजू अद्वीलोक में चौड़ाई में है । दक्षिण उत्तर सब जगह सात राजू है । ऊंचाई चौदह राजू है । यह लोक चारों ओर घनोदधिवात, घनवात, तनुवात इन तीन वातवलयों से वेष्टित है ॥१२१४॥

मुळंदे काषव मेळ् मुडिडुळि ।  
मुळंजिले गावद मूंड्रेळ् वीळं बोर्प ॥  
लेळुंविवा रेळ् करेद चन्ड्रिडे ।  
बिळुंववा रोळिद वोंडागु मेन् मुगं ॥१२१५॥

अर्थ—इस प्रकार नीचे सात राजू, मध्य में एक राजू, लोक शिखर में एक राजू ब्रह्मलोक में पांच राजू इस प्रकार लोक का स्वरूप है ॥१२१५॥

अरे मूळ मेळ् शेंड्रेगु नान् मुळं ।  
पेरुग विरवाटिनार् पेसुगि शेंड्रेगु मे ॥  
ळरं येळ् कयिट्टि नेंगइर् कंड्रेगु मेर् ।  
पेरुगिय पडियिनार् पित् मुरुंगुमे ॥१२१६॥

अर्थ—मध्य लोक से ऊपर साढ़े तीन राजू जाकर वहां पर पांच राजू चौड़ा होकर फिर क्रम से घटता हुआ सिद्ध शिला के पास लोक शिखर पर एक राजू चौड़ा रह गया ।  
॥१२१६॥

पोकुवि नालोंड्रेळ् माम् नाळिपाइरं ।  
विदिइना सुलगिरंवाग वेंडिनार् ॥  
मुव नडु विरुदि यान् मूंड्रेळ् मागिनार् ।  
गति रना निलसि नागामु मेंववे ॥१२१७॥

अर्थ—सामान्य से लोक का स्वरूप इस प्रकार है । लोक का स्वरूप एक प्रकार है और दूसरा लोक त्रसनाडी और बाह्य के भेद से दो प्रकार है । और अघी, मध्य, ऊर्ध्व के भेद

से तीन प्रकार है। और नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के भेद से चार प्रकार है।  
॥१२१७॥

अंजुमाम् पंजसि कायत्तारुमा ।  
मैजिय कालत्तोडेळुनारगर् ॥  
नंजुवारि कनर रुळियर् मेलव ।  
रंजोला रिलादध रगदियार् किडम् ॥१२१८॥

अर्थ—पंचास्तिकाय की अपेक्षा से जोक पांच प्रकार का है। जीव, पुद्ग, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये छह प्रकार का है। और नरक लोक, भवनवासी लोक, मनुष्य लोक, ज्योतिष लोक, कल्पवासी लोक, अहमिद्र लोक और सिद्ध लोक यह सात प्रकार के लोक हैं।  
॥१२१८॥

नि गोदमे निरं यंग लंजु तन्निडं ।  
पगावळ वगलमोर् केड्ट वागुमे ॥  
मिंगादोह करुदान् मेरु वंदिडा ।  
पगानर किरंजु मेर् भवनं पत्तुमाम् ॥१२१९॥

अर्थ—निगोद में पूर्वापर की अपेक्षा से चौड़ाई सात राजू है। उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात राजू है। इस प्रकार क्रम से घटता २ अधोलोक में पूर्वापर एक राजू, ऊपर जाकर क्रम से घटता हुआ एक राजू की ऊंचाई पर ३ राजू है अर्थात् ३ राजू है। इससे आगे क्रम से कम होता हुआ मध्यलोक में एक राजू ५ रह गया ॥१२१९॥

वंडुरं योंडुरं परं योडाह माय् ।  
निडुवोंडुरक्क मोर् करु निडुवा ॥  
मंड्रि येळ् निलप्पुरं नपित्तोंव दिर् ।  
सेंड्र बिदिरगत् तेंडिशंयुं शेणिये ॥१२२०॥

अर्थ—चित्राभूमि के ऊपर १ राजू उत्सेध में सौधर्म ईशान कल्प है। उस पर डेढ राजू पर सनत्कुमार कल्प है। उसके ऊपर छह थुगल कल्प तक आधा २ राजू उत्सेध है। अन्त में एक राजू उत्सेध अहमिद्र लोक है। इसके अतिरिक्त सात नरक पटल अधोलोक में छह राजू ऊंचाई में है। सातों नरकों में उनचास पटल हैं। आठ दिशाओं में श्रेणीबद्ध बिल हैं। और बीच में एक २ इन्द्रक बिल हैं ॥१२२०॥

आरेट्टां विविक्कि लोंड्रोंड्रां गधं विक्किलामे ।  
लूरिट्टु सेणिवंदम् पुरं वोंड्रोळि वोंड्राड् कोळ् ॥  
नूरिट्टाड्दरंगळे शमैगरें येदु सूधे ।  
तेरिट्टी रेंदु मूड्रोंड्रैदिला वेंदु कीळाप् ॥१२२१॥

अर्थ—पहले नरक के प्रथम पटल में दिशा में श्रेणीबद्ध उनचास बिल हैं और विदिशा में अडतालीस बिल हैं। यह प्रथम पटल में है। बीछे एक २ पटल में एक २ बिल कम होता गया है। अन्त के उनचासवें पटल में एक २ बिल है। विदिशा में नहीं है। प्रथम नरक में तेरह पटलों में सब तीस लाख बिल हैं। द्वितीय नरक में ग्यारह पटलों में पच्चीस लाख बिल हैं। तीसरे नरक में नौ पटलों में पंद्रह लाख बिल हैं। चौथे नरक में सात पटलों में दस लाख बिल हैं। पांचवें नरक में पांच पटलों में तीन लाख बिल हैं। छठे नरक में तीन पटलों में पांच कम एक लाख हैं। सातवें नरक में एक पटल में पांच ही बिल हैं। कुल मिलाकर चौरासी लाख बिल हैं ॥१२२१॥

असुरर्, नागर पोन्नर तीवरेत् ।  
डिसपर्, तीयवरुदगर्, वायुवर ॥  
विशं इन् मिन्नवर, मेग रागुमत् ।  
वशनिकायमां भवनर्, तांगळे ॥१२२२॥

अर्थ—भवनवासी देवों में असुकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, दिक्-कुमार, अग्निकुमार, उदधिकुमार, वायुकुमार, विद्युत्कुमार, मेघकुमार ये दस प्रकार के देवों के भेद हैं ॥१२२२॥

अरुवत्तु नांगु नांगोडेंवत्तेळ्, पत्ति रंडुम ।  
शेरिवुट्टु तोन्नुट्टारुं शेप्पिय वेळुपत्तारुं ॥  
मरुवट्टु वसुरर्, नागर, पोन्नर्, वायुकळ्, मट्टे ।  
यरु वरुक्कुं वेरु नूगईरं भवनंगळामे ॥१२२३॥

अर्थ—दोष रहित असुरकुमार के चौसठ लाख भवन हैं। नागकुमार के चौरासी लाख भवन हैं। सुपर्णकुमार के बहत्तर लाख भवन हैं, वातकुमार के छिनवे लाख भवन हैं और छह प्रकार के देवों के एक २ के छिहत्तर २ लाख हैं ॥१२२३॥

भवनर्, तं भवनंगळ्, कोडि येळोडु ।  
शिवनिय वेळुवत्तोडिरंडु ल्लवक मास् ॥  
अवनुरे यशुरर्, कायु वान् कड ।  
नुवमई रणु तनु वैयदोंगि नार, ॥१२२४॥

अर्थ—भवनवासी देवों के सब मिलाकर सात करोड बहत्तर लाख भवन हैं। असुर कुमार देव की उत्कृष्ट प्रायु एक सागर है, और एक शरीर की ऊंचाई पच्चीस धनुष है। ॥१२२४॥

पल्ल मूंडिरंडरं इरंडु मूवरं ।  
शोल्लिय नागर नर्, सुवणर तीवरो ॥

इल्लव ररुवकुं मायु नागकुं ।

विष्णुम्वंदु मेलवर्, कीरंदु माम् ॥१२२५॥

अर्थ—नागकुमार देव की आयु उत्कृष्ट तीन पत्य, सुपर्ण कुमार देव की उत्कृष्ट आयु अठ्ठाई पत्य, अग्नि कुमार की उत्कृष्ट आयु दो पत्य है और शेष सब देवों की आयु डेढ २ पत्य है। नागकुमार देव की शरीर की ऊंचाई पंद्रह धनुष है। शेष सब देवों ऊंचाई दस २ धनुष की है ॥१२२५॥

मानव ररै विडं मंदरत्तिने ।

तानडु वुडैयदु दीप सागर ॥

मूनमि लिरंडरै इरंडु माय् पुगे ।

तान वट्टिडे योवत्तंदु लवक माम् ॥१२२६॥

अर्थ—मनुष्यों के रहने के स्थान जम्बूद्वीप, घातकी खंड, पृष्करार्द्ध ऐसे ये अठ्ठाई द्वीप हैं। इनको दो समुद्र घेरे हुए हैं। उनके नाम लवण तथा कालोदधि है। इन अठ्ठाई द्वीप और दोनों समुद्रों का विस्तार पैंतालीस लाख योजन है ॥१२२६॥

धारियर्, म्लेंचराथार्, मानव ररैत्तं योर्वा ।

ररियर्, दरुम कंडम तूट्टेळुवत्ति नावार्, ॥

वारियुट्टिवु तोन्नुट्टारु मट्टै कंडत्तुम् ।

शेरुन ररैत्तं शेरार्, म्लेचराय् सेप्पपट्टार्, ॥१२२७॥

वंड्रदाम् कालर्, वालर्, कोंवर सेवियर्, शीयम् ।

पंड्रिमान् कुरंगु कीरि योट्टुगं करडि यादि ॥

वंड्रन्ना मुगत्तर्, पल्ल मायुगं कादमोक्कं ।

तिडिडा पळत्तं मन्नं मुळंजि मरत्तुन् सेर्वार, ॥१२२८॥

अर्थ—मनुष्य में आर्य और म्लेच्छ ऐसे दो भेद हैं। धर्म मार्ग के अनुसार चलने वाले को आर्य कहते हैं, और वे एक सौ सत्तर धर्म क्षेत्र कर्म भूमि के आर्य खंडों में उत्पन्न होते हैं। महालवण समुद्र तथा कालोदधि समुद्र के दोनों तटों पर चौबीस अंतर्द्वीप म्लेच्छक्षेत्र हैं। सब छियानवें क्षेत्र हैं। उनमें एक टांग वाले हरिण, घोड़े, तथा सूअर, ऊंट, सिंह, वानर, रीछ आदि के समान मुख वाले, लंबे कान वाले आदि नाना प्रकार के म्लेच्छ मनुष्य एक पत्य की आयु वाले रहते हैं, तथा कर्मभूमि के एक सौ सत्तर क्षेत्रों में पांच २ म्लेच्छ खंड हैं। कुल मिलाकर आठ सौ पचास खंड हैं। उन म्लेच्छों का शरीर दो हजार धनुष उत्सेध रहता है, और वे फल फूल और मीठी मिट्टी खाकर जीवन व्यतीत करते हैं। वे म्लेच्छ वृक्ष के कोटरों तथा गुहा आदि में रहते हैं ॥१२२७॥१२२८॥



इमंयमा लिमंयमुं निडव नीलियुं ।  
 शिमय नल्लुरिकियुम् शिकरि यामलं ॥  
 तमेनडु वुडय वेळ् नाडि वट्टिनुट् ।  
 समय मा दडंय वाम् भरत रेवतं ॥१२२६॥

अर्थ—हिमवन पर्वत, महाहिमवन पर्वत, निषध पर्वत, नील पर्वत, रुक्मि पर्वत शिखरी पर्वत ऐसे छह कुलाचलों के बीच में भरतादि सात क्षेत्र हैं। भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ऐसे सात क्षेत्र हैं। मेरु की दक्षिण दिशा में भरत क्षेत्र है और उत्तर दिशा में ऐरावत क्षेत्र है। ये दोनों क्षेत्र अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी काल का परिवर्तन वाले हैं ॥१२२६॥

नन्मयुं नन्मयुं नन्मयायटुं ।  
 नन्मइर् द्रीमयुं तीमै नन्मयुं ॥  
 तिस्रिय तीमयुं तीमै तीमयन् ।  
 देस्रिय कालमेट्टिळिवं याकुमे ॥१२३०॥

अर्थ—ये छह प्रकार के काल निम्न प्रकार से हैं:—

सुषमा सुषमा, सुषमा, सुषमादुषमा, दुषमा सुषमा, दुषमा, दुषमा दुषमा (इसी को अति दुषमा भी कहते हैं) इस प्रकार अवसर्पिणी के छह भेद हैं। इसी को उलटा पढ़ने से उत्सर्पिणी के छह भेद हो जाते हैं। ये दोनों सर्पिणी के समान घटते बढ़ते रहते हैं ॥१२३०॥

ओरु मुळं पविनें याडुंदि युंदिमेल् ।  
 वरुळिलं यारईरं पल्लुंइंदि ॥  
 पेस्रगिय परिशिनार् पिन् सुरुंगी वन् ।  
 तोरु मुळं पविनें यांडामुर् कर्पमाम् ॥१२३१॥

अर्थ—उत्सर्पिणी काल के मनुष्यों की ऊंचाई प्रथम काल में एक हाथ उत्सेष तथा पन्द्रह वर्ष की आयु होती है। पुनः बढ़ते २ छोटे काल में छह हजार धनुष की ऊंचाई वाले तथा तीन पर्य की आयु वाले उत्तम भोगभूमि में मनुष्य होते हैं। तदनंतर उत्सर्पिणी काल में जैसे वृद्धि होती जाती है उसी प्रकार अवसर्पिणी काल में कम होते २ अंत में एक हाथ उत्सेष व पंद्रह वर्ष की आयु वाले हो जाते हैं। दोनों कालों को मिलाकर एक कल्प काल होता है ॥१२३१॥

आळिगळ् कोडा कोडियं इरंडिनिल् ।  
 नालु मूडि रंडोडां नालु कालंपळिर् ॥  
 ट्राळिई लांडुनार्पासिरायिरं ।  
 मेसबं इरंडिकुं विदिकप्पट्टे ॥१२३२॥

अर्थ—यह अवसर्पिणी काल दस कोडाकोडी सागर का होता है। उसमें चार कोडाकोडी सुषमासुषमा पहला काल है। तीन कोडाकोडी सागर का दूसरा सुषमा काल है। दो कोडाकोडी सागर का तीसरा सुषमा दुषमा काल है। बियालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर का चौथा सुषमा काल होता है। यह चौथा काल अनवस्थित कर्म भूमि है। और क्रम से कम होते २ इस काल में पांचसौ घनुष्य उत्सेध वाले मनुष्य होते हैं। इनकी आयु एक कोटि पूर्व की उत्कृष्ट होती है। इनका शरीर पांच वर्णका होता है। ये महान पराक्रमी व बलशाली होते हैं। प्रतिदिन आहार करते हैं। अनेक प्रकार के भोगोप-भोगों को भोगने वाले, धर्म में अनुरक्त, त्रैलोक्य शलाका पुरुष इस काल में होते हैं ॥१२३२॥

करुममुं भोगमुमिरुमं यु मुडन् ।  
मरिय मुन्निगंळुळ् भरत रेवत ॥  
भिरुमैय मुवल् मुक्कालम् भोगत्तिन् ।  
महविय करुमत्तं मट्टं मूङ्गु मे ॥१२३३॥

अर्थ—पहले कहे हुए सात भूमि में भरत व ऐरावत क्षेत्रों में कई दिनों तक भोग-भूमि रहती है अर्थात् सुषमा सुषमा, सुषमा, सुषमा दुःषमा इन तीनों कालों में भोगभूमि की रचना रहती है और शेष तीनों कालों में कर्मभूमि की रचना होती है ॥१२३३॥

नन्म युट् टीम युट् टीमं नन्मयुट् ।  
पल्लरं पिरमरं परम तीर्थरं ॥  
मल्लरं पलवरं वासु देवरं ।  
तन्नुरु पगै वरु शमरर्, तामुमा ॥१२३४॥

अर्थ—अवसर्पिणी के तीसरे काल के अंत में तथा चौथे काल के प्रारंभ में ब्रह्मार्थी (प्रात्मारथी) ऐसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रति वासुदेव, चमराधीश आदि सामान्य राजा उत्पन्न होते हैं ॥१२३४॥

उत्तर दिक्कण कुरवमुत्तमं ।  
मह्म मरिवरुडंमि रम्मय ॥  
मत्तग मैवप मैरणिण् य मिवै ।  
नित्तमाय् भोगंग निङ्गु मूमिये ॥१२३५॥

अर्थ—उत्तर कुरुक्षेत्र व दक्षिण कुरुक्षेत्र ऐसे ये दो क्षेत्र हैं। ये दोनों उत्तम भोग भूमि है। हरिक्षेत्र, रम्यकक्षेत्र, ये दोनों मध्यम भोगभूमि है। तथा हेमवत क्षेत्र, हैरण्यवत क्षेत्र ये दोनों जघन्य भोगभूमि है। यह सर्व भोगभूमि में अवस्थित ही रहते हैं ॥१२३५॥

मूडि रंढोर पल्लु मुरंयु ळायुग ।  
मूडि विङ्गाइर्, मार नाळिरन् ॥

डूङ्गिय ओक मूङ्गिरंडोर, नाळ विडा ।

दोङ्गिय पशिकेड वमुव मुन्बरे ॥१२३६॥

अर्थ—उत्तम भोगभूमि में रहने वाले मनुष्यों की आयु तीन पत्य की होती है । मध्यम भोगभूमि में रहने वालों की आयु दो पत्य तथा जघन्य भोगभूमि के रहने वालों की आयु एक पत्य होती है । उत्तम भोगभूमि के मनुष्यों के शरीर की ऊंचाई छह हजार धनुष की होती है । मध्यम भोगभूमि के मनुष्यों की ऊंचाई चार हजार धनुष तथा जघन्य भोगभूमि में रहने वाले मनुष्यों की ऊंचाई दो हजार धनुष होती है । उत्तम भोगभूमि में रहने वाले मनुष्य तीन दिन के बाद एक बार आहार लेते हैं । मध्यम भोगभूमि के दो दिन के बाद एक बार तथा जघन्य भोगभूमि के मनुष्य एक दिन छोड़ कर आहार लेते हैं ॥१२३६॥

उरैत्त मुक्काल मूंडादि युळ्ळु माम् ।

निरैत्त वंन्नुसविर् पुव्व कोडियु ॥

सरत्तियेळिरंडु नोट्टिरुपत्तंबदु ।

सुरैत्तिला मूडिला दिक्कु मोक्कनाळ् ॥१२३७॥

अर्थ—सुषमा सुषमा काल, सुषमा काल, सुषमा दुषमा काल ये तीनों उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि में जिस प्रकार मनुष्य रहते हैं उसी प्रकार यहां भी भरत, ऐरावत क्षेत्रों में रहते हैं और चौथे काल में उनका शरीर पांच सौ धनुष ऊंचा और एक कोटि पूर्व की आयु होती है । कर्मभूमि की रचना होती है व मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति हो जाती है और पांचवे काल में घटते-घटते आगे चलकर सात हाथ की ऊंचाई और एक सौ बीस वर्ष की आयु वाले इस काल के अन्त में होते हैं, फिर कम होते २ छठे काल के प्रारंभ में उनकी आयु बीस वर्ष व ऊंचाई दो हाथ की तथा अन्त में पंद्रह वर्ष आयु व एक हाथ की ऊंचाई रह जाती है ॥१२३७॥

नोट—चौरासी लाख वर्ष की चौरासी लाख वर्ष से गुणा करने से एक पूर्व वर्ष की संख्या निकलती है, उसको एक कोटि से गुणा करने से एक कोटि पूर्व वर्ष हो जाते हैं ।

करुमत्त कच्चै नर्सु कच्चै कामिग ।

मरुविय मा कच्चै कच्चगावदि ॥

इरुमै इला वदे इलगंलावदे ।

पोरुविला पोक्कलै पोक्कला वदि ॥१२३८॥

अर्थ—कर्मभूमि से सम्बंध रखने वाले कच्छ, सुकच्छ, महाकच्छ, कच्छावती, भावर्ता, लाङ्गलावर्ता, पुष्कलावती, पुष्कला ये नगर हमेशा सीता नदी के उत्तर में रहते हैं ।

॥१२३८॥

मन्नु तेन् करं वच्चै नर् सुवच्चै मा ।

तुन्नुमा वच्चये वच्चगा वदि ॥

सोम नल्लिरमये सुरमै तोमिला ।

मन्नर्, मन् रमणीय मंगलावती ॥१२३६॥

अर्थ—सीता नदी के दक्षिण तट पर रहने वाले वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्स-कावती, रम्य, सुरम्य, रमणीय, मंगलावती आदि देश रहते हैं ॥१२३६॥

परवरुं पदुमै नर्पदुमै मापदं ।

मरुवु मप्पदुमये पदुमकावती ॥

तिरि विनर्, शंकये नळिनै शादुदं ।

करैय तेन्कुमुदये चरितौ कान्वरिल् ॥१२४०॥

अर्थ—सीतोदा नदी के दक्षिण किनारे पर, पद्य, सुपद्य, महापद्य, पद्यावती, पद्य-कावती, शंख, नलिना, कुमुद, सरिता इत्यादि देश हैं ॥१२४०॥

दडत्तडत्तिन् वप्पे नन्न वप्पयु ।

मिडरिला मा वप्पे वप्पगावती ॥

सुडरुडे कंवये सुगंदे तोमिला ।

कडलुडे कंविले गवमालिनी ॥१२४१॥

अर्थ—सीतोदा नदी के उत्तरी किनारे पर वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, विप्रावती, गंधा, सुगंधा, गंधिला, गंधमालिनी आदि देश हैं ॥१२४१॥

नालु मुन् नवियिनुम् ।

नालु नाल्वरेनुम् ॥

नालु नालिरट्टियाय् ।

विदेग ताडु निड्रवे ॥१२४२॥

अर्थ—यहां बारह विभंगा नदी, सोलह प्रकार के पर्वत और बत्तीस विदेह के देश हैं ।  
॥१२४२॥

शीव इन् वडक्क रे ।

यादि थाय् वलं मुरं ॥

योदिय वप्राडु गळ् ।

नोदि योडु निड्रवे ॥१२४३॥

अर्थ—पहले कहे हुए कञ्च आदि बत्तीस देश सीतोदा नदी के उत्तरी किनारे से प्रारंभ होकर क्रम से प्रदक्षिणा रूप में रहते हैं ॥१२४३॥

सोल्लिये बन्नाडुगळ् ।  
 वेळिल्लय मल्लेयुनुप् ॥  
 सुळेळ्या रिरंडि नुं ।  
 नल्लकडं माह मास् ॥१२४४॥

अर्थ—पीछे कहे हुए कच्छ आदि बत्तीस देश हैं वे एक २ विजयार्द्ध पर्यंतों से उत्पन्न होने वाले दो क्षुल्लक नदियों से छह खण वाले हो गये हैं ॥१२४४॥

शोव्वलेन्दु नूरुयर्दु ।  
 पूव्व कोडियायुग ॥  
 मिध्वगय नादु लेंडु सु ।  
 वेव्विनंग डीर् परे ॥१२४५॥

अर्थ—इस प्रकार जो बत्तीस देश हैं उनमें रहने वाले मनुष्यों की ऊंचाई पांच सौ धनुष है और पूर्व कोटि आयु वाले होते हैं । यह काल भेद से रहित होकर तपश्चरणा करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥१२४५॥

सुद्धं मेरु नात्तु गुडेय ।  
 नल्ल नादु नागिनु ॥  
 मिद्धं वेरु पाडि चट् ।  
 सोल्ल सोल्ल यावे यं ॥१२४६॥

अर्थ—चार प्रकार के मेरु चार देश में अर्थात् घातकी खंड व पुष्करार्द्ध में दो २ अर्थात् चार होती हैं । जम्बूद्वीप में कहे हुए के समान ही चारों होते हैं ॥१२४६॥

ओंड़ि नोंड़ि रट्टियाय् ।  
 सेंडु दीपं सागरं ।  
 मेडुन मल्ले पुरेत्तु ।  
 निडुवा रीयं व वास् ॥१२४७॥

अर्थ—दोनों घात में विस्तीर्ण से युक्त एक को एक घेरे हुए, असंख्यात द्वीप असंख्यात समुद्र मानुषोत्तर पर्वत के बाह्य प्रदेश में रहने वाले तिर्यंचों का तथा द्वीप समुद्रों का विवेचन करते हैं सो सुनो ॥१२४७॥

इरुसेंदु कोडकोडि ।  
 या मुत्तार पल्लंगट् ॥

कुरिय रोम मेघ्र वाम् ।  
तेरियं दीपं सागरं ॥१२४८॥

अर्थ—मानुषोत्तर पर्वत के बाह्य प्रदेश में असंख्यात द्वीप तथा असंख्यात समुद्र हैं । यह वर्णनातीत हैं । उनकी संख्या कितनी है यदि ऐसा पूछा जाय तो उसकी संख्या पच्चीस कोडाकोडी उद्धार पत्य के रोमों की संख्या प्रमाण है ॥१२४८॥

उच्चरि तक्षीर् तेन् सुरं ।  
तिवरु परने मिक्कु चिन् ॥  
सुवेय्य नीरिन् बारिम ।  
ळवेयुमेळ वागुमे ॥१२४९॥

अर्थ—लवण समुद्र खारे पानी से युक्त है तथा इक्षुवर, घृतवर, क्षीरवर, वाह्योवर के समुद्र हैं, तथा अपने २ नाम के से स्वाद वाले हैं, तथा शेष सर्व समुद्र इक्षुरस समान मधुर स्वाद वाले हैं ॥१२४९॥

सागरं जलचरंगट् ।  
काक रंगं लळळ वाम् ॥  
नाग मावि पादनाल् ।  
भोगभूमि सीवे लाम् ॥१२५०॥

अर्थ—असंख्यात द्वीप समुद्रों में जलचर प्राणी वही हैं । असंख्यात द्वीप समुद्र सभी स्थानों में हैं । चनुष्पाद वाले हाथी, सिंह, मृग आदि जो जीव जिस भूमि में रहते हैं उसे तिर्यग् भूमि या तिर्यग् लोक कहते हैं ॥१२५०॥

मुडिद दीपं सागर ।  
तडेद वं विलगुं मोब् ॥  
विडगं लेनिरंदन् ।  
मुडिविडा उरैक्कवे ॥१२५१॥

अर्थ—अन्त में रहने वाले आधे स्वयंभू रमणद्वीप और पूरे स्वयंभू रमण समुद्र इन दोनों में अढाई द्वीप और कालोदधि तथा लवणोदधि समुद्र हैं । इनमें जितने जीव रहते हैं, उनसे कहीं अधिक स्वयंभू रमण समुद्र में रहते हैं । उनकी संख्या का कहना असंभव है ।

॥१२५१॥

येळु सागर तीवत्ति नट्ट वाय् ।  
सूळ् किडंद नंबीश्वर दीवाति ॥

लूळि पूळिवानोर बंदिरं वने ।  
ताळु मट्टवन् पेट्टियं साट्टु वाम् ॥१२५२॥

अर्थ—जम्बूद्वीप आदि सात द्वीपों को सातों समुद्र घेरे हुए हैं । आठवां नंदीश्वर द्वीप है । यह नंदीश्वर द्वीप अनादि निघन है, और वहाँ के रहने वाले बावन अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा चतुर्णिकाय देव आकर करते हैं । अब आगे चलकर मैं अकृत्रिम चैत्यालयों का विवेचन करूँगा ॥१२५२॥

अरवत्तु मूडि नोडाय त्टिना ।  
लेरिप पट्टिहंवन कोडियोचने ॥  
शेरि वुट्ट विलक्क मेंबत्तु नान्गोडु ।  
मरुवट्ट तोवत्तु ल्गल मागुमे ॥१२५३॥

अर्थ—नंदीश्वर द्वीप का एक सौ तिरसठ करोड, चौरासी लाख योजन का व्यास है ॥१२५३॥

निलंगळ् पोन् मण्णगळा निरेंट्टुदिरुंइन ।  
विलंगळुं कयंगळुं बीतरागरं ॥  
पुलंगळाळ् वेल्वन भोगभूमि यो ।  
डिलंगु वानवारिड तन्नं येरुमे ॥१२५४॥

अर्थ—उस नंदीश्वर द्वीप की भूमि स्वर्ण और रत्नों से परिपूर्ण है । वहाँ के पर्वत और सरोवर जिस प्रकार बीतराग भगवान् निर्दोष हैं उसी प्रकार वे भी निर्दोष दीखते हैं । नंदीश्वर द्वीप का सभा मंडप देवों को हास्य के समान दीखता है ॥१२५४॥

कन्नयुं मनत्तयुं कवरंदु कोळ्वन् ।  
यन्न मेगलं ईनार् वडिवु पोलवं ॥  
विन्नवरुं किरं वरं विडाव वेट्टु कैय ।  
वेन्निला विडंगळा लियारिडिहंवे ॥१२५५॥

अर्थ—इस जम्बूद्वीप को देखने वाले मनुष्यों का हृदय तथा भेत्त्र आकर्षित होते हैं । जिस प्रकार एक सुन्दर स्त्री जो अनेक प्रकार के शृंगारों से युक्त हो, उसके देखने से चित्त आकर्षित हो जाता है, उसी प्रकार यह द्वीप देवों के हृदयों को आकर्षण करता है ॥१२५५॥

इलवं वल्लि कम्मणि पालियंडु तन् ।  
शलदि शूळ् पोयडु तरणी मूडुडे ॥

उलगिनु किरै व ना लयंगळा लिम्मु ।

उलगिनु किरै मै कौडोंगु गिडुवे ॥१२५६॥

अर्थ—यह नंदेश्वर द्वीप अनेक प्रकार की सुन्दर लताओं से अलंकृत है। और तीन लोक के नाथ कहलाने वाले अर्हत भगवान के चैद्यालय वहां अत्यंत श्रेष्ठ प्रकाशमान है।

॥१२५६॥

पन् चिरै किडंद सोर्पावं मारुडन् ।

बिन् शिरै कळमेन विट्टु बीरने ॥

वन् शिरण्पोडु वंदडंद वानवर् ।

कन् शिरै पडुवदु कामर् भूमि माल् ॥११५७॥

अर्थ—संगीत तथा नृत्य करने वाली देवाङ्गनाओं के साथ वहां के देव अपना देव-लोक छोड़कर अति सुन्दर अष्ट द्रव्य पूजा सामग्री के थाल को हाथ में लेकर नंदीश्वर द्वीप में भक्ति के साथ पूजा करते हैं, और वहीं निवास करते हैं ॥१२५७॥

अंजन मलंग नान्गागु मांगवन् ।

मंजिल मादिशे नडुव निडुन ॥

वंजन मूलमा यगंडु यरं वन ।

वेंजिलापिरं पुगै नांगो डंबवे ॥११५८॥

अर्थ—उस दोषरहित नंदीश्वर द्वीप की भूमि के मध्य में चारों दिशाओं में अर्थात् पूर्व, पच्छिम, उत्तर व दक्षिण इनमें एक-एक अंजनगिरि पर्वत है। कुल मिलाकर चार हैं। वे अंजनगिरि पर्वत चौरासी योजन उत्सेध वाले हैं। एक हजार योजन का अवगाह है और चौरासी हजार योजन का विस्तार समवृत्त है ॥११५८॥

मट्टिद मले इन् मादिकिकन् वाविगळ् ।

पेट्टियार् किडंबन पेरिय शालवु ॥

मुट्टु नीर् शूळ्द लार् ट्टुदिमुगंगळेन् ।

ट्टुट्टु पेरु मले कळतडत्ति लुळ्ळवे ॥१२५९॥

अर्थ—यहां तक कहे हुए अंजनगिरि पर्वत के चारों दिशाओं में चार बावडियां हैं ॥१२५९॥

आईरं पुगै पत्ते यगंडु यरं वन् ।

वायु मैया नीरिन् वरेगळ् वाविइन् ॥

शूळन् तान् किडंद नाल् वनंगडं पेय ।

रेळिले शंबगं तेमाव सोममे ॥१२६०॥



अर्थ—उस बावडी के मध्य में रहने वाले दधिमुख पर्वत की ऊंचाई व चौड़ाई दस हजार योजन है। उन बावडियों के चारों दिशाओं में चार वन हैं। जिनके अशोक वन, सप्तच्छदवन, चंपकवन और आम्रवन ये नाम हैं ॥१२६०॥

वनसिद्धं पुरंबडि वावि कोनसिन् ।  
मनसिनुक्किरवि शैमलैग निडुत्त ॥  
तनक्कुयर् वगल माइरंग योजनै ।  
यनैप्पल विडंगळालिरवि शेय्युमे ॥१२६१॥

अर्थ—उन चारों वनों के बाहरी दोनों कोनों में रतिकर नामक दो पर्वत हैं। उन रतिकर पर्वतों का उल्लेख तथा चौड़ाई एक हजार योजन है। ये देखने में अत्यंत सुंदर दिखाई देते हैं ॥१२६१॥

मल्लं नल मनि पोनिन् मयम वागिय ।  
पलवडि बुडयन परमन् कोइलग ॥  
निलविय मगुडमा इलंगुम् पारिलुम् ।  
मल्लं बुं माइरं पुगेग लाळंबवे ॥१२६२॥

अर्थ—उस नंदीश्वर द्वीप में रहने वाले, अम्जनगिरि, दधिमुख और रतिकर नाम के पर्वतों के ऊपर सोने तथा रत्नों के अर्द्धत भगवान के चैतपालय हैं। वे अत्यंत प्रकाशमान मुकुट के समान प्रकाशित हैं। वे नीचे से ऊपर तक एक हजार विस्तार वाले हैं ॥१२६२॥

वनंगळुं तडंगळुं मलइन् मामणि ।  
तलंगन् मे निडुन तमनि येत्ति यन् ॥  
द्विलंगु तोरणा मुडं वेवि शूळंबु नल् ।  
ललंगलां वरु मणि यालियंइवे ॥१२६३॥

अर्थ—नंदीश्वर द्वीप में रहने वाले वन, तडाग, बावडी, पर्वत रत्नों से परिपूर्ण हैं। वहाँ के मालय (भवन) स्वर्ग से युक्त हैं। उनके चारों ओर वेदियां हैं। उन वेदियों में पुष्प हार लटके हुए हैं ॥१२६३॥

मंजन वंजन मास्यु नान्गुळ ।  
वैजिडा दधिमुगत्ती रट्टागुमे ॥  
वंजि पोलिरवि करत्तेभानगुळ ।  
मंजिला तन नल वामन् कोयिले ॥१२६४॥

अर्थ—काले बादलों के समान अम्जनगिरि पर्वत चार हैं। दधिमुख नाम के सोलह

पर्वत हैं। चारों ओर रहने वाले रतिकर पर्वत बत्तीस हैं। उन सभी बावन पर्वतों पर बावन चैत्यालय, अकृत्रिम एक सौ आठ, एक सौ आठ जिन बिम्बों से विभूषित हैं ॥१२६४॥

आयत मैबविर्, ट्रिरट्टि योजने ।  
यायदंकाल् कुरेदल दोकमा ॥  
माय तस् तन्नरे यगल माइलन ।  
वाइन् मंडु डैय मुन् मंडवंगळास् ॥१२६५॥

अर्थ—उन चैत्यालयों की लंबाई सौ योजन है। उनकी ऊँचाई पिचहत्तर योजन है तथा चौड़ाई भी पचास योजन है। इस प्रकार विस्तार वाले चैत्यालयों में वेदियां हैं। वे तीन द्वारों से युक्त हैं। उसके आगे मंडप है। गंधकुटी का प्रथम मंडप पूर्व दिशा में है। उस मंडप को पीठिका मंडप कहते हैं ॥१२६५॥

मालयुं शालंगळ् वास मादंबुं ।  
शालयुं ताळं दुळ वासलिबुडे ॥  
पालिगे मुदल् परिचवेग त्रुट्टु ।  
मालं वेयं वन मलिदिरुदवे ॥१२६६॥

अर्थ—उस गंधकुटी मंडप के तीनों द्वारों पर फूलों के हार लटके हुए हैं। उनमें खिडकियां हैं। उस मंडप के चारों ओर एक सौ आठ मंगल द्रव्य हैं, और भिन्न-भिन्न उपकरण हैं ॥१२६६॥

आलयत्तळवदा यमंदु कोयिन् मुन् ।  
पालिरुवन पल्लवादिया ॥  
माडलुं पाडलु समरंदु कान्बव ।  
रुडु शेंडुन् बल बुळैकलत्तवे ॥१२६७॥

अर्थ—इन अकृत्रिम चैत्यालय के पूर्व भाग में अनेक प्रकार की नाट्य-झालाएँ तथा वाद्यमंडप हैं, जिनमें नृत्य संगीत होते हैं ॥१२६७॥

इजिगळं पोना लियडुं गोपुर ।  
मुन्सोन बळविनान् मुडिब माडिशे ॥  
येजोसार्, मुगमेन धिरंबवत्तोडु ।  
वंजिमेगल्ले यन वंदु शूळववे ॥१२६८॥

अर्थ—उस मंदिर के चारों ओर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण कोट हैं जिनके बीच में गोपुर हैं। वे देखने में अत्यंत सुंदर प्रतीत होते हैं ॥१२६८॥

उगप्पुडे पेयचि ईट्टिनुमुवल् मरिगद रोकम् ।  
 युगत्तिनु किरंबर् तोट्ट मुळ्ळिड मलाद देशं ॥  
 शगत्तदु वडिबु दीप सागरं तनदिडक्कं ।  
 नगत्तवर् नागर मक्कळ् विलंगुरै जालं काटुं ॥१२६६॥

अर्थ—उस मंडप में उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी इन दोनों कालों के स्वरूप हैं। उस काल में मनुष्यों की आयु आदि का उत्सर्ष तथा तीर्थंकरों का स्वरूप एवं असंख्यात द्वीपों का स्वरूप, विजयाब्द पर्वत के ऊपर रहने वाले विद्याधरों के स्वरूप व देव-मनुष्य-तिर्यच के रहने वालों के स्वरूप उस दीवार में चित्रित किये हैं ॥१२६६॥

तुरक्कत्तुं वीट्टिनुं तोडि नारैदुं ।  
 शिरप्पदु विगर्पमुं तीय नत्वि नंगळिर् ॥  
 पिरप्पदुं गतिगळिर् पेयरुं पेट्टियुं ।  
 कुरित्तन पुराणत्तार् कूरु गिडुंवे ॥१२७०॥

अर्थ—देवलोक में उत्पन्न होने वाले सुख तथा पुण्य पाप को, चतुर्गति में रहने वाले सुखदुख को एवं भव्य जीवों के संसार को नाश करने वाले सुखदुख के भावों को चित्रित किया है। उन चित्रों को देखते ही चारों गतियों के सुख दुख की शीघ्र ही कल्पना हो जाती है।  
 ॥१२७०॥

कंडवर् काक्षि पै तूपन् शंदुडन् ।  
 पंडुशं तीविने परप्पं तीर्पन ॥  
 वंडुरै पिडिनल् वामन् सेवडि ।  
 कंडवर् शेयुं शिरप्पदुस् काटुमे ॥१२७१॥

अर्थ—भीतर के मंडप में लिखे चित्रों को देखकर मनुष्य का हृदय अत्यंत आनंदित होकर उस अशोक वृक्ष के नीचे रहने वाले अर्हत भगवान के चरण कमलों में नमस्कार कर के आगे बढ़ते ही वहां भगवान के पंच कल्याणकों के भाव चित्रित किये हुए हैं ॥१२७१॥

उळ्ळक्कल मंडप मुंबु तूब याम् ।  
 तळ्त्तेळु सेदित्तर् मुन्निंडु ॥  
 अळ पदि लाडुम् वैजयंतं यांकोडि ।  
 वळक्किन् मानत्तं व मेद वंददे ॥१२७२॥

अर्थ—उस गंधकूटी के पूर्व दिशा में रहने वाले भीतर के उत्कीर्ण मंडपों का विवेचन यहां तक किया गया है। उस उत्कीर्ण मंडप की पूर्वदिशा में एक स्तूप है। उसके आगे एक चैत्य वृक्ष है। उसके आगे वैजयंत नाम की ध्वजा है। उसके बाद मानस्तंभ है।  
 ॥१२७२॥

गोपुरत्तिन् पुरंगुणक्क वान् दिशं ।  
वापि मानंद या माशिलाद नीर् ॥  
पूविना निरेंदु पोन् मणि इनाय दोर् ।  
सोपनं शूळ् बवे तिगेत्तु मागुवै ॥१२७३॥

अर्थ—पूर्व दिशा में रहने वाली वेदी के बाहर पूर्व दिशा में नंदा नाम की बावड़ी है । वह बावड़ी अत्यंत निर्मल जल तथा कमलों से भरी हुई स्वर्णमयी सोपान वाली है । उस बावड़ी के चारों ओर वेदी सहित मंडप है ॥१२७३॥

गंदकुडि मंडवगं तूट्टे वी कानिर् ।  
पंदि योरु मूड्डु निरै यागि वैडूर्य यत् ॥  
तंब मिशं इरुंद तलमूड्डु डैय तामु ।  
मंदरंग दम्मिडै यनेगं शिलै यामे ॥१२७४॥

अर्थ—उस गंधकुटी के एक सौ आठ मंडप हैं । उनको देखने से तीन पंक्ति से युक्त उत्तर दक्षिण तथा पश्चिम में छत्तीस-छत्तीस वेदियां हैं । कुल मिलाकर एक सौ आठ वेदियां हैं, और वैडूर्य रत्नों से निर्मित वहां चार स्तंभ हैं । उनपर तीन २ प्रकार से युक्त स्तूप हैं । यह सब परस्पर स्पर्श न करते हुए भिन्न २ हैं ॥१२७४॥

शम्मनि मंडपत्ति निडे शीय वने मीडु ।  
वम्मलइन् मिशं इरुंद वरुक्क नवन् पोल ॥  
वेम्मै विनयुं केड मिहंद तिरु वुरुवं ।  
तन्मळ वैडुन्नरु धनवागि युयरदंनवे ॥१२७५॥

अर्थ—रत्नों से निर्मित उस गंधकुटी के मध्यभाग में स्वर्णमयी सिंहासन है । वह सिंहासन ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उदयाचल से उगता हुआ सूर्य यहां आकर विराजमान हो गया हो । उसी प्रकार पाप कर्म को नाश करने वाले जिनेंद्र भगवान की पांच सौ धनुष उत्सेध वाली पद्मासन प्रतिभाएं वहां पर विराजमान हैं । ॥१२७५॥

इरु मरुंगुम् चामरैग लियक्क मियक्क ।  
मरुविय मंडलमुं मलर् पिडियु मुक्कुडयुं ॥  
विलै मलर्गळ् सोरिदमर रेत विनेर्नीग ।  
परवु पन्निरंडुं सूळ् दिहंद वागे ॥१२७६॥

अर्थ—जिनेंद्र प्रतिमाओं के दोनों पाश्र्वों में धवल चंवर को ढोल रहे हों—इस

प्रकार प्रभामंडल से युक्त अशोक वृक्ष, छत्रत्रय आदि हैं और वहां अत्यंत सुगंधित पुष्पवृष्टि करते हुए देव स्तुति भक्ति आदि करते हैं ॥१२७६॥

जाल मोर् मूङ्गु डै यानवु मै मै इन् ।  
मेलेळु कावल देवर विरुंबि युं ॥  
काल मनावि परंपरेइन् कट् ।  
टालय मक्कनमेवु दत्तालु ॥१२७७॥

अर्थ—अनादिकाल से परंपरा से चले आये देवों के क्रमानुसार तीन लोक के नाथ श्री जिनेंद्र भगवान की प्रतिमा की पूजा के लिये भक्ति के साथ आकर पूजा करके उस नंदीश्वर द्वीप में रहने वाले अकृत्रिम चैत्यात्रय में प्रवेश किया ॥१२७७॥

सोब मनादि सुरेद्विर् मै मै कट् ।  
कोदिय पेट्टिइन् मुट्टु मुळै कलं ॥  
मावर्गळेंदिय वाचिय कोडने ।  
योड वेळुंडुडन् यावरु वंदार् ॥१२७८॥

अर्थ—वहां से निकलकर जिनेंद्र भगवान की पूजा के लिये अपने हाथ में अष्ट द्रव्य की सामग्री लेकर देव नंदीश्वर द्वीप में आ गये ॥१२७८॥

संगु सुरंङ्गन तारै गळ् पेरत्तोल ।  
वेगुं मुळंगिन पेरिय मौवोलि ॥  
पुंगिय थाव मडित्तुळि माल्कड ।  
लंगेळु वीसयै वैङ्गन वंड्रे ॥१२७९॥

अर्थ—शंखवाद्य, भेरीवाद्य आदि अनेक वाद्यों के शब्द वहां सुनाई देते थे । वे शब्द वायु के द्वारा जैसे समुद्र में रहने वाली तरंगों के शब्द होते हैं उसी प्रकार उन वाद्यों के शब्द सुनाई देते थे ॥१२७९॥

तुगिकोडि वेन् कुडे तोक्कु निरेंवन ।  
मगत्तवर् मंगलं पाडवरोशै ॥  
पुगत्ति शै विम्म वोलित्त मनत्तिन् ।  
मिगैत्तेळु मानंबरगि इरुंवार् ॥१२८०॥

अर्थ—ध्वजाएँ, धवल छत्र आदि वहां दीखने में आते थे । जिनेंद्र भगवान के मंगल-मयी होने वाले गीतगान चारों ओर फैले हुए थे । उस समवसरण को देख कर देव उछल रहे थे ॥१२८०॥

परंद वरंबयर् पाठलोडाड ।  
 निरंद वीयाळ् कुळल् किन्नर गीतं ॥  
 तुरंगमु भावोडु मानमु मेरि ।  
 विरंबिय धन्न मरिण्डु वियंवार ॥१२८१॥

अर्थ—देवियों के संगीत और नृत्यादि सदैव होते रहते हैं । इसके अतिरिक्त किन्नर, किपुरुष देव वाद्य करते हुए अपने २ वाहनों पर चढकर अलंकारों से सजवज कर समवसरण में आते हैं ॥१२८१॥

विक्रिये पल वेदु मडुत्तव ।  
 रविकरिये कन्-नळित्तवर् तम्मोडु ॥  
 पोक्क मुरैत्तु नडित्तुडने शिलर् ।  
 नक्कनर तक्कवर एरण मुळिदे ॥१२८२॥

अर्थ—देवलोग वहाँ आठ प्रकार की ऋद्धियों के बल से परस्पर में हास्य विनोद नृत्य आदि करते थे ॥१२८२॥

वंदिगळ् वंदने शंदिरं वन् पुग ।  
 लंद मिलावन कौडडि ताळ्व नर् ॥  
 कंदिर मोदिय काळ पदागे इन् ।  
 वंदनर् ताम पल रागिय वानोर् ॥१२८३॥

अर्थ—मंगलगीत, स्तुतिपाठ आदि अनेक प्रकार के स्तोत्र आदि मंगलमयी गीत आदि करके भक्ति के साथ भगवान की स्तुति करके चरणाकमलों में नमस्कार किया । अनेक देव ध्वजाओं को पकडकर वाद्यों सहित वहाँ आ गये ॥१२८३॥

येळुच्चि मुळावोलि येगु मियेव ।  
 पळिच्चि वेळुंद नर् पन्नवर् कौने ॥  
 वळविकनिल् वंदुलग नडुमं मे इत् ।  
 तोळिर् किरै शोदमनेवलि नाले ॥१२८४॥

अर्थ—देवों के आगमन के समय उनके द्वारा बजाए जाने वाले वाद्यों के शब्द चारों ओर फैले हुए थे । देवों ने वाद्यों के साथ परंपरा के अनुसार वहाँ आकर नंदीश्वर द्वीप की पूजा की ॥१२८४॥

कत्तिगे पंगुनि याडिय कासर ।  
 सुक्किल पक्क नल्लट्टमि तन्निल् ॥

वत्तबोर, पाबिइत् बंदु नंदिसर् ।  
पुक्कवर मं मे तोडंगिन रंडे ॥१२८५॥

अर्थ—कार्तिक, फाल्गुण व आषाढ मास के अंतिम मास में अष्टमी से पूर्णमासी तक नंदीश्वर द्वीप के श्रावन चैत्यालयों में सब देव मिलकर पूजा प्रारंभ करते हैं ॥१२८५॥

अक्कन मिक्क वरंवय राडु नर् ।  
पक्क मेळुंद वियाल कुळल् पन्नोलि ॥  
तोक्कु मुरंडु वलं बुरि दुंडुभि ।  
नक्कन वान मुळक्कनै मादो ॥१२८६॥

अर्थ—उस नंदीश्वर द्वीप के मंदिरों में जिन विम्बों की पूजा करते समय देवाङ्गनाएँ नृत्य करती हैं, और वीणा वाद्य तथा शंख आदि के शब्दों की ध्वनि चारों ओर दूर तक गूँजने लगती है ॥१२८६॥

सल्लरि तन्नुर्म भेरि मुळावलि ।  
येल्लै तमक्कि येन्न वेळुंदन ॥  
सेल्लिनर तम्मैदिर्, सोल्लिनर्, तम्मोलि ।  
योलेनु माकडलो शेई नोड्रे ॥१२८७॥

अर्थ—भलमरी वाद्य, भेरीवाद्य तथा अनेक प्रकार के वाद्यों की ध्वनि चारों ओर फैल जाती है। परस्पर देवांगना वहाँ इस प्रकार वार्तालाप करती हैं, उसकी प्रति ध्वनि ऐसी मालुम होती है, मानों समुद्र की तरंग ही उठकर गूँज रही हो ॥१२८७॥

तुंबुरु नारवर्, तोक्कुडुन् मिक्कव ।  
रेगुं मिद्याळि सैं वोडोलि तोट्टु नर् ॥  
तंगिय किन्नरर् तम्मि दुनंगळे ।  
तंगिय गीत मोडाई नर् तामे ॥१२८८॥

अर्थ—तुम्बरुनाद करने वाले देवऋषि वीणा नाद करते हुए आते हैं, और किन्नर देवियाँ आकर अपनी सामर्थ्य से वहाँ संगीत नृत्य गान आदि करती हैं ॥१२८८॥

शक्करन् मुदट्टेवर्, कडाम् शंद ।  
मिक्कशिल्वत्तै यावर् विळंबुवा ॥  
रक्कन मुच्चगत्तुळ्ळव रालयं ।  
तोक्क वेदोडंगि शिरप्पोडुमे ॥१२८९॥

अर्थ—सौधर्म इन्द्र आदि देवों के द्वारा किए हुए इनके ऐश्वर्य का वर्णन करने वाले देव तथा तीन लोक में रहने वाले अकृत्रिम चैत्यालयों के जो देव हैं वे ही भगवान की पूजा करते हैं। दूसरे अन्य कोई नहीं कर सकते ॥१२८६॥

शक्करन् शमर नोशन् वर नान् देव राजर् ।  
तोक्क वानवरै नांदु भागमाय् तोगुत्तु कोंडु ॥  
मिक्क बत्तिककं मेवि विरगुळि शिरप्पयर्द ।  
पक्कत्तेन्नाळुं शंवर पविने नाळियं घोर्पलि ॥१२९०॥

अर्थ—सौधर्म इन्द्र, चमरेंद्र, असुरेंद्र, ईशान कल्प के देव, वैरोचन नामके असुर कुमार देव तथा देवों के राजा सभी मिलकर भगवान की पूजा करते हैं। उस नंदीश्वर द्वीप के चारों दिशाओं के जिनालयों में शुक्लपक्ष की अष्टमी से लेकर पूर्णमासी तक एक दिन में एक-एक पहर तक प्रदक्षिणारूप से करते रहते हैं। अर्थात् रात ब दिन बराबर पूजा करते रहते हैं। कोई भेद भाव नहीं है ॥१२९०॥

अक्कनतगत्तु पजं मंदर तालयत्तुट् ।  
पुक्कु चारणारिन् मिक्का रिरंपोट्टि शंपर् ॥  
तिक्कट्टि लिरै वन् पावं शेर्दिदुलगांति देवर् ।  
तक्क वच्चिचर पं येळ्ळाम् तान् शिदित्ति रूप्प रंड्रे ॥१२९१॥

अर्थ—कार्तिक, फाल्गुण व आषाढ इन तीन माह के शुक्लपक्ष में पूजन करके जम्बू-द्वीप का एक मेरु, धातकी खंड के दो मेरु तथा पुष्कराद्ध द्वीप के दो मेरु इस प्रकार पांच मेरु के अकृत्रिम चैत्यालयों में रहने वाली प्रतिमाओं के सम्यक्त्व तथा चारण ऋद्धि को प्राप्त हुए मुनिगण दर्शन करते हैं। ब्रह्मलोक के अंत में रहने वाले ब्रह्मऋषि लौकार्तिक देव भगवान के चरण कमलों का ध्यान वही से करते हैं ॥१२९१॥

नान चिदिमुदल चिदिगळरिंदु मंजनांगत् ।  
तानमवे यैदि मंजनागं मवे वांगि ॥  
वानवर् कन् मणिक्कुडत्तु नंदैयनुं थावि ।  
पानंदने मुगंदु मुगं पट्टुम मलर् सूटि ॥१२९२॥

अर्थ—जिनेंद्र भगवान का अभिषेक तथा पूजा करने की विधि को भली भांति जान कर अभिषेक का गंधोदक लेकर नंदा गाम की बावडी के पानी की विधि पूर्वक लेकर छान कर कलश भर कर उस पर लाल कमल रख देते हैं ॥१२९२॥

अंजलिनो डिरेव नाल यत्तं वलमाय् ।  
वंदवर् कनिड्डित्तिन् मणिक्कदवं तिरप्प ॥



वंदमी त्रिल्लरी विरेवन् द्विरुवुरुवम् कानार् ।  
वंदेळुं वानंदत्तिन् मयांगि मिंगत्तुवित्तार् ॥१२६३॥

अर्थ—श्रद्धापूर्वक उस मंदिर के दर्शन करने जाते समय प्रदक्षिणा देते हुए मंदिर के किवाड़ अपने आप खुल जाते हैं। उस समय वे भगवान के गर्भगृह में जाकर उनका रूप देख कर भक्ति से स्तुति करते हैं ॥१२६३॥

अनंतवरि बालनंत वीर्यनु मानाय् ।  
अनंद देरिशि अनंद बिब मुडे योय्ये ॥  
मनं शेयलिन् वनंगिनवर् पनिदुलग मेत्त ।  
निनेंद पडि येवि विने नीतुयव नंडे ॥१२६४॥

अर्थ—वे देव इस प्रकार स्तुति करते हैं कि हे भगवन् ! आप अनंत ज्ञानों से युक्त हैं। अनंत दर्शन, अनंत सुख को प्राप्त हुए आप को मन, वचन, काय से नमस्कार करने वाले को उसकी मन की जो भी इच्छा होती है उसे पूर्ण करते हैं, और आप की भक्ति करने वाले को क्रम से तपश्चरणा करके आगे जाकर मोक्ष की प्राप्ति करा देते हैं ॥१२६४॥

येङ्गु निङ्गु तुदित्तिरेव नाल येत्तिनुळ्ळा ।  
लङ्गु शेङ्गु पुक्कमर् रासरवर् तांगळ् ॥  
वेङ्गवर् तमिरं वन् द्विरुवुरुवदनुक्केपं ।  
निङ्गवर्गळ् पैव शिरप्पेवर्कु निने परिदे ॥१२६५॥

अर्थ—इस प्रकार स्तुति करते हुए देवों ने भगवान के मंदिर में प्रवेश कर जिनेंद्र भगवान का पंचामृत अभिषेक प्रारंभ किया ॥१२६५॥

तोळ्ग रायिर् तळुत्तिनर् मणिवकुडं सोवमन् मुवलानोर् ।  
वीळुं मेरुविन् नरुविन् वीळ्व नर् वेङ्ग वरतम्मेनि ॥  
यूळि यूलि दोरायत्ति विने यवंतीर्थं मूवुलत्तोर् ।  
ताळु मप्पयर् तांडग मायिर् मुगत्तुडन् पडित्तारे ॥१२६६॥

अर्थ—सौधर्म इन्द्र आदि देव अपने शरीर में विक्रिया के बल से एक हजार आठ भुजाए निर्माण कर उनमें रत्न कलशों को लेकर जिनेंद्र भगवान का अभिषेक करने लगे। उस अभिषेक को देखने वाले भव्य पुरुषों को ऐसा प्रतीत होता था, मानो मेरु पर्वत से कई नदियों का प्रवाह नीचे गिर रहा हो। वहां के देवों ने एक हजार मुख बना कर सहस्र जिह्वाओं से भगवान की स्तुति की। स्तुति करने से उनके पापरूपी रज धुल गई ॥१२६६॥

कन्ग लायिर् मुडैयव चक्करन् घातिये कडिदोर् तम् ।  
पन्वला मुडनिहंद वप्पडिमत्तै पलमुरे पारतारा ॥  
वनगं या ट्रेळु दिरैवन् ट्रन् चरणत्तै वाळ् तोड्डु मरु चित्तान् ।  
पेगळिर् पिरप्पिल् लविदिराणि यिप्येरुन् शिरप्पुडन् शंदाळ् ॥१२६७॥

अर्थ—देवेंद्र अपने एक हजार नेत्रों को बनाकर भगवान को देखता हुआ भी तृप्त नहीं हुआ, और बार २ साष्टांग नमस्कार किया । तत्पश्चात् अष्ट द्रव्य से भगवान की पूजा अर्चा की । उनकी शची इन्द्राणी पुनः गर्भ में न जाने के लिये स्त्री लिङ्ग छेदकर मोक्ष जाने की अभिलाषा वाली ने अपने इन्द्र सहित भक्तिभाव से पूजा करी ॥१२६७॥

गंदमं कडि मालयुं शुन्नमुं कारगिलिडुं दूप ।  
नंदइन् दलवारिस् दीपमु नल पल सरुवालु ॥  
मंद मिल्ल नल्लु वगैइन् नंडपल तोडंगि निडुरुचित्तार् ।  
चंदिरादि कोळ् मुद्देवरु मिदिरर् सोदमन् मोदलानोर् ॥१२६८॥

अर्थ—तत्पश्चात् भवनवासी, व्यंतरदेव तथा ज्योतिषी देव, सौवर्म इन्द्र आदि कल्पवासी देव सभी ने मिलकर भक्ति पूर्वक अद्भुत नृत्य किया । तदनंतर सुगंध, चंदन, धूप तथा पुष्पों से नंदा नामकी बावड़ी के जल से, नैवेद्य से, दीप से भगवान की पूजा की ॥१२६८॥

मट्ट विदिरर् तम्मोडुं पंडिदिरर् मै मै कन् मुम्मं कन् ।  
नुट्टु नर् शिरप्पुळै कलं तांगिनर् देवियर् तम्मोडु ॥  
पेट्टियार् पिरप्परुक्कु नचिरप्पिने शंदु चक्करं पिन्ने ।  
कुट्टु मिल्ल नल्लरि वुडै इरैवन् ट्रन् गुणत्तुवि सोल लुट्टान् ॥१२६९॥

अर्थ—इन्द्र और प्रतिइन्द्रों ने इन कार्यों में भाग लेने के लिये मन, वचन, काय से अपनी २ पूजा योग्य वस्तुओं को थाली में सजाकर अपनी २ देवाङ्गनाओं के साथ वहां आये और सौवर्म इन्द्र ने संसार का नाश करने वाली नंदीश्वर की पूजा करने के पश्चात् स्तुति प्रारंभ की ॥१२६९॥

अरुग नो पुसक्करुग नाय् ।  
पेरियं यायि नै पेन्नसै इन्मया ॥  
लोरुव नायिने योप्प व रिन्ने यार् ।  
रुरुव मायिने तोट्टु मदिन् मयार् ॥१३००॥

अर्थ—भयजीवों के द्वारा पूजा करने योग्य देव आप ही हैं । इसलिए आप महंत पद को प्राप्त हुए हैं । आपके स्त्रियों की इच्छा न होने के कारण आपने महान पद को प्राप्त

किया है । आपके समान अन्य और कोई देव न होने के कारण आप ही वीतरागी हैं । जन्म मरण रहित होने से आप का नाम अमर है ॥१३००॥

येरियुं पोल्वं नि येन्विने काळिद ।  
 मुरुग मुद्दुद्दुर् तूपत्तं शैवलाल् ॥  
 तरुवु नीळलुं पोल्वं नी सार्द वर् ।  
 पैरिय तुंब पिरप्पिने नीतलाल् ॥१३०१॥

अर्थ—अष्ट कर्मों को ध्यानाग्नि से नष्ट कर आत्मा को परिशुद्ध कर लेने कारण आप शुद्ध सोने के समान हैं । आपके चरणों में जो भव्य जीव आते हैं उनकी, जैसे पथिकजनों को छाया सुख पहुँचाती है उसी प्रकार संसार के दुःखों से शांति मिलती है ॥१३०१॥

अरिवनी यरिया पोरुळिन्मे यार् ।  
 मुरं यु नोइलं मुट्ट वुर्णाच्चि यार् ॥  
 करुवु नी इलं काय्थ वोंडिन् मे यार् ।  
 इरेव नी युलगि यावु मिरंज लाल् ॥१३०२॥

अर्थ—केवलज्ञानी होने के कारण ऐसी कोई वस्तु शेष नहीं है जिसको आप न जानते हों । इसलिये आप ही सर्वज्ञ हो । जगत में रहने वाली चराचर वस्तुओं के जानने में आप को तनिक भी व्यवधान नहीं है, तथा क्रोध न होने के कारण आप में राग द्वेष नहीं है । इसलिये तीन लोक के नमस्कार करने योग्य आप ही स्वामी हो । इस संबन्ध में एक प्राचीन ताड पत्र पुस्तक में इस प्रकार स्तुति का उल्लेख है:—

यः पुण्यः पुरुषोत्तमो हरिहरः शंभुः स्वयंभूविभु—  
 विष्णुर्जिष्णुमहेश्वरांतकमहितः स्थाणुः पुराणोऽच्युतः ।  
 सर्वज्ञः सुगतोऽजितः पशुपतिस्तीर्थंकरः शंकरः;  
 सिद्धो बुद्ध उमापतिर्जिनपतिः पापादपायात्स वः ॥१॥

अर्थ—यो भगवान् पुण्यः शुभस्वभावो वा धर्मस्वरूपो वा । भवतीति सर्वत्र क्रिया-  
 ध्याहारः । पुरुषोत्तमः त्रिलोकोदरवतिनां सर्वेषाम् पुरुषाणाम् मध्ये अस्यैव श्रेष्ठत्वात्पुरुषो-  
 त्तमः । हरिहरः हरिश्चासी हरश्चेति हरिहरः । हरति स्वीकरोति क्षायिकसम्यक्वादि-गुणा-  
 निति हरिः । हरत्यपाकरोति स्वस्य परेषामप्यघमिति हरः । प्रत्ययभेदादर्थभेद इति वचनात् ।  
 प्रहारप्रहरादिवत् । एकघातुसमुत्पन्नयोरपि हरिहरशब्दयोरर्थभेद इति प्रतीयत एव । शंभुः,  
 शमभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणां यस्मात् भवतीति शंभुः । स्वयंभूः स्वयमेव परोपदेशे मन्तरेण मोक्ष-  
 मार्गमनुतिष्ठन्ननंतचतुष्टयाद्यो भवतीति स्वयंभूः । विभुः विश्वव्यापी इत्यर्थः । विष्णुः केवल-  
 ज्ञानेन विश्वं वेष्टिमाप्नोति इति विष्णुः । जिष्णुमहेश्वरांतकमहितः । जिष्णुश्च महेश्वर-  
 श्च जिष्णुमहेश्वरी, तयोरन्तकाभ्यां महितः, जिष्णुमहेश्वरान्तकमहितः । प्रकटीकृतो

विद्वद्भिरिति जिष्णुमहेश्वरांतकमहितः । स्थाणुः परमपदे तिष्ठतीति स्थाणुः । आप्त-  
संतानापि अक्षपानोदिकाले प्रवृत्तत्वात् पुराणः । सर्वेषामपि पुरुषाणां पूर्वः इत्यर्थः । अच्युतः  
ज्ञानादिस्वरूपात् कदापि न च्युतः इत्यच्युतः । सर्वज्ञः गुणपर्यायात्मकान् जीवपुद्गलधर्माधर्मकाश  
कालाख्यान् सर्वानपि पदार्थान् युगपत् जानातीति सर्वज्ञः । तदुक्तं- “यः सर्वाणि चराचराणि  
विविध-द्रव्याणि तेषां गुणान् , पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वथा । जानीते युग-  
पत्प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते । सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः” । इति । सुगतः  
सुष्ठुगतः । सुशब्दस्य शोभन-वाचित्वात् सुगतः । अजितः सांख्य-सौगत-चार्वाक-योग-मीमांस-  
कादि-प्रवादि-परिकल्पित-युक्तिभिः जेतुमशक्यत्वादजितः । पशुपतिः पशुं मंदबुद्धीनपि धर्मो-  
पदेशेन पातिति पशुपतिः । तीर्थंकर-तीर्थ-प्रवचन-भव्यजन-पुण्य-प्रेरणा-समुत्पन्न-कण्ठतात्वौष्ठ  
घट-व्यापार-रहितत्वात् तदभीष्ट-वस्तुकथननि शेष-भाषात्मक-मधुरगंभीर-दिव्यभाषां करोति  
समुत्पादयति इति तीर्थंकरः । शंकरः शमभ्युदयनिःश्रेयसरूपं सुखं भव्यजनानां हितोपदेशेन  
करोतीति शंकरः । सिद्धः सकल-कर्म-मलरहितत्वान्निष्पन्नः सिद्धः । बुद्धः बुध्यते येन स्वस्मिन्  
स्वरूपं जानातीति बुद्धः । उमापतिः कीर्तिबल्लभो लक्ष्मीपतिश्चेति उमापतिः । जिनपतिः,  
अनेक-भवगहन-विषम-व्यसन्तापन्नहेतून् कर्मठकर्मारतोन् जयतीति जिनः । अप्रमत्तादिगुणा-  
स्थानवर्तितः एकदेश-जिनास्तेषां पतिः स एवविधः जिनपतिः । समवसरणपरिवेष्टितं त्रैलोक्य-  
श्वर-निरतिशयं विभूत्यष्ट-महा-प्रातिहार्य-चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितो द्वादशगणपरिवेष्टितं  
त्रैलोक्येश्वर-मुकुट-तटघटित-मणि-मरीचिपुञ्जरंजितारुणचरणारविदो भगवदहंत्परमेश्वरो  
वः युष्मान् अपायात् भवजापापं परिहृत्य पापात् रक्षतु इत्यर्थः ।

सद्धर्मरक्षितो राजा राजा सद्धर्मरक्षितः । परस्पर-निमित्तत्वं वनपालोवनं यथा ।

अर्थ—हे भगवन् ! आप पुण्य अर्थात् शुभस्वरूप वा धर्म स्वरूप हो । तीन लोक के  
मध्यवर्ती समस्त पुरुषों में तुम्हारे ही श्रेष्ठ होने से तुम पुरुषोत्तम हो । हे भगवन् ! तुम ही  
हरि हो और हर हो । आपने क्षायिक सम्यक्त्वादि गुण स्वीकार किये हैं इसलिये आपका  
नाम हरि सार्थक है । आपने सब प्राणियों के पापों को दूर किया है इसलिये आप हर हो ।  
यहां हञ् हरणे धातु एक ही है परन्तु घञ् और घ प्रत्यय के भेद से अर्थ भेद है । जैसे प्रहार  
और प्रहर शब्दों में अर्थभेद है । प्रहार का अर्थ है चोट । प्रहर का अर्थ पहर या तीन घंटा  
समय । इसी तरह एक धातु होने पर भी हरि और हर दोनों शब्दों में अर्थभेद प्रतीत होता  
ही है । आप ही शंभू हो । आप से सुख प्राप्त होता है । अभ्युदय निःश्रेयस दोनों से सुख मिलते  
हैं । हे भगवन् ! आप ही स्वयंभू हो । स्वयं ही परोपदेश के बिना मोक्ष मार्ग का अनुष्ठान करते  
हुए अनंत चतुष्टय से परिपूर्ण होते हैं , इसलिये आप स्वयंभू हैं । विभु अर्थात् विश्वव्यापी  
भी आप हैं । आपने केवलज्ञान से सब विश्व को वेष्टन कर लिया है , इसलिये आप ही  
सच्चे विष्णु हो । जो वेष्टन करे वह विष्णु है । जिष्णुमहेश्वरांतकमहितः । जिष्णु अर्थात्  
जपनशील देव और महेश्वर अर्थात् महादेव , इन दोनों के अन्तर्को से महित पूजित आप ही  
हो—ऐसा विद्वानों ने प्रकट किया है । हे भगवन् ! आप ही स्थाणु हो , क्योंकि आप परमपद  
में स्थित हो , इसलिये आपको स्थाणु शब्द से कहा है । परंपरा को प्राप्त अनादि काल से  
अविनाशी होने से आप ही-पुराण हो , अनादि हो , सर्व पुरुषों में प्रथम हो यह अर्थ हुआ ।  
आप ही अच्युत हो , आपने ज्ञानादि स्वरूप से कभी च्युत नहीं हुए और न होंगे , इसलिये ही  
आप सच्चे अच्युत हो । गुण पर्याय स्वरूप जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल, नाम के

सभी पदार्थों को एक साथ जानते हो, इसलिये आप सर्वज्ञ हो। सो ही कहते हैं। जो सभी चर अचर नाना प्रकार सब द्रव्यों को और उनके सब गुणों को और भूतकाल, भावीकाल, वर्तमान काल की सब प्रकार सब पर्यायों को सदा एक साथ प्रतिक्षण जानते हैं, इसलिये उन्हें सर्वज्ञ कहते हैं। ऐसे सर्वज्ञ जिनेश्वर महावीर को नमस्कार हो। इति। आप सुगत हो। क्योंकि शोभन रूप से आप सब के सब प्रकार गत ज्ञाता हो। आप ही अजित हो। सांख्य, सौगत, चार्वाक, योग, मीमांसक आदि परवादीगणों से परिकल्पित युक्तियों द्वारा अजेय हो। आप ही पशुपति हो। पशु अर्थात् मंद बुद्धि जनों को भी धर्मोपदेश से रक्षा करते हो, अतः पशुपति हो। आप ही तीर्थंकर हो। तीर्थ अर्थात् प्रवचन को भव्यजनों की पुण्य प्रेरणा से समुत्पन्न कण्ठ तालु ओष्ठ जिह्वा घट आदि के व्यापार से रहित होने से भव्य जनों को अभीष्ट वस्तु का कथन करने से संपूर्ण भाषात्मक मधुर गंभीर दिव्य भाषा रूप से उत्पन्न करते हैं। अतः आप तीर्थंकर को नमस्कार हो। आप शंकर हो। शं अर्थात् अस्युदय निःश्रेयस को करने वाले हो। मुख को भव्यजनों को हितोपदेश से करते हो। इसलिये शंकर हो। सकल कर्म भलसे रहित होने से आप बने हो। शुद्ध हुए हो, अतः सिद्ध हो। आप ही बुद्ध हो; अपने में अपने स्वरूप को जिन्होंने जिससे जान लिया है ऐसे ज्ञान वाले आप ही बुद्ध हो। उमापति भी आप ही हो। उमा अर्थात् कीर्ति के बल्लभ पति तथा उमा अर्थात् लक्ष्मी के पति हो। अतः उमापति आप ही हो। जिनपति भी आप ही हो। अनेक भव वन में विषम दुखों में पटकने वाले कारणों को मिथ्यात्वादि को कर्मठ हठ कर्म वैरियों को जीतते हैं सो जिन हैं। अप्रमत्तादि या असंयत आदि गुणस्थानवर्ती श्रावक साधु एक देश जिन हैं। उनके पति आप ही हो। इसलिये जिनपति हो। ऐसे समवसरण से परिवेष्टित, त्रैलोक्य के ईश्वर, जिससे बढकर अन्य नहीं, ऐसा निरतिशयविभूतिरूप अष्ट महाप्रातिहार्यों से तथा चौतीस प्रतिशयों से सहित, अनंत चतुष्टय मंडित, द्वादशगणपरिवेष्टित, त्रैलोक्यनाथ, देवेंद्रादिक के मुकटतट में लगी मणियों के किरणसमूह से रंगे गये हैं लाल चरण कमल जिनके ऐसे भगवान् अर्हत परमेश्वर तुम सब को भव में होनेवाले दुःखों से हटाकर रक्षा करें।

नीति का श्लोक है कि जो अच्छे राजा होते हैं वे सद्धर्म की रक्षा करते हैं। तथा सद्धर्म भी उस राजा की रक्षा करता है। ऐसा परस्पर में निमित्त है। जैसे माली बगीचे की रक्षा करता है तो बगीचा भी माली की रक्षा करता है, इसी प्रकार सर्वत्र परस्पर निमित्त नैमित्तिक संबंध है ॥१३०२॥

मुळुवु नी मुळुवुकु मिरं व नी ।

मुळुवु तन्वडिबिन् मुळुवागि नी ॥

मुळुवुं कंडुनर् दा इंब मुद्रु नी ।

मुळुवुं विरित्तु नान्मुग नागिनी ॥१३०३॥

अर्थ—इस लोक में चराचर वस्तु को देखने की शक्ति आप में ही है। आपका स्वरूप सर्वव्यापी होकर अनंत ज्ञान से सर्व पदार्थ को देखने वाले तथा जानने वाले हैं। सम्पूर्ण सुखको प्राप्त हुए आप ही हो। जीवादि सकल पदार्थों को दिव्यध्वनि के द्वारा चारों अनुयोग रूप में कहकर चतुर्मुख को प्राप्त हुए आप ही हैं ॥१३०३॥

बुन्ने तानिन्ने युन्ने इन्मयान् ।  
तिन्निय तन्नोडवाचियं सेप्पिडिर् ॥  
पण्णु भंगंगळेळ्, पुरुट्ठिकल्लये ।  
लुन्नेवान् पोहट्ठ किल्लै येड्ढोदि नाय् ॥१३०४॥

अर्थ—स्याद् अस्ति, स्याद्नास्ति, स्याद् अस्ति नास्ति, स्याद् अवक्तव्य, स्याद् अस्ति अवक्तव्य, स्याद् नास्ति अवक्तव्य, स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य इस प्रकार सप्तभंग है । इन सातों के बिना द्रव्यादि वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती । ऐसे सप्तभंगी नय के व्याख्यान करने वाले आप ही हैं ॥१३०४॥

मुट्ट नी यवर्कुं तुंब नीकलार् ।  
पट्ट नीइलै पट्टवं तीर्थलान् ॥  
मुट्ट नीयुनरंदाय् भूवल्लगत्तिन् ।  
पेट्टि तन्न नी यावर्कुम् पेसलाल् ॥१३०५॥

अर्थ—आपके चरण में आए हुए भव्यजीवों का दुख नाश करने के लिए आप बंधु के समान हैं । मोह से उत्पन्न हुए रागद्वेष आदि परीषहों का नाश करने वाले चराचर वस्तु तथा सम्पूर्ण पदार्थों के गणधरादि के समान आप हितोपदेशी हैं ॥१३०५॥

उरुव नीयग विक्क लिरुत्त लाल् ।  
इरुव नी युडंबोडु सेन्नाळेलाम् ॥  
मरुवि दान वर वाळ्ति पिव्वाट्टि नार् ।  
पोरुविला पुण्णायत्तोडुं पोडि नार् ॥१३०६॥

अर्थ—सदैव के लिए जन्म मरण से रहित पुनर्जन्म न होने के कारण आप अजन्मा हैं । अरूपी हैं । मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं । आप द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का नाश करने के कारण लौकांतिक तथा चतुर्णिकायदेव आकर अकृत्रिम चैत्यालयों में आकर आपकी स्तुति करके पुण्य-बंध कर लेते हैं ॥१३०६॥

इमंय वर पोल विच्चिरप्पं शंबव ।  
रिमं यवरुलगतं येहि इंगुवन् ॥  
दिमं यवर् शेयुं शिरप्पेंदु मेदि पो ।  
इमं यवर् वोळ्च्चित्ति पगत्तिरुपरे ॥१३०७॥

अर्थ—जैसे नंदीश्वर द्वीप की देवलोग पूजा करते हैं, उसी पूजा को मनुष्य लोग यहां पूजा करने से देवलोक को प्राप्त होते हैं । वहां से चयकर कर्मभूमि में आकर अच्छे कुल

में जन्म लेकर राजा महाराजा तथा तीर्थंकर तक होते हैं, और क्रम से मोक्ष को जाते हैं ।

॥१३०७॥

येन्वर्गं वियंदरर् किड मिदागवुं ।  
पन्नवर् पनित्तनर् पल्ल मायुग ॥  
मुन्निलत्तेगनु मुरं व रोकमुं ।  
वण्णुरु शिल्लैगळ् पत्तागु मेवंवे ॥१३०८॥

अर्थ—आठ प्रकार के देव इसी मध्य लोक में रहने वाले देव हैं, ऐसा भगवान ने कहा, और व्यंतर देव का शरीर आठ धनुष प्रमाण होता है ॥१३०८॥

आईरं योजन याळ्द दोंगिय ।  
ताईर मिलाद नूराइरं पुगं ॥  
यायिरं पत्तडि यगल मायदु ।  
मेय नाल् वनत्तदु मेरु वेंबवे ॥१३०९॥

अर्थ—पृथ्वी के नीचे महामेरु पर्वत की एक हजार योजन पीठ है—नींव है । इस मेरु पर्वत की जड़ की चौड़ाई दस हजार नब्बे योजन है और क्रम से घटते घटते भूमि के ऊपर दस हजार योजन विस्तार है और भूमि पर भद्रशाल वन है । इससे ऊपर दस हजार योजन की चौड़ाई पर नंदन वन है । जिनके ऊपर सौमनस और पांडुक वन है । ऐसे चार वन हैं ।

॥१३०९॥

तुगनिल मीदु पत्तिलाद वेण्णूरु नर् ।  
पुगं मिशं नूट्टोरु पत्तु वान पुगं ॥  
इगळ् विला जोतिड रोलकं यिट्ठं ।  
यगनिलत्ति यंगु वर पुत्तु निर्परे ॥१३१०॥

अर्थ—चित्राभूमि के ऊपर सात सौ नब्बे योजन के ऊपर एक सौ दस योजन तक ज्योतिषी देव रहते हैं । मध्यलोक के अठ्ठाई द्वीप में ज्योतिषी देव गमन करते हैं । मानुषोत्तर पर्वत के बाह्य प्रदेश में ज्योतिषी देव स्थिर हैं ॥१३१०॥

इरवि पत्तिन् मिसं येन्वदिन् मिशं ।  
येरविदं पयैवना भीन्ग नान् मिशं ॥  
युरं शंद पुवर् कुयर् नानगु मूडिन् मेस ।  
विरगि नाल् वेळ्ळि याळं शोव्वाय शनि ॥१३११॥

अर्थ—पहले कहा हुआ सात सौ नब्बे योजन पर तारागण हैं । उससे ऊपर दस योजन जाकर सूर्य का विमान है । उससे अस्सी योजन जाकर चंद्रमा का विमान है । चंद्रमा

से अर्थात् आठ सौ ब्रह्मी योजन से चार योजन ऊपर जाकर सत्ताईस नक्षत्र हैं। उससे चार योजन ऊपर जाकर बुध का विमान है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र का विमान है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति का विमान है। उससे तीन योजन ऊपर मङ्गल (अंगार) का विमान है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर शनि का विमान है। इस प्रकार एक सौ दस योजन में अर्थात् इस भूमि से नौ सौ योजन तक ज्योतिषी देवों का निवास है। इसी को ज्योतिर्लोक कहते हैं। यह सब एक राजू में फले हुए हैं ॥१३११॥

कीळवान् तारगं केट्किन् मेलुमा ।  
 मेळुवान् शिलै युयरं देग पल्लमास् ॥  
 वाळु नाळ् जोतिडर् कंङ्गि मूवहं ।  
 कीळ वायुग मीरारंग लंजरे ॥१३१२॥  
 इरंडु नान्गु मुन्नान्गुमे लारु मर् ।  
 टिरंडिनो वेळुवदामिदु वरुवकंनु ॥  
 तिरंड तूट्टु मुप्पत्तिरंडुमुं शेलु ।  
 मिरंडि रंडरं सागरत्तीविने ॥१३१३॥

अर्थ—तारागण, सूर्य और चंद्रमा के नीचे और ऊपर रहते हैं। ज्योतिष देवों की आयु एक पत्य होती है। भवनवासी और व्यंतर देवों की जन्म्य आयु दस हजार वर्ष की होती है। मध्यम भूमि के ढाई द्वीप के जम्बूद्वीप में चंद्र और सूर्य दो-दो होते हैं। महालवण समुद्र में चार चंद्रमा और चार सूर्य होते हैं। धातकी खंड में बारह चंद्रमा और बारह सूर्य रहते हैं। कलोदधि समुद्र में बयालीस चंद्रमा और बयालीस सूर्य रहते हैं। पुष्करार्द्ध द्वीप में बहत्तर चंद्रमा और एक सौ बत्तीस सूर्य अढाई द्वीप में गमन करते हैं ॥१३१२॥१३१३॥

#### \* देवलोक का वर्णन \*

तुरवकत्ति नियर कं सोल्लिर् शोल्लय पडलंदोरु ।  
 मिरप्प विदिरगं शेनि बंदस् किन्नगमुं मागुं ॥  
 तिरत्तुळि शेणि बंद मिरुदु नाट्टिशयुं शेंडु ।  
 वरवकदिराळि वेद नरुवदो डिरडेन् इाने ॥१३१४॥

अर्थ—स्वर्ग लोक के एक एक पटल एक एक इन्द्रक श्रेणी बद्ध विमान प्रादि के तिरेसठ पटल होते हैं। सौषर्म कल्प में प्रथम पटल के तिरेसठ तिरेसठ श्रेणीबद्ध विमान हैं। ॥१३१४॥

सोल्लिय पडलंबोरु मरो वंडु सुरुंगि चडु ।  
 नल्लिशं येनुदिशे कट्टिशंदोरु मरो वंड्रागुं ॥



विब्रुमिळदिलंगुम् शंबोन् विमाणत्तिन् कनने वैडिर् ।  
सोब्रुदुं केट्क सोदमोशान तोडक्क भाग ॥१३१५॥

अर्थ—सौधर्म कल्प की दशाश्रों में श्रेणीबद्ध तिरैसठ विमान हैं और ऊपर जाकर एक एक कम होकर अंत के अनुत्तर पटल में एक एक श्रेणीबद्ध विमान है । अति किरणों से युक्त श्रेणीबद्ध रहने वाले विमान सौधर्म कल्प में रहने वाले श्रेणीबद्ध विमानों की संख्या के विषय में आगे वर्णन करेंगे ॥१३१५॥

इलक्क मिन्नान्गु मेळु नान्गु मुध्दानगु मेट्टु ।  
मिलक्क नान्गिरंडिर् कागु मेलिरंडि रंडिर् किष्वा ॥  
रिरक्कत्तिल् पादि येन्नंजाइर मारु मागि ।  
विलक्कला विमान नान्गु त्तरु मुन्नूरु मामे ॥१३१६॥  
तूट्टि नोडुरु पत्तोड्रु मेटिम तिरयत्तिन्क ।  
तूट्टि तूडेळु मागु मध्यम मुम्मई ट्रोन् ॥  
तूट्टि नोडोड्रु मागमुपरिम मुम्मइन् कन् ।  
नाट्रवु मोंबत्तेदा मनुदिशानुत्तरत्ते ॥१३१७॥

अर्थ—सौधर्म कल्प में बत्तीस लाख विमान हैं । ईशान कल्प में अठाईस लक्ष विमान हैं । सनत्कुमार कल्प में बारह लाख विमान हैं । महेंद्र कल्प में आठ लाख विमान हैं । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर दोनों कल्पों में दो दो लाख अर्थात् चार लाख विमान हैं । सांतव कापिष्ठ कल्प में पचास हजार विमान हैं । शुक्र महा शुक्र में चालीस हजार विमान हैं । शतार सहस्रार कल्प में छह हजार विमान हैं । आनत प्राणत कल्प में चारसौ विमान हैं । आरण अच्युत कल्प में तीन सौ विमान हैं । नीचे के तीन श्रेणिक में एक सौ ग्यारह विमान हैं । मध्यम के तीन श्रेणिक में एक सौ नौ विमान हैं । ऊपर के तीन श्रेणिक में इक्यासी विमान हैं । नवानुदिश कल्प में नौ विमान हैं । पंचाणुत्तर कल्प में पांच विमान हैं ॥१३१६॥१३१७॥

इंदिरर् सामानिकर तायत्तिगर पारिडदर ।  
कंब पालर कापरानी कर कीनर् किल् विळियर् ॥  
विंदिरावि गळिर् पत्तु मरसर् गळ् कुरव रंडि ।  
मंदिरर् शूळ्दि शूळ्ं दिरुपर कांजुगि यादि पोल्ंवार ॥१३१८॥

अर्थ—इन्द्रसामानिक देव, त्रायस्त्रिंश देव, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, दण्डनायक, अनीक, प्रकीर्णक, किल्बिषिक देव, आभियोग्य इस प्रकार दस जातियां प्रत्येक स्वर्ग में होती हैं, और जिस प्रकार कर्मभूमि में राजा मंत्री आदि होते हैं उसी प्रकार वहां देवों में भी राजा मंत्री आदि होते हैं ॥१३१८॥

नडुव नेन् पुगै कोळुपाय नंविईचिरगोट् तीट्टिर् ।  
 कुडै मलरं विरुंदवे पोल् डिरंडरै तीवोडोत्तु ॥  
 कडैला वरिवु काक्षि युडैय वर कळुवि निड्र ।  
 विडमडु वुलगत्तुच्चि येतरं तिरस वामे ॥१३१६॥

अर्थ—अनंतज्ञान, अनंतदर्शन आदि को प्राप्त हुए सिद्धपरमेष्ठी के सिद्धक्षेत्र तीन लोक के शिखर के ऊपर जो सिद्धशिला है, वह आठ योजन प्रमाण मोटाई में छत्राकार सिद्धशिला है। उसके उपर सिद्धक्षेत्र में सिद्ध भगवान विराजमान हैं। वह सिद्धशिला गोल पेंतालीस लाख योजन चौड़ी है। ऐसे सिद्ध भगवान भव्य जीवों के द्वारा स्तुति करने योग्य हैं ॥१३१६॥

मतिश्रुतमवदि मांड मनपच्चं केवलमाम् ।  
 विदियमां पमाणं वैडिन् विकर्पंग लियाम्बु मांगुम् ॥  
 मदिसुवं परोक मागुं मद्र पच्चक्क मागुं ।  
 विदिइवै विगुलन् तूलं सकल निच्चयम् मामे ॥१३२०॥

अर्थ—सम्यक्ज्ञान में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान इस प्रकार ज्ञान पांच प्रकार के हैं। इन एक एक का विस्तार से विवेचन करना मेरे द्वारा अशक्य है। ग्रथ विस्तार के भय से मैंने यहां विवेचन नहीं किया है, अन्य ग्रंथ से जान लें। क्योंकि ये पांचों ज्ञान अनंत विकल्पों से युक्त हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष हैं। अवधिज्ञान एक देश प्रत्यक्ष है तथा मनःपर्ययज्ञान स्थूल व सूक्ष्म है। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। १३२०॥

मदिइनुं करुत्तु कन् कूडिरंडु माम् विशोडं पत्ताम् ।  
 विदियडु कन् कूडांगु विधारनै नीकं तेट्टं ॥  
 मति सुरति शेन्ना सिदै मद्रिवै परोक्क मागुं ।  
 सुदमदन् मुन्धु सेल्लु मदियुनर् परोक्क मामे ॥१३२१॥

अर्थ—मतिज्ञान के अर्थावग्रह व व्यंजनावग्रह दो भेद हैं। यह विशेष रूप से दस प्रकार का होता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये छह भेद हैं। इन से एक एक उत्पन्न होने वाले छह अर्थावग्रह हैं। चक्षु और मन के व्यंजनावग्रह नहीं हैं। अर्थात् चार भेद हैं। ये दोनों अर्थावग्रह के छह और व्यंजनावग्रह के चार इस प्रकार दोनों मिलाकर दस भेद हैं। अर्थावग्रह के ऊपर ईहा, आवाय, धारणा ये तीन हैं। स्पर्शनादि इन्द्रियों के भेद भिन्न भिन्न प्रकार से होते हैं। ये सभी मिलकर अठाईस होते हैं। यह बहु, बहुविध, एक एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, निःसृत, अनिःसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव, अध्रुव ये बारह पदार्थ हैं। इनको गुणा करने से तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं। यह मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध इन पर्यायों को धारण करते हुए परोक्ष है, मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान परोक्ष है ॥१३२१॥

वैपु नय नळव वाईल् मार्कनं गुणजीवन् गळ् ।  
 सेष्पिय सुवत्तिय शेंडु विकर्पमाम् सदादि योडु ॥  
 मंप्पड उनर्बे तोट्टिन् बिनं गळं केडुक्कु मेंडु ।  
 पैपोरु पमाणमाग पुण्णिय किळवन् सोन्नान् ॥१३२२॥

अर्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ऐसे चार प्रकार होकर उत्पन्न होने वाले निक्षेप, द्रव्याधिक, पर्यायाधिक नयों से उत्पन्न होने वाले, नेगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत ऐसे सात नयों के द्वारा उत्पन्न होने वाले, अद्रव्यात्मभाषी, उपचरित, अनु-पचरित, असद्भूत, सद्भूत, व्यवहार, शुद्धनय, अशुद्धनय, इन भेदों से छह प्रकार है। द्रव्य-प्रमाण, भावप्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण, परोक्ष प्रमाण, लौकिक प्रमाण, परमार्थ प्रमाण होकर यह निक्षेप नय प्रमाण से गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, ग्राह्य ये चौदहमार्गणा के स्थान हैं। और मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असंयत, देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांत कषाय, क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली ऐसे ये चौदह गुणस्थान हैं। सूक्ष्मपर्याप्ति, सूक्ष्म अपर्याप्ति, बादर अपर्याप्ति, बादर एकद्रियपर्याप्ति, द्वीद्रिय अपर्याप्ति पर्याप्ति, तींद्रिय पर्याप्ति अपर्याप्ति, चौइन्द्रियपर्याप्ति अपर्याप्ति, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्ति अपर्याप्ति, संज्ञी-पर्याप्ति, इस प्रकार चौदह जीव समास हैं। यह सभी प्रहृत भगवान की दिव्यध्वनि द्वारा निकले हुए शब्दों को भाव शुद्धि से परिपूर्ण गणधर देवों के द्वारा द्रव्यागम नाम के शास्त्र के बारह अंग और चौदह पूर्व में द्रव्यागम की रचना को गई थी। सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव, अल्प, बहुत्व ऐसे ये भाव श्रुत कर्मोपशम काललब्धि के अनुसार उत्पन्न हो जाय तो कर्मों का नाश होकर परमात्म पद को प्राप्त हो जाय—ऐसा गणधर देवों ने कहा है।१३२२।

अंग पूव्वादि तूलगळागमं पमाण मागुं ।  
 शिगिय मदि सुदंगळ् विभंगमुं तीय ज्ञान ।  
 मंगवं मूडन् संदेयं विपरीत मागुं ।  
 तंगिय सन्निक्किप्पार् टानेला मूढ मामें ॥१३२३॥

अर्थ—अंगपूर्वादि द्वादशांग चतुर्दश पूर्व को गणधर अंशरूप में रचना किया हुआ श्रुतज्ञान अंशरूप प्रमाणरूप है। कर्म के उदय से इसके त्रिरूढ कुमति, कुश्रुत विभंग ये तीनों मिथ्यात्व को उत्पन्न करते हैं। यह मिथ्यात्व मूढत्व, विपरीत और संशय को उत्पन्न करने वाले हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के शरीर को छोड़ कर शेष तेरह प्रकार के जीव-सुमति ज्ञान से युक्त हैं ॥१३२३॥

अरु तत्तिर् कामत्तिन् कनौ विरंडगत्तुं सेंडु ।  
 विरुत्तत्तं तेळिविलामे विशदमामूडमागु ॥  
 मोरुत्तुळि शेरिद लिड्दि युलावल् संदेग मागुं ।  
 विरुद्धमा युनर् दल् सोल्लल् विपरीत नयमदामे ॥१३२४॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय जीव द्वारा अर्थ और काम भोग में परिणति करते हुए धर्म मार्ग को न जानते हुए पंचेन्द्रिय विषय में मग्न रहना यही मिथ्यात्व का कारण है। मन्त्रे देव, गुरु, शास्त्र में संशय करना संशय मिथ्यात्व है। भगवान के कहे हुए वचनों में विपरीतना समझना विपरीत मिथ्यात्व है ॥१३२४॥

अराधाति मान्गं लात रल्लर् नल्लरेंडुं ।  
विरागादि येल्ल भागं विकर् पत्तं विडुदलेडुं ॥  
सुरोगादि योब लिडि व्ईर् कोलं दरुम मेंडुम् ।  
वरागादि पिरवि याने वैयत्तु किरैव नेडुम् ॥१३२५॥

अर्थ—राग द्वेष परिणाम से युक्त मनुष्य को देव कइना, पाप कार्य करने वाले मनुष्य को गुणी कहना और वैराग्य भावना से रहित धर्म—मार्ग मानना, सांसारिक विकल्पों को नाश करने एवं रोग आदि दुःखों के परिहार करने में जीवहिंसा आदि को धर्म मानना, जन्म मरण करने वाले जीवों को देव मानना, यह सभी विपरीत मिथ्यात्व है ॥१३२५॥

विकार मिल्लोरुवन् शैर्ग युत्तगत्तिल् विकारमेंडुं ।  
मवावोडु मनवि नोगां वरं मादवगळेंडुम् ॥  
तगावन थावुं शैय्यवल्लर् तलेव रेंडुम् ।  
तोगा विरि पोरुळ्गं लिल्ले सुनिय मल्ल देडुम् ॥१३२६॥

अर्थ—विकार गुण रहित कार्य को विकार ऐसे कहना, रागादि विकार रहित गृह-स्थ को महातपस्वी कहना, अति क्रूर हिंसा करने वाले प्राणी को वीर पुरुष कहना, जीव को सदा शून्य मानना और जीव कोई द्रव्य ही नहीं है ऐसा कहना—यह विपरीत मार्ग है। इसको शून्य मत कहते हैं ॥१३२६॥

तन्ने कोडुं यिरै योवल् तवक नर् करुणो येंडुम् ।  
पिन्नेता तूने युन्गै पेसंबव मावदेडुं ।  
मुन्निट्टाम् कनत्ति यावु मुट्टर केडुमेंडोदि ।  
पिन्नेत्ता नित्तमुत्ति कुळक्कन पेशलामे ॥१३२७॥

अर्थ—अपने प्राण को नाश करके दूसरे का रक्षण करना—इसी को दया कहना, मांस खाने को धर्म कहना, आत्मा क्षण २ में नाश होकर नया उत्पन्न होना—ऐसा कहना, बिना तपश्चरणा के आत्मा का कल्याण मानना, यह सब क्षणिकवाद है ॥१३२७॥

अरिविने वीडा मंडि याचारत्तागु मंडि ।  
इरैवनर् कादलाला मिव्विरंडालु मागु ॥

नेरि मुत्ति किल्ले नित्तं मुत्तने जीवनेड्डुम् ।  
अरिविन् नंडे येड्डु मळत्तलाम् पिळत्तलीदि ॥१३२८॥

अर्थ—केवल दर्शन से ही मोक्ष होना कहना, केवल ज्ञान ही तथा चारित्र्य से ही मोक्ष होना—ऐसा कहना, भक्ति से मोक्ष होना कहना, इसके अतिरिक्त मोक्ष मार्ग के लिये और कोई मार्ग ही नहीं है ऐसा कहना तथा जीव हमेशा नित्य ही है—ऐसा कहना, इस प्रकार विवेचन करना मिथ्यामार्ग का पोषक है ॥१३२८॥

इरैव मट्टेन् कोलेडु विने मण्णर् मिगुवर् कौड्डुम् ।  
करं कळलरसर् केटा रत्तव रुरैक सुट्टु ॥  
नेरियिना लेट्टुत्तत्त निमित्तत्तं निरैय पेट्टु ।  
सेरिय मिक्कल्ल दीन मामदु शप्पक्केळ् मिन् ॥१३२९॥

अर्थ—मेरु मंदर ने प्रश्न किया कि कर्मरूपी शत्रु के द्वारा आत्म-बंधन के लिए कारण कौनसा है ? तो भगवान ने बतलाया कि ज्ञानावरणादि आठ कर्म क्रम से आने वाले अशुद्ध चेतना परिणामों से कर्म आकर आत्मा में आस्रव करते हैं। आस्रव कौन २ से हैं, यह बतलाते हैं ॥१३२९॥

परमनोल् पळित्तल् माय्त ल्ळिडेयुरल् पिळैक बोदल् ।  
कुरवर् भारादल् सुरेदगं कौड्डुळि करत्तत्तद्रित्तन् ॥  
मरुवु तुवर्ग नान्गिन् ज्ञान माचर्यमुट्टुं ।  
पेरुगिला वरण ज्ञान काक्षि ये पिनिक्कु मिक्के ॥१३३०॥

अर्थ—अठारह दोष रहित ऐसे अर्हत परमेश्वर के मुखारविंद से निकली हुई दिव्य-ध्वनि के शब्दों को गणघर देव उस दिव्यध्वनि को अंशरूप में गूँथ कर उसको सूत्रबद्ध करते हैं। उस सूत्रबद्ध को अवर्णवाद अर्थात् उस सूत्र की निंदा करना, उसका नाश करना, उसके अन्दर विघ्न उपस्थित करना, उस सूत्र के विरुद्ध अपने मनोकल्पित रचना करके कहना, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु की निंदा करना, भ्रष्ट जीवों द्वारा आगमानुसार उपदेश को छुपाना, भूँठे शास्त्रों का प्रचार करना, क्रोध, मान, माया, लोभ से सम्यक्त्व रहित होना, यह सभी ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म के आस्रव के कारण हैं ॥१३३०॥

तन्मुद लुयिरे कोरल् वरत्तुदल् पडंगळ्ळिदि ।  
इन्नुयिर् नडुंग चेर लेरि इड लुरुप्पस्तर ॥  
विन्मुद ल्ळीद लुळं ल वरुंद वेन् तुयरे शंदल् ।  
इन्नव इडरे ईन्नु मसाव वेदत्तं वोटुम् ॥१३३१॥

अर्थ—स्वपर जीवों की हिंसा तथा दूसरे जीवों पर उपसर्ग करना, जीवों की शिकार करना, दूसरे के घर को आग लगाना, गंज जलाना, आयुध दूसरों को देना, क्रूर कृत्य

करना, दुख देने वाले निम्न कार्य करना ये सब असातावेदनीय कर्म के बंध के कारण हैं ।

॥१३३१॥

उरै शीव गुणंगळिडि करुणयं युळिळ्ळट्टेळु ।

मरुविय मनत्तिनगि लुयिर्गळिन् वरुत्तमोबि ॥

तुरु नयत्ताल् वंदेदुं तुंबत्तै तुनिय नोरि ।

पोरिय विवत्तै याक्कं सादंदान् पिनिक्कु मिक्के ॥१३३२॥

अर्थ—इस क्रूर परिणाम को त्यागकर समताभाव को धारण कर कारुण्य, प्रशम, अनुकंपादि धर्मनिराग से युक्त परिणाम को धारण करना, दुखी जीवों पर अपनी शक्ति अनुसार कृपा कर दुख दूर करना, मिथ्यामार्ग-से आने वाले दुखों को तथा उपसर्गों को रोकना । इससे अनंत सुख को देने वाले सातावेदनीय कर्म का बंध होता है । पातिया कर्मों को नाश किये हुये अर्हत भगवान तथा उनके आलय को जिन धर्म का मार्ग का यथाथ स्वरूप समझ कर धर्म का ऐसा उपदेश देना जो सभी भव्य जीव समझ सकें, यह सभी सातावेदनीय कर्म के बंध के कारण हैं । इसी प्रकार इसके विपरीत कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र मिथ्वात्वी साधु को नमस्कार करना, षट् अनायतनों को मानना ये सभी दशन मोहनीय के बंध के कारण हैं ।

॥१३३२॥

अरुग नालयंग तूल्ग लर नेरि तमक्कु माराय् ।

पोरुळ् कडेरादु माराम् पोरु लुरे तरुगनादि ॥

पेरुमयं पोरानु कुट्टम् पिरंगि नार् तमं इरं जल ।

मरु मिक्कत्त मट्टि नेरिमय कुरुक्कु मिक्के ॥१३३३॥

अर्थ—सम्यक् चरित्र को नाश करना, अस और स्वावर जीवों की हिंसा करना, दुष्ट परिणामों से राग द्वेषादि परिणामों को उत्पन्न करना, इनसे चारित्र्य को नाश करने वाले चारित्र्य मोहनीय कर्म का बंध होता है ॥१३३३॥

मोळ्कत्तै येळित्तल् कायत्तूवन् निरं तम्मै ।

येळित्तिडल् किळ्ळइर् सेदं नीकुव लादि यालुं ॥

वळ्ळुक्किला चेट्टु मावं मयक्कमा मै यंदालु ।

मोळ्कत्तै यळिक्कुं मोग मुडल् बंदु पिगिक्कु मिक्के ॥१३३४॥

अर्थ—इस प्रकार अनादि काल से मोह को उत्पन्न करने वाले घाठ प्रकार के कर्मों से तथा परिग्रह वाँछा से जीव का बंध करना, चोरी करना, असंयम में आनंद मानना आदि से अशुभ लेश्या परिणाम होता है । इन परिणामों से बहु आरम्भ परिग्रह को उत्पन्न करने से तीव्र नरकायु का कर्म बंध होता है ॥१३३४॥

मरुळ् शैयुं विने मुन्नेट्टिन् माट्टोणा उदयत्तालुं ।

पोरुळ् कोले कळवु पोय्यिर् पुंरिदेळु मुवगं पालुं ॥

तिरिबिद तीर लैचं मुरुक्कि पेरांरंवत्तु ।

मरु मानिरं वायु माट्टोना उदयत्ताले ॥१३३५॥

अर्थ—सत्य स्वरूप को जानने वाले सम्यकदर्शन की शुद्धि से उत्पन्न होने वाले घाती-अघाती कर्मों को जोते हुए अर्हत परमेष्ठी में, तथा निश्चय व्यवहार रत्नत्रय मार्ग में भक्ति रखना, हेयोपादेय से समताभाव रखना, धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान से इस लोक और परलोक में अपने को उत्पन्न होने वाले सुख की इच्छा न करते हुए और पाप पुण्य के नाश करने के लिये प्रयत्न करना, मोक्ष पुरुषार्थ में ही निमग्न होना, सत्पात्रों को औषधि, शास्त्र, अभय और आहार चार प्रकार के दान देना, देव पूजा, गुरु उपास्ति, शास्त्र—स्वाध्याय आदि षट् क्रियाओं का पालन करना, शील पालना यह सब उत्तम भोग भूमि का कारण है ॥१३३५॥

वंचनं मनत्तु वत्तु वाकोडु कायं वेराय ।

नजन वोळुक्कं पट्टि नल्लोळु कळित लालु ॥

मेंजिडामूडमादि मूड्डु मिच्चुदयत्तालुं ।

सेम् सैवेव् विलक्कि लुयिक्कु मायुगं सेरिक्कु मिक्के ॥१३३६॥

अर्थ—मायाचार करना, कपट को मन में धारण करना, मन, वचन काय से विष के समान हिंसादि दुष्ट क्रियाओं का पालन करना, अहिंसादि मार्ग को नाश करने वाली लोक मूढता, पाखंड आदि मिथ्यात्व के उदय से संज्ञी असंज्ञी ऐसे तिर्यंच गति में उत्पन्न होता है ।

॥१३३६॥

मंमं यां तेळिवि लागुं वेडु वर गुणतुळार्वम् ।

सेम्मं वानु करुणं सिद युट् कलक्क मित्तम् ॥

इम्मंयाम् भोग वेडां मुनिवर् कट् कीद लादि ।

तम्मिनादि भोगभूमि मक्कळा युगं कडामे ॥१३३७॥

अर्थ—दर्शनविशुद्धि रहित मायाचारों करने से भोगभूमि में रहने वाले तिर्यंचगति का कारण होता है । इसलिये मायाचार रहित सम्यक्त्व पूर्वक आचरण करने से कर्मभूमि के मनुष्य की प्रायु का बंध होता है ॥१३३७॥

उरंत्त विक्कुगुणंगळ् माय मोंडिडि लंदमूमि ।

तिरिक्कय वायु वांगु सेप्पिय गुणंगळ् मायं ॥

पोरुत्त मिन्नाद पोदु मंद मद्दिमंगळागिल् ।

वरुत्त मित् करुम मूमि मक्कळा युगंगळामे ॥१३३८॥

अर्थ—धर्मध्यान से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व रुचि से संसार संबंधित पंचेंद्रिय विषय सुखों से वैराग्य को प्राप्त होकर क्षमाभाव धारण कर समता भाव से देवाधिदेव

भगवान होने वाले चरम शरीर को धारण कर मोक्ष जाने वाले तीर्थंकर पद को प्राप्त कर लेते हैं ॥१३३८॥

अरत्तेळु बिरुप्पि नालु मांड्रु नरकाक्षि यालु ।  
 वेरुत्तेळु मनत्तिनालु मिक्क नर् पोरइ नालु ॥  
 शिरप्पुडे शमत्तिनालु देवर शाकु भूमि ।  
 पिरप्पिनै अमैकु भक्कळा युगं पिनिक्क मिक्के ॥१३३९॥  
 नेरिइ वै पेरदारंद निलत्तुळ विलगुंमावार् ।  
 अरिवंड्रु मुदल् विलंगुम् तेळि विला मणिद रागु ॥  
 मरुविलां तेळिविनाळे वायु तेयुक्कळ् शंड्रु ।  
 सेरियु मैंबोरि विलंगिल् शिरिय दोर् करुणे यालुं ॥१३४०॥

अर्थ—इस मार्ग को पालन न करते हुए जीवों पर अल्पदया भाव रखने वाले इस कर्मभूमि में तिर्यंच आयु का आस्रव कर लेते हैं । एकेंद्रिय आदि चतुरिन्द्रिय पर्यंत पशु पर्याय तक तीव्र मोह से नीच मनुष्य गति का बंध होता है । कदाचित् सैनी, असैनी पंचेंद्रिय पशु-गति का बंध होता है ॥१३३९॥१३४०॥

विरद मिल् काक्षि तीमे विरविय वोळुक् माव ।  
 मरुविय सरितकुत्ति समितै पन्निरंडु सिदै ॥  
 वरुममुं तवमुं देवारायुगं तन्ने याकुं ।  
 विरत शीलंगळ् मिच्चं विरविन दालु मामे ॥१३४१॥

अर्थ—असंयत्त सम्यक्दृष्टि जीव हेयोपादेय रहित अज्ञान रूप आचरण को पालन करे और इन्द्रिय भोगों संबंधी विषयों की इच्छा करे तो कुगति को प्राप्त होता है । तीन गुप्ति, पांच समिति, द्वादश भावना, दश प्रकार के धर्मों को पालन करने से उत्तम, मध्यम, जघन्य देवायु का कर्मबंध होता है । सम्यक्त्व को त्याग कर मिथ्या चारित्र्य को पालन करने से उस परिणाम के अनुसार कर्म का बंध होता है ॥१३४१॥

नर्गुणं पोरामे तीय कदैगळे नविट्टनल्ल ।  
 सोकळं घुरळ् दल् तूय वोळुक्किन् मै तुयर मंदल् ॥  
 कुट्टतल् मनो वाकायं कोटं पोल्लाच्चिरिपुं ।  
 मट्टिधे पळित्तल् नामं पिनित्तलु केडु वामे ॥१३४२॥

अर्थ—सम्यक्त्व आदि गुणों की छोड़कर काम भाग आदि शास्त्रों को पढ़ना, दूसरे को दुश्चारित्र्य कथा कहना, धर्म की निंदा करना, अपने सत्तारूपी चारित्र्य का त्यागना, दुष्टा-



चार धारण करना, रागद्वेष आदि से युक्त मन, वचन काय का होना, दूसरे को हास्य द्वारा कटुवचन बोलना ये सब बंध का कारण है ॥१३४२॥

तूय काक्षियं सुरुक्क मिल् विनयमु मिरप्पि वंदशील ।  
माय नल्लुपयोगंमुं वेग माट्टिय तथन् त्यागं ॥  
चाय रिदु शं समाधि वै यावच्च भावच्चं ताळ्विन्ने ।  
माय मिन्नरि विलक्कलुं तुळ्विक्किडि यरत्तु वच्चळत्ताळुं ॥१३४३॥

अर्थ—दर्शन विशुद्धि, चार प्रकार का विनय, निरतिचार शीलव्रत, अभीक्षण ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधु समाधि, वैयावृत्यकरण, आवश्यकपरिहाण शुद्धि, मायाआार रहित मार्ग प्रभावना, चलन रहित प्रवचन, वात्सल्य ॥१३४३॥

अरिच नागम माचरियन् पलसुरुदि वलारं बुमुं ।  
शेरिय निड्डिडुं तोर्थगरत्तुंथ शैयु नट्टिर नामं ॥  
मरुविसिगुण नल्ल नगुंणत्ति निल् वेय्यग तुइर् तम्मं ।  
कुरुगु नामंग नल्लवै सालवुं गुण वैगळाले ॥१३४४॥

अर्थ—अर्हंत भक्ति, प्रवचन भक्ति, आचार्य व बहुश्रुतभक्ति इस प्रकार सोलह प्रकार की भावना है । वह तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण है । इसके अलावा शुभनामकर्म प्रकृति का शुभ गुणों से इस लोक में जीव सद्गुण भावना से शुभ परिमाण से शुभ नाम प्रकृति आत्मा के अंदर उत्पन्न होता है ॥१३४४॥

पिरर्गळं पळित्तु तन्नं पुगळ्दुडुन् पिरगं निड् ।  
मरुविला गुणत्तं भायुत् तीगुणं परप्पि माराय् ॥  
निरैविला माय् बोळुकत्तै पुगळ्दु नल्लोर् ।  
निरै युला बोळुककं कायंदार्, नीच्चगोतिरम वांगु ॥१३४५॥

अर्थ—धार्मिक आदि जन के गुणों की, उत्कृष्ट तपस्वियों की निंदा करना, दूसरे को देखकर उसकी निंदा करना, छोटे शास्त्रों की स्वाध्याय करना, कुचारित्र वाले की प्रशंसा करना, यह सब नीच गोत्र के कारण हैं ॥१३४५॥

अरेंद विगुणत्तिन् मारा यरविनं युळ्ळिट्टारं ।  
इरंजि निड्डोळुगल् तन्नं इळित्तल् पारत्तुंड नल्ल ॥  
वरंपुगळं विडुं व रन्नै पोक्कं शेय्यामै तम्मार् ।  
पिरंदुलगिरंज निकुं गोतिरं सेय्यु मैड्राव् ॥१३४६॥

अर्थ—पीछे कहे हुए दुर्गुणों को त्यागना, ग्रहंत भगवान के स्वरूप, आचार्य, उपाध्याय को नमस्कार करना, मृनि की चर्चा के अनुसार मार्ग पर द्वारापेक्षण करना, तत्पश्चात् भोजन करना, अहिंसामयी भोजन करना, शरीर में निर्ममत्व भाव होना यह सब उच्च गोत्र के कारण हैं ॥१३४६॥

कोलयं कोबित्तु शंया कोडंडने इडे विलक्का ।  
विलं येनिनु वंदु नंडुडिदुळि कायं दु नैजर ॥  
पुलंसुत्तेन कळ्ळु मेधिपिरन् शेल्बम् पोरानु बोळ्ब ।  
वलं शंय वंदराय मैदुम् वंदडयु मैड्रान् ॥१३४७॥

अर्थ—आत्मा रौद्रध्यान में तत्पर होकर अनेक प्रकार के जीव हिंसा को करना, दूसरे को दान देने वाले के अंतराय कर्म डालना, दान न देने वाले को देखकर तिरस्कार करना तथा कषाय करना, मद्य, मांस, मधु का सेवन करना, दूसरे की वस्तु को जबरदस्ती से छीनना, इनसे तीव्र अंतराय कर्म का बंध होना है ॥१३४७॥

सोन्न कारणंगळ् भाव योगत्तिल् पडिडर् सोत्तिल् ।  
नुन्नलां पडियवल्ल वुरैविकनुं सोगिळाटा ॥  
वेन्नमुम् नार्कनत्तुळ् यावरु मिरंजि येत्ति ।  
तुन्निय विनेयं वेळ्ळत्तोडंगिनार् मलरु मंड्रे ॥१३४८॥

अर्थ—पिछले कहे हुए दुर्गुण, मन, वचन, काय से आत्म-प्रदेश परिस्पंद में प्रवेश होकर आत्मा को अनेक कुगतियों में भ्रमण के कारण होते हैं । उस पाप कर्म के होने वाले दुख को इस त्रिह्ला द्वारा कहना असाध्य है । ऐसे समझ कर केवली भगवान ने उन मंदिर और मेरु दोनों गणधरों को समझाया । इसको सुनकर समवसरण की वारह सभाओं के सभी भव्य जीवों ने उठकर भगवान को नमस्कार किया और वहां स्थित अन्य केवलियों को नमस्कार किया, तत्पश्चात् सभी गणधरों को नमस्कार किया । तदनंतर ये लोग सम्यक्-दृष्टि होकर कर्म निर्जरा के लिये प्रयत्नशील बन गये ॥१३४८॥

आयुं वुं करणमुं पोरियु मग्गति ।  
वायुं वुं केडुव लाल् मरण मट्टवं ॥  
पोयळि पेरुद लाम् पिरवि पोमिड ।  
तेयु मोड्डि रंडु मूड्ढांगणंगळ् ॥१३४९॥

अर्थ—उस गति में स्थित होने वाले आयुष, मन, वचन, काय, इन्द्रिय, श्वास, उच्छ्वास आदि दस प्राणों के नाश होने को मरण कहते हैं । पुनः कार्माणकाय सहित दस प्राणों के धारण करने को जन्म कहते हैं । एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करने को समय अथवा विग्रहगति कहते हैं ॥१३४९॥

बुरेत्त विप्पिरप्पुपपादमूर्चनै ।  
 करुप्प मुमा मुम्मद्देवर् नारगर् ॥  
 कुरेत्त वट्टु पपादं जरायुजं ।  
 करुप्पु मानवगळ्ळु काव दागुमे ॥१३५०॥

अर्थ—पीछे कहा हुआ जन्म-उपपाद, गर्भ, सम्मूर्च्छन ऐसे तीन प्रकार का होता है । इन तीनों में से उपपाद जन्म देव नारकी को होता है । और मनुष्यों को जरायुगर्भ तथा सम्मूर्च्छन भी होता है । शेष सब तिर्यंचों के गर्भ सम्मूर्च्छन होता है ॥१३५०॥

तम्मि नुप्पियवर् नाल्त्रिबु कारुराळ् ।  
 सम्मुच्च पिरवियर् विलंगि लंबोरि ॥  
 विम्मिनार् सम्मुच्चस् करुप्तावदां ।  
 तम्मिलु शेरा युगं मंडस् पोदमास् ॥१३५१॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय लब्धि पर्याप्त मनुष्य एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रैन्द्रिय, चौन्द्रिय सम्मूर्च्छन होकर जन्म लेते हैं । तिर्यंच गति में कहीं पंचेन्द्रिय जीव होकर जन्मते हैं, कहीं सम्मूर्च्छन हुआ जन्म लेता है और कहीं गर्भ जन्म में भी जन्म लेते हैं अर्थात् तिर्यंच जीव जरायु, प्रंडज और पोतज में भी जन्म लेते हैं ॥१३५१॥

यावयुं तोशंवि युडय शन्नियां ।  
 तावरुं तुळेशवि शन्निय शन्नियां ॥  
 मेवुरुं तिरुवरं मेवुगं सन्निय ।  
 लोखिला पिरप्पि वट्टि योनि योंबदास् ॥१३५२॥

अर्थ—सभी जीवों की उत्पत्ति का स्थान (योनि) नौ प्रकार की है । कर्णेन्द्रिय मन को प्राप्त हुए संज्ञी जीव को सैनी जीव कहते हैं । इसमें कहीं मन रहित असेनी सर्प प्रादि होते हैं ॥१३५२॥

विने युधिर् तत्तमिल् विडुदल् वीडु ।  
 तनगुण नीगंलु दवियं शूनियं ॥  
 मुने यवरुड नुरल् मुवल्व नंडुवा ।  
 ननग नाय गुरांगळ्ळु मनंद मागुमे ॥१३५३॥

अर्थ—जीव और कर्म अनादि काल से परस्पर में रागपरिणति मिलकर यह आत्मा पुद्गल के निमित्त से संसार में परिभ्रमण करते आ रही हैं । इस आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप, स्वपर ज्ञान से भिन्न २ करके शुद्ध चैतन्य बल से पर को त्याग करके अपने स्वरूप में स्थित

होना ही मोक्ष है। आत्मा के कर्म बंध का कारण अशुद्ध चैतन परिणाम जो रागादि भावरूप हैं, वे ही बंध के कारण हैं। यदि उसको शुद्ध चैतन्य आत्मा स्वरूप के बल के द्वारा त्याग करेगा वही आत्मा लोकाग्र विराजमान होने के योग्य सिद्ध परमेष्ठी बन जाता है। ऐसा भगवान ने कहा है ॥१३५३॥

ऐबत्तंगणधरर् घाति यांगण ।  
तैवत्तैदि रट्टि पत्ताम् पूषद ॥  
रैबदि निरट्टि नार्पत्तेट्टोरिय ।  
रैबदि निरट्टि योवान् विगुवनर् ॥२३५४॥

अर्थ—उन विमलनाथ तीर्थंकर की सभा में पचपन गणधर थे। एक हजार एक पूर्व अङ्गधारी थे। अवधिज्ञानी मुनि चार हजार आठ सौ थे। विक्रिया ऋद्धिधारी गणधर नौ सौ थे ॥१३५४॥

विलिक्कल शैयत ररुवत्तेष्साइरम् ।  
इलक्क मूनं ड्ढेट्टा इरंगळ् सावव ॥  
रिलक्क मोड्डाइर् मूड्ढु कातिय ।  
रिलक्क नान्गिरंङ्कु सावगियर् ॥१३५५॥

अर्थ—सम्पूर्ण संयमी लोग अडसठ हजार थे। नवीन संयमी तीन लाख चौसठ हजार थे। आर्यिका तीन लाख तीन हजार थी। श्राविकाएं चार लाख, श्रावक दो लाख थे।

॥१३५५॥

इनैय वाम् विमल नार् गणत्तु नादराय ।  
विनवत्ता मरवेरि वेद नान्गि नै ॥  
मनेत्तुर वानरुक्कोदि मट्टवर ।  
विनै कन् मेनिनै वुरिइ विवित्त मेविनार ॥१३५६॥

अर्थ—मेरु और मंदर ये दोनों श्री विमलनाथ भगवान के मुख्य गणधर थे। उनसे कर्मा को नष्ट करने के लिये चारों अनुयोगों को भावक और यतियों के लिये उपदेश करने हेतु अपनी आत्मा में बंधे हुए कर्मों को क्षय करने के लिये एकांत स्थान को प्राप्त किया। जिस प्रकार गाय भैंस अपने २ भुण्ड के साथ जाती हैं, अलग २ नहीं जाती हैं, उसी प्रकार दोनों मेरु और मंदर एक साथ निर्जन पहाड़ की चोटी पर पहुँच गये ॥१३५६॥

इनत्तिडे पिरिदु पोमेरिरंङ्कु पोर् ।  
कनत्तिडे पिरिदु पोय कान मेविय ॥  
वनत्तिडे पेशवरे युच्चि मण्णिनार् ।  
निनै पिनै तन् कने निरुत्ति निडुरां ॥१३५७॥

अर्थ—जिस प्रकार एक चंदन वृक्ष को काटने वाले को वह चंदन वृक्ष सुगंध ही देता है या छाया देता है उसही प्रकार अपने को दुख देने वाले को भी सुख देने वाले धर्मोपदेश देकर उनकी तृप्ति कर देते हैं और समता भाव सदैव धारण करते हैं ॥१३५७॥

वरंतुनुं कुळिपं शंमरत्ति नीळलु ।  
 मरैपिनुं शीतमां संदम् पोलबुं ॥  
 निरंतु निङ्गिनाद शंद वकुं मिषमा ।  
 मुरे कनिन् रुत्तम पारे योडोबिनार् ॥१३५८॥

अर्थ—गवं रहित उत्तम मार्दव से युक्त सम्पूर्ण जीवों को समताभाव से देखकर उन भव्य जीवों को धर्मोपदेश देकर आर्जव गुण से युक्त थे । जिस प्रकार स्फटिक मणि भीतर बाहर एक सा रहती है उसी प्रकार बाह्य-अभ्यंतर से ये दोनों सम्यक् चरित्र से युक्त थे ।

॥१३५८॥

मातंबत्ताल् वळें दारुयिकलां ।  
 पातरं पगंबुळं पंजिन् मेल्लिय ॥  
 रचिबत्तगं पुंर माणि विळकि तोत् ।  
 तूतंम योरुवगं योळुगु नीररे ॥१३५९॥

अर्थ—इष्ट अनिष्ट वस्तु में रागद्वेष रहित रहने वाले मंदर और मेरु उत्तम सत्य धर्म को पालन करने वाले होकर पंचेंद्रिय विषयों से अत्यंत अलिप्त थे ॥१३५९॥

अविमुं सेट्टु मयक्क मिन्मया ।  
 लारुयिर् कुरुदि पेलाद सोल्लिला ॥  
 रोर् विडत्तरु तोरुविय पोलत्तिन् मीदुळं ।  
 सोविड तुन्शेला तूयराइनार् ॥१३६०॥

अर्थ—स्पर्शन , रसना, घ्राण , चक्षु , श्रोत्र पंचेंद्रिय तथा मन अर्थात् पृथ्वी, अग्नि, तेज, वायु, वनस्पति और अस जीव की रक्षा करना ये छह प्रकार के प्राणि संयम हैं । द्वादश तप को निरतिचार पूर्वक पालन करते हुए निरतिचारी तथा अकिंचन्य धर्म को पालन करने वाले थे । इसके अतिरिक्त भव्य जीवों को तत्त्वों का उपदेश करने वाले उत्तम त्याग धर्म वाले थे ॥१३६०॥

अरुवगं पोरिवळी पड्चि नीगियुं ।  
 मरुवगं कायत्तं येरुळि नोबियुं ॥  
 शेरित वं पत्तिरंडिर् शेलापिनै ।  
 तुरुवु मत्वागमुं तुप्ति नागळे ॥१३६१॥

अर्थ—स्त्रियों की स्तुति करना, प्रेम से देखना, उनकी प्रशंसा करना, हँसकर आहार लेते समय प्रेम रखना, स्त्रीसहवास करना, उनसे हास्यादि करना आदि से रहित उत्तम ब्रह्मचर्य को पालन करने वाले थे ॥१३६१॥

मादरं पुगळदल् पातल् मद्रव रट्टु वैद्रा ।  
 लादरी तुंडल् पुक्क वळ्कगत्तुरेव लजंस् ॥  
 मेवम केटल् मेवि शिरितिडल्लुबिळेषु नोकल् ।  
 येव मिद्रि वट्टि नोमि इलंगु मुळ्ळत्त राणार् ॥१३६२॥

अर्थ—चर्या को जाते समय चार हाथ भूमि को देखकर जीवों को बाधा न हो, वे ईर्ष्यापथ शुद्धि से मंद र गति द्वारा गमन करने वाले थे । संपूर्ण जीवों से दया के भाव के साथ बात करते थे । एषणा समिति पूर्वक एक बार भ्रती आशुक के घर जाकर शुद्ध आहार लेने वाले थे । मलमूत्र को निर्जंतु स्थान में त्याग कर व्युत्सर्ग समिति के पालन करने वाले थे, और वस्तु को रखते तथा उठाते समय यत्नाचार पूर्वक रखना आदि आदान निक्षेप समिति का पालन करने वाले थे । इस प्रकार पाँचों समिति के पालन करने वाले थे ॥१३६२॥

मुन्नगत्तळवु नोकि मुंबु पिन् पिरियच्चेद्रा ।  
 रिन् सोलुं पिरर् तमक्कु मिदत्तन वंद्रिचोद्या ॥  
 रंबु नीतुइरं योवि यळव मैदुव राकुं ।  
 तुंबुर कोडल् वेंत्तल मलगेळं तुरत्तल् शंयार ॥१३६३॥

अर्थ—पर्यासन, पश्चासन, खड्गासन, वीरासन, मोदूहन आदि से सामायिक तथा ध्यान करना । चर्या मार्ग से आहार के लिये जाना । सोते समय हलन चलन नहीं करना, जीव को बाधा न हो इसलिये हाथ पैर नहीं पसारना । संकोच करके रखना, इस तरह काय-गुप्ति का पालन करते थे । भव्य जीवों को भर्मापदेश के सिवाय मौन धारण करने वाले थे । इस प्रकार वचन गुप्ति पालन करते थे । रत्नत्रय वृद्धि करने योग्य श्रावक श्राविका के हाथ से शुद्ध आहार लेते थे । मन का संदेव एकाग्र चित्त रख कर मोनवृत्ति के पालन करने वाले थे ॥१३६३॥

इरुत्तले किडत्तल् निद्रु नियंगुवल् मुडक्कल् मीटल् ।  
 तिरुत्ति यम्बुइकुं तीमं शिरेंदिडा वोळ्कु मोंबि ॥  
 युरेत्तुइर् कुत्तुवि मगिमोवुव कोडुप्पिर् कोडुम् ।  
 परिक्कव पावे मारं पट्टर तुरविट्टारे ॥१३६४॥

अर्थ—सुख दुख आदि में समान भाव रखने वाले, तीन लोक के नाथ अर्हत भगवान का स्मरण करने वाले, अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करने वाले, कर्मद्रिय से आने वाले दोषों का प्रायश्चित्त लेने वाले थे । अपने शरीर

से मोह का त्याग, आत्मा और शरीर भिन्न है, ऐसा समझने वाले, आत्मा-स्वरूप में लीन रहने वाले, षट्कर्म को सदैव निरतिचार पूर्वक पालन करने वाले तथा चलन रहित ध्यान में मग्न रहने वाले थे ॥१३६४॥

तन्मै तीमै कम्मोत्तु नावन् दून् पावमोदि ।  
तन्मै कन्निड्डार् तम्मै प्पनिदु तस् पिळ्ळिप्पिन् मीडु ॥  
पिन्नं तंपाल् ववदुं पिळ्ळिपे मुन् मरुत्तु कायं ।  
तन्नेत्तान् विट्टु निड्डार् तडवरे शूळि योत्तार् ॥१३६५॥

अर्थ—सघन जंगल में जहां शमसान भूमि हो, भूत प्रेत हो ऐसे शमसान में, जहां सिंह, सर्प, व्याघ्र आदि क्रूर प्राणियों का स्थान हो—ऐसे भयानक जंगल में बैठ कर एकाग्र चिंता निरोध किया हुआ ध्यान से युक्त आर्तरोद्र ध्यान से रहित समय को आत्म-ध्यान में संतोषपूर्वक बिताने वाले थे ॥१३६५॥

आतपयोगं तांगि यरुंदवर् निडु पोळ्दिर् ।  
पादवं पोदु कौडु प्पनिदन प्पनियच्चेर् ॥  
शीत पंकयंगळ् कूब चिरिदं शंकमलींशदे ।  
माववर् मरत्तै शेर मगिळ्ळु वान् चोळ्ळिद वंड्रे ॥१३६६॥

अर्थ—ऋतु, अयन, वर्ष इस प्रकार मर्यादा सहित ध्यान करने वाले, आत्मध्यान करने वाले होकर अपने शरीर को कृश किया था। इस शरीर के साथ साथ कषायों तथा इन्द्रियों को भी कृश करके आने वाले आश्रव मार्ग को रोकने वाले होकर आत्म गुणों का विकास करके सम्यक् दर्शन को वृद्धि करने वाले थे ॥१३६६॥

कूगं पेय् कवंद मोरि टाकिनी कुलवुं काडु ।  
नागमा नागं शीय मुळुवै शेर मल्लै मुलंजु ॥  
येगमाय् वेगमेवि इराजमा शीयं पोल ।  
योगमे भोगमाग वुवंदव रुरंदु शेड्डार् ॥१३६७॥  
इरुदु नल्लयन मांडै येळ्ळै शैविंदु निडु ।  
मरिय मुक्काल योगं वळ्ळुं मगिळ्ळै विट्टु ॥  
तिरिचिद करणं तन्ने शेरिय वैत्तरिवं युंड्रि ।  
पोरुविलार् शिदै योगं तन्मये पोहंदि नारे ॥१३६८॥

अर्थ—वे मेरु और मंदर दोनों मुनिराज, जैसे म्यान में रखी हुई खड्ग और म्यान पृथक् रहती है, उसी प्रकार आत्मा और शरीर को भिन्न समझने वाले, स्वपर भेद भावना

से युक्त, आत्मा को दुख देने वाले कर्मों की पर्याय की शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा दहन करते हुए, स्वर्ण में मिश्रित कालिमा कीट को तपाकर दूर करके सोने को शुद्ध करते हैं, उसी प्रकार आत्मा को शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा मुख में आत्मरूपी स्वर्ण को रख कर कर्म रूपी कीट को भस्म कर आत्म-शुद्धि करने वाले थे ॥१३६७॥१३६८॥

उडंबुई हरैवा नेरेंद्रु डुंबे विट्टुडे पार्ताग् ।  
 कडुंतुयर् विनंगळव्वा लुरुक्कोडु नेरुप्पुइर् कट् ॥  
 केडुम्परियाय मव्वाकिट्टु मामेंडु वट्टुबै ।  
 कडंतम् वडिवेकळाकळंडु पोन् पोलक्कं डाल् ॥१३६९॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के आवरणों को मनःपर्यय ज्ञानावरणी, केवल ज्ञानावरणी कर्मों के आवरण को नाश करते हुए, अनंत गुणों से युक्त आत्म-स्वरूप की वृद्धि करते हुए अनादि काल से आत्मा के साथ चिपक कर आए हुए चक्षु, अचक्षु, आदि कर्मों को दर्शनावरणीय आदि आठ कर्मों को नाश करके अनंत दर्शन से युक्त आत्मगुण को प्राप्त कर सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के बल से सदैव ज्ञान के बल से आत्मस्वरूप की सतना भावना भाते वाले थे ॥१३६९॥

मतिश्रुतअवधि यामा वरणत्ति लरिवु मट्ट ।  
 विदियर केडवंड्राग्गि येनंद माय विरियं काक्षि ॥  
 पोदुचिना लरिविन मुंबु पुलत्तं कोन् डनेक मायत्तन् ।  
 विदियर केडवंड्राग्गि विरियुमा नुच्चिनारे ॥१३७०॥

अर्थ—अतीन्द्रिय युक्त शुद्ध चैतन्य आत्मद्रव्य नाम के आत्मसुख को व इन्द्रिय सुख को उत्पन्न करने वाले मोह सुख को पांच प्रकार के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय आदि पांच कर्मों को नाश करने से हमको अत्यंत सुख देने वाले आत्मसुख की प्राप्ति होगी ॥१३७०॥

सुगदुख मोग माग्गि सुळलुं चेतवे सुगत्तं ।  
 तग्गं वै शं येंतरायं तम्मोडु मोगनीग्गि ॥  
 सुग्गं विट्टु नाट्टं पोल मुळुंदु बंदेळुं व नंद ।  
 सुग्गमट्टु डागु मेण्डु तुळक्कर निनेंदु तिड्डार् ॥१३७१॥

अर्थ—वीर्यान्तराय कर्म आत्मा से अलग होते ही उसी समय तीन लोक को एक ही समय में जानने वाले, अनन्तवीर्य नाम का गुण प्राप्त होगा । इस प्रकार भावना भाते थे ।

॥१३७१॥

वीर्यंतराय नीग्गं विकलत्ति नीग्गि वीरम् ।  
 कार्यं कडंलादु कनत्तिले मुडित्तळुंदु ॥



मूरि मूबुलंगं तनुने येदलु मागु माट्टल ।  
बोर्यमागु मेंड्रिव् विदि बुळि निनेविट्टारे ॥१३७२॥

अर्थ—तदनंतर आत्मा के साथ लगे हुए आठ प्रकार के द्रव्य कर्म का नाश होते ही रूप, शब्द, स्पर्श रस, गंध इत्यादि का नाश होकर ज्ञान से जानने योग्य अगुरुलघुत्व गुण को प्राप्त कर तीन लोक के अप्रभाग में रहने वाले तनुवात में अपना आत्मा चलायमान न होते हुए कब जाकर विराजमान होगा—ऐसी भावना निरंतर आते थे ॥१३७२॥

उरुवमो मेलियु मूरु नाट्टुं सुवयु मिड्डाय् ।  
तेरिवर नुन्मेत्तागि नोपेमं शिरण्यु मिड्डाय् ॥  
मरुविय विनेगळट्टं माय् दवक्कनत्तु सेड्डु ।  
तिरिवर उलगत्तुच्चि निट्टुलु सिदित्तारे ॥१३७३॥

अर्थ—गुण गुणी से युक्त जीवादि अनंत द्रव्यगुण कहलाने वाले द्रव्य सामान्य और विशेष से तथा द्रव्याधिक और पर्यायाधिक इस तरह दो प्रकार से है, और विशेष से द्रव्याधिक पदार्थ के तन्मय से अस्तित्व है। पर्याय कहने से अनित्य है। स्याद्वाद के सप्तभंगीनय से नाम स्थापना द्रव्य भावों से उत्पाद व्यय सहित है। द्रव्य आत्मा गुण है इस प्रकार दोनों गुणी आत्म-भावना के बल से अपनी २ आत्मा हमेशा शाश्वत है। ज्ञानदर्शन से युक्त है। शेष जो द्रव्य हैं, वे आत्मा से भिन्न तथा अन्यत्व है। इससे आत्मा-पर वस्तु से इस प्रकार भिन्न है। उनकी आत्मा अप्रमत्तगुणस्थान नाम के क्षपक श्रेणी को प्राप्त हुई ॥१३७३॥

गुणगुणि निलेमं युं गुणांग निट्टुलु ।  
मन मुडे मट्ट वरु तत्तं सिदिया ॥  
वनवरुं पमावं विट्टु पमत्तरा ।  
इनेला सेशिमेलेरि नार्गळे ॥१३७४॥  
विनेगळेळ् विरगिनाल् बीळ्द वक्कण ।  
मुनिवरु पुव्वाणि ननु मुनिवराइनार् ॥  
विनेयला निले तळर् विट्टु बुदिबिग ।  
तने यडेविट्टु वात्तवे इनार् पिन्ने ॥१३७५॥

अर्थ—अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होने के बाद मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति, अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार दर्शन मोहनीय इस प्रकार सात प्रकृतियों का नाश किया। तदनंतर ये दोनों मुनिराज अपूर्वकरण नामके आठवें गुणस्थान को प्राप्त हुए। बंध, सत्त्व, उदय, उदीरणा, इन चार प्रकार के उत्पन्न होने वाले कर्मों की निर्जरा करने लगे। भिन्न २ होते हुए भी अपने अन्दर ही वृद्धि होने वाले पृथक्त्व, वितर्कत्व

वीचार ऐसे प्रथम शुक्ल ध्यान को प्राप्त होकर अनिवृत्तिकरण नाम के नवें गुणस्थान को प्राप्त होकर, उस गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त में समय को व्यतीत करते हुए वे दोनों मेरु और मंदर मुनियों के नौ समय शेष रहने के बाद प्रथम समय में सोलह प्रकृतियों को नष्ट कर दिया ॥१३७४॥१३७५॥

\* सोलह प्रकृतियों के नाम निम्न प्रकार के हैं \*

निङ्गुळि निलाद सुक्किलत् ध्वानत्तो ।  
दंड वरणि येद्वि मुनिवराई नार् ॥  
शेड्द शिलपल कनंगळ् शेड्दपिन् ।  
वेड्दनर् विनेगळीरट्टे वीररे ॥१३७६॥

अर्थ—१ नरकगति २. तिर्यंचगति ३. नरकगत्यानुपूर्वी ४. तिर्यक् गत्यानुपूर्वी  
५. एकेंद्रिय ६. दोहन्द्रिय ७. ते इन्द्रिय ८. चौइन्द्रिय ९. स्थावर १०. सूक्ष्म ११. साधारण  
१२. आत्प १३. उद्योत दर्शनावरणी की तीन १४. स्थानगृद्धि १५. निद्रानिद्रा १६. प्रचला  
प्रचला यह सोलह प्रकृतियां हैं ॥१७६॥

तोगति इरंड बट्टप् पूविगणांगु जाति ।  
याकं निट्ट नुप्पं पोदुवेइल् विळक्कि बट्टे ॥  
याकु नामं काकि यावरणध्यान तीट्टि ।  
नीकहं पसलं निहं यागु मीरट्टे नित्तार् ॥१३७७॥

अर्थ—तीसरे समय में नपुंसक वेद कर्म का नाश किया । चौथे समय में स्त्री वेद कर्म को नाश करने के पश्चात् पांचवें समय में रति, अरति, हास्य, भय, जुगुप्सा और शोक ऐसे छह प्रकृतियों का नाश किया । तदनंतर छठे समय में पुरुष वेद को जीत कर वे दोनों मुनिराज अनिवृत्ति नाम के गुणस्थान को आरूढ हुए थे ॥१३७७॥

वेगुळिये मानमाय मुलोब मा मिक्क नांगु ।  
पगडिय पच्च पच्चक्कनत्तदा मेट्टे नीत्तु ॥  
मुगडुर वेळुंदसिदं मुरुक्कि पिन्नुक्कळर् पोल् ।  
तोग मुडप्पेडि वेदं तन्नयु मुडंत्तिट्टि पाल् ॥१३७८॥

अर्थ—दूसरे समय में अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय तथा प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठों को नाश किया ॥१३७८॥

मट्टेत्ती पोल वेवुप्पु मोय् कुळलार्तं वेदं ।  
केट्टपि निरदि याचं पयमबर् परदि शोकं ॥

विट्टव पोळवु बंति पोलेळुं पुंगवेद ।  
 मट्टवर् वेवनीत वणि येट्टि मुनिवराणार् ॥१३७६॥  
 नल्लु बांचलन कोद मान माय लोभं तन्नं ।  
 सोल्लिय मोरंडन् मूड् तानात्तर् द्दुबकरुत्तु ॥  
 पुल्लिवा मुलोगं तन्नं वीळ् तंब मूळ्त्तत्तिपि ।  
 नेळ्ळं इर् शुद्धि पेद्रा रिरुवत्तेन् तेन्मोग नीते ॥१३८०॥

अर्थ—तदनंतर संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों में से सातवें समय में संज्वलन क्रोध को और आठवें समय में मान को, नवें समय में माया को नाश कर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को उलांघ करके सूक्ष्म सांपरायिक गुणस्थान का अंतर्मुहूर्त में संज्वलन लोभ कषाय का नाश करके संपूर्ण अठाईस मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का नाश किया । मोहनीय कर्म की अठाईस प्रकृतियां निम्न प्रकार हैं—क्षपक श्रेणी के आरोह में दर्शन मोहनीय की सात प्रकृति । अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में तेरह नाम कर्म की । दर्शनावरणीय कर्म में ३ प्रकृति । चारित्र्य मोहनीय कर्म की २० प्रकृति । तदनंतर सूक्ष्म सांपरायिक गुणस्थान में संज्वलन लोभ मिलकर २८ प्रकृति होती हैं । इन कर्मों को नाश करके शुद्धात्म परणति को प्राप्त हुए ॥१३७६॥१३८०॥

बैबिय बिनैक्कु मूल मागु मोगत्तं वोळ्ता ।  
 रंबर पाडगं शंबन् चडत्तु विट्टवनं योत्ता ॥  
 रंबरोड्रागुं सिदंयुड निडोरु मूळ्त्त तोट्टिन् ।  
 मुन् बिनांगणत्तु निदं पसलं कन् मुरिय चंडार् ॥१३८१॥

अर्थ—तत्पश्चात् मेरु और मंदर दोनों मुनिराज २८ कर्म प्रकृतियों को जीत कर सत्परिणाम को प्राप्त कर एकत्व वितर्क, अवीचार नाम के द्वितीय शुक्ल ध्यान को प्राप्त किया । क्षीण कषाय नाम के गुणस्थान में अंतर्मुहूर्त में दो समय में निद्रा प्रचला ऐसे दो प्रकृतियों को नाश किया ॥१३८१॥

उरु कणां कडंद पोवु वोरुनात्तवर् कण् मर् कूडि ।  
 प्रोन्नगिर बेळै तन्निरु वीदिया वरण मैदुम् ।  
 मरुवि निड्रेदितं कालत्तंदरा येंदानंदुम् ।  
 तरणि ईरेळुव रंबक्कत्तिळे तीरं वा रंडे ॥१३८२॥

अर्थ—क्षीणकषाय नाम के गुणस्थान में अंत में एक समय शेष रहने पर चक्षुदर्श-नावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय ऐसे चार, र्मति-ज्ञानवरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अर्वाभिज्ञानावरणीय, मनःपर्यय ज्ञानावरणीय, केवलज्ञाना-

वरणीय ऐसे पांच प्रकृति व्र दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यन्ति-  
राय यह पांचों मिलकर इस प्रकार १४ प्रकृतियों को नाश किया ॥१३८२॥

मालंवा इरुळं नोकि वयत्तं तुई लेळुप्पुं ।  
कालं वायरुक्कं पोल घातिगनाणुगु नींग ॥  
मेलिला मुरंगु नान्मं विळित्तुल गणत्तुस् कान ।  
मात्तिला मनत्तु च्चिदै यरुक्कन तुवित्त बेंड्रे ॥१३८३॥

अर्थ—जिस प्रकार रात्रि का अंधकार प्रातःकाल सूर्य का प्रकाश होने पर दूर हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, शरीर अंतराय इन चारों का नाश होते ही अनपत चतुष्टय प्रकट होते ही केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय हुआ ॥१३८२॥

वुळ्ळेळुं तीई नाल् वेंदोळि पेद्रु विरगं पोल ।  
वेळ्ळयध्यानं तन्नाल् वेदेरि युवळमेनि ॥  
पळ्ळि कौडोडुवं मूत्तल् पशित्त नोय् वेळ्कं इंड्रि ।  
पिळ्ळे यावित्तन् पोल पिरप्पिरु इतिरुंदार ॥१३८४॥

अर्थ—तदनंतर ये दोनों केवली शुक्लध्यान के बल से आत्म प्रकाश को प्राप्त कर संसार का कारण जन्म, मरण, जरा और व्याधि, शोक, भय, वृद्धावस्था, भूख, प्यास, पसीना, निद्रा आदि १८ दोषों को नाश कर वीतराग शुद्धीययोगी हो गये ॥१३८४॥

भयं पगं पनित्त लार्थं सेट्टमे कर्वाचि शोकं ।  
वियंविडल् वेगुळि शोगं वेरतिडल् विरुंबल्लरेवदं ॥  
भयगुदल् तेळिदल् सिदै वरुंदुदल् कळित्तल् मायस् ।  
ईयं वरुं तिरत्त विन्न यावयु मेरिदुरुंदार ॥१३८५॥

अर्थ—आत्मा के विरोध करने वाले राग, द्वेष, शोक, आश्चर्य, सुख, दुःख, संतोष आदि अठारह दोषों को नाश किया । श्री भगवान् समंतभद्राचार्य ने भी इसी प्रकार कहा है—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्रविरोधिवाक् ।  
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ (देवागम)

हे भगवन! आप ही पूज्य हो, युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन होने से आपके वचन ही अविरोध हैं । क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से बाधा नहीं आती है ।

॥१३८५॥

आइडे यमरर्तड वन् मुडियोडा सन्तुळंग ।  
पाय नल्लवदि येन्नुं परुदि यार् कंडवेळ्गां ॥

आइर् कण्णि नाने यदि बदि याग वृळ्दु ।

माइर् विशुंबुम् मण्णुं मर्य् वानवर्गळ् वंदार् ॥१३८६॥

अर्थ—उस समय केवलज्ञान के अतिशय से देवों के आसन कंपायमान हुए । देवों ने अविज्ञान से जान लिया कि मेरु और मंदर दोनों को केवलज्ञान हो गया है । तभी सभी देव पुष्प वृष्टि, जय २ कार आदि करते हुए सपरिवार आगए ॥१३८६॥

मुळंगिन मुरसमेंगुम् मुरंङ्गन शंग मुन्ने ।

येळुंवन रेह शीयं याने मावेरि विन्नोर् ॥

निळुंद पूमारि विन्ने विळुंगिन पदाने वेळुळ् ।

मेळुंद वेत्तारवं कीर्ति ईयंविन काळ मंगुम् ॥१३८७॥

अर्थ—उस समय भगवान के केवलज्ञान का अतिशय चारों ओर फैल गया था । और देव दुंदुभि, शंख, पटहा आदि बजने लगे । तब देव अपने २ वाहनों पर बैठ कर भगवान के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा मनाने के लिए धवल छत्र, ध्वजाओं को धारण कर आगए ।

॥१३८७॥

अरवं यर् नडंपुरिंदा रंबर मरगंमाग ।

नरं पोलि पोलिद वेंगु नन्निनार् मन्ने विन्नोर् ॥

करंगळुं कुविदं कन्निर पुळिदन् घातिनान्मे ।

युरं कडिदिहंद वीररुह तुने येडि पनिदार् ॥१३८८॥

अर्थ—उस समय में देवाङ्गनाए आकाश में नृत्य करती थीं । उनके द्वारा बजाए गए वाद्यों की ध्वनि तथा संगीत के मधुर शब्द सुनाई देते थे । मध्यलोक में रहने वाले सभी जीव अपने दोनों हाथों को कमल के समान जोड़ कर आनंदाश्रु सहित भगवान के दर्शन कर रहे थे ॥१३८८॥

पिडि कुडैयुं शीय वनयुं शामरयु मट्टु ।

मंडवर किरैय मैत्तानन्नधर् कुरिय वाट्टा ॥

लुंडर वमिर्दम् वंदिङ्गुण् मिनेन् नोलित्त वृळि ।

कंडवर कळलै वाळति काम कोडनंग निडु ॥१३८९॥

अर्थ—अशोक वृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, छत्र, सिंहासन, धवल चंवर, दुंदुभि तथा भामंडल इन आठ प्रतिहार्यों को देवों ने निर्माण किया उस समय भगवान की दिव्य-ध्वनि प्रगट हुई । तब केवली भगवान कहने लगे कि हे संसारी भव्य जीवो ! सुनो ।

इस प्रकार अनंत चतुष्टय (ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य) से मंडित मानों भगवान स्वयं ही संबोधन कर रहे हों ऐसा मालूम पडता था । इस प्रकार उनके मुखारविंद से निकली हुई

दिव्यध्वनि चारों दिशाओं में फैल रही थी। इस प्रकार सभी उपस्थित भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग का उपदेश मिला। उसे सुनकर सभी आनंदित हुए ॥ ३८६॥

मंदर मिरंडे चूळ्द घातकी मलमळ् पोल् ।  
विदिरर् विजं वेवर् मभव रेणो योर्गळ् ॥  
सुंदर मलरुं सांदुं दूपमुं मेविमेरु ।  
मंदर नामर् पावं पनिदु बाळतोडेळुंवार ॥१३८०॥

अर्थ—तत्पश्चात् जम्बूद्वीप, घातकीखंड, पुष्कराब्दं ऐसे अढाई द्वीप में रहने वाले सुमेरु के चारों ओर कुलगिरि पर्वत के समान, शतेंद्र, विद्याधर राजा, भूमिपति इन सभी भव्यजीव आदि ने भक्ति पूर्वक भगवान की पूजा अर्चा आदि करके अंत में नमस्कार करके करबद्ध होकर स्तुति के लिये खड़े हो गये ॥१३८०॥

वेरु वुरु तुयरोडु विळवेळु तुयरु ।  
करुधुरु तुयरोडु कडेवरु तुयरुं ॥  
मरुविय वुडुर् विनं मरुवर् वरुळुं ।  
पोरु वरु त्तिरुवडी पुगळ् तर वडेदुं ॥१३८१॥

अर्थ—सभी देव मिलकर इस प्रकार भगवान की स्तुति करने लगे—हे भगवन् ! आप सदैव आत्मा में स्वाभाविक दुख को उत्पन्न करने वाले नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों के दुखों को नाश करने वाले धर्मोपदेश को देने वाले हैं। आपके चरण-कमलों को हम नमस्कार करते हैं। आपके चरण कमल हमारी रक्षा करें ॥१३८१॥

परुदिह नोळि वेल पगं पशि पिनि केड ।  
वरुवन मलर् मिशं मदननं नलिबन ॥  
उईरुह तोडुर् वर वेरिवन उलगिनी ।  
लरियन् पेरिय नुमडिइनं पडेदुं ॥१३८२॥

अर्थ—सूर्य और चंद्रमा के प्रकाश को जीतने वाले, आत्मज्योति को आप प्राप्त हुए, और अनादि निधन द्रव्य कर्म और भाव कर्म को नाश किये हुए ऐसे आपके पवित्र चरण कमल को नमस्कार करते हैं ॥१३८२॥

मुंरं पोरि मरं कड भुळुदु मोर् कनमदि ।  
लरियु नल्लरि उडे ररेब इरेब नुम्मडिइनं ॥  
युहतवर् मनमिशै युरं वन उईरुह ।  
पिरिवियं वर वेरि पेरुमड्य शरणं ॥१३८३॥

अर्थ—कमवर्ती जानने वाले इन्द्रिय ज्ञान के नाश होते ही सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ जाननेवाले केवलज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश से युक्त, जन्म-मरण रूपी संसार को नाश करने वाले आपके पवित्र चरण कमलों की शरण हम ग्रहण करते हैं। अर्थात् भव २ में हमें आपके चरण कमलों की शरण मिले ॥१३६३॥

कुलिगमो डिमसुब कुबिबुलै पुराह नर् ।  
तलै मे श्रे नयुवन तेबनेरि वरुवन ॥  
उत्सगिनें योह नोडि यगबै नळगुब ।  
मल्लैबिल निलैय कुम्मल मलरडि यडेंडु ॥१३६४॥

अर्थ—स्त्री के रूप को देखते ही कामीपुरुष काम विकार को प्राप्त होते हैं, ऐसे लोग भी आपके निर्ग्रन्थ बीतराग स्वरूप को देखकर अपने हृदय में भीक्ष जाने की इच्छा करके तदनुकूल चारित्र्य प्राप्त करने की भावना उत्पन्न करते हैं। ऐसे आपके पवित्र चरण कमल हमारी रक्षा करें ॥१३६४॥

उयर् वर उयरिय वुसगिनी तुईर् गळिन् ।  
अयर् वर वरमुं वरुळुव वमरर् गळ् ॥  
मयर् वर मणि मुडि यनिवन पनिधार् ।  
तुयर् वर वेरियु तुन् तुनें यडि तुळुंडु ॥१३६५॥

अर्थ—इस संसार में रहने वाले भव्य जीवों के दुखों को नाश करने वाले, धर्मोपदेश को देने वाले, ऐसे पवित्र चरण कमलों की शरण में रहने वाले, पूजा स्तोत्र पढ़ने वालों को आपके चरण कमल हमेशा रक्षा करें ॥१३६५॥

इनैबन् तुदिया नो डिमेयव रिरे वर ।  
मनमलि युवगैडन् वळिपडु मुरेनाळ् ॥  
बिनेवळि यामुम्मे योगु वियोगु सै ।  
कनमलि युनिल योगिगळानार् ॥१३६६॥

अर्थ—इस प्रकार चतुर्णिकाय देवों ने स्तोत्र आदि पढ़कर दोनों मेरु और मंदर कबली भगवान को नमस्कार किया और जाते समय तुरंत ही उनसे अयोगकेवली गुण-स्थान को प्राप्त कर लिया। अर्थात् शेष घातिया कर्मों को नाश कर मुक्त हो गये ॥१३६६॥

आइई येदिनो डेंवडु वेळिबने ।  
माय वेळुंडु कनसुल गुळिचये ॥  
मेईनर् बिन्नवर् मन्नवर् मेनिकट् ।  
काय शिरप्पोडु वंवन रगे ॥१३६७॥

अर्थ—सयोग केवली गुणस्थान के अनंतर वे दोनों मंदर और मेरु अन्तर्मुहूर्त में पिन्चासी (८५) कर्म प्रकृतियों का नाश करके उर्द्ध्व गमन करके सिद्धशिला पर विराजमान हो गये । उस समय अग्नि कुमार देव तथा मनुष्य सभी मिलकर जिस स्थान पर निर्वाण हुआ था, प्रागये ॥१३६७॥

पोन्नरि शांवम् सून्नं पूमालं धूमै ।

मिन्नन पत्तवु मेदि इमयव रिरेजु मिन्ने ॥

मिन्न न मुनिवर् मेनि मरंवनु विरंजु नोकि ।

पन्नरं तुविय रागि वानधर् पनिदु पोनार् ॥१३६८॥

अर्थ—स्वर्णहार, बंदन के सुगंधित द्रव्य, पुष्पहार, कपूर आदि द्रव्यों से भगवान के नख और केशों को लेकर भगवान का कृत्रिम पुतला बनाया और अग्नि कुमार देवों ने उस को जला दिया । तत्पश्चात् सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य को उन्होंने प्राप्त कर लिया था, इस कारण उन देवों ने उस भस्मि को अपने ललाट पर लगाया, और विधि पूर्वक निर्वाण कल्याण पूजा करके वे देव अपने-अपने स्थान को चले गये ॥१३६८॥

मुडिखिला तडु माट्टु मुवल् किलिय मूवमिर्दं मुरईट्टोडि ।

इडेलाम् विनं मोवला मोग मेरिदार् वमिला बिबल्बिर ट्टोडि ॥

कडेला घाति केड काक्षिबलि येरिवियव कम्नेतोडि ।

तोडर् बेला मरबेरिदुं तोडि नार्गुणत्तिलु नर् स्वयं वु वानर् ॥१३६९॥

अर्थ—इस प्रकार दोनों मेरु व मंदर मुनिराज ने मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय कर्म के नाश होते ही सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य इन तीनों के बल से मोहनीय कर्म का नाश किया । तदनंतर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय, मोहनीय, आयु और गोत्र इत्यादि आठों कर्मों का नाश करके अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंतवीर्य ऐसे चार चतुष्टय को प्राप्त हुए ॥१३६९॥

मन मलिद बोळियनवु मलर् मिरंदि विरै यनवुं मलगुसंधिन् ।

तुनि युमिळं व तन्मै इनुं तोडियव पेरिबत्तुळ्ळे तोडि ॥

इनै पिरिदु मिलरागि इमयवहं मादबह मिरेजियेत्त ।

पनिवरिय शिवगति इनमरं विरुदा ररवमिर्दं मुंडारंङ्गे ॥१४००॥

अर्थ—विमलनाथ तीर्थंकर के उपदेश को सुनकर मेरु व मंदर रत्न प्रकाश के समान, पुष्पों की सुगंध के समान शुद्धात्म स्वभाव से युक्त उपमातीत आत्मानंद अनंत सुख को प्राप्त कर वे दोनों गणाधर विमलनाथ भगवान के उपदेश के निमित्त से मोक्षपद को प्राप्त हुए । संसंगति से अत्यंत नीच जीव भी यदि साधु या भगवान का निमित्त



मिल जाता है तो वह शीघ्र ही संसार सागर से तिर जाता है । इस प्रकार मेरु व मंदर भगवान विमलनाथ के उपदेश से तथा उनके पवित्र चरण कमलों के उभाव से शीघ्र ही तिर गये ॥१४००॥

मदुरे नल्लि रामे देवन् मलैइर् शोदरे काविट्टु ।  
तदिर् कळ लमरन् पिन्नु भरतन माले वानोन् ॥  
विदियिना लच्चुदेकन् वीत पोतन् निलादै ।  
कदि पदि यादित्तावन् मेरु नल्लगति वैदन् ॥१४०१॥

अर्थ—ये मेरु मंदर कौन थे? इस संबंध में आचार्य संक्षेप में बतलाते हैं:—

मेरु नाम का जीव पूर्वभव में मदुरा नाम के ब्राह्मण की स्त्री थी । तदनंतर वह स्त्री मरकर रामदत्ता देवी हो गई अर्थात् सिंहासेन महाराज की पटरानी हो गई । तदनंतर वह आर्यिकां दीक्षा लेकर स्वर्ग में जाकर भास्कर नाम का देव हो गया । वहां से चयकर विजयार्द्ध पर श्रीधरा हो गई । वहां से तपकर के कापिष्ठ स्वर्ग में देव हो गई । तत्पश्चात् वहां से रत्नमाला नाम की स्त्री पर्याय धारण की । तदनंतर तप करके अच्युत नाम के कल्प में देव हुआ । इसके पश्चात् वहां से चयकर वीतभय नाम का बलदेव हुआ । तत्पश्चात् लांतव कल्प में आदित्य देव हुआ । इसके बाद कर्मभूमि में आकर मनुष्य पर्याय धारण कर मेरु नाम होकर तपश्चरण करके मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥१४०१॥

वारुणो पूर चंदन् वानवन् मंगे वानोन् ।  
येरणि इरद नायुदन् नच्चुदन् विवीडन ॥  
नारळल् नरगन् वैद नमरण् पिन् सयंदनं पुर् ।  
टारणि तरणन् पैदार् मंदरन् शिवगति कोन् ॥१४०२॥

अर्थ—यह मंदर नाम का जीव पूर्वभव में वारुणी नाम की ब्राह्मण की स्त्री थी । वह तपश्चरण करके पूर्णचंद नाम का सिंहासेन राजा का छोटा पुत्र होकर जन्म लिया । तदनंतर तपश्चरण करके वह देव हो गया । तदनंतर यशोधरा नाम की स्त्री हुई । पुनः वह तप करके देव गति को प्राप्त किया । वहां से चय कर मध्यलोक में रत्नायुष राजा हुआ । वहां से तप करके अच्युत कल्प में देव हुआ । वहां से चय कर विभीषण नाम का वासुदेव हुआ । वहां से नरक में गया । नरक से आकर श्रीधाम नाम का राजा हुआ । वहां से तप करके ब्रह्मलोक में जाकर देव हुआ । वहां से आकर जयंत नाम का राजा हुआ । तदनंतर घरणोद्र हुआ । इसके पश्चात् मंदर नाम का राजा का पुत्र हुआ । इस प्रकार यह दोनों मेरु और मंदर तप करके मोक्ष को चले गये ॥१४०२॥

इनेयदु वेगुळिई नियलबु माट्टियल् ।  
पिनेयदु विनेगळि नियलबु पट्टियल् ॥  
पिनेयदु पोहळिन वियलबु धोट्टियल् ।  
पिनेयदु तिरुवर डियलबु तानुमे ॥१४०३॥

अर्थ—क्रोध या मायाचार से दुखी हुए सत्यघोष की कथा इस पुराण में वर्णन की गई है। यह पुराण केवल सत्यघोष को लेकर ही है। क्योंकि यह पर द्रव्य में आसक्त लोभ तथा मायाचार के द्वारा अनेक बार नरकों में जाकर कष्ट व दुख भोगता रहा। इसका विवेचन यहां तक किया गया। इस पुराण में पापी पुरुष तथा पुण्यात्मा पुरुषों का विवेचन किया गया है। सत्यघोष को पाप कर्म के उदय से दुख ही दुख भोगना पडा, और इन दोनों पुण्यवान पुरुषों को पुण्यानुबन्धी कर्म के कारण मुक्ति मिली। इस जीव को सुख और शांति का देने वाला जैनधर्म के अतिरिक्त कोई सहायक नहीं है। ऐसा समझकर भव्य जीवों को इस लक्ष्मी संवत्ति को क्षणिक समझकर इसका सद्भावयोग सत्कार्यों में करके जैन धर्म को सक्षा भङ्गीकार करना चाहिये, और अपनी आत्मा को निर्मल बनाना चाहिये ॥१४०३॥

अरमल दुःखदि शंभार् कडा मिले ।  
 मरमला दिडर्शय वरुवदु मिले ॥  
 नेरि ईवे इरंडयुं निरांडु नित्तमुं ।  
 कुरुगु मो नरनेरि कुट्ट नीगवे ॥१४०४॥

अर्थ—आत्मा को सुख देने वाला जैन धर्म ही है। दूसरा कोई नहीं। आत्मा को दुख देने वाला मिथ्यात्व के समान और कोई पाप नहीं है। इसलिए भव्य जीव जैनधर्म का मूल भांति मनन करके सदैव पाप को उत्पन्न करने वाले रागद्वेषादि को त्याग करके सच्ची आत्मा को सुख देने वाला सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र सहित निश्चय व व्यवहार धर्म की आराधना करके स्वानुभूति के रसिक बनें ॥१४०४॥

आकुव देदेनि सरत्ते याकुग ।  
 पोकुव देदे निल् बेगुलि पोकुग ॥  
 मोकुवदेदेनिल् ज्ञान नोकुग ।  
 काकुवदे देनिल् विरदम् काकवे ॥१४०५॥

अर्थ—प्रत्येक जीव को ग्रहण करने योग्य क्या है और छोड़ने योग्य क्या है—इसका विचार करके यदि देखा जाय तो सर्व प्रथम मिथ्यात्व क्रोधादि ही संसार के मूल कारण हैं। ऐसा समझ कर उनको त्याग कर सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह रत्नत्रय ही ग्रहण करने योग्य हैं, और यही मोक्ष के मार्ग होने से आत्म स्वरूप में धारण करने योग्य है। जो भव्य प्राणी इस पवित्र चरित्र—पुराण को मन, वचन, काय से भक्ति पूर्वक पढता है, मनन करता है उस भव्य जीव को इस ज्ञान की आराधना से शीघ्र ही स्वर्ग मोक्ष फल की प्राप्ति होती है ॥१४०५॥

इति श्री वामनमुनि रचित मेरु मंदर पुराण में मेरु मंदर का मोक्षगमन तथा उनके पूर्वभ्रत का वर्णन करने वाला तेरहवां अधिकार समाप्त हुआ और ग्रंथ पूर्ण हुआ ।

॥ इति जैनं जयतु शासनम्

पौष शुक्ल २ रविवार सं० २०२८ वीर निर्वाण सं० २४६८ तदनुसार ता० ११  
दिसम्बर सन् १९७१ मध्याह्न काल में पार्श्वनाथ चूलगिरि पर अनुवाद रूप में लिखकर  
समाप्त किया ।

आइरसु नानुद्रिन् मेलु निरयुंङ्गान् ।  
पाप पुगळ् थेरुक्कळ् मंदरर् "पार" द्रूष ॥  
तवराज राज कुरु मुनिवन् द्रुंढ ।  
भवरोग मंदिरमाम् पादु ॥

१४०३ श्लोक रूप में अत्यंत पवित्र तपस्या करने वाले मेरु मंदर इन दोनों  
का चरित्र लिखवाया है ॥ इति भद्रं ॥





IBSM 81-85836-01-9